डॉ० गोपाल दत्त

स्वामी हरिदासजी का सम्प्रदाय और उसका वाणी-साहित्य

Late Dr. and Mrs.Gopal Datt

स्वामी हरिदास जी का सम्प्रदाय और उसका वाणी-साहित्य

(शोध-प्रबन्ध)

नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली

स्वामी हरिदासजी का सम्प्रदाय और उसका वाणी-साहित्य

डॉ० गोपाल दत्त

नेशनल पब्लिशिंग हाउस
(स्वत्वाधिकारी : के० एल० मलिक ऐंड संस प्रा० लि०)
२३, दरियागंज, नयी दिल्ली-११०००२
शाखा : चौड़ा रास्ता, जयपुर

स्वत्वाधिकारी के० एल० मलिक ऐंड संस प्रा० लि० के लिए नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली-११०००२ द्वारा प्रकाशित / प्रथम संस्करण १९७७ / सर्वाधिकार डॉ० गोपाल दत्त / सरस्वती प्रिंटिंग प्रेस, मौजपुर, दिल्ली-११०१५३ में मुद्रित।

Swami Haridasji ka Sampradaya aur Uska Vani-Sahitya
(Thesis)
Dr. Gopal Datt

भूमिका

वृन्दावन पिछले पाँच सौ वर्षों से वैष्णव भक्ति का एक प्रमुख केन्द्र रहा है। श्री राधा-कृष्ण की माधुर्य भक्ति के उपासक सम्प्रदायों की तो यह उपास्य-स्थली तथा प्रेरणा-भूमि है। इन विभिन्न सम्प्रदायों के अनेक विद्वानों तथा कवियों ने संस्कृत तथा ब्रजभाषा में ग्रन्थ एवं वाणी रचना की है। भक्ति से हृदय में मार्दव की उत्पत्ति होती है और उस मृदुता से काव्य की सृष्टि। हरिदासी आदि सम्प्रदायों में तो अपनी बात कहने का माध्यम ही 'वाणी' (संतों का काव्य) है। वाणी-रचना की यह परम्परा आज तक अक्षुण्ण चली आती है और आज भी ब्रज-साहित्य के अनमोल भंडार, इन सम्प्रदायों के बस्तों में नित्य नवीन पोथियाँ बँधती चली जा रही हैं। वृन्दावन उन गिनी-चुनी बस्तियों में से है, जहाँ आज भी प्राचीन परम्पराएँ जीवित हैं। पाँच सौ वर्ष पहले यहाँ जो माधुर्य की लहर उठी थी उसके प्रभाव से आज भी यहाँ की भूमि रसार्द्र है।

वृन्दावन के घर-घर में पुरानी पुस्तकें हैं। कुछ संग्रहों की पुस्तक-संख्या तो सहस्रों तक पहुँचती है। शोधकर्त्ताओं के लिए यह छोटी-सी नगरी कामधेनु है। अनेक सम्प्रदायों की प्रभूत सामग्री शोधकों की अण्वीक्षक दृष्टि तथा विवृतिवती लेखनी की प्रतीक्षा कर रही है।

आज से सात वर्ष पूर्व जब हमने वृन्दावन में शोधकार्य प्रारम्भ किया तब तक वृन्दावन के किसी विषय पर समुचित शोध नहीं हुई थी। श्री वियोगी हरि ने अपने 'ब्रजमाधुरीसार' में विभिन्न सम्प्रदायों की प्रमुख वाणियों से काव्य-संग्रह कर यहाँ के रस-भंडार की ओर ध्यान अवश्य दिलाया था। ब्रह्मचारी विहारीशरण ने 'निम्बार्क माधुरी' में केवल निम्बार्क सम्प्रदाय के वाणी-कर्त्ताओं का परिचय तथा उनकी वाणियों के उदाहरण प्रकाशित कर यह बताया कि केवल एक सम्प्रदाय में कितने कवि हुए। ब्रह्मचारी जी का ग्रन्थ शोधग्रन्थ न था तथा इसमें अपने सम्प्रदाय के कवियों के अतिरिक्त केशव, देव, बिहारी, सेनापति आदि को भी सम्मिलित कर लिया गया था। माध्व-गौड़ेश्वर सम्प्रदाय की अनेक वाणियाँ बाबा कृष्णदास के प्रयास से मुद्रित हो रही थीं। श्री राधावल्लभ सम्प्रदाय की

भी कुछ वाणियाँ समय-समय पर प्रकाशित हो चुकी थीं।[1] श्री हरिराप व्यास की महत्त्वपूर्ण वाणी का प्रकाशन भी श्री राधाकिशोर गोस्वामी द्वारा हो चुका था।[2]

स्वा० हरिदास जी की परम्परा के कुछ ग्रन्थ टट्टीस्थान से मुद्रित हो चुके थे किन्तु यह बाजार में उपलब्ध न थे, केवल किसी-किसी कृपापात्र को बिना मूल्य दिये जाते थे। मथुरा के प्रसिद्ध कवि श्री नवनीत जी ने 'हरिदास वंशानुचरित्र' नामक एक छोटे-से ग्रन्थ में इस सम्प्रदाय के प्रमुख कवियों का परिचय तथा उनकी वाणियों से कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये थे। श्री छबीलेवल्लभ गोस्वामी ने स्वा० हरिदास जी की 'केलिमाल' प्रकाशित की थी, जिसके प्रारम्भ में श्री सुदर्शनसिंह 'चक्र' द्वारा लिखित परिचय था। इस परिचय में भ्रामक सामग्री का आधार लेकर कई अतथ्यों का पोषण किया गया था। स्वा० हरिदास जी के जीवनवृत्त के सम्बन्ध में उनकी विरक्त शिष्य-परम्परा एवं विहारी जी के गोस्वामियों में गम्भीर मतभेद चला आया है। श्री 'चक्र' द्वारा लिखित परिचय गोस्वामियों के पक्ष-प्रतिपादन का एक प्रयास था। विरक्त-परम्परा के ग्रन्थों में छपी जीवनवृत्त-सम्बन्धी सामग्री भी अपने पक्ष-प्रतिपादन के लिए कहीं-कहीं रँगी हुई दिखाई देती थी। किन्तु इन विवादों का किसी निष्पक्ष शोधकर्त्ता द्वारा परीक्षण होना शेष था। सम्प्रदाय की वाणियों को किसी दूसरे को दिखाने का नियम न था, अतः इन वाणियों के साहित्यिक पक्ष तथा उपासना-सिद्धान्तों की शोध भी अपेक्षित थी। इस सम्प्रदाय में वाणियों का प्रभूत भंडार है तथा इसकी उपासना-पद्धति भी अन्य सम्प्रदायों से विलक्षण है, इसलिए हमने इसी सम्प्रदाय के साहित्य की शोध करना निश्चित किया।

वृन्दावन में अब तक किसी अन्य सम्प्रदाय के साहित्य की भी शोध नहीं हुई थी, अतः हमने वृन्दावन की पुराणों के आधार पर भौगोलिक प्रामाणिकता, वृन्दावन का इतिहास तथा वृन्दावन के माधुर्योपासक सम्प्रदायों का संक्षिप्त परिचय भी इस शोधकार्य की पृष्ठभूमि के अन्तर्गत सम्मिलित किया। इससे हमारा कार्य तो बहुत बढ़ गया किन्तु यह लाभ हुआ कि वृन्दावन की ब्रजभाषा-काव्य की लगभग सभी महत्त्वपूर्ण सामग्री की सूची प्रस्तुत की जा सकी। वृन्दावनीय रस माधुर्य-रस का एक विशिष्ट भेद है और उस वृन्दावनीय रस की परिभाषा भी प्रत्येक सम्प्रदाय में अलग-अलग है। अतः एक रस सम्प्रदाय की शोध करते समय अन्य सम्प्रदायों की उपासना-पद्धति तथा उनकी सामग्री का परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक था। अन्यथा हमारे भी उसी प्रकार के भ्रमों में पड़ जाने की सम्भावना रहती जैसे भ्रम श्री विजयेन्द्र स्नातक के 'राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य' में देखने में आये। इस ग्रन्थकार ने वृन्दावन के अनेक सम्प्रदायों में पाई जाने वाली अनेक सामान्य प्रवृत्तियों का एकमात्र राधावल्लभ सम्प्रदाय की विशेषताओं के रूप में उल्लेख किया है। अन्य सम्प्रदायों का परिचय न होने से ऐसी भूलें सम्भव हुई होंगी तथा यही कारण उनके ग्रन्थ में विभिन्न व्यक्तियों के पूर्वापर समय का व्यक्तिक्रम होने का भी रहा होगा।

१ कुछ पीछे इस सम्प्रदाय के साहित्य पर श्री विजयेन्द्र स्नातक ने शोध कार्य प्रारम्भ किया, जिसका फल 'राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य' नामक ग्रन्थ के रूप में हाल ही में प्रकाशित हुआ है।

श्री वासुदेव गोस्वामी ने कुछ समय पहले 'भक्त कवि व्यास जी' नामक अपने ग्रन्थ में व्यास जी की वाणी के साथ उनका जीवन-चरित्र और उनके काव्य की आलोचना भी प्रस्तुत की है।

अन्य सम्प्रदायों का अध्ययन करने में जो प्रचुर सामग्री हमने संग्रह की उसका स्थानाभाव से हम इस ग्रन्थ में पूरा उपयोग तो न कर सके, किन्तु उससे हमें अपने वर्ण्य विषय के सम्बन्ध में उचित दृष्टिकोण बनाने में सहायता सर्वत्र मिली है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के विभिन्न अध्यायों में जो सामग्री हम रख रहे हैं, उसका संक्षिप्त परिचय यहाँ देना असंगत न होगा :

प्रथम अध्याय (पृष्ठभूमि)—श्री राधाकृष्ण की माधुर्योपासना में वृन्दावन की विशेष स्थिति है। वृन्दावन के बिना यह रसोपासना सम्भव नहीं। अतः स्वामी हरिदास जी के सम्प्रदाय में ही नहीं, अन्य सभी वृन्दावनीय रस के उपासकों में यह भौतिक वृन्दावन उपास्य माना जाता है। अनेक बार यह शंका की जाती है कि आज का वृन्दावन भागवत आदि पुराणों में वर्णित वृन्दावन नहीं है। हमने पुराणों, संहिताओं तथा प्राचीन वाणियों के आधार पर यह सिद्ध किया है कि यही वृन्दावन पुराणोक्त रासस्थल वृन्दावन है तथा यह विशाल 'गोष्ठ वृन्दावन' के बीच स्थित है। भागवत से लेकर आज तक सभी ग्रन्थों ने एक बृहत्तर वृन्दावन तथा एक सीमित रासस्थल वृन्दावन, ऐसी दो स्थितियाँ मानी हैं। इस तथ्य को न समझने के कारण ही लोग शंका कर बैठते हैं।

वृन्दावन की भौगोलिक स्थिति को प्रमाणित करके हमने वृन्दावन का संक्षिप्त इतिहास प्रस्तुत किया है तथा श्री चैतन्य महाप्रभु के यहाँ आने से सैकड़ों वर्ष पूर्व यहाँ बस्ती थी एवं लोग तीर्थ-यात्रादि के लिए आते थे यह सिद्ध किया है। अधिकांश इतिहासज्ञों की, उचित प्रमाणाभाव में, यह धारणा रही है कि वृन्दावन में बस्ती श्री चैतन्य महाप्रभु के आगमन के बाद ही प्रारम्भ हुई। हमने इस भ्रम का निराकरण किया है। श्री चैतन्य के बाद भी आधुनिक काल तक की प्रधान-प्रधान ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख कर अपने वर्ण्य विषय, स्वा० हरिदास जी के सम्प्रदाय, के ऊपर उन घटनाओं का प्रभाव भी इस प्रकरण में स्पष्ट किया गया है।

वृन्दावन के उपासक होने के कारण जिन सम्प्रदायों का स्वा० हरिदास जी के सम्प्रदाय से साधर्म्य है उनका संक्षिप्त परिचय, उनके दर्शन, भक्ति तथा उपासनीय रस-सम्बन्धी मूल सिद्धान्त एवं उनके प्रमुख ग्रन्थों एवं ग्रन्थकारों का नामोल्लेख भी इस अध्याय में किया गया है। ब्रजभाषा के सभी प्रमुख मुद्रित तथा अमुद्रित ग्रन्थ इन सूचियों में आ जायें, ऐसी चेष्टा की गई है।

द्वितीय अध्याय (शोध सामग्री)—स्वा० हरिदास जी के जन्म-स्थान, जाति, माता-पिता, जन्म-संवत् एवं सम्प्रदाय आदि के सम्बन्ध में उनकी विरक्त शिष्य-परम्परा के लोगों एवं विहारी जी के गोस्वामियों (जो अपने को स्वामी जी का वंशज कहते हैं) में तीव्र मतभेद है। अतः उनकी चरित्र-सम्बन्धी सामग्री दो पक्षों में बँटी है तथा बहुत कुछ रँगी हुई मिलती है। हमने प्रथम इन विवादों का उल्लेख किया है, तब सम्प्रदाय के स्थानों का संक्षिप्त परिचय एवं इतिहास लिखा गया है। प्रत्येक स्थान पर होने वाले वार्षिक उत्सवों का भी उल्लेख है। श्री बाँकेबिहारी जी के मन्दिर के परिचय में वहाँ की पूजा-सेवा-प्रणाली का भी विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया गया है। यहीं गोस्वामियों का इतिहास, उनकी वंश-परम्परा तथा उनके वंश के साहित्यकारों एवं उनकी रचनाओं का भी परिचय दिया गया है। तदुपरान्त् गोस्वामियों का पक्ष प्रतिपादित करने वाली सभी उपलब्ध सामग्री का यहाँ विस्तृत परिचय दिया गया है तथा आवश्यकतानुसार उसके तथ्यातथ्य का विवेचन

भी किया गया है। विरक्त-परम्परा की तीनों प्रमुख गद्दियों, श्री रसिक विहारी जी का मन्दिर, श्री गोरेलाल जी का मन्दिर और टट्टी स्थान, के परिचय तथा इतिहास के साथ इन स्थानों के महन्तों की सूची दी गई है तथा विशेष उत्सवों आदि का उल्लेख किया गया है। वृन्दावन से बाहर के स्थानों का भी परिचय दिया गया है।

स्थानों के परिचय के बाद सम्प्रदाय के साहित्य की विस्तृत सूची दी गई है। इस सूची में उपलब्ध सभी सामग्री आ जाती है। अधिकांश ग्रन्थ हस्तलिखित हैं, अतः उनकी प्रतियों का परिचय, प्राप्ति-स्थान आदि भी लिखा गया है। वाणी-साहित्य के बाद सम्प्रदाय के इतिहास की आधारभूत सामग्री का परिचय दिया गया है, जिसमें सम्प्रदाय की रचनाएँ तथा बाहर की भक्त-चरित्र-सम्बन्धी रचनाएँ दोनों ही हैं। जहाँ-तहाँ इनकी प्रामाणिकता की परीक्षा भी की गई है।

आधारभूत सामग्री में पंडों के लेख, दस्तावेजें, सनदें, ताम्रपत्र, पुराने चित्र सभी प्रकार की सामग्री है। अन्त में सम्प्रदाय के मंत्र तथा रस-विवेचन-सम्बन्धी मौखिक कथा-वार्ता आदि का परिचय भी दिया गया है। इन दोनों अन्तिम सामग्रियों की उपासना-तत्त्व को समझने में आवश्यकता होती है।

तृतीय अध्याय (जीवन-चरित्र)—स्वा० हरिदास जी के जीवन-चरित्र का विवेचन विस्तार से किया गया है। विरक्त-परम्परा तथा गोस्वामी-समाज के परस्पर विरोधी कथनों की सभी उपलब्ध सामग्री का उल्लेख तथा उसका विवेचन कर, जहाँ-जहाँ सम्भव हो सका है, किसी एक निर्णय पर पहुँचने की चेष्टा की गई है। जहाँ निर्णयात्मक सामग्री का अभाव है, वहाँ केवल दोनों पक्षों की सामग्री का विवेचन भर कर दिया गया है। हम यह प्रमाणित कर सके हैं कि स्वा० हरिदास जी का जन्म भाद्रपद शुक्ला ८ सं० १५३७ को हुआ, उनका विवाह नहीं हुआ था, उन्होंने २५ वर्ष की आयु में वैराग्य लिया, आसुधीर जी उनके गुरु थे, वे निम्बार्क सम्प्रदाय के अनुयायी थे, उनके उपास्य श्री बाँकेबिहारी का प्राकट्य एवं पाटोत्सव सं० १५६७ में हुआ, तथा सं० १६३२ की आश्विन शुक्ला पूर्णिमा को उनका देहावसान हुआ। वे सनाढ्य ब्राह्मण थे या सारस्वत, उनके पिता आसुधीर थे या गंगाधर, उनकी माता गंगा थीं या चित्रा तथा उनका जन्म हरिदासपुर में हुआ या राजपुर में, इस सम्बन्ध में हम कोई निर्णय नहीं कर सके हैं। स्वामी जी के १२ विरक्त शिष्यों का संक्षिप्त परिचय, कुछ चमत्कारपूर्ण वार्ताएँ तथा स्वामी जी के सम्पर्क में आने वाले ऐतिहासिक व्यक्तियों का उल्लेख भी इस प्रकरण में किया गया है।

सम्प्रदाय के अन्य प्रमुख आचार्यों एवं वाणी-कर्त्ताओं के जीवन-चरित्र भी तत्सम्बन्धी उपलब्ध सामग्री का विवेचन करके, संक्षेप में लिखे गये हैं। इन महानुभावों के नाम हैं—स्वा० बीठलविपुल, स्वा० विहारिणिदास, स्वा० नागरीदास, स्वा० सरसदास, स्वा० नरहरिदास, स्वा० रसिकदास, स्वा० पीताम्बरदास, स्वा० ललितकिशोरीदास, स्वा० ललितमोहिनीदास, स्वा० गोवर्द्धनशरणदास, महंत किशोरदास, श्री भगवत रसिक, महंत शीतलदास तथा स्वा० सहचरिशरण।

चतुर्थ अध्याय (भक्ति-सिद्धान्त)—स्वा० हरिदास जी का सम्प्रदाय रसोपासक सम्प्रदाय है, अतः इसकी वाणियों में कहीं भी कोई विशिष्ट दार्शनिक मत व्यक्त नहीं किया गया है। हमने वाणियों में बिखरे आत्मा-परमात्मा तथा जगत्प्रपंच सम्बन्धी उल्लेखों का संग्रह कर दिया है तथा जहाँ इन उल्लेखों में निम्बार्क सम्प्रदाय के दार्शनिक मत, द्वैताद्वैत,

से साम्य प्रकट होता है उन स्थलों का निर्देश किया है।

तत्पश्चात् वाणियों में भक्ति-सम्बन्धी जो उक्तियाँ मिलती हैं उनका वर्गीकरण कर भक्ति के अंगों का स्वरूप-निरूपण किया गया है। प्रेमाभक्ति साधन भी है तथा साध्य भी। यह साधन भक्ति से ऊँची है। जिसे प्रेम का रंग लगा है वह संसार से स्वतः ही विमुख हो जाता है। अनन्यता भक्ति का प्रधान गुण है। एकमात्र नित्यविहारी ही उपास्य हैं। वे भक्त पर निरपेक्ष भाव से कृपा करते हैं। उनसे भय नहीं करना पड़ता। माधुर्य की भक्ति हास्य आदि रसों से ऊँची है। इस भक्ति में गुरु का महत्त्वपूर्ण स्थान है। गुरु ही उपासना-मार्ग बताता है। गुरु वही श्रेष्ठ है जो निस्पृह हो तथा कृपालु। शिष्य वह श्रेष्ठ है जो गुरु के स्वभाव को पहचान उनकी अनन्य भाव से सेवा करे। सत्संग की बड़ी महिमा है। संत हरि के समान पूज्य हैं। कर्मठों और शाक्तों की छाया से भी बचना चाहिये। भक्त का उचित आचरण है—संतोष, दया, करुणा, मैत्री, विश्वास, संयम, वृन्दावन की रज तथा वृक्षों की सेवा, संतों की सेवा आदि। भक्ति के मार्ग में काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह तो बाधक हैं ही, अनन्यता के पथिक को तीर्थ, व्रत, आशौच, श्राद्ध, तर्पण वर्णाश्रम आदि का भी त्याग कर देना चाहिये।

उपर्युक्त भक्ति के अंग केवल बाह्य अंग हैं। सम्प्रदाय की चरम उपासना रस की उपासना है। ऊपर कहे आचरण भक्त को इस योग्य बनाते हैं कि वह रस की भूमिका में प्रवेश कर सके।

पंचम अध्याय (उपासनीय रस)—मानसी ध्यान में अपने को श्री प्रियाजू की सखी मान नित्यकिशोर-किशोरी के निरवधि नित्यविहार का दर्शन करना तथा निकुंज-महल में 'टहल' करना ही इस सम्प्रदाय की चरम उपासना है। सम्प्रदाय के रसिकों ने इसके विभिन्न अंगों—प्रिया, प्रियतम, गुरु (सहचरी), वृन्दावन, सखी (साधक), नित्यविहार आदि की अत्यन्त सूक्ष्म परिभाषाएँ अपनी सिद्धान्त एवं रस की वाणियों में प्रस्तुत की हैं। वाणियों के इन उल्लेखों का वर्गीकरण कर हमने इस सम्प्रदाय के उपासनीय रस का सांगोपांग विवेचन किया है। माधुर्य की उपासना शान्त, दास्य, वात्सल्य तथा सख्य रसों से ऊँची मानी गई है। इस सम्प्रदाय के महानुभावों के मत से माधुर्य के अनेक भेदों में भी स्वा० हरिदास जी द्वारा प्रकट किया हुआ 'निरवधि नित्यविहार' सबसे ऊँचा है। इस उपासना में जिन उपास्य युगल का ध्यान किया जाता है वे अजन्मा हैं, नित्य किशोर हैं। वे अवतार नहीं लेते। न उनके माता-पिता हैं, न उनका ब्रज, मथुरा या द्वारका से कोई सम्बन्ध है। उन्हें संसार की सृष्टि-स्थिति-प्रलय से कोई प्रयोजन नहीं। वे सदा विहार में रत हैं। इनमें लाड़िली प्रधान हैं। वे विदग्धा हैं तथा कृपा कर अति याचक, आतुर, अधीन लाल को रसदान देती हैं। लाल परम सुकुमार हैं। यद्यपि उनकी आभा-मात्र से ब्रह्म की उत्पत्ति है, किन्तु वे स्वयं ऐश्वर्य से परे हैं।

स्वा० हरिदास जी ने स्वयं अपने को विहार में सहायता करने वाली, लाड़िली की आत्मीया सहचरी माना है, किन्तु उनके शिष्यों ने विहार में उनकी महत्त्वपूर्ण स्थिति निर्धारित की है। उनके मत में श्री हरिदास ही विहार के कारण हैं। प्रेम के अगाध सागर में सुकुमार युगल उन्हीं की बाँह के सहारे तैरते हैं। अतः विहार कराने वाले हरिदास जी ही हैं। वे प्रधान सहचरी हैं। लाड़िली लाल विहार के सुख के भोक्ता हैं, किन्तु स्वा० हरिदास जी उनके सुख से सुखी होते हैं।

वृन्दावन रसभूमि है तथा प्रिया-प्रियतम के समान ही उपास्य है। यह विहार का आधार है तथा अपनी विभिन्न ऋतुओं, पशु-पक्षियों आदि से विहार में साहाय्य प्रदान करता है।

साधक पुरुष-भाव को त्याग कर सखी-भाव की मन में प्रतिष्ठा करता है तथा गुरु-सहचरी की कृपा से निकुंज-महल की टहल प्राप्त करता है। सखी को युगल का स्वभाव समझ कर टहल करनी चाहिये। विहार में सहायता करना ही टहल है। लाड़िली अपनी सखी पर सदा कृपा करती हैं।

नित्यविहार का स्वरूप निराला है। युगल इतने प्रेमातुर हैं कि उन्हें भोजन, शयन, शृंगार आदि का भी अवकाश नहीं। अतः सहचरी को उनके खान-पान, स्नान आदि की इतनी चिन्ता नहीं करनी चाहिये, जितनी उनके विहार में सहायता पहुँचाने की। युगल निरन्तर मिले रहने पर भी मिलन के लिए आतुर रहते हैं। वियोग की कल्पना भी उनसे नहीं सही जाती। प्रिया मानिनी हैं, किन्तु उनका मान वास्तविक मान नहीं, विहार का वैचित्र्य बढ़ाने के हेतु एक लीला-मात्र है।

नित्यविहार की उपासना का प्राप्य है—नित्यविहार में लीन हो जाना। यह रस अन्य उपासनीय माधुर्य रसों से भी किस प्रकार श्रेष्ठ है यह वाणियों में बताया गया है। वाणियाँ ही इस रस का शास्त्र हैं। अन्य शास्त्र-पुराणादि इस उपासना के क्षेत्र में प्रमाण नहीं माने जाते।

षष्ठ अध्याय (काव्य-समीक्षा)—इस अध्याय में सम्प्रदाय के प्रमुख वाणीकर्त्ताओं के काव्य की समीक्षा की गई है। इनमें से प्रत्येक की रचनायें, उनका संक्षिप्त परिचय, छन्द-संख्या एवं वर्ण्य विषय तथा उनके काव्य के प्रधान गुण बताये गये हैं। स्वा० हरिदास जी के काव्य की समीक्षा विस्तार से की गई है तथा उनके काव्य-सौष्ठव, भाषा, शब्द-शक्ति वर्ण-विन्यास (गुण), अलंकार-योजना, रस के अंग, छन्द-योजना तथा संगीत का विस्तार से विवेचन किया गया है। अन्य वाणी-कर्त्ताओं के काव्य का उनके काव्य के परिमाण तथा सम्प्रदाय में महत्त्व के अनुसार कम या अधिक विवेचन किया गया है।

परिशिष्ट (श्री निम्बार्क सम्प्रदाय)—स्वा० हरिदास जी निम्बार्क सम्प्रदाय में दीक्षित थे किन्तु उनकी वाणी में या उनके सम्प्रदाय की उपासना-पद्धति में निम्बार्क सम्प्रदाय के मतवाद का आग्रह नहीं है। वास्तव में उन्होंने एक विलक्षण रसोपासना का प्रवर्त्तन किया जो मूल सम्प्रदाय से बहुत कुछ भिन्न है। इसीलिए हमने इस सम्प्रदाय को ग्रन्थ में विस्तार से न लेकर अन्त में परिशिष्ट के रूप में इसका संक्षिप्त परिचय दिया है।

प्रारम्भ में श्री निम्बार्काचार्य का परिचय है। उनका काल अब तक निर्णीत नहीं हो सका है। जो निर्णय हुए भी हैं, वे भ्रामक तथ्यों पर आधारित होने के कारण उपेक्षणीय हैं। हमने कुछ ऐसी नवीन सामग्री प्रस्तुत की है जो श्री निम्बार्काचार्य के काल-निर्णय में सहायक सिद्ध हो सकती है। श्री निम्बार्क की रचनाओं का उल्लेख करके हमने उनकी प्रधान शिष्य-परम्परा का उल्लेख किया है। प्रचलित शिष्य-परम्परा की प्रामाणिकता का भी विवेचन किया गया है।

स्वा० हरिदास जी की गुरु-परम्परा श्री निम्बार्क से १२वीं पीढ़ी में स्थित श्री देवाचार्य के एक शिष्य श्री ब्रजभूषण देव से किस प्रकार प्रारम्भ हुई यह बताया गया है।

श्री निम्बार्क सम्प्रदाय के प्रमुख ग्रन्थकारों में से कुछ का संक्षिप्त परिचय तथा उनकी रचनाओं के नाम दिये गये हैं। श्री श्रीभट्ट के युगलशतक के वर्ण्य विषय का उल्लेख कर उनका काल निर्णय करने का प्रयास किया गया है। इसी प्रकार श्री हरिव्यासदेव की 'महावाणी' का वर्ण्य विषय लिखकर उनका समय निर्धारण करने की चेष्टा की गई है।

अन्त में श्री निम्बार्क सम्प्रदाय के दार्शनिक सिद्धान्त तथा उसकी उपासना-पद्धति का संक्षिप्त परिचय दिया गया है।

उपसंहार में स्वा० हरिदास जी की तथा उनके सम्प्रदाय की उपासना, संगीत एवं साहित्य के क्षेत्रों को जो देन मिली है उनका संक्षिप्त परिचय दिया गया है।

सहायक ग्रंथों की सूची के साथ यह शोध-ग्रन्थ समाप्त होता है।

अपने शोध कार्य में हमें जिन सज्जनों से ग्रन्थ, सूचना तथा अन्य साहाय्य प्राप्त हुआ है, उनके हम हृदय से कृतज्ञ हैं। यद्यपि स्थानाभाव से हम उन सबके नाम यहाँ नहीं ले सकते, किन्तु उनके प्रति मौन आभार प्रदर्शित करना हम अपना कर्त्तव्य समझते हैं। हमारी शोध का आधार ही प्रधानत: हस्तलिखित ग्रंथ थे, अत: जिनसे हमें एक पत्र भी देखने की अनुमति मिली उनकी सहायता समादरणीय है।

वृन्दावन में शोध के उपयुक्त स्थलों और जानकार व्यक्तियों से हमारा प्रथम परिचय कराने का कार्य किया बंधुवर श्री जवाहरलाल चतुर्वेदी ने। हमें प्रथम बार वाणियों की प्राप्ति हुई मथुरा के श्री गोपालचन्द्र चतुर्वेदी (बड़े लाला जी) से। अपने सहयोगी और मित्र श्री कृष्ण चैतन्य भट्ट के पूज्य पिता श्री गोवर्द्धनलाल भट्ट के वाणी-संग्रह से हमें अनेक वाणियाँ मिलीं जिनमें स्वा० हरिदास जी के सम्प्रदाय के अष्टाचार्यों की वाणी प्रमुख थी। इस वाणी की प्राप्ति ने मानो हमें सम्प्रदाय के अन्तरंग में प्रवेश का अधिकार दिलाया। वृन्दावन के प्रसिद्ध साहित्यकार स्व० श्री राधाचरणगोस्वामी के विशाल हस्त-लिखित पुस्तकालय के अवलोकन की अनुमति दे उनके वंशज श्री अद्वैतचरण गोस्वामी (बच्चाजी) ने हमें उपकृत किया। इस पुस्तकालय से हमें अनेक सूचनाएँ मिलीं। इस पुस्तकालय में ही हमने अन्य सम्प्रदायों की अनेक वाणियों का अवलोकन किया। श्री निम्बार्क सम्प्रदायान्तर्गत श्री-निकुंज के अधिकारी श्री ब्रजवल्लभशरण जी से हमें वहाँ के हस्तलिखित पुस्तकालय को देखने की अनुमति मिली। इस पुस्तकालय में कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ तथा सूचनाएँ प्राप्त हुईं। कुसुमसरोवर के बाबा कृष्णदास के हस्तलिखित पुस्तक-संग्रह से भी हमें कई ग्रन्थ मिले। ब्रज साहित्य मंडल, मथुरा के हस्तलिखित पुस्तक-संग्रह से भी हमें सहायता मिली। बन्धुवर श्री कृष्णदत्त वाजपेयी की कृपा से मथुरा के पुरातत्त्व संग्रहालय से हमें पुरातत्त्वविषयक कई सूचनाएँ तथा वहाँ के पुस्तकालय से अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्य प्राप्त हुए।

मथुरा के श्री रमनलाल शोरावाले की सहायता से हमें श्री रसिकविहारी के मंदिर के विशाल हस्तलिखित पुस्तक-भंडार को देखने का अवसर मिला। इस पुस्तकालय में संस्कृत के अनेक ग्रन्थ तथा सम्प्रदाय के इतिहास ग्रन्थ तो थे, किन्तु वाणियाँ न थीं। श्री रसिकविहारी जी के महन्त जी ने कृपा करके हमें अपनी निजी पाठ की वाणियों में से प्रतिलिपि करने की अनुमति दे अनुगृहीत किया।

इधर अन्य सम्प्रदायों में भी हमें अनेक सज्जनों से सामग्री प्राप्त हुई। श्री निम्बार्क सम्प्रदाय में पं० किशोरीदास जी, श्री नन्दकुमार शरण ब्रह्मचारी, श्री दानबिहारीलाल

शर्मा आदि से, श्री चरणदासी सम्प्रदाय के श्री रूपमाधुरीशरण से, श्री राधावल्लभ सम्प्रदाय के श्री मुकुटवल्लभ गोस्वामी तथा श्री ललिताचरण गोस्वामी से एवं श्री माध्वगौड़ेश्वर सम्प्रदाय के श्री अतुलकृष्ण गोस्वामी, बा० दीनशरणदास आदि से अनेक ग्रन्थ तथा सूचनाएँ प्राप्त हुईं।

विहारी जी के गोस्वामियों में भी हमें कुछ ग्रन्थ तथा प्रचुर मौखिक सामग्री मिली। इस सम्बन्ध में श्री छबीले वल्लभ गोस्वामी, श्री मदनमोहन गोस्वामी, श्री मगनबिहारी-गोस्वामी, श्री शरणविहारी गोस्वामी तथा श्री ओंकारनाथ गोस्वामी द्वारा दी गयी सहायता उल्लेखनीय है।

श्री गोरेलाल जी के मन्दिर के महन्त जी की कृपा से हमें वहाँ के ग्रन्थ, दस्तावेज़ें तथा ताम्रपत्रादि देखने का अवसर मिला तथा बा० छबीलीदास ने हमें अनेक पदों का संग्रह करने की सुविधा प्रदान की।

किन्तु हमें सबसे अधिक वाणियों की प्राप्ति हुई टट्टीस्थान से। इस स्थान में वाणियों की रक्षा बड़े यत्न से की जाती है। हम दो वर्ष शोध कार्य करने के बाद कहीं इस केन्द्र का विश्वास सम्पादन करने में समर्थ हुए। किन्तु जब वहाँ के महन्त जी की अनुमति हमें मिल गई तब तो सभी वाणियाँ हमें धीरे-धीरे उपलब्ध हुईं। श्रद्धेय महन्त जी ने हमें ऐसी वाणियाँ भी देखने की अनुमति दी, जो सम्प्रदाय के भी बहुत कम लोगों ने देखी होंगी। इस अनुमति की प्राप्ति में सहायता करने तथा स्वयं अपने संग्रह से भी वाणी देने के लिए हम सेठ हरगुलाल जी तथा बाबा विश्वेश्वरशरण जी के चिरकृतज्ञ हैं। यदि इन दो महानुभावों ने हमारी सहायता न की होती तो यह ग्रन्थ कभी पूरा न होता।

वृन्दावन में शोधकार्य करने के बाद हमने बाहर के स्थानों की भी यात्रा की। ब्रज के मोरकुटी आदि स्थानों को देखा। अलीगढ़ में हम हरिदासपुर गये तथा वहाँ के ऊपरकोट के विहारीजी के मन्दिर को भी देखा। यहाँ से हमें अनेक सूचनाएँ श्री बाबूराम शर्मा से मिलीं। अलीगढ़ में हमने डॉ० नूर-उल-हसन तथा डॉ० अथर अब्बास रिज़वी की सहायता से अलीगढ़ विश्वविद्यालय के फ़ारसी ग्रन्थ-संग्रह को देखा और कुछ ग्रन्थों से महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ प्राप्त कीं।

प्रयाग में हमें डॉ० धीरेन्द्र वर्मा से अनेक महत्त्वपूर्ण सुझाव मिले तथा श्री परशुराम-चतुर्वेदी से विचार-विनिमय होने पर कुछ महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ मिलीं।

हमारी काशीयात्रा बहुत लाभदायक सिद्ध हुई। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल से हमें अनेक सूचनाएँ ही उपलब्ध नहीं हुईं, उनकी कृपा से हम काशी विश्वविद्यालय, नागरी-प्रचारिणी सभा, तथा सरस्वती भवन के पुस्तकालयों को भी देख सके। इन पुस्तकालयों में मुद्रित और हस्तलिखित ग्रन्थों से प्रचुर सामग्री हमें प्राप्त हुई। श्री रायकृष्णदास की कृपा से हमें भारत कला-भवन में स्वा० हरिदास जी के प्राचीन चित्र देखने को मिले। श्री ओंकारनाथ ठाकुर ने संगीत-सम्बन्धी अनेक सूचनाएँ हमें दीं। महामहोपाध्याय डॉ० गोपीनाथ कविराज के साथ माधुर्योपासना सम्बन्धी विचार-विमर्श बहुत लाभदायक सिद्ध हुआ। श्री पद्मनाभ श्रीवर्मा ने हमें बौद्ध ग्रन्थों से सूचनाएँ संग्रह करने में सहायता दी।

दिल्ली में हमें नेशनल म्यूज़ियम के संग्रहाध्यक्ष के सौजन्य से स्वा० हरिदास जी का एक प्राचीन चित्र मिला तथा सेन्ट्रल एशियन एन्टिक्विटीज़ म्यूज़ियम के संग्रह में हमें

कृष्णगढ़ नरेश के प्राचीन चित्र-संग्रह के फ़ोटो नेगेटिव देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

बम्बई में रायल एशियाटिक सोसायटी के पुस्तकालयाध्यक्ष डॉ० गोरे की कृपा से हमें अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ देखने को मिले तथा प्रिंस ऑफ़ वेल्स म्यूज़ियम के संग्रहाध्यक्ष डॉ० मोतीचन्द्र जी से कई महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ प्राप्त हुईं। डॉ० डी० जी० व्यास ने हमें संगीत-सम्बन्धी अनेक तथ्यों का ज्ञान कराया। श्री विष्णुदास शिराली ने स्वामी जी के पदों में तालादि का निर्देश कर हमें उपकृत किया। हमारे सहयोगी श्री माणकेश्वर जी ने इस ग्रन्थ में प्रयुक्त रेखाचित्र बनाकर हमारी सहायता की।

इन सभी सज्जनों के हम अत्यन्त कृतज्ञ हैं।

अन्त में हम अपने शोधनिरीक्षक श्रद्धेय डॉ० मुन्शीराम जी शर्मा के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करना अपना परम कर्त्तव्य मानते हैं। यदि उनका दिशानिर्देश और सहारा हमें न मिला होता तो यह शोधकार्य कभी पूरा न होता। हम उनकी कृपा और वात्सल्य को शब्दों में सीमित नहीं कर सकते।

बंबई
१ अगस्त, १९५८

—गोपाल दत्त

पुनश्च :

लेखन संपूर्ण होने के '१८ वर्ष बाद आज यह ग्रंथ मुद्रित हो रहा है। मेरा आग्रह था मेरी कृति वहीं छपेगी, जहाँ छपाई-सफ़ाई का स्तर अच्छा हो। (शायद, यह मेरी नासमझी थी और विलंब के लिए सब से बड़ा दोषी मैं ही हूँ।) और इसलिए यह पांडुलिपि कहाँ-कहाँ से लौटी और क्यों लौटी, यह कहानी रोचक भी है, रोमांचक भी।

किंतु, अंत में, देर आयद दुरुस्त आयद। 'नेशनल पब्लिशिंग हाउस' के मैनेजिंग डायरेक्टर श्री के० एल० मलिक की कृपा से मेरी ज़िद पूरी हुई और इस ग्रंथ को अज्ञातवास के गुहागृह से मुक्ति मिली। इसके लिए मैं श्री मलिक का अत्यन्त आभारी हूँ।

बंबई,
१ मई, १९७६

—गोपाल दत्त

क्रम-सूची

(pdf pg.nos.)

प्रथम अध्याय

पृष्ठभूमि १–३४ (16 - 50)

वृन्दावन का इतिहास; वृन्दावन के सम्प्रदाय; रस-क्षेत्र वृन्दावन के इतिहास में स्वा० हरिदास जी का स्थान।

द्वितीय अध्याय

शोध-सामग्री ३५–११० (51 - 126)

अध्ययन के आधार—सम्प्रदाय के स्थान बृन्दावन में; गोस्वामी वंश के साहित्यकार; साम्प्रदायिक विवाद-सम्बन्धी उल्लेख; वृन्दावन से बाहर के स्थान; सम्प्रदाय का साहित्य; वाणीकर्त्ताओं के नाम और उनका साहित्य; सम्प्रदाय के इतिहास की आधारभूत सामग्री—सम्प्रदाय की रचनाएँ; गुरु परम्पराएँ; सूचनाओं के अन्य आधार; सम्प्रदाय से बाहर की रचनाओं में उल्लेख; कुछ प्राचीन चित्र; सम्प्रदाय के मन्त्र; मौखिक सामग्री।

तृतीय अध्याय

जीवन-चरित्र १११–१६५ (127-181)

स्वामी हरिदास जी; स्वामी जी के गुरु; स्वामी जी का सम्प्रदाय; स्वामी जी का वैराग्य-धारण, श्री बाँकेविहारी जी का प्राकट्य; स्वामी जी के शिष्य; कुछ चमत्कारपूर्ण वार्ताएँ; सम्पर्क में आने वाले अन्य व्यक्ति; स्वामी जी का देहावसान; सम्प्रदाय के अन्य प्रमुख आचार्य एवं वाणीकर्त्ता।

चतुर्थ अध्याय

भक्ति-सिद्धान्त १६६–१९८ (182-214)

उपास्य का स्वरूप; भक्ति में गुरु का स्थान; गुरु का स्वरूप; शिष्य का स्वरूप; गुरु और शिष्य का सम्बन्ध; सत्संग की महिमा; भक्ति में बाधक; रस-भूमिका में प्रवेश।

पंचम अध्याय (pdf pg.nos.)

उपासनीय-रस १९९–२३७ (215-253)

उपास्य युगल; नित्य-विहारिणी श्री राधा का स्वरूप; श्री कुंजविहारी का स्वरूप; सहचरी (स्वा० हरिदास) का स्वरूप और उसका कर्म; रसभूमि वृन्दावन; सखी (उपासक) का स्वरूप और कार्य; नित्यविहार का स्वरूप; नित्यविहार का फल; अन्य उपासना-मार्गों से भेद; वाणी ही प्रमाण।

षष्ठ अध्याय

काव्य-समीक्षा २३८–२८३ (254-299)

स्वा० हरिदास जी का काव्य; स्वा० बीठलविपुल जी का काव्य; स्वा० विहारिणीदास जी का काव्य; स्वा० नागरीदास जी का काव्य; स्वा० सरसदास जी का काव्य; स्वा० रसिकदास जी का काव्य; स्वा० ललितकिशोरीदेव जी का काव्य; स्वा० पीताम्बरशरणदेव जी का काव्य; महन्त किशोरदास जी का काव्य; श्री भगवत रसिक का काव्य; महन्त शीतलदास जी का काव्य; स्वा० सहचरिशरण जी का काव्य।

परिशिष्ट

श्री निम्बार्क सम्प्रदाय २८४–३०० (300-316)

श्री निम्बार्काचार्य की शिष्य-परंपरा; श्री निम्बार्क सम्प्रदाय के प्रमुख ग्रन्थकार।

उपसंहार ३०१–३०३ (317-319)

स्वामी हरिदास जी और उनके सम्प्रदाय की देन।

सहायक ग्रन्थ-सूची ३०४–३१२ (320-328)

चित्र-सूची

मानचित्र—मथुरा जिला	४	20
प्राचीन चित्र—स्वा० हरिदास जी	१०५	121
प्राचीन चित्र—स्वा० हरिदास, अकबर एवं तानसेन	१०७	123
रेखाचित्र—कुछ सम्प्रदायों के तिलक	१३३	149

प्रथम अध्याय

पृष्ठभूमि

'वृन्दावनः रसखेत' : विक्रम की सोलहवीं-सत्रहवीं शती में श्री राधाकृष्ण की मधुर भक्ति चरम विकास को प्राप्त हुई। वृन्दावन उसका प्रधान केन्द्र था। सुदूर गौड़, कर्णाट और तैलंग से, मरुभूमि मेड़ता और श्यामल पंचनद प्रदेश से अनेक संसारत्यागी विरक्त महानुभाव वृन्दावनीय-रस-सिंधु में अवगाहन करने यहाँ आये। 'लुप्तसदाचार', 'म्लेच्छाक्रांत' देश में पंचम-भक्ति-रस के रसिकों की वृन्दावन ही जैसे एकमात्र गति था। श्रीमद्भागवत माहात्म्य में एक सुन्दर रूपक खींचा गया है—'एक बार नारद जी पृथ्वी पर भ्रमण कर रहे थे। उन्होंने आश्रम, तीर्थ तथा सरिताओं को यवनों से रुद्ध देखा और देवतायतनों को दुष्टों द्वारा नष्ट-भ्रष्ट। कलिदावानल ने साधनों को भस्म कर दिया था। चारों ओर कदाचार का राज्य था।[1] तब यमुना के तट पर हरि की लीला-स्थली में उन्होंने एक रुदन करती हुई रूप-यौवन-सम्पन्ना बाला को दो मृतप्रायः वृद्धों की सुश्रूषा करते हुए पाया। परिचय पूछने पर वह बोली—मैं भक्ति हूँ और ये दोनों मेरे पुत्र, ज्ञान और वैराग्य। मैं द्राविड़ देश में उत्पन्न हुई, कर्णाटक में बढ़ी, फिर महाराष्ट्र और गुर्जर देश में कुछ जीर्ण हुई। कलि के योग से पाखण्डों ने मुझे खंडितांग कर डाला। मैं अपने पुत्रों सहित दुर्बल और मंद हो गयी। किन्तु वृन्दावन में आते ही मैं तो सुरूपिणी नवयौवना बन गयी, परन्तु मेरे पुत्र अत्यन्त जरठ और क्लेशित हो यहाँ पड़े हैं।'[2]

वृन्दावन के उपासकों में जिसे आज वृन्दावनीय रस कहा जाता है उसके अनेक रूपों

१. श्रीमद्भागवतमाहात्म्य, अध्याय १, श्लोक ३४-३६।

२. उत्पन्ना द्राविड़े साहं वृद्धिं कर्णाटके गता।
क्वचित्क्वचिन्महाराष्ट्रे गुर्जरे जीर्णतां गता ॥४८॥
तत्र घोरकलेर्योगात्पाखण्डैः खण्डितांगका ।
दुर्बलाहं चिरं जाता पुत्राभ्यां सह मन्दताम् ॥४९॥
वृन्दावनं पुनः प्राप्य नवीनेव सुरूपिणी ।
जाताहं युवती सम्यक् प्रेष्ठरूपा तु सांप्रतम् ॥५०॥
इमौ तु शयितावत्र सुतौ मे क्लिश्यतः श्रमात् ।
—श्रीमद्भागवत माहात्म्य, अध्याय १।

का विकास ही भक्ति की नवीन यौवन-प्राप्ति था। श्रीकृष्ण के उपासक सभी संप्रदाय पाँचों भक्तिरसों—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और शृंगार में शृंगार की उपासना को ही सबसे ऊँचा मानते हैं। लौकिक शृंगार से भिन्नता प्रकट करने के लिए इसे प्राय: उज्ज्वल रस भी कहा जाता है। मोटे रूप से शृंगार की उपासना का अर्थ है श्रीकृष्ण की शृंगारपरक लीलाओं की उपासना। इन लीलाओं के स्थल थे—द्वारका, मथुरा और ब्रज। द्वारका की लीला में श्री रुक्मिणी, सत्यभामा आदि का समावेश है, मथुरा की लीला में श्री कुब्जा का तथा ब्रज की लीला में गोपकुमारियों का। ब्रज की लीलाओं में भी अंतरंग लीला श्री वृन्दावन की है, जिसमें उपासक श्री राधाकृष्ण और अंतरंग सखियों के अतिरिक्त और किसी का प्रवेश नहीं मानता। अत: वृन्दावन की भक्ति या वृन्दावनीय रस का अर्थ है श्रीकृष्ण की उन लीलाओं को उपासना में प्रधान स्थान देना जो वृन्दावन में हुईं। श्री राधाकृष्ण का तेजोमय धाम वृन्दावन नित्य है और उसमें ये लीलाएँ भी निरन्तर हो रही हैं, ऐसी सभी संप्रदायों के साधकों की मान्यता है। इन लीलाओं का मानसिक ध्यान करना ही प्रधान साधन है, और इन लीलाओं में प्रवेश पाना ही चरम साध्य।

इस उपासना में उपासक को भी अपने लिये एक विशेष स्वरूप की कल्पना करनी पड़ती है। श्री राधाकृष्ण की रह:केलि में पुरुष का प्रवेश नहीं हो सकता। अत: साधक पुंभाव के अहंकार से अपने को शून्य कर स्वयं को सखी मानकर ही उस मानसी ध्यान का अधिकारी बनाता है, या यों कहिये कि अधिकारी बनाया जाता है। कारण कि गुरु से दीक्षा लिये बिना इस क्षेत्र में प्रवेश ही असम्भव है। जब तक श्री किशोरकिशोरी की किसी प्रिय सखी की कृपा प्राप्त न हो तब तक कोई अपरिचिता नारी भी उस अंतरंग लीलास्थली में कैसे प्रवेश पा सकती है? अत: इस उपासना में गुरु ही वह प्रमुख सहचरी है जिसके सहारे साधक को लीला के दर्शन का अवसर मिलता है और जिसके माध्यम से वह उपास्य तक अपनी सेवा प्रेषित करता है। ये उपासना सम्बन्धी प्रधान मान्यताएँ वृन्दावन के सभी श्री राधाकृष्णोपासक संप्रदायों में समान हैं।

विभिन्न संप्रदायों में उपास्य युगल का स्वरूप भिन्न है। कोई श्री राधा को परकाया मानते हैं कोई स्वकीया, कोई संयोग की लीलाओं के उपासक हैं कोई वियोग की लीलाओं के। उपासक का स्वरूप भी प्रत्येक संप्रदाय में अलग है। निकुंज में किसी उपासक का स्वरूप बहुत छोटी आयु की 'मंजरी' का है, जो केवल फूल बीनने जैसी सेवा ही करती हैं। कोई सखी हैं, जो युगल की सेवा तो सब प्रकार से करती हैं, परन्तु रह:केलि में उनका प्रवेश नहीं। और कोई सहचरी हैं, जिनसे युगल का कोई परदा नहीं। यहाँ तक कि 'पैरत साहस सखी के अति आवर्त्त विहार'—अति सुकुमार नवल लाल और नवेली लाड़िली निकुंज-विहार के अपार सागर की रसमयी लहरों में सहचरी की बाँह के सहारे से ही तैर पाते हैं। निकुंज के आवरण, उसके द्वार, उसका मानसी स्वरूप प्रत्येक संप्रदाय में भिन्न हैं। किन्तु सभी संप्रदाय इस सम्बन्ध में एकमत हैं कि वृन्दावन के बिना इन लीलाओं की स्थिति नहीं। वृन्दावन निकुंजविहारी-विहारिणी का धाम है। अत: वृन्दावन स्वयं उपास्य है। वृन्दावन में वास किये बिना उस 'महा मधुर रस सार' की प्राप्ति नहीं हो सकती।[1] श्री वृन्दावन की

१. निज रस रीति प्रतीति विपिन बसि तौ लहै।

—श्री विहारिणि देव—रस के पद—१६४।

२ : : स्वामी हरिदासजी का सम्प्रदाय और उसका वाणी-साहित्य

जब कृपा होती है तभी वह अनिर्वचनीय सुख मन में समा सकता है। रसखेत वृन्दावन को छोड़कर कुरुक्षेत्र जैसे पुण्यतीर्थ में स्नानार्थ जाना भी 'कूरता' मानी गयी है।[1]

अनेक बार ऐसी शंका की जाती है कि जिस वृन्दावन के दर्शनों के लिए श्रीकृष्ण चैतन्य के प्राण आकुल रहते थे, जिस वृन्दावन में श्री हित हरिवंश और स्वामी हरिदास जैसे रसिकाचार्यों ने अपने-अपने मत का प्रवर्त्तन किया, जिसे आज भी इन रसिकों के अनुयायी अपना परम प्रेय मानते हैं, वह वर्तमान वृन्दावन पुराणों में वर्णित वृन्दावन है भी या नहीं। यहाँ के सभी संप्रदाय श्रीमद्भागवत को प्रमाण मानते हैं और भागवत के आधार पर ही यह शंकाएँ भी खड़ी की गयी हैं। सबसे प्रथम इस प्रकार की शंका स्वामी दयानन्द सरस्वती ने की थी,[2] और बाद में अन्य कई विद्वानों ने यह प्रश्न मर्मज्ञों के सामने रखा।[3]

वर्तमान वृन्दावन मथुरा से उत्तर में ६ मील दूर यमुना नदी से तीन ओर घिरा हुआ एक छोटा-सा नगर है। यहाँ के अनेक स्थलों के नाम श्रीकृष्ण लीला से सम्बन्ध भी रखते हैं, जैसे केशीघाट, वंशीवट, अक्रूर तीर्थ, भोजन टीला, दावानल तीर्थ, कालीदह, चीर घाट, ब्रह्मकुण्ड, सेवाकुंज तथा निधि वन। किन्तु इन विद्वानों की वृन्दावन की स्थिति के सम्बन्ध में निम्नलिखित शंकायें हैं :

(१) जब अक्रूर श्रीकृष्ण और बलराम को वृन्दावन से लेकर मथुरा गये तो उन्हें शीघ्रगामी घोड़ों के वेगवान रथ में जाने पर भी पूरा दिन लग गया। मध्याह्न में उन्हें विश्राम के लिए एक स्थान पर रुकना भी पड़ा।[4] अतः जिस वृन्दावन से अक्रूर श्रीकृष्ण और बलराम को ले गये वह वृन्दावन यह नहीं हो सकता। वह मथुरा से पर्याप्त दूरी पर रहा होगा। (२) कंस के अत्याचारों से बचने के लिए नन्द सपरिवार गोकुल को छोड़कर वृन्दावन में चले आये।[5] यदि वृन्दावन यही था तो उन्होंने गोकुल की अपेक्षा इसे अधिक सुरक्षित स्थान क्यों समझा ? कंस की राजधानी और गोकुल के बीच यमुना की प्राकृतिक रोक तो थी। वृन्दावन तो यमुना के इसी किनारे पर और इतना पास होने से कंस के दैत्यों के लिए और भी सुगम होना चाहिए। अतः निश्चय ही वह वृन्दावन किसी दूरस्थ एवं दुर्गम,

१. रसिकन को रस हेत खेत तजि कूर गये कुरखेत अन्हान।

—श्री विहारिणि देव—सिद्धान्त के सवैया—६२।

२. "और अक्रूर जी :

रथेन वायुवेगेन ॥ : भा० स्कं० १० । अ० ३९ । श्लोक ३८ :

जगाम गोकुलं प्रति ॥ : भा० स्कं० १० । पू० अ० ३८ । श्लोक ३४ :

अक्रूर जी कंस के भेजने से वायु के वेग के समान दौड़नेवाले घोड़ों के रथ पर बैठ के सूर्योदय से चले और चार मील गोकुल में सूर्यास्त के समय पहुँचे अथवा घोड़े भागवत बनानेवाले की परिक्रमा करते रहे होंगे ? वा मार्ग भूलकर भागवत बनानेवाले के घर में घोड़े हाँकनेवाले और अक्रूर जी आकर सो गये होंगे ?"

—स्वा० दयानन्द सरस्वती—सत्यार्थप्रकाश, एकादश समुल्लास, भागवत समीक्षा।

३. (क) नन्दलाल दे : दी ज्याग्रफीकल डिक्शनरी आफ एन्श्येन्ट एण्ड मैडिवल इण्डिया—पृ-४१।

(ख) सूर्यनारायण व्यास : वर्तमान वृन्दावन पर एक शंका : ब्रजभारती, वर्ष ११ अंक २।

४. श्रीमद्भागवत दशम स्कन्ध, अ० ३९—श्लोक ३२, अ० ४१—श्लोक ६, अ० ४१—श्लोक १९।

५. श्रीमद्भागवत दशम स्कन्ध, अ० ११—श्लोक २५-२६-२७।

छिपने योग्य स्थान में रहा होगा। (३) वर्तमान वृन्दावन में कोई पर्वत नहीं है, परन्तु भागवत् के 'पुण्याद्रि तरुवीरुधम्'[1] से उसमें पर्वत की स्थिति सिद्ध होती है। (४) श्रीकृष्ण तथा बलराम को मथुरा ले जाते समय अक्रूर मध्याह्न में यमुनातट पर पहुँचे,[2] अतः ज्ञात होता है कि वृन्दावन तथा मथुरा यमुना नदी के विपरीत तटों पर थे।

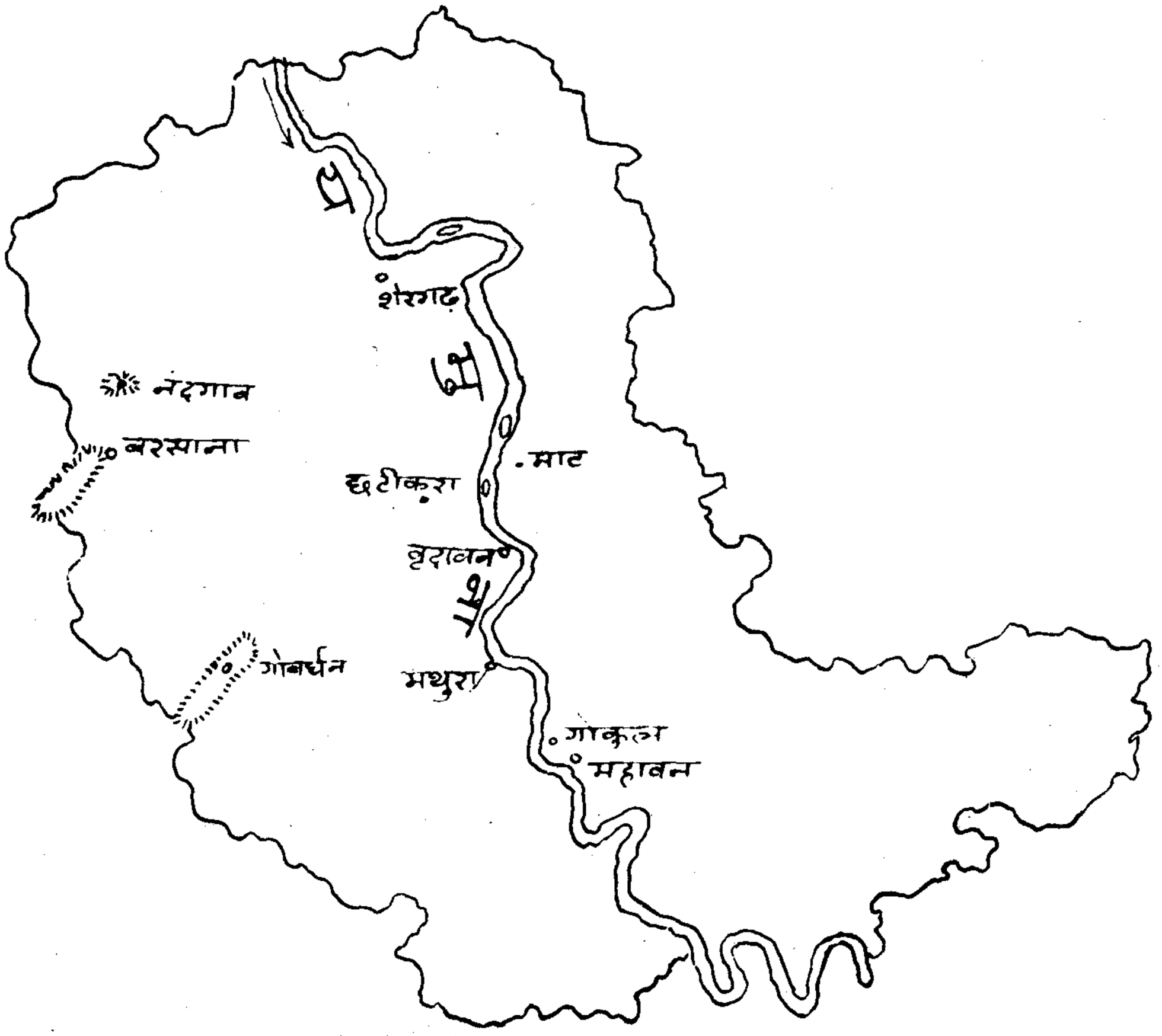

मानचित्र : मथुरा ज़िला

इनमें से चौथी शंका तो अनावश्यक-सी है। मथुरा के मार्ग में यमुना-तट मिलने के लिए यमुना की दूसरी पार से आना नितान्त आवश्यक नहीं। मथुरा ज़िले में यमुना का प्रवाह बहुत टेढ़ा-मेढ़ा है। मथुरा के उत्तर या उत्तर-पश्चिम में दूर से आते हुए रथारोही को कई स्थानों में यमुनातट का मिलना सम्भव हो सकता था। ऐसे अनुमान के आधार हैं

१. श्रीमद्भागवत दशम स्कन्ध, अ० ११—श्लोक २६।
२. श्रीमद्भागवत दशम स्कन्ध, अ० ३९—श्लोक ३८।

कि यमुना नदी की धारा पहले कहीं-कहीं अधिक पश्चिम की ओर थी और अब धीरे-धीरे पूर्व की ओर हटती गयी है।[1] ऐसा मान लेने पर तो मार्ग में यमुनातट का मिलना और भी सम्भव हो जाता है।

श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध का सूक्ष्म अध्ययन करने से पता चलेगा कि पहली तीन शंकाओं में केवल आंशिक तथ्य है। स्वा० दयानन्द ने जिसे चार मील दूर बताया है वह वर्तमान गोकुल गाँव है, जो श्रीकृष्ण के नन्दभवन में प्रकट होने की लीला से सम्बद्ध है। किन्तु भागवतकार का अभिप्रेत गोकुल पुरातन वृन्दाटवी में बनाया हुआ ब्रजावास या गोष्ठ था और वहीं अक्रूर श्रीकृष्ण तथा बलराम को लेने गये थे। श्रीकृष्ण की प्राकट्य-भूमि गोकुल को तो नन्दादि गोप पहले ही छोड़ गये थे।

भागवत के आधार पर यह तो स्पष्ट है कि जिस स्थान से अक्रूर श्रीकृष्ण तथा बलराम को लाये वह मथुरा से अधिक दूर था, सघन छिपने योग्य वनों के बीच में था तथा गोवर्द्धन पर्वत उसके अन्तर्गत अथवा उसके सन्निकट था। अतः जिस भूमि पर आज वृन्दावन नगर बसा है, उस भूमि की यह परिभाषा नहीं हो सकती। किन्तु जहाँ आज वृन्दावन है वह भूमि पुराणोक्त वृन्दावन का एक भाग, अति महत्त्वपूर्ण भाग है, यह भी भागवत के आधार पर भली-भाँति स्वीकार किया जा सकता है। वृन्दावन के सभी सम्प्रदायों की धारणा है कि वर्तमान वृन्दावन श्रीकृष्ण की विहारभूमि है, रासस्थली है, तथा इससे बड़ा एक बृहत्तर वृन्दावन और है, जिसके अन्तर्गत गोवर्द्धन पर्वत है। नन्दादि गोपों ने उसी वृन्दावन के बीच अपना गोष्ठ बनाया था। श्रीमद्भागवत पुराण इस धारणा का अविरोधी ही नहीं, मूल आधार है।

इस पुराण के वृन्दावन सम्बन्धी उल्लेखों को तनिक देखिये :—

बालकों के नाश के हेतु आये अनेक उत्पातों से बचने के लिए नन्दादि गोपों ने अपना स्थान छोड़ वृन्दावन जाने का विचार किया।[2] वृन्दावन में प्रविष्ट होकर उन्होंने शकटों से अर्द्धचन्द्राकार गोष्ठ बनाया और वहीं रहने लगे।[3] जहाँ इन्होंने शरण ली उस वृन्दावन में पर्वत भी था।[4] एक बार पर्वत सहित उस सम्पूर्ण भूभाग को वृन्दावन संज्ञा देकर भागवतकार थोड़ी ही देर में उसे गोवर्द्धन से अलग बताते हैं।[5] इसके आगे तो वृन्दावन के भिन्न-भिन्न भागों के भिन्न-भिन्न नाम ही नहीं मिलते, इनसे वृन्दावन को और वृन्दावन से इनको जाने-आने के उल्लेख भी अनेक हैं। वृन्दावनान्तर्गत जिस स्थान पर गोपों ने ब्रजावास

१. श्री कृष्णदत्त वाजपेयी—मथुरा परिचय, पृ० ११।

२. श्रीमद्भागवत, दशम स्कन्ध, अ० ११—श्लोक २५ से २७।

३. वृन्दावनं संप्रविश्य सर्वकालसुखावहं।
तत्र चक्रुर्व्रजावासं शकटैरर्धचन्द्रवत्॥
—श्रीमद्भागवत, दशम स्कन्ध अ० ११—श्लोक, ३३।

४. वनं वृन्दावनं नाम पशव्यं नवकाननम्।
गोपगोपीगवां सेव्यं पुण्याद्रितरुवीरुधम्॥
—श्रीमद्भागवत, दशम स्कन्ध, अ० ११—श्लोक २६।

५. वृन्दावनं गौवर्धनं यमुनापुलिनानि च।
वीक्ष्यासीदुत्तमा प्रीती राममाधवयोर्नृप॥
—श्रीमद्भागवत, दशम स्कन्ध, अ० ११—श्लोक ३४।

बनाया[1] उसका नाम तो फिर इस पुराण में ब्रज, नन्दगोकुल, गोष्ठ या गोकुल हो ही गया। इस स्थान का वृन्दावन नाम से उल्लेख तो फिर शायद ही कहीं मिले। ब्रज और वृन्दावन के अलग-अलग उल्लेख के लिए कालिय-दमन प्रसंग को लीजिये। एक बार बलराम के बिना कृष्ण 'वृन्दावन' को गये।[2] वहाँ कालिय-दमन की इच्छा से जब वे दह में कूद पड़े तो गोप रोते-रोते 'ब्रज' में पहुँचे। इस दुःसंवाद को सुन आबालवृद्धवनिता सभी ब्रजवासी 'गोकुल' से चल दिये।[3] कालिय-मर्दन के पश्चात् श्रीकृष्ण सबको साथ लिए (वृन्दावन से) 'ब्रज' को लौटे।[4]

इन्द्र के मदमर्दन के प्रसंग में गोवर्धन से ब्रज तथा ब्रज से गोवर्धन जाने के उल्लेख भी इसी प्रकार के हैं।[5] इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि भागवतकार इन स्थानों को वृन्दावन के अर्न्तगत मानते हुए भी इनके भिन्न-भिन्न विशिष्ट नाम भी देते हैं। किन्तु जिस स्थान पर केशी का वध हुआ,[6] कालिय नाग को नाथा गया[7] तथा जिस वन में रासलीला के हेतु श्रीकृष्ण ने प्रवेश किया[8] उसका नाम वृन्दावन छोड़ और दूसरा नहीं मिलता। यही वृन्दावन की बृहत्तर और अन्तरंग दो प्रकार की स्थिति मानने का मूल आधार है।

श्रीमद्भागवत की कथाओं के आधार पर वृन्दावन के सम्बन्ध में निम्नलिखित धारणायें पुष्ट होती हैं :—

१. बृहत्तर वृन्दावन पूर्व में यमुना तक और पश्चिम में गोवर्धन पर्वत तक फैला हुआ था।

२. बृहत्तर वृन्दावन में स्थित गोष्ठ, ब्रज, या नन्दगोकुल यमुनातट से पर्याप्त दूरी पर था। तभी तो कालिय-मर्दन के पश्चात् सारे ब्रजवासी रात में वहीं यमुना किनारे सो गये[9] और दूसरे दिन घर लौटे। यदि कालिय-दह से ब्रज पास होता तो वे उसी रात को घर

१. कहा जाता है कि यह गोष्ठ वर्तमान वृन्दावन के ५ मील पश्चिम में उस स्थान पर बना था जहाँ आज छटीकरा गाँव है। छटीकरा वृन्दावन से गोवर्धन के मार्ग पर गोवर्धन से ११ मील दूर है। इसी गोष्ठ से अक्रूर आये थे।

२. एवं स भगवान्कृष्णो वृन्दावनचरः क्वचित।
यथौ राममृते राजन्कालिन्दीं सखिभिर्वृतः॥
—श्रीमद्भागवत, दशम स्कन्ध, अ० १५—श्लोक ४७।

३. आबालवृद्धवनिताः सर्वेंगपशुवृत्तयः।
निर्जग्मुर्गोकुलाद्दीनाः कृष्णदर्शनलालसाः॥
—श्रीमद्भागवत, दशम स्कन्ध, अ० १६—श्लोक १५।

४. अथ कृष्णः परिवृतो ज्ञातिभिर्मुदितात्मभिः।
अनुगीयमानो न्यविशद्व्रजं गोकुलमण्डितम्॥
—श्रीमद्भागवत, दशम स्कन्ध, अ० १८—श्लोक १।

५. श्रीमद्भागवत, दशम स्कन्ध, अ० २४ से २७।

६. श्रीमद्भागवत, दशम स्कन्ध, अ० ३७।

७. श्रीमद्भागवत, दशम स्कन्ध, अ० १६।

८. श्रीमद्भागवत, दशम स्कन्ध, अ० २९ से ३३।

९. ता रात्रिं तत्र राजेन्द्र क्षुत्तृड्भ्यां श्रमकर्षिताः।
उषुर्व्रजौकसो गावः कालिन्द्या उपकूलतः।
—श्रीमद्भागवत, दशम स्कन्ध, अ० १७—श्लोक २०।

आकर सोते। इसी गोष्ठ से अक्रूर को यमुना-तट तक आने में मध्याह्न हो गया था और इस यमुना-तट से मथुरा वे संध्या के समय पहुँचे। यदि अनुमान करें कि गोष्ठ से मथुरा की ओर बड़े रथ द्वारा जाने का मार्ग पहले एक योजन पूर्व की ओर यमुना तक जाता था, फिर वहाँ से दक्षिण की ओर एक योजन से कुछ कम चलने पर मथुरा नगर आ जाता था, तो छटीकरा के पास पश्चिम में कहीं गोष्ठ और वर्तमान वृन्दावन के आसपास कहीं अक्रूर तीर्थ[1] की स्थिति असंगत न लगेगी।

शंका की जा सकती है कि अक्रूरजी ने दिन-भर में इतनी ही दूरी क्यों पार की तथा वे गोष्ठ से सीधे मथुरा की ओर न आकर यमुनातट की ओर क्यों गये? इसके समाधान के लिए भागवत का यह उल्लेख दर्शनीय है—अक्रूर वायुवेगयुक्त रथ से गये थे और उसी दिन नन्दादि गोप कंस के लिए भेंट की सामग्री भरकर छकड़ों द्वारा मथुरा गये थे। परन्तु गोप अक्रूर से पहले मथुरा पहुँच गये और अक्रूर की प्रतीक्षा करते हुए मथुरा के किसी बगीचे में ठहरे रहे।[2] इसके दो ही कारण हो सकते हैं। प्रथम तो सम्भव है कि गोष्ठ से मथुरा आने के दो मार्ग हों। एक प्रशस्त किन्तु चक्करदार मार्ग जिससे अक्रूर का भारी-भरकम राजसी रथ आया और दूसरा घने जंगलों में होता हुआ संकुचित किन्तु पास का मार्ग जिसमें गोपों के शकट तो चल सकते थे किन्तु बड़े रथ की गम न थी। ब्रज के गाँवों की सवारियों का जिन्हें अनुभव है वे जानते हैं कि बैलगाड़ी या शकट तो चाहे जैसे मार्ग से जा सकते हैं, केवल निकलने भर को स्थान चाहिए। किन्तु यहाँ के रथ लम्बाई-चौड़ाई में छकड़ों के बराबर होते हुए भी उसी रास्ते से जा सकते हैं, जो साफ और एक-सा हो। जरा-सी 'दौंची' में उनके पलट जाने का डर रहता है। दूसरा कारण यह हो सकता है कि यमुना-तट पर आह्निक और विश्राम में अक्रूर तथा श्रीकृष्ण बलराम को बहुत समय लग गया। अतः धीमी चाल वाले शकट भी उनसे आगे निकल आये। मथुरा से गोष्ठ तक जाने का कोई सीधा मार्ग नहीं था तथा बीच में गहन वन थे, यही अधिक सम्भव है। तभी तो ब्रजवासियों ने उस स्थान को कंस के अत्याचारों से सुरक्षित समझकर अपना आवास बनाया।

३. श्रीकृष्ण की रासस्थली वृन्दावन के पास यमुना ऐसे टेढ़े मार्ग से बहती थी जैसे किसी ने उसे बलात् अपने स्वाभाविक मार्ग से काफी दूर खींचकर पुनः उसी मार्ग पर छोड़ दिया हो। इस तथ्य के प्रमाणस्वरूप भागवत की यह कथा है :—श्रीकृष्ण के मथुरा से द्वारका चले जाने के बाद बलराम जी एक बार नन्दगोकुल में आये। वहाँ रास की इच्छा से वे गोप-गोपियों के साथ वृन्दावन में प्रविष्ट हुए। वारुणी पिये मदविह्वल बलराम ने स्नान करने के लिए यमुना को अपने पास बुलाया। यमुना के न आने पर क्रुद्ध होकर वे अपने हल की नोक से उसे दूर तक खींच लाये। यमुना भयभीत हो गयी और विनय करने लगी। तब बलराम जी ने प्रसन्न होकर उसे छोड़ दिया।[3] भागवतकार कहते हैं कि यमुना आज

१. वर्तमान अक्रूरतीर्थ वृन्दावन से एक मील दक्षिण में यमुनातट पर स्थित है।

२. तावद्व्रजौकसस्तत्र नन्दगोपादयोग्रतः।
पुरोपवनमासाद्य प्रतीक्षन्तोवतस्थिरे॥
—श्रीमद्भागवत, दशम स्कन्ध, अ० ४१—श्लोक ८।

३. श्रीमद्भागवत, दशम स्कन्ध, अ० ६५।

भी उसी खींचे हुए मार्ग से बहती हुई दिखाई देती है।[1] वर्तमान वृन्दावन के तीन ओर यमुना कुण्डलाकार बहती है अतः भागवत की इस कथा में वर्णित स्थान यही है, ऐसा मानने में कोई बाधा नहीं।

४. यमुना पुलिनस्थ रासस्थल वृन्दावन मथुरा से बहुत अधिक दूर नहीं था। इस धारणा की पुष्टि भागवत की इस कथा से होती है। एक बार श्रीकृष्ण गोपमण्डली सहित गायें चराते वृन्दावन से दूर निकल गये। वहाँ उन्हें भूख लगी। उन्होंने गोपों को पास ही कहीं आंगिरस सत्र करते हुए ब्राह्मणों के पास भात माँगने भेजा। ब्राह्मणों ने सुनी अनसुनी कर दी। गोप श्रीकृष्ण के पास निराश लौटे। तब उन्होंने कहा कि पत्नीशाला में जाकर यज्ञपत्नियों से भोजन माँगो। यज्ञपत्नियाँ श्रीकृष्णदर्शन की उत्सुकता से भोजन लेकर तुरन्त चल पड़ीं। उन्होंने अशोकवन में श्रीकृष्ण को प्रेम से भोजन अर्पित किया।[2] बाद में ब्राह्मणों ने अपने भाग्य को बड़ा कोसा कि हम से तो हमारी स्त्रियाँ ही अच्छी रहीं, जो भगवद्दर्शन तो कर सकीं। परन्तु श्रीकृष्ण की अवहेलना-रूप अपने पाप का पश्चात्ताप करते हुए भी वे कंस के डर से श्रीकृष्ण के पास न गये।[3] इस कथा के आधार पर अनुमान किया जा सकता है कि ब्राह्मण जिस स्थान में यज्ञ कर रहे थे वह मथुरा के पास ही कंस के पूर्ण प्रभावक्षेत्र में था। उसके पास ही अशोकवन था[4], जहाँ से दो बार गोप यज्ञशाला में आये और शीघ्र ही यज्ञपत्नियों के साथ वापस पहुँच गये। और अशोकवन से लगा हुआ वृन्दावन था, वह यमुना पुलिनस्थ वृन्दावन जहाँ कृष्ण प्रतिदिन ब्रज से अपनी गायें चराने आते थे। वर्तमान वृन्दावन की स्थिति से यह धारणा पूरा मेल खाती है।

अन्य पुराण एवं संहिताओं के अध्ययन से भी हमारी ये धारणाएँ पुष्ट होती हैं। विष्णुपुराण के पंचमांश में तो श्रीमद्भागवत से यहाँ उद्धृत लगभग सभी श्लोकों की समानान्तर पंक्तियाँ मिलेंगी। अन्य पुराणों एवं संहिताओं में भी इन धारणाओं का कोई विरोध नहीं।[5] अधिक विस्तार में न जाकर हम यहाँ केवल कुछ उदाहरण देते हैं—

स्कन्दपुराण में गोवर्द्धन को वृन्दावन के अन्तर्गत बताया गया है[6]।

१. अद्यापि दृश्यते राजन्यमुनाकृष्टवर्त्मना।
बलस्यानन्तवीर्यस्य वीर्यं सूचयतीव हि॥
—श्रीमद्भागवत, दशम स्कन्ध, अ० ६५—श्लोक ३१।

२. श्रीमद्भागवत, दशम स्कन्ध, अ० २२ से २३।

३. इति स्वाघमनुस्मृत्य कृष्णे ते कृतहेलनाः।
दिदृक्षवोप्यच्युतयोः कंसाद्भीता न चाचलन्॥
—श्रीमद्भागवत, दशम स्कन्ध, अ० २३—श्लोक ५३।

४. जनोक्ति के अनुसार यज्ञपत्नियों द्वारा श्रीकृष्ण को भोजन कराने का स्थल अक्रूरतीर्थ के पास भोजन टीला माना जाता है। यह वर्तमान वृन्दावन से लगभग १ मील दक्षिण में मथुरा के मार्ग पर पड़ता है।

५. विस्तृत विवेचन के लिए देखिए—मेरा लेख—'पुराणों का वृन्दावन कहाँ है' : सर्वेश्वर, श्री वृन्दावन-धामांक, वर्ष ५ अंक : १-५।

६. अहो वृन्दावनं रम्यं यत्र गोवर्द्धनो गिरिः।
यत्र तीर्थान्यनेकानि विष्णुदेवकृतानिव॥
—स्कन्दपुराण, मथुरा खण्ड, श्री मधुसूदन गोस्वामी रचित श्री वृन्दावन दर्पण में उद्धृत। (श्री रूप गोस्वामी के 'मथुरा वृन्दावन माहात्म्य' [हस्तलिखित] में भी यह श्लोक स्कन्द पुराण से उद्धृत बताया गया है।)

८ : : स्वामी हरिदासजी का सम्प्रदाय और उसका वाणी-साहित्य

पद्मपुराण[1] एवं बृहद्गौतमीय तन्त्र[2] में वृन्दावन की परिधि पाँच योजन बतायी गयी है। ये उल्लेख वृन्दावन की बृहत्तर सीमा की स्थापना करते हैं।

रासस्थल या अन्तरंग वृन्दावन के सम्बन्ध में भी कुछ उल्लेख द्रष्टव्य हैं। वराह-पुराण के अनुसार वृन्दावन-वासी गोविन्द का स्थान मथुरा के उत्तर में स्थित[3] है। वराह-संहिता का कथन है कि वृन्दावन यमुना के पश्चिम में स्थित[4] है। वर्तमान वृन्दावन भी मथुरा के उत्तर में तथा यमुना के पश्चिम में है। वृन्दावन यमुना के दक्षिण में है ऐसा पद्मपुराण[5] और वराहसंहिता[6] दोनों का उल्लेख है। 'प्रदक्षिणं' के दो अर्थ हो सकते हैं—यमुना की दक्षिण दिशा में अथवा यमुना के प्रवाह के दाहिने हाथ को। दोनों ही अर्थ वर्तमान वृन्दावन की स्थिति से मिलते हैं। भविष्यपुराण में वृन्दावन की परिक्रमा पाँच कोस की लिखी है[7]। वराहसंहिता ने रासस्थल वृन्दावन की परिधि १ योजन की बतायी है।[8] वृन्दावन की वर्तमान परिक्रमा लगभग ३।। कोस की है। वृन्दावन के निवासी बताते हैं कि यमुना की धारा ने गहवर वन और पमरवन को काटकर परिक्रमा के मार्ग को छोटा कर दिया है[9]। यमुना-पुलिन से प्रवाह के बीच में खड़ी अनेक कुओं की कोठियाँ दिखायी देती

१. पंचयोजनमेवंहि वनं मे देहरूपकम्।
—पद्मपुराण, पाताल खण्ड, अ० ७५, श्लोक १०।

२. पंचयोजनमेवास्ति वनं मे देह रूपकम्।
कालिन्दीयं सुषम्णाख्या परमामृतवाहिनी।।
—बृहद्गौतमीय तंत्र : श्री रूपगोस्वामी कृत मथुरा माहात्म्य में उद्धृत।

३. उत्तरेण तु गोविन्दं दृष्ट्वा देवं परं शुभम्।
नासौ पतति संसारे यावदाभूत संप्लवम्।
—वराहपुराण, अध्याय १६३, श्लोक १९।

४. भद्रश्रीलोह भाण्डीर महातालखदीरका:।
बहुलाकुमुदाकाम्यमधुवृन्दावनं तथा ।।१३।।
द्वादशानां वनं संख्या कालिद्या: सप्त पश्चिमे।
पूर्वे पंचवनं प्रोक्तं तत्रास्ति गुह्यमुत्तमम् ।।१४।।
महावनं गोकुलाख्यं मथुरा मधुवनं तथा।
पूर्वे तु पंचभद्राद्यास्तालाद्या: सप्त पश्चिमे ।।१५।।
—वराहसंहिता, वृन्दावन रहस्य, प्रथम पटल।

५. श्रीमद्वृन्दावनं रम्यं यमुनाया: प्रदक्षिणम्।
शिवलिंगमधिष्ठानं दृष्टं गोपीश्वराभिधम् ।।
—पद्मपुराण पातालखण्ड, अ० ६९, श्लोक ३६।

६. श्रीमद्वृन्दावनं रम्यं यमुनाया: प्रदक्षिणम् ।।३६।।
तत्राधिष्ठात श्रीशंभुर्लिगे गोपेश्वर: स्वयम् ।।
—वराहसंहिता, वृन्दावन रहस्य, प्रथम पटल।

७. श्री नारायण भट्ट—व्रजभक्तिविलास, पृ० २४ में उद्धृत।

८. मध्ये वृन्दावने रम्ये मंजुमंदारशोभिते।
योजनावृततद्वृक्षै: शाखापल्लवमण्डितै: ।।
—वराहसंहिता, वृन्दावन रहस्य, तृतीय पटल।

९. श्री मधुसूदन गोस्वामी—श्रीवृन्दावन दर्पण, पृ० १०।

हैं। यहाँ पहले बड़े-बड़े बाग थे, जिन्हें यमुना बहा ले गयी। अनुमान से यमुना ने वृन्दावन के एक ओर की लगभग एक मील चौड़ी भूमि काट दी है। यही कारण है कि जिस मान-सरोवर से श्री हितहरिवंशजी नित्य ठाकुरसेवा के लिए आते थे और जो पहले यमुना के इस ओर था, आजकल यमुना के दूसरी पार है[1]। परिक्रमा के छोटे हो जाने का यही कारण है।

वृन्दावन के उपासक सभी सम्प्रदायों के साहित्य में बृहत्तर वृन्दावन तथा वर्तमान वृन्दावन की स्थिति, दोनों की अलग-अलग परिधियाँ तथा रासस्थल वृन्दावन के यमुना से तीन ओर घिरे होने के अनेक उल्लेख हैं। श्री प्रबोधानन्द सरस्वती अपने 'वृन्दावन शतक' में बृहत्तर वृन्दावन का 'गोष्ठ वृन्दावन' नाम से तथा रासस्थल वृन्दावन का 'धाम वृन्दावन' नाम से कथन करते हैं। वे सब धामों की स्थूलता तथा सूक्ष्मता का निर्धारण करते हुए कहते हैं कि वैकुण्ठ से द्वारका सूक्ष्म है, द्वारका से जन्मभूमि मथुरा सूक्ष्म है, मथुरा से श्रीकृष्ण का 'गोष्ठ वृन्दावन' तथा गोष्ठ वृन्दावन से भी सूक्ष्म है उनकी गोपियों के साथ रासक्रीड़ा की भूमि 'धाम वृन्दावन'[2]। श्री ललितकिशोरीदेव चौरासी कोस ब्रज के भीतर बीस कोस परिमाण के वृन्दावन तथा उसके अन्तर्गत एक योजन परिमाण के निजधाम निजवृन्दावन का उल्लेख करते हैं[3]। श्री चरणदास ने अपने ब्रज चरित्र में कहा है 'कि वृन्दावन बीस कोस के फेर में है। उसके मध्य निजवृन्दावन है जिसका आकार तिकोना तथा परिमाण एक योजन है'[4]। श्री हरिव्यासदेवाचार्य ने यमुना को वृन्दावन के पास कंकणाकार में बहता

१. यू० पी० सरकार से प्रकाशित—तीर्थदर्शन, पृ० १४।

२. स्थूलं सूक्ष्मं कारणं ब्रह्मतुर्यं श्रीवैकुण्ठद्वारकाजन्मभूमिः।
कृष्णस्याथो गोष्ठवृन्दावनन्तत् गोप्याक्रीड़ं धाम वृन्दावनान्तः॥

—वृन्दावन शतक, प्रथम शतक, श्लोक ८।

३. "निज धाम निज महल को आबरन एक योजन श्रीवृन्दावन, ताको आबरन बीस कोस श्री वृन्दावन, ताको आबरन चौरासी कोस ब्रज।"

—श्री ललितकिशोरी देव, श्री वचनिकासिद्धान्त ॥५॥

४. बीस कोस के फेर में वृन्दावन कूँ जान।
कुंजगली अति सोहनी द्रुमबेली पहचान।

० ० ०

तिहि मधि वृन्दावन महा निज वृन्दावन जान।
तिरकौनी बरनन कियौ जोजन है परवान॥

—श्री चरणदास, ब्रज चरित्र।

कोई-कोई विद्वान् वृन्दावन को चौरासी कोस में फैला हुआ बताते हैं, परन्तु ब्रज का विस्तार भी ८४ कोस बताया जाता है अतः उनका आशय यही है कि सारा ब्रज ही वृन्दावन है। वृन्दावन को जहाँ ब्रज का एक भाग माना गया है, वहाँ सर्वत्र उसका ५ योजन का उल्लेख मिलता है। 'चौरासी कोस वृन्दावन का एक उदाहरण देखिए :—

'साधक जे जन एई स्थान निष्ठा करि। जे समे जे लीला कृष्णेर साधन जे करि॥
चौरासि क्रोष व्यापी वृन्दावन मण्डल। तारमध्ये संक्षेप कहिल येई स्थल॥
श्री रूप रघुनाथ पदे जार आस। वृन्दावन ध्यान एई कहे कृष्णदास॥'

—श्रीकृष्णदास कविराज—वृन्दावन परिक्रमा : (बंगला)।

बताया है ।[1]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो गया होगा कि वर्तमान वृन्दावन जिसे माधुर्योपासक संप्रदायों ने अपना प्रधान केन्द्र बनाया और जो आज भी भारत-भर के भक्तहृदय जन-समाज को अपनी ओर आकर्षित करता है, श्रीमद्भागवत आदि पुराणों में वर्णित वृन्दावन ही है और उसके सम्बन्ध की लगभग सभी साम्प्रदायिक धारणाओं का मूल आधार ये पुराण ही हैं ।

वृन्दावन का इतिहास

वृन्दावन का अर्थ है तुलसी का वन । निश्चय ही कभी यहाँ तुलसी के कुंज रहे होंगे । ब्रह्मवैवर्तपुराण का कथन है कि गोलोक में एक बार श्रीदाम गोप ने राधा को शाप दिया कि तुम पृथ्वी पर वनदेवी बनकर अवतीर्ण हो । तब राधा सत्ययुग में राजा केदार की पुत्री वृन्दा के रूप में पृथ्वी पर अवतीर्ण हुईं । उन्होंने कृष्ण को पति-रूप में प्राप्त करने के लिए जिस वन में घोर तप किया उसका नाम वृन्दावन पड़ा ।[2] पद्मपुराण की कथा है कि विष्णु ने वर-प्राप्त जालंधर नामक राक्षस को मारने के लिए उसकी पत्नी वृन्दा को उसके पति का रूप धरकर छला । यही वृन्दा द्वापर में राधा रूप में अवतीर्ण हुई । इसी वृन्दा के नाम पर इस वन का नाम भी वृन्दावन पड़ा ।[3] गिलगिट मेन्यूस्क्रिप्ट, भाग ३, संख्या २, पृ० १५ से १७ में वेन्दा (वृन्दा) नामक यक्षी का उल्लेख आया है । कहा गया है कि 'बुद्ध ने अपनी मथुरा की यात्रा में गर्दभ यक्ष, शर और वन यक्ष तथा आलिका, वेन्दा, तिमिसिका नामक यक्षिणियों को अपने वश में किया[4] । वैष्णव साहित्य में 'वृन्दा' वन की देवी है । यह अनुमान असंगत न होगा कि भगवान् बुद्ध के समय में भी लोग यहाँ वृन्दा को देवी या यक्षिणी के रूप में पूजते रहे होंगे और इस पूजा से लोगों को विमुख करना ही बुद्ध द्वारा यक्षिणी को वश में करना था । बौद्धेतर जन 'वृन्दा' को उस समय भी देवी के रूप में पूजते थे, इसलिए बौद्ध साहित्य में तिरस्कार के हेतु उसे यक्षिणी कहा गया है, या उस समय की 'वृन्दा' यक्षिणी की पूजा ही कालान्तर में 'वृन्दा' देवी की पूजा बन गयी है—कहा नहीं जा सकता । 'वेन्दा' से अधिष्ठित वन उस समय भी 'वेन्दावन' (वृन्दावन) रहा होगा ।

सुन्दर विहार योग्य वन और गोचारण के उपयुक्त भूमि के रूप में तो वृन्दावन की प्रसिद्धि बहुत प्राचीन काल से चली आयी है ।

श्रीमद्भागवत पुराण में इसे 'पशव्यं नव काननं' कहा ही गया है । भास के बाल-चरित नाटक (तृतीयांक) में वृन्दावन का गोचारण योग्य भूमि के रूप में उल्लेख है । महा-

१. जय वृन्दावन नित्य विहार, श्रीराधा पिय परम उदार ।
जय सहचरी आदि रंगदेव्य, स्यामा स्यामहिं जिनके सेव्य ।
जय नव नित्यकुंज सुखसार, जय जमुना कंकन आकार ।
श्री हरिप्रिया सकल सुखसार, सर्ववेद को सारोद्धार ।
—श्री हरिव्यास देवाचार्य महावाणी, सिद्धान्त सुख, पद १ ।

२. ब्रह्मवैवर्तपुराण, श्रीकृष्णजन्मखण्ड, अ० २-३ ।

३. पद्मपुराण, उत्तरखण्ड, अ० १६ ।

४. डॉ० मोतीचन्द्र : सम एस्पेक्ट्स आफ यक्ष कल्ट: : बुलेटिन आफ प्रिंस आफ वेल्स म्यूजियम, बम्बई, १९५४ : पृ० ४३ ।

कवि कालिदास ने रघुवंश में इन्दुमती स्वयंवर के प्रसंग में वृन्दावन को कुबेर के चैत्ररथ वन के समान सुन्दर बताया है।[1] श्री हर्ष ने अपने नैषधीयचरित में मोरों से सुशोभित, कुसुमों के सौरभ से सघन, वनविहार के योग्य वृन्दावन की प्रशंसा की है।[2]

वृन्दावन में बस्ती का प्रारम्भ कब से हुआ, १६वीं शती से पहले यहाँ केवल सघन वन ही था या बस्ती भी थी, इस समस्या के समाधान के लिए उचित प्रमाणों का एकदम अभाव है। पुरातत्त्व संग्रहालय में दो आदमकद शालभंजिकायें हैं[3] जो वृन्दावन के रेतिया बाजार में एक धर्मशाला की नींव से लगभग १५ फीट नीचे से प्राप्त हुई थीं। ये कुषाण-कालीन सुन्दर स्त्रीमूर्त्तियाँ किसी बौद्ध विहार के तोरण द्वार में लगी होंगी। पीछे से किसी ने इन्हें राधाकृष्ण की मूर्तियों में परिवर्तित करने के लिए बहुत काटछांट दिया है। एक मूर्ति के माथे पर तो वैष्णव तिलक भी बना दिया गया है।

इन शालभंजिकाओं की प्राप्ति वृन्दावन में प्राचीन काल में बौद्धविहारों की स्थिति का संकेत करती है। परन्तु डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने इनके अंग-भंग के आधार पर यह सम्भावना प्रकट की है कि इन्हें १६वीं-१७वीं शती में कोई व्यक्ति अपने मन्दिर में रखने के लिए मथुरा के कटरा केशवदेव या भूतेश्वर से ले गया होगा।[4]

मथुरा के पुरातत्त्व संग्रहालय में वृन्दावन से प्राप्त और भी कई खण्डित मूर्तियाँ संग्रहीत हैं।[5] ये सभी पुराने मदनमोहन जी के मन्दिर के पास से मिली हैं। वृन्दावनवासियों

१. सम्भाव्य भर्तारममुं युवानं मृदुप्रवालोत्तरपुष्पशय्ये।
वृन्दावने चैत्ररथादनूने निर्विश्यतां सुन्दरि यौवनश्रीः॥
—रघुवंश, ६-५०।

२. गोवर्द्धनाचलकलापिचयप्रचार निर्वासिताहिनि घने सुरभिप्रसूनैः।
तस्मिन्ननेन सह निर्विश निर्विशंकं वृन्दावनं वनविहारकुतूहलानि॥
—नैषधीय चरित, ११-१०५

३. मथुरा पुरातत्त्व संग्रहालय, संग्रह संख्या २८८७ एवं २८८८।

४. (अ) जरनल आफ दी यू० पी० हिस्टारिकल सोसायटी, जुलाई १९४२, वाल्यूम १५, भाग १, 'न्यू शालभंजिका फ्राम वृन्दावन', पृ० ११५।
(आ) प्राचीन वैष्णव धर्म को बौद्ध धर्म के प्रचार से बड़ा धक्का लगा था और पुनः वैष्णव धर्म बौद्ध धर्म को पीछे हटाने में समर्थ हुआ। यह सम्भव हो सकता है कि जिस प्रकार महायानी बौद्धों ने वैष्णव मन्दिरों को नष्ट किया उसी प्रकार वैष्णवों ने पुनः उनसे बदला लेने को उनके विहार आदि नष्ट किये। इन मूर्तियों का अंगभंग इसी प्रकार वृन्दावन के किसी प्राचीन बौद्ध विहार के नष्ट होने का साक्षी हो सकता है।

५. (अ) संग्रह संख्या ३३७५ (ऊँचाई १ फुट ९ इन्च)—विष्णु की आवक्ष मूर्ति, गुप्तकाल।
(आ) संग्रह संख्या ३३७६ (ऊँचाई १ फुट ४ इन्च)—ब्रह्मा की मूर्ति का सिर, समय तीसरी शती।
(इ) संग्रह संख्या ३३७७ (ऊँचाई २ फुट १० इन्च)—पर्वत पर बैठे यक्षराज कुबेर की मूर्ति का निचला भाग, कुषाण काल।
(ई) संग्रह संख्या ३३७८ (ऊँचाई १ फुट ९ इन्च)—फूलमाला लिये हुए पूजक की मूर्ति का धड़—कुषाण काल।
(उ) संग्रह संख्या ३३७९ (लम्बाई २ फुट ४ इन्च चौड़ाई २ फुट २ इन्च)—एक पत्थर पर उत्कीर्ण गवाक्ष जिसके मध्य में स्त्रीमूर्ति बनी है, गुप्तकाल।
(ऊ) संग्रह संख्या ३३८० (ऊँचाई ६ इन्च) पुरुष सिर—गुप्त काल।
यह सभी मूर्तियाँ लाल बलुए पत्थर की हैं। संग्रहालय के अध्यक्ष श्रीकृष्णदत्त वाजपेयी ने इन्हें वृन्दावन से प्राप्त किया। इस सूची के लिए मैं उनका कृतज्ञ हूँ।

का कहना है कि मदनमोहन मन्दिर के पास के टीलों से प्रायः पुराने सरदलों के टुकड़े तथा अन्य सामग्री मिलती है। वृन्दावन नगरपालिका के लक्ष्मण शहीद भवन के बाहर एक पुरानी गजलक्ष्मी की मूर्ति रखी है जो गोविन्ददेव मन्दिर के टीले से निकली है। अभी तक पुरातत्त्व विभाग की ओर से वृन्दावन में कोई खुदाई नहीं हुई है। पुरातत्त्वविदों की दृष्टि में वृन्दावन नगर की प्राचीनता अत्यन्त संदिग्ध है। परन्तु नींव में १५ फीट नीचे से विशाल शालभंजिकाओं का मिलना, टीलों से प्राप्त फुटकर सामग्री तथा गोविन्ददेव एवं गोपीनाथ मन्दिरों के ऊँचे-ऊँचे टीले यह शंका अवश्य उत्पन्न करते हैं कि सम्भव है पहले भी यहाँ मन्दिर, मठ या विहार रहे हों।

ई० पू० चौथी शती के यूनानी यात्री मेगस्थनीज के लेख के आधार पर एरियन नामक एक अन्य परवर्ती यूनानी ने अपनी पुस्तक इण्डिका में शूरसेन प्रदेश का वर्णन करते हुए कहा है—'शौरसेनाइ लोगों के दो बड़े नगर हैं—मेथोरा और क्लीसोबोरा। उनके राज्य में जोबरेस नदी बहती है।' 'जोबरेस' का अर्थ यमुना तथा 'मेथोरा' का अर्थ मथुरा तो सभी विद्वानों ने स्वीकार किया है परन्तु 'क्लीसोबोरा' के अर्थ के सम्बन्ध में विभिन्न मत हैं। कनिंघम ने 'क्लीसोबोरा' का अर्थ अपने भारतीय भूगोल में वृन्दावन माना था।[1] ग्राउज के अनुसार यह नगर पुराना महावन था, किन्तु टाड के मत में आगरा जिले का बटेश्वर।[2] बाद में कनिंघम ने अपना मत बदल दिया और 'क्लीसोबोरा' का अर्थ उन्होंने मथुरा के पास का एक मुहल्ला कटरा केशवदेव अर्थात् केशवपुरा लगाया।[3] 'क्लीसोबोरा' का पूर्ण सन्तोषप्रद अर्थ अभी तक नहीं हो सका है परन्तु अन्य प्रमाणों के अभाव में वृन्दावन को ई० पू० चौथी शती का एक समृद्ध नगर मानना क्लिष्ट कल्पना ही होगी।

किन्तु ऐसे भी अनेक प्रमाण मिलते हैं जिनसे सिद्ध होता है कि यहाँ किसी न किसी परिमाण में बस्ती बहुत दिनों से—१६वीं शती के पहले से चली आयी है। इन तथ्यों के आधार पर पुराने वृन्दावन का व्यवस्थित इतिहास तो नहीं लिखा जा सकता, परन्तु वृन्दावन के इतिहास पर विचार करनेवालों को इन्हें ध्यान में अवश्य रखना पड़ेगा। यहाँ हम इनका संक्षेप में उल्लेख करते हैं :—

१. स्कन्दपुराण में वृन्दावन को मुनियों के आश्रमों से पूर्ण बताया गया है[4]। इस सुन्दर वन में ऐसे आश्रम रहे होंगे, इसमें कोई असंगत बात नहीं। मथुरा के पुरातत्त्व संग्रहालय में लगभग २२०० वर्ष पुराने एक सरदल के पत्थर पर एक पर्णकुटी का दृश्य अंकित है[5] जिससे ब्रज के प्राचीन आश्रमों के स्वरूप का ज्ञान होता है।

१. कनिंघम—ऐंश्येन्ट जिआग्रफी आफ इण्डिया (सं० एस० एन० मजूमदार, कलकत्ता, १९२४), पृ० ४२९।
२. एफ० एस० ग्राउज—मथुरा मेम्वायर (द्वितीय संस्करण, इलाहाबाद, १८८०) पृ० २५७-८।
३. कनिंघम—आर्केयोलोजिकल सर्वे आफ इण्डिया, एनुअल रिपोर्ट, जिल्द २०, (१८८२-३) पृ० ३१-३२।
४. वृन्दावनं सुगहनं विशालं विस्तृतं बहु।
मुनीनामाश्रमैः पूर्णं वन्यवृन्दसमन्वितम्।
—स्कन्दपुराण, मथुरा खण्ड, श्री रूप गोस्वामी के 'मथुरा वृन्दावन माहात्म्य में उद्धृत।
५. पुरातत्त्व संग्रहालय, मथुरा—संग्रह संख्या—आई ४।

२. पद्मपुराण में वृन्दावन के देवता गोविन्द[1] एवं गोपीश्वर नामक शिवलिंग[2] का उल्लेख है। इससे ज्ञात होता है कि इस पुराण के लेखक के समय में वृन्दावन में गोविन्ददेव एवं गोपीश्वर शिव के मन्दिर थे।

३. विक्रमांक देवचरित् (रचनाकाल सं० ११४२ के लगभग) में रचयिता महाकवि विह्लण की मथुरा-वृन्दावन-यात्रा का वर्णन है। विह्लण ने मथुरा में जैन विद्वानों को शास्त्रार्थ में परास्त किया तथा वृन्दावन के 'परिसर' में कुछ दिन बिताये[3]। विह्लण जैसे सैलानी जीव जहाँ टिके होंगे, वहाँ अवश्य कोई बस्ती रही होगी।

४. गोविन्ददेव मन्दिर के निर्माण के समय अकबर की आज्ञा से मौजा दुसायत मन्दिर की सेवा के लिए भेंट किया गया[4]। दुसायत आज वृन्दावन का एक प्रमुख मुहल्ला है। दुसायत के ठाकुरों का कथन है कि वे वृन्दावन के सबसे पुराने निवासी और जमींदार हैं। अकबर की सनद से यह सिद्ध होता है कि दुसायत में १६ वीं शती से भी पहले बस्ती थी।

५. श्री चैतन्य महाप्रभु जब वृन्दावन आये तो वे वृन्दावन की सीमा पर लगे अक्रूर नामक स्थान में ठहरे थे। वहीं वे तीसरे पहर भिक्षाग्रहण करते थे। अक्रूर के ग्रामनिवासियों की भीड़ उनके दर्शनों को जमा हो जाती थी, वृन्दावन में यमुना-किनारे इमली के तले सुचिक्कण चबूतरे पर वे विश्राम करते थे।[5] कृष्णदास कविराज के श्री चैतन्यचरितामृत (रचनाकाल सं० १६३८-३९) के इस उल्लेख से अक्रूर में बस्ती होने का पता चलता है।

१. गुह्याद्गुह्यतरं रम्यं मध्ये वृन्दावनं भुवि।
अक्षरं परमानन्दं गोविन्दस्थानमव्ययम्॥

—पद्मपुराण, पाताल खण्ड, अ० ६९, श्लोक ७१।

२. श्रीमद्वृन्दावनं रम्यं यमुनाया:प्रदक्षिणम्।
शिवलिंगमधिष्ठानं दृष्टंगोपीश्वराभिधम्॥

—पद्मपुराण, पाताल खण्ड, अ० ६९, श्लोक ३६।

३. दोलालोलद्घनजघनया राधया यत्र भग्ना:
कृष्णक्रीड़ांगणविटपिनो नाद्युनाप्युच्छ्वसन्ति।
जल्पक्रीड़ामथितमथुरासूरिचक्रेण केचित्।
तस्मिन्वृन्दावनपरिसरे वासरा येन नीता:॥

—विक्रमांकदेवचरित्, अष्टादश सर्ग, श्लोक ८७।

४. गोविन्ददेव मन्दिर के अधिकारियों की पारस्परिक मुकदमेबाजी के कारण मैं बहुत प्रयत्न करने पर भी यह सनद स्वयं न देख सका। परन्तु मथुरा के वयोवृद्ध एवं प्रतिष्ठित वकील श्री द्वारकानाथ भार्गव ने जो स्वयं बहुत दिन से गोविन्ददेव जी के मन्दिर सम्बन्धी मामलों में वकालत करते आये हैं, इस सनद का उपयोग किया है। उन्हीं से मुझे इसके लेख का पता चला।

५. प्रात: वृन्दावन कियो चीर घाट स्नान। इमली तला में आय कियो है विश्राम।
कृष्णलीला काल को सो वृक्ष पुरातन। ताके नीचे चौंतरा है परम सुचिक्कन।

o o o

इमलीतला में बैठ करें संकीर्तन। मध्याह्न करिकै करैं अक्रूर भोजन।
अक्रूर के लोक आवें प्रभु को देखन। लोक भीड़ स्वच्छन्द न हो सकै भोजन।

—श्रीचैतन्य चरितामृत : अनुवाद—राधाचरण गोस्वामी : पृष्ठ ९२।

६. श्रीहरिराम व्यास (सं०१५६७-१६६६) ने अपनी वाणी में वृन्दावन वासी भट्ट और गोस्वामियों का उल्लेख किया है, जो 'सुखनिधि वृन्दावन' को छोड़कर धन के पीछे 'गौड़ गुजरात' में भटकते फिरते हैं।[1] इससे ज्ञात होता है कि उस समय भी ऐसे अनेक भट्ट या गोस्वामी परिवार थे जिनकी जीविका का प्रधान साधन दूर-दूर के स्थानों के शिष्यों द्वारा दी हुई भेंट ही था। यह उल्लेख श्री चैतन्य महाप्रभु या श्री हितहरिवंश जैसे महात्माओं के अनुयायी या वंशज गोस्वामियों के सम्बन्ध में नहीं हो सकता, क्योंकि इनके मत का तो अभी प्रारम्भिक काल ही था। इन गोस्वामियों के वंश की अभी वृद्धि नहीं हुई थी और इनमें से जो इस समय वृन्दावन में वर्तमान थे, वे सब निर्लोभ त्यागी पुरुष थे। ये उल्लेख निश्चय ही अन्य ऐसे तीर्थवासी स्वामी, भट्ट या गोस्वामियों के सम्बन्ध में हैं जिनके परिवार बहुत पहले से यही जीविका करते आये थे।

उपर्युक्त पंक्तियों से हम केवल यह कहना चाहते हैं कि अनेक लोगों की यह धारणा 'कि सोलहवीं शती से पहले यहाँ कुछ नहीं था, यहाँ सिंह व्याघ्र से पूर्ण घोर जंगल था, यह वृन्दावन गौड़ीय वैष्णवों ने बसाया है और इससे पहले इसे कोई नहीं जानता था'[2] एकदम निर्मूल है। अन्य धार्मिक स्थानों की भाँति यहाँ भी मन्दिर थे; तीर्थपुरोहित, पण्डे, भट्ट, गोस्वामी आदि लोग रहते थे; जमींदार, किसान तथा अन्य ग्रामवासी भी थे। यह एक बड़ा नगर न था परंतु तीर्थयात्रा के एक प्रसिद्ध स्थान के रूप में यह बहुत समय से प्रतिष्ठित था।

भारत के विभिन्न भागों से अनेक सन्त यहाँ तीर्थयात्रा या निवास के लिए आते थे। प्राचीन साहित्य में इनमें से कुछ के आने और यहाँ रहने के स्पष्ट उल्लेख भी मिलते हैं। भक्तमाल की टीका के अनुसार दक्षिण के प्रसिद्ध सन्त बिल्वमंगल यहाँ आकर रहे थे।[3] वृन्दावन में बिल्वमंगल के इमली और तमाल के दो वृक्ष आज भी विद्यमान बताये जाते

१. (अ) गावत नाचत आवत, लोभ कह।
याही तें अनुराग न उपजत, राग बैराग सोभ कह॥
मन्त्र जन्त्र पढ़ि मेलि ठगौरी, बस कीनौ संसार।
स्वामी बहुत गुसाईं अगनित, भट्टन पै न उबार॥
—भक्तकवि व्यासजी (वासुदेव गोस्वामी) पृ० २२८, पद १४४।

(आ) भटकत फिरत गौर गुजरात।
सुखनिधि मथुरा वृन्दावन तजि, दामन कौं अकुलात।
—भक्तकवि व्यासजी (वासुदेव गोस्वामी) पृ० २२५, पद १३३।

२. (अ) कृष्णदत्त वाजपेयी—ब्रज परिचय, पृ० ११।
(आ) चिन्तामणि शुक्ल—ए गाइड टु वृन्दावन, पृ० ३।
(इ) बाबा कृष्णदास—रासलीलानुकरण और श्री नारायण भट्ट, पृ० ३।

३. ऐसे ही करत वृन्दावन घन आइ लियो पियो चाहे रस सब जग लागे फीको है।
—नाभाजी के भक्तमाल पर प्रियादास जी की टीका, छन्द सं० १७४।
(आचार्य बिल्वमंगल के समय का निर्णय नहीं हुआ है। कुछ लोग इनका काल ८वीं शती में मानते हैं। देखिये—बलदेव उपाध्याय, भागवत सम्प्रदाय, पृ० ३६६।)

हैं। सम्प्रदाय-प्रवर्तक आचार्य विष्णुस्वामी भी यहाँ आये थे।[1] महाराष्ट्र के विख्यात सन्त नामदेव (मृत्यु सं० १४०७) भी अपनी तीर्थयात्रा में वृन्दावन आये थे।[2] राजस्थान की प्रसिद्ध भक्त करमैती बाई किस प्रकार द्विरागमन से एक दिन पहले पतिरति को त्याग घर से भागकर वृन्दावन में आकर रहीं, यह रोचक कथा भक्तमाल में वर्णित है।[3] कहा जाता है कि यह ब्रह्मकुण्ड नामक स्थान पर आकर रही थीं। स्वामी हरिदासजी के गुरु श्री आसुधीरजी यहाँ पहले से ही रहते थे। स्वामी हरिदास जी भी उनसे सं० १५६२ में विरक्त दीक्षा ले निधिवन में रहने लगे। श्रीवल्लभाचार्य (सं १५३५-१५९०) चार बार वृन्दावन आये।[4] श्री निम्बार्क की तो उपास्य ही वृषभानुजा थीं अतः वे स्वयं तथा उनके अनेक अनुयायी वृन्दावन में आये तथा बसे होंगे।[5] स्वामी हरिव्यास देव ने यहाँ अपने जीवन का बहुत-सा भाग बिताया होगा ऐसा उनकी रचनाओं के आधार पर कहा जा सकता है।

जिस समय स्वामी हरिदास जी वृन्दावन में उपस्थित थे वह समय वृन्दावन के चरमोत्कर्ष का समय था। वृन्दावन की भक्ति की सरिता में मानो अश्रुतपूर्व ज्वार उठा था। रस का सागर चारों ओर हिलोरें ले रहा था, जिसे देश के कोने-कोने से उमड़ती हुई प्राणवती धाराओं ने जीवन-दान किया था। सं० १५७१ वि० में[6] श्री चैतन्य महाप्रभु का यहाँ आना वृन्दावन के इतिहास में एक बहुत बड़ी घटना थी। उनके चमत्कारपूर्ण दिव्य व्यक्तित्व से प्रेरित हो देश में भक्ति की जो एक लहर उठी उसने जनमन को सराबोर कर दिया। श्री चैतन्य के पीछे उनके अनुयायी अनेक महात्मा वृन्दावन में आये और यहीं बस गये। श्री चैतन्य के अनुयायियों का लिखा संस्कृत, बंगला और ब्रजभाषा साहित्य भक्ति-साहित्य की अद्वितीय निधि है। इनके तत्कालीन अनुयायियों में श्री रूप गोस्वामी, श्री सनातन गोस्वामी, श्री जीव गोस्वामी एवं श्री गोपाल भट्ट गोस्वामी मुख्य हैं।

सं० १५९१ में[7] श्री हितहरिवंश जी वृन्दावन में आये। वे वृन्दावन की माधुर्य-

१. सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त—ए हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी, भाग ४ (१९४९ ई०) पृ० ३८३। (श्री दासगुप्त के अनुमान से विष्णुस्वामी १२-१३वीं शती ई० में रहे होंगे। ऑल इण्डिया ओरियेण्टल कान्फरेंस, बड़ौदा, दिसम्बर १९३३ में पढ़े गये श्री जी० एच० भट्ट के 'विष्णुस्वामी एण्ड बल्लभाचार्य' नामक लेख के अनुसार विष्णुस्वामी १०वीं शती ई० में रहे होंगे।)

२. बलदेव उपाध्याय, भागवत सम्प्रदाय, पृ० ५७८।

३ नाभाजी, भक्तमाल, छप्पय १६१।

४. सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त—ए हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी, भाग ४ (१९४९ ई०) पृ० ३७१-३७२।

५. डी० ए० पई—मोनोग्राफ आन दि रिलीजस सेक्ट्स इन इण्डिया एमंग दी हिन्दूज, पृष्ठ ५२।

६. सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त— ए हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी, भाग ४ (१९४९ ई०, पृ० ३८८) ने श्री चैतन्य का वृन्दावन आगमन सं० १५७२ में माना है।

७. संवत् पन्द्रह सै अधिक उनसठ को वैसाख।
सुदि एकादशि प्रगट हित पुजई रस अभिलाख॥
बरस बतीस वयः क्रम जान्यौ। प्रगट वास वन कौ मन मान्यौ॥
बरस अठारह लौं वन बसे। बहुरि निकुंज महल में लसे॥
ooo
संवत् सौरह सैरु नव कातिक पून्यौ स्वच्छ।
ता दिन श्री हरिवंश वपु दीसत नहिं जग अच्छ॥ —उत्तमदास
(श्री राधावल्लभीय सम्प्रदाय के इन कवि की रचना के अनुसार श्री हित जी का जन्म सं० १५५९, वृन्दावन आगमन सं० १५९१ एवं देहावसान सं० १६०९ है।)

भक्ति के प्रमुख उन्नायकों में से हैं। श्री राधा की भक्ति को उन्होंने प्रधानता दी और श्री राधावल्लभीय सम्प्रदाय की स्थापना की। रसिकाचार्य श्री हितजी की कृपा प्राप्त करने बड़े-बड़े महात्मा दूर-दूर से वृन्दावन में खिंचे चले आये। इनके सम्प्रदाय का साहित्य भक्ति का शृंगार और ब्रजभाषा का गौरव है।

ओड़छे के श्री हरिराम व्यास प्रथम बार सम्भवतः सं० १५९१ में वृन्दावन आये और फिर सं० १६१२ में तो यहाँ आकर बस ही गये।[1] ये बड़े प्रसिद्ध भक्त एवं कवि थे।

सं० १६५० के आसपास भक्तमाल के रचयिता प्रसिद्ध सन्त श्री नाभाजी वृन्दावन में रहते थे। वे स्वयं रामानन्दी वैष्णव थे परन्तु उन्होंने बिना भेदभाव के सभी वैष्णवों की भूरि-भूरि प्रशंसा की। उनका सन्तों का आतिथ्य-सत्कार प्रसिद्ध था।

यों तो उस समय में कौन ऐसे वैष्णव सन्त होंगे, जो कभी न कभी वृन्दावन न आये हों। परन्तु श्रीकृष्ण की कान्तासक्ति की प्रमुख प्रचारिका श्री मीरांबाई इनमें विशेष उल्लेखनीय हैं। ये सं० १५९५ में वृन्दावन में आयीं।[2] ब्रज साहित्य के सूर्य श्री सूरदास भी वृन्दावन आये थे। उनकी वृन्दावन के प्रति अत्यन्त भक्ति उनके सूरसागर से विदित होती है। यह विचित्र बात है कि उन्होंने वात्सल्य रस के पोषक वल्लभ सम्प्रदाय के अनुयायी होते हुए भी वृन्दावन की महिमा के वर्णन में जितने पद लिखे हैं उतने गोकुल की महिमा में नहीं।[3] श्री रामचरितमानसकार गोस्वामी तुलसीदास जी भी यहाँ आये थे।[4]

वृन्दावन के महात्माओं के पवित्र चरित्रों की गाथा भारत-भर में कही सुनी जाने लगी। प्रतापी सम्राट अकबर ने भी वृन्दावन की कीर्ति को सुना और वह वृन्दावन आया। उसे विशेष लालसा थी इस ग्रन्थ के प्रमुख चरित-नायक, स्वामी हरिदास जी के दर्शनों की, जिनके उज्ज्वल चरित्र एवं विलक्षण संगीत का कुछ परिचय उसे उनके संगीत-शिष्य तानसेन से भी मिल चुका था। अकबर किस संवत् में आया होगा यह पूर्णतया निश्चित नहीं है परन्तु कुछ विद्वानों का मत है कि वह सं १६२७ में[5] वृन्दावन आया होगा। अन्य विद्वान् उसके वृन्दावन आने का समय सं० १६३० में[6] मानते हैं।

अकबर की वृन्दावन यात्रा से हिन्दू राजाओं को अपने इस प्रिय तीर्थ में बड़े-बड़े मन्दिर बनवाने की खुली छूट मिल गयी। इस समय में जो मन्दिर यहाँ बने वे भारत की मन्दिर-निर्माण कला के अनुपम उदाहरण हैं। शेखावत वंश के राजा रायसील ने गोपीनाथ जी (श्री मधुपण्डित के ठाकुर) का मन्दिर बनवाया। सेठ रामदास कपूर ने श्रीमदनमोहन

१. वासुदेव गोस्वामी—भक्त कवि व्यास जी, पृ० ७६ एवं ८४।

२. मेरे विद्वान् मित्र काशी के श्री वामकेश भट्टाचार्य ने मीरां जी के सम्बन्ध में पर्याप्त मौलिक शोध की है। उनकी निर्धारणा के अनुसार मीरांबाई का जन्म सं० १५६० में हुआ तथा मृत्यु सं० १६०३ में द्वारका में हुई। ये सं० १५९५ में वृन्दावन आयीं थीं।

३. डॉ० श्री मुन्शीराम शर्मा : भारतीय साधना और सूर साहित्य, पृ० ४५१-५३।

४. काशी जाय वृन्दावन आय मिले नाभाजू सों सुन्यो कवित्त निज रीझे मति भीजिये।

—प्रियादास, भक्तमाल की टीका, कवित्त सं० ५१७।

५. (अ) मथुरा : ए गजेटियर (१९११ ई०) पृ० १९१।

(आ) एफ० एस० ग्राउज—मथुरा, ए डिस्ट्रिक्ट मेम्बायर—द्वितीय संस्करण (१८८० ई०) पृ० २२३।

६. कृष्णदत्त बाजपेयी—ब्रज का इतिहास, पृ० १५३।

जी[1] (श्री सनातन गोस्वामी के ठाकुर) का मन्दिर बनवाया। सं० १६४१ में[2] दिल्ली के खजांची सुन्दरदास कायस्थ ने श्रीराधावल्लभ (श्री हित हरिवंश के ठाकुर) का मन्दिर बनाया। अकबरी दरबार के रत्न राजा मानसिंह ने श्री गोविन्द देव (श्री रूप गोस्वामी के ठाकुर) का मन्दिर सं० १६४७ में बनवाना प्रारम्भ किया। इसका निर्माण सं० १६७१ में पूरा हुआ। इस मन्दिर का शिल्प इतना कलापूर्ण और सुन्दर है कि लोग इसे देवताओं का बनवाया हुआ मन्दिर कहते हैं। ग्राउज महोदय का कहना है कि इतना सुन्दर मन्दिर शायद उत्तर भारत में तो दूसरा नहीं बना।[3] कुछ ही समय बाद सं० १६८३ में श्री राधादामोदर (श्री जीव गोस्वामी के ठाकुर) का मन्दिर बना। सं० १६८४ में चौहान ठाकुर नौनकरन ने श्री युगलकिशोर (श्री हरिराम व्यास के ठाकुर) का मन्दिर बनवाया। सं० १६९३ में बनी रम्भावती की छत्री (गोविन्ददेव मन्दिर के पास) भी इस काल की इमारतों में उल्लेखनीय है।

वृन्दावन का स्वरूप बदल रहा था। वन की सुरम्य कुंजों का स्थान विशाल मन्दिरों और भवनों ने ले लिया था। इन मन्दिरों के व्यय के लिए अनेक गाँव और जागीरें राजा-महाराजाओं ने भेंट की थीं। इन विशाल मन्दिरों के निर्माण ने तत्कालीन दुर्भिक्षों से पीड़ित सहस्रश: जनों को मजदूरी द्वारा जीविका का एक सुलभ साधन दिया होगा। मन्दिरों के सदाव्रत से सहस्रों ब्राह्मण, बटुक एवं साधुओं को भोजन मिलता होगा। पूजा-सेवा के लिए अनेक कर्मचारियों की नियुक्ति हुई होगी। इस प्रकार वृन्दावन को एक जनसमृद्ध नगर बनाने में इन मन्दिरों का बड़ा हाथ रहा होगा। इस समय में वृन्दावन की भौतिक सम्पत्ति ही नहीं बढ़ी, यहाँ के सन्तों और विद्वानों ने संस्कृत और ब्रजभाषा में अनेक ग्रन्थ लिखकर भक्ति के सिद्धान्तों को पुष्ट किया और सरस भावुकता को पल्लवित। स्वा० हरिदास जी की गद्दी पर इस बीच उनके प्रशिष्य स्वा० विहारिणि देव एवं उनके बाद स्वा० सरसदेव विद्यमान थे।

वृन्दावन शान्त गति से अपनी समृद्धि के मार्ग पर बढ़ रहा था। अकबर के वृन्दावन आगमन को अभी १०० वर्ष भी न हुए थे कि सं० १७२६ में इस धार्मिक केन्द्र की प्रगति को एक करारा धक्का लगा। औरंगजेब के आक्रमण की बात सुनकर यहाँ हलचल मच गयी। मन्दिरों के अधिकारी वर्ग अपनी उपास्य मूर्तियों को ले लेकर दबे-छिपे दूसरे स्थानों को चले गये। गोविन्द्र देवजी की मूर्ति आमेर गयी और गोपीनाथ जी की मूर्ति को गो० भवानन्द कामा ले गये। औरंगजेब ने गोविन्ददेव के मन्दिर के ऊपरी शिखर तुड़वा डाले, उसका गर्भगृह नष्ट करा दिया, उसने राधावल्लभ जी के मन्दिर का भी गर्भगृह नष्ट कराया और इस प्रकार उसने इन विशाल एवं सुन्दर मन्दिरों को पुन: पूजा और देवप्रतिष्ठा के अयोग्य बना दिया। कहते हैं कि उसने गोविन्ददेव मन्दिर की छत पर एक मस्जिद भी बनवायी एवं वहाँ स्वयं नमाज पढ़ी। औरंगजेब ने इस नगर का नाम बदलकर मोमिनाबाद रख दिया। किन्तु यह नाम शाही कागजों में ही रहा, प्रचलित नहीं हुआ। स्वा० हरिदास जी की गद्दी पर इस कठिन अवसर पर स्वा० नरहरिदेव विद्यमान थे।

१. प्रसिद्ध कवि सूरदास मदनमोहन के नाम में इन्हीं ठाकुर का नाम जुड़ा है।
२. विल्सन—स्केच ऑन दि रिलीजस सेक्ट्स ऑफ दि हिन्दूज (१८६१) पृ० १७७।
३. एफ० एस० ग्राउज—मथुरा—ए डिस्ट्रिक्ट मेम्वायर (द्वितीय संस्करण) पृ० २२३।

औरंगजेब के इस अत्याचार के पश्चात् वृन्दावन लगभग ५० वर्ष तक स्तब्धता और आतंक की अवस्था में रहा। इस बीच यहाँ किसी प्रकार के निर्माण के संकेत इतिहास में नहीं मिलते। औरंगजेब की मृत्यु के बाद बहादुरशाह सम्राट् बना। उसने सं० १७७८ में सवाई राजा जयसिंह को आगरे का सूबेदार बनाया। जयसिंह वृन्दावन भी आते-जाते थे और उन्होंने यहाँ अपनी ७ वर्ष की सूबेदारी में थोड़ा-बहुत निर्माण भी कराया। पुरानी कचहरी या घेरा उन्हीं के द्वारा बनी इमारत है। उन्होंने हनुमान घाट और भ्रमर घाट भी बनवाये। सिंहपौर के हनुमान उन्हीं के पधराये हुए हैं।

वृन्दावन का शान्त वातावरण एक बार फिर क्षुब्ध हुआ। सं० १७९६ में दिल्ली पर नादिरशाह ने चढ़ाई की। उसके लुटेरे सिपाही लूट मचाते हुए मथुरा और वृन्दावन भी आये। कहते हैं कि वृन्दावन में भी उन्होंने लोगों को कष्ट देकर उनसे रुपया वसूल किया। प्रसिद्ध कवि आनन्दघन का उन्होंने धन न मिलने पर हाथ काट दिया जिससे उनकी मृत्यु हो गयी।[1] ये लुटेरे आये और चले गये। इस क्षणिक आपत्ति का वृन्दावन पर कोई स्थायी प्रभाव न पड़ा होगा। देश के प्रधान मार्गों से दूर एक कोने में पड़े नगर पर राजनीतिक हलचलों का असर एकदम पड़ भी न सकता था।

सं० १८११ में फादर जोसेफ टीफिथेलर नामक एक फ्रांसीसी पादरी अपनी भारत यात्रा में वृन्दावन भी आया। उसने लिखा है :

"इस नगर में केवल एक बड़ी सड़क है जिसके दोनों ओर सुन्दर नक्काशीदार पत्थरों की बढ़िया इमारतें हैं। इन्हें हिन्दू राजा और सरदारों ने केवल सजावट के लिए, अपने कभी-कभी रहने के लिए या धार्मिक प्रयोजन के लिए बनवाया है।"[2]

वृन्दावन में निर्माण जारी रहा। प्रसिद्ध रानी अहिल्याबाई ने यहाँ कई घाट और मन्दिरों का निर्माण कराया। करौली के राजा गोपालसिंह (राज्यकाल सं० १७८२-१८१४) ने मदनमोहन जी के नये मन्दिर का निर्माण कराया। परन्तु सं० १८१४ में फिर एक घोर दुर्दिन का आगमन हुआ। अहमदशाह अब्दाली का सेनापति जहानखाँ नजीब मथुरा को लूटकर वृन्दावन पहुँचा और यहाँ उसने बहुत बड़ी संख्या में वैष्णवों की हत्या की। एक प्रत्यक्षदर्शी मुसलमान ने लिखा है—

"जिधर नजर जाती मुर्दों के ढेर के ढेर दिखाई देते थे। सड़कों से निकलना तक मुश्किल हो गया था। लाशों से ऐसी विकट दुर्गन्ध आती थी कि साँस लेना दूभर हो गया था।"

कुछ ही दिन बाद अब्दाली स्वयं महावन में नागाओं से लड़कर लूट-मार करता दिल्ली की ओर बढ़ा। रास्ते में उसने वृन्दावन में भी चार दिन तक जबरदस्त लूट-मार की। वृन्दावन में भी महावन की भाँति वैष्णव अखाड़ों के सशस्त्र साधुओं ने आततातियों का सामना किया परन्तु सुगठित सेना का सामना करना उनके लिए कठिन ही था। अब्दाली ने अपार धनराशि ही नहीं लूटी, अनेक स्त्रियों का भी हरण किया। आसपास की भूमि में उसने खेतों तक को नष्ट कर दिया।[3] जुगलकिशोर जी की मूर्ति इसी समय छिपाकर पन्ना ले

१. कृष्णदत्त बाजपेयी—ब्रज का इतिहास, पृ० १८१।
२. एफ० एस० ग्राउज—मथुरा, ए डिस्ट्रिक्ट मेम्वायर, (द्वितीय संस्करण) पृ० १७४।
३. कृष्णदत्त बाजपेयी—ब्रज का इतिहास, पृ० १८८-९।

जायी गयी थी। स्वा० हरिदास जी की परम्परा में इस समय स्वा० ललितकिशोरी देवजी विद्यमान थे।

अब्दाली के जाने के बाद कुछ दिन आसपास का क्षेत्र भरतपुर के जाट राजाओं के प्रभुत्व में रहा। इन राजाओं ने वृन्दावन में भी अनेक सुन्दर घाट, मन्दिर, कुंज, छत्री आदि का निर्माण कराया और इस प्रकार लूट-मार से त्रस्त वृन्दावन के पुनर्निर्माण में बड़ा भारी योग दिया। परन्तु जाटों के प्रभुत्व का अन्त एक दुःखद घटना से हो गया। जाट शासक राजा रतनसिंह बड़ा विलासी था। सं० १८२६ में वह वृन्दावन आया और यमुना किनारे उसने एक बड़े उत्सव का आयोजन किया। इसमें चार हजार नर्तकियाँ बुलायी गयीं। उसने गोसाईं रूपानन्द नामक एक यन्त्र-मन्त्र के चमत्कार दिखानेवाले को बहुत-सा धन दिया। रूपानन्द ने रतनसिंह से रसायन बनाने का लालच देकर यह रुपया ऐंठा था। एक दिन वह साधारण धातुओं से सोना बनाने का वायदा कर रतनसिंह को एक एकान्त हवेली में ले गया और अपनी पोल खुलती देखकर उसने खौलते हुए कढ़ाव में राजा को धक्का देकर गिरा दिया और मार डाला। राजा के सिपाहियों को जब इस घटना का पता चला तो उन्होंने रूपानन्द को भी समाप्त कर दिया।[1]

कुछ समय तक वृन्दावन का वातावरण अतीव अशान्त रहा। जब महादजी सिंधिया का यहाँ प्रभुत्व स्थापित हुआ तो उनके पुत्र दौलतराव सिंधिया ने सं० १८४३ में वृन्दावन में एक टकसाल बनायी। यह समय बड़ी अराजकता का था और मुसलमान, जाट, मराठे, नागा सब अपना प्रभावक्षेत्र बढ़ाने में लगे हुए थे। कभी कोई किसी से मिल जाता, कभी कोई किसी से। राजनीति में इस समय छीन-झपट का दौरदौरा था। सिंधिया को वृन्दावन में ही एक बलशाली विरोधी का सामना करना पड़ा। नागा सरदार गोसाईं हिम्मतबहादुर गिरि, जो मुगल बादशाह से मिलकर सिंधिया को नीचा दिखाना चाहता था, बहुत शक्तिशाली हो गया था। सिंधिया ने उसकी बहुत-सी जागीर छीन ली। किन्तु वृन्दावन की जागीर उसके पास रहने दी। हिम्मतबहादुर वृन्दावन में रहकर छिपे-छिपे तैयारी करता रहा। सिंधिया ने उसे दबाने के लिए फौज भेजी। शक्तिशाली गोसाईं ने पहले तो मरहठों को एक बार हरा दिया परन्तु अन्त में उसे भागना पड़ा। फिर भी नागाओं का विद्रोह निरन्तर चलता ही रहा। इस समय नाम के लिए शासन मुगलों का था परन्तु महादजी ही वास्तविक कर्ताधर्ता था। उसके मालवा जाने पर सं० १८४५ में रुहेलों ने मुगलों का बहुत-सा प्रदेश छीन लिया। उनके सरदार इस्माइल बेग के सैनिक वृन्दावन भी पहुँचे और यहाँ उनका कब्जा हो गया। तब देवजी गवले नामक मरहठा सरदार पाँच हजार सवार लेकर दक्षिण से मथुरा की ओर चल पड़ा। उसने मथुरा से इस्माइल बेग के सिपाहियों को हराकर

१. (अ) एफ० एस० ग्राउज—मथुरा, ए डिस्ट्रिक्ट मेम्वायर (द्वितीय संस्करण), पृ० ३९।
(आ) कर्नल टाड—एनल्स एण्ड एण्टिक्विटीज़ आफ़ राजस्थान, भाग ३, १९२० ई०, पृ० १३६०।
(श्री बांकेबिहारी के गोस्वामी छबीलेवल्लभ जी ने बताया कि उनके वंश में यह परम्परा प्राप्त उक्ति है कि रूपानन्द उन्हीं के पूर्वज थे। राजा रतनसिंह बांकेबिहारी जी की मूर्ति को वृन्दावन से बलात् भरतपुर ले जाना चाहता था अतः रूपानन्दजी ने उसे रसायन बनाने का बहाना कर रतन छत्री में तेल के खौलते कढ़ाव में गिराकर मार डाला एवं अनेक गोस्वामियों सहित रतनसिंह के सिपाहियों से लड़ते हुए वे भंगीपाड़े में मारे गये, जहाँ उनकी समाधि है।)

वृन्दावन पर भी कब्ज़ा किया। वृन्दावन में इस समय इस्माइल बेग के सात सौ सिपाही दो तोपों के साथ नियुक्त थे। ये भागे और यमुना पार करने में इनमें से ४०० मारे गये और बहुत से डूब मरे।

महादजी सिंधिया ने ब्रज की उन्नति के लिए बहुत कुछ किया। वृन्दावन में भी ऐसे अनेक मन्दिर हैं जिन्हें उसने जागीरें दी थीं। उसने अनेक घाटों एवं मन्दिरों का पुनर्निर्माण भी कराया। सं० १८४५ में हिम्मतबहादुर ने सिन्धिया को मारने की चेष्टा की। कहते हैं उसने वृन्दावन की एक जादूगरनी से उसे जादू द्वारा मरवाने का उपाय किया। सिन्धिया बहुत बीमार हो गया, परन्तु जैसे-तैसे बच गया। उसने हिम्मत बहादुर को दण्ड देना चाहा पर वह भाग गया। इस हलचलपूर्ण समय में स्वा० हरिदास जी की परम्परा में स्वा० ललितमोहिनी देवजी गद्दी पर थे।

सं० १८५२ में ब्रज के दो प्रमुख प्रेमियों, महादजी सिन्धिया और रानी अहल्या बाई की मृत्यु हुई। इनके दान के ब्रज में अनेक स्मारक हैं। सं० १८६० में ब्रज से मरहठों के शासन का अन्त हुआ और अंग्रेजों की प्रभुता आयी। शासन में थोड़ा स्थायित्व आते ही वृन्दावन में फिर निर्माण कार्य प्रारम्भ हुआ। सं० १८६७ में ब्रज के प्रसिद्ध भक्त श्रीकृष्ण-चन्द्र सिंह (लालाबाबू) ने श्री कृष्णचन्द्रमा का मन्दिर बनवाया। सं० १८७८ में नन्दकुमार घोष ने गोपीनाथ जी तथा सं० १८८३ में शाहविहारीलाल ने श्री राधारमण जी (श्री गोपाल भट्ट के सेव्य ठाकुर) के नये मन्दिर बनवाये।

सं० १८८६ में विक्टर जैकेमाण्ट नामक फ्रान्सीसी यात्री वृन्दावन आया। उसने यहाँ के सम्बन्ध में लिखा है :

"यह बहुत प्राचीन नगर है। मथुरा से भी इसका महत्त्व अधिक है। इसकी इमारतें लाल पत्थर की बनी हैं। यहाँ दो ऊँचे मन्दिर हैं (सम्भवतः मदनमोहन और युगल-किशोर)। एक बड़ा और इनसे बाद का बना मन्दिर खण्डहर पड़ा है। बनारस के बाद वृन्दा-वन ही दूसरा शहर है, जहाँ केवल हिन्दुओं की बस्ती है। यहाँ मैंने कोई मस्जिद नहीं देखी। चारों ओर सुन्दर वृक्ष हैं जो धूल भरे मैदान में हरे द्वीप से लगते हैं।"[1]

मन्दिरों का निर्माण चलता रहा। सं० १९०२ में मथुरा के प्रसिद्ध सेठ गोविन्द-दास एवं सेठ राधाकृष्ण ने दक्षिण के श्रीरंगम् मन्दिर की नकल पर रंगजी के कई परकोटों वाले विशाल मन्दिर का निर्माण प्रारम्भ किया। यह मन्दिर सं० १९०८ में पूर्ण हुआ।

सं० १९१४ में दिल्ली से पीछे हटते हुए गदर के विद्रोही सैनिक वृन्दावन में भी आये। ग्राउज़ साहब के अनुसार उन्होंने यहाँ के निवासियों को बहुत सताया।[2] उनसे जबरदस्ती धन वसूल किया और हाथरस की ओर चले गये। परन्तु वृन्दावन निवासियों का कहना है कि उन्होंने यहाँ कोई लूटपाट नहीं की। वे लूटने की इच्छा से आये अवश्य थे परन्तु यहाँ के प्रसिद्ध भक्त एवं सेठ साहजी ने उनका खानपान से अच्छा सत्कार किया और विद्रोही भी इसे धार्मिक स्थान जान बिना लूटे ही यहाँ से लौट गये।

सं० १९१७ में ग्वालियर के राजा ने अपने गुरु ब्रह्मचारी गिरिधारी दासजी की देखरेख में श्री राधागोपाल जी का मन्दिर बनवाया। सं० १९२१ में स्वा० हरिदास जी के

१. एफ० एस० ग्राउज, मथुरा—ए डिस्ट्रिक्ट मेम्वायर, (द्वि० संस्करण), पृ० १७४-५।
२. वही, पृ० ४६-४७।

सेव्य ठाकुर श्री बांकेविहारी जी का नया मन्दिर इसके अधिकारी गोस्वामियों के प्रयत्न से बना। सं० १९२८ में टिकारी की रानी इन्द्रजीत कुँवर ने श्री राधा इन्द्रकिशोर का मन्दिर बनवाया तथा सं० १९३३ में लखनऊ के शाह कुन्दनलाल एवं फुन्दनलाल ने घुमावदार खम्भोंवाला संगमरमर का मन्दिर बनवाया।

मथुरा के तत्कालीन जिला मजिस्ट्रेट श्री एफ० एस० ग्राउज़ ने वृन्दावन के पुराने स्थापत्य के रक्षण के अनेक श्लाघनीय प्रयास किये। विदेशी होते हुए भी वे यहाँ की कला के बड़े प्रेमी थे। उन्होंने सं० १९३० में गोविन्ददेव जी के पुराने मन्दिर का पुनर्निमाण प्रारम्भ कराया। मन्दिर के आसपास की अनधिकृत कब्जा की हुई भूमि को साफ कराकर मन्दिर के सामने का रास्ता प्रशस्त किया। सफाई कराकर गिरते हुए खम्भों को सहारा दिया और उचित मरम्मत करायी। श्री ग्राउज़ ने अन्य प्राचीन स्थापत्य के उत्कृष्ट नमूनों की रक्षा का भी प्रबन्ध किया। उनका विख्यात ग्रन्थ 'मथुरा—ए डिस्ट्रिक्ट मेम्वायर' ब्रज सम्बन्धी शोध सामग्री का एक अपूर्व कोष है। वृन्दावन की मन्दिर-निर्माण कला की कीर्ति के प्रचार का बहुत कुछ श्रेय ग्राउज़ महोदय को है।

संक्षेप में यही वृन्दावन का इतिहास है। वृन्दावन का कोई उचित इतिहास उपलब्ध न होने के कारण हमने यथासम्भव सभी प्राप्त सामग्री (लिखित एवं मौखिक) को यहाँ सूत्रबद्ध कर दिया है। वृन्दावन के व्यवस्थित इतिहास के प्रारम्भ से वर्तमान काल तक के स्वा० हरिदास जी के सम्प्रदाय के सभी कवियों का परिचय हमें देना है और यह सामग्री विभिन्न कवियों के समय में वृन्दावन के वातावरण का कुछ परिचय दे सकेगी। परन्तु सच पूछिये तो वृन्दावन का वास्तविक इतिहास राजनीति के उलट-पलट, सन्धि-विग्रह, या छल-प्रपंच का इतिहास नहीं। वह ईंट-पत्थर के विशाल मन्दिरों और घाटों, भवनों और पक्की सड़कों का इतिहास भी नहीं है। वृन्दावन का सच्चा जीवन सतह पर प्रवाहित नहीं होता। उसके जीवन की यमुना अन्तर्मुखी है, जिसके रस से भक्ति के अनेक बिरवों की जड़ें पुष्ट हुई हैं और इन्हीं वर्द्धमान वटों की शाखा-प्रशाखाओं के श्यामल आलवाल ने जग के आतप से तप्त अनेक त्रस्त हृदयों को शीतल और आश्वस्त किया है। वृन्दावन का सच्चा स्वरूप इसके विभिन्न वैष्णव सम्प्रदायों में दीख पड़ता है, जिनके संसार त्यागी विरक्त महानुभाव और विद्वान् पण्डित एकान्त साधन करते हुए सदा से भक्ति रसों से हमारे दर्शन और साहित्य को समृद्ध बनाते आये हैं। हम यहाँ संक्षेप में वृन्दावन के सम्प्रदायों का परिचय देने का प्रयत्न करेंगे।

वृन्दावन के सम्प्रदाय

वृन्दावन में यों तो सभी सम्प्रदायों के मन्दिर और अखाड़े हैं और भारत के सभी हिन्दू सम्प्रदायों और पन्थों के अनुयायी यहाँ तीर्थयात्रा के लिए आते ही रहते हैं। रामानन्दी, रामानुजी, निर्गुणी, निरंजनी, अद्वैतवादी, सहजिया, शाक्त, शैव सभी प्रकार के वैष्णव और साधु-सन्त यहाँ मिलेंगे। इनमें रामानन्दी, रामानुजी, एवं अद्वैतवादियों की संख्या ही बहुत बड़ी नहीं है, इनके बड़े-बड़े मन्दिर और स्थान भी हैं। परन्तु हम यहाँ उन्हीं सम्प्रदायों का संक्षेप में परिचय दे रहे हैं जो श्री राधाकृष्ण की मधुर भक्ति की किसी-न-किसी रूप में उपासना करते हैं और इस प्रकार जिनका हमारे आलोच्य सम्प्रदाय से साधर्म्य है।

१. स्वा० हरिदास जी का सम्प्रदाय : वृन्दावन का व्यवस्थित इतिहास जिस समय

से प्राप्त है उसमें समय-क्रम के अनुसार स्वा० हरिदास जी का नाम ही सबसे पहले आता है। यही वृन्दावन में सखी भाव के सबसे प्रथम उपासक हैं। श्री वृन्दावन में श्री किशोरकिशोरी का नित्य-निकुंज-विहार ही स्वामीजी का उपासनीय तत्त्व है। यहाँ नित्य संयोग माना जाता है। इस उपास्य युगल का ब्रज से कोई सम्बन्ध नहीं, वे सहज रूप से वृन्दावन में ही प्रकट हुए हैं और यहीं अविचल विहार कर रहे हैं। संक्षेप में यही स्वामीजी का रस है। स्वामीजी की दीक्षा निम्बार्क सम्प्रदाय में अवश्य हुई परन्तु उन्होंने अपने निजी एवं स्वतन्त्र उपासना-तत्त्व की उद्भावना कर अलग सम्प्रदाय चलाया, यह निर्विवाद है। उनके सम्प्रदाय तथा उसके साहित्य का विस्तृत परिचय अगले अध्यायों में मिलेगा। इस सम्प्रदाय को सखी सम्प्रदाय और टट्टी सम्प्रदाय भी कहते हैं।

२. **श्री माध्व-गौड़ेश्वर सम्प्रदाय** (चैतन्य सम्प्रदाय या गौड़िया सम्प्रदाय) : भक्ति के सिद्धान्तों का शास्त्रीय विवेचन जैसा इस सम्प्रदाय के महानुभावों द्वारा हुआ वैसा वृन्दावन के अन्य किसी सम्प्रदाय में नहीं मिलता। अनुयायियों की संख्या, एवं कलापूर्ण मन्दिरों की संख्या के कारण भी यह सम्प्रदाय वृन्दावन में अग्रगण्य है। इसके प्रवर्त्तक थे श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु। इनका जन्म सं० १५४२ में फाल्गुण शुक्ला १५ को बंगाल के नवद्वीप नामक स्थान में हुआ। इन्होंने माध्व मतानुयायी श्री माधवेन्द्रपुरी के शिष्य श्री ईश्वरपुरी से वैष्णव दीक्षा ली और २४ वर्ष की अवस्था में उन्हीं के दूसरे शिष्य श्री केशव भारती से संन्यास दीक्षा ली। इसी कारण इनका मत स्वतन्त्र होते हुए भी माध्व सम्प्रदाय के अन्तर्गत माना जाता है। आपने बंगाल, उत्कल और उत्तर भारत को भक्ति रस में सराबोर कर दिया। आपने श्री राधाकृष्ण की प्रेमा भक्ति एवं उनके नाम-संकीर्तन का प्रचार किया। सं० १५७१ में अनेक तीर्थों की यात्रा करते हुए श्री चैतन्य महाप्रभु वृन्दावन आये। ब्रज तथा वृन्दावन के अनेक लुप्त तीर्थों का पुनः प्रकटीकरण आपके द्वारा हुआ। श्री चैतन्य कुछ दिन यहाँ रहकर लौट गये और फिर आपका अधिकांश समय जगन्नाथ पुरी में बीता जहाँ आपने सं० १५९० में शरीर त्याग किया। आपकी प्रेरणा से आपके अनेक शिष्य वृन्दावन आये और उन्होंने यहाँ भक्ति का अद्भुत प्रचार किया। इनमें प्रमुख थे ६ गोस्वामी : १. श्री रूप गोस्वामी, २. श्री सनातन गोस्वामी, ३. श्री रघुनाथदास गोस्वामी, ४. श्री रघुनाथ भट्ट, ५. श्री गोपाल भट्ट और ६. श्री जीव गोस्वामी। संस्कृत भाषा में लिखे गये अपने भक्ति-तत्त्व के ग्रन्थों के कारण चैतन्य सम्प्रदाय के विद्वानों का नाम अध्यात्म-क्षेत्र में सदा अमर रहेगा। इस सम्प्रदाय में सैकड़ों संस्कृत ग्रन्थों की रचना हुई है जिनमें कुछ महत्त्वपूर्ण रचनाएँ ये हैं :

श्री रूप गोस्वामी : उज्ज्वलनीलमणि, भक्तिरसामृतसिन्धु, लघु भागवतामृत, विदग्ध-माधव नाटक, ललित-माधव नाटक आदि।

श्री सनातन गोस्वामी : वैष्णवतोषिणी (भागवत दशम स्कन्ध की टीका) बृहद्भाग-वतामृत, कृष्णलीलास्तव आदि।

श्री रघुनाथदास गोस्वामी : विलापकुसुमांजलि, राधाष्टक, नामाष्टक आदि।

श्री गोपाल भट्ट : हरिभक्तिविलास।

श्री जीव गोस्वामी : षट् सन्दर्भ, क्रम सन्दर्भ नामक ग्रन्थ तथा भक्तिरसामृतसिन्धु, कृष्ण कर्णामृत तथा ब्रह्मसंहिता की टीकाएँ एवं अन्य ग्रन्थ।

श्री विश्वनाथ चक्रवर्ती : प्रेम संपुट आदि मौलिक ग्रन्थ, श्रीमद्भागवत, गीता,

ब्रह्मसंहिता तथा अपने सम्प्रदाय के अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की टीकाएँ ।

श्री नारायण भट्ट : ब्रजभक्तिविलास, भक्ति-रस-तरंगिणी एवं अन्य ग्रन्थ ।

श्री बलदेव विद्याभूषण : ब्रह्मसूत्र का गोविन्द भाष्य, गीता की टीका, भागवत की टीका, सिद्धान्तरत्न, प्रमेयरत्नावली आदि ।

इस सम्प्रदाय में बंगला तथा उड़िया भाषा में भी प्रभूत साहित्य लिखा गया है । बंगला के चैतन्य चरितामृत (ले० कृष्णदास कविराज), चैतन्य भागवत (ले० वृन्दावनदास), चैतन्य मंगल (ले० लोचनदास ठाकुर) आदि ग्रन्थ इस सम्प्रदाय के सिद्धान्त-विधान की धुरी हैं । ब्रजभाषा में भी इस सम्प्रदाय के कवियों ने अनेक ग्रन्थ लिखे हैं । इनमें से कुछ तो संस्कृत या बंगला के साम्प्रदायिक ग्रन्थों का अनुवाद ही हैं । ब्रजभाषा के ग्रन्थों में उल्लेखनीय हैं :

श्री सूरदास मदनमोहन—वाणी (फुटकर पद) ।
श्री गदाधर भट्ट—वाणी ।
श्री वल्लभरसिक—वाणी ।
श्री प्रियादास—भक्तमाल की भक्तिरसबोधिनी टीका, रसिकमोहिनी, अनन्यमोहिनी, चाहवेली, भक्तसुमिरिणी ।
श्रीराम राय—गीत गोविन्द पद ।
श्री रसजानि वैष्णवदास—गीत गोविन्द ।
श्री ब्रह्मगोपाल—हरिलीला ।
श्री सुबलश्याम—श्री चैतन्य चरितामृत (छन्दोबद्ध अनुवाद) ।
श्री माधुरीदास—श्री माधुरी, वन्सीवट विलास माधुरी, दान माधुरी, मान माधुरी आदि ।
श्री वृन्दावन दास—वैष्णव वन्दना, विलाप कुसुमांजलि तथा प्रेमभक्ति चन्द्रिका के छन्दोबद्ध अनुवाद ।
श्री गौर गणदास—गौरांगभूषण मंजावली ।
श्री मनोहरदास—राधारमण रस सागर ।
श्री रामहरि—बुधि विलास, सतहंसी, बोधबावनी, रसपचीसी आदि ।
श्री ललितकिशोरी—स्फुट रचनाएँ ।
श्री राधाचरण गोस्वामी—श्री चैतन्य चरितामृत (छन्दोबद्ध अनुवाद), नव भक्तमाल ।
श्री ललित माधुरी—स्फुट रचनाएँ ।
श्री गुणमंजरीदास—स्फुट रचनाएँ ।

श्री माध्व-गौड़ेश्वर सम्प्रदाय का दार्शनिक मत 'अचिन्त्य भेदाभेदवाद' है । यह वाद माध्वाचार्य के द्वैतवाद से भिन्न है । श्री चैतन्य महाप्रभु ने अपने दार्शनिक मत के प्रतिपादन के लिए स्वयं कोई ग्रन्थ नहीं लिखा । किन्तु समय-समय पर उनके मुख से जो वाक्य निःसृत हुए और जिनका संकलन श्री चैतन्य चरितामृतादि ग्रन्थों में किया गया, उनमें इस मत के सूत्र स्पष्ट परिलक्षित होते हैं । श्री रूप, सनातन, जीव प्रभृति गोस्वामियों ने भी भक्ति और रस को सांगोपांग पुष्ट करने के लिए तो अनेक ग्रन्थ लिखे परन्तु किसी नवीन सम्प्रदाय की स्थापना के लिए प्रस्थानत्रयी (ब्रह्मसूत्र, गीता एवं भागवत) के भाष्य की जो आवश्यकता

समझी जाती है उसकी पूर्ति उन्होंने भी नहीं की। श्री विश्वनाथ चक्रवर्ती तथा श्री बलदेव विद्याभूषण ने बहुत बाद में सम्प्रदाय के इस अभाव को पूरा किया। आज श्री बलदेव विद्याभूषण का 'गोविन्दभाष्य' (ब्रह्मसूत्र पर भाष्य) ही 'अचिन्त्यभेदाभेदवाद' का प्रमाण-ग्रन्थ माना जाता है।

मध्व-मत के समान ही इस मत में भी ब्रह्म सगुण और सविशेष है। जीव अणु है, सेवक है। भगवान के प्रसाद से ही जीव की मुक्ति होती है। जगत सत्य है और ब्रह्म का परिणाम है। किन्तु जहाँ मध्व मत के अनुसार ब्रह्म और जीव सदा भिन्न हैं, यहाँ तक कि मुक्तावस्था में भी जीव ब्रह्म से भिन्न रहता है, वहाँ चैतन्य मत में ब्रह्म और जीव में भिन्नता होते हुए भी वे गुण और गुणी भाव से अभिन्न भी हैं। ईश्वर गुणी है, जीव गुण। ईश्वर देही है, जीव देह। ईश्वर शक्तिमान है और जीव शक्ति। अतः दोनों भिन्न भी हैं और अभिन्न भी। वास्तव में तर्क से भेद और अभेद दोनों का ही सिद्ध करना कठिन है अतः यह मत 'अचिन्त्यभेदाभेदवाद' कहलाता है।

इस मत में भक्ति ही मुख्य साधन है। ज्ञान और वैराग्य भक्ति के सहकारी साधन हैं। भक्ति मार्ग की तीन अवस्थाएँ हैं—साधन, भाव और प्रेम। इन्द्रियों की प्रेरणा से की जानेवाली सामान्य भक्ति का नाम साधन भक्ति है। यह जीव के हृदयस्थ प्रेम को जगाने का साधन है। इसी से इसे साधन भक्ति कहते हैं। भाव प्रेम की प्रथमावस्था है। चित्त में स्निग्धता उत्पन्न करनेवाली भक्ति का नाम भाव है। भाव ही घनीभूत होकर प्रेम बनता है। प्रेम ही परम पुरुषार्थ है।

मध्व-मत में दास्य भाव की उपासना पर बल दिया गया है परन्तु चैतन्य मत में दास्य, शान्त, वात्सल्य, सख्य, शृंगार पाँचों भक्ति रसों की उपासना का विशेष महत्त्व है। श्रीकृष्ण ही पर तत्त्व हैं। वे अप्राकृत वृन्दावन भूमि में प्रेम स्वरूपा श्री राधिका के साथ निरन्तर विहार में रत हैं। उनकी शृंगार-लीलाएँ अनन्त हैं। गोपीगण इस विहार की सहायक हैं। उनकी अभिलाषा स्वयं श्रीकृष्ण-संग प्राप्त करने की नहीं वरन् उत्साह सहित श्रीकृष्ण को सुख देने तथा श्री राधाकृष्ण की क्रीड़ा में सहायता करने की रहती है। भक्त जब यह अति विशुद्ध गोपीभाव अंगीकार करता है तब उसे उज्ज्वल प्रेमामृत के पान का आनन्द मिलता है। यही इस माधुर्योपासना का रहस्य है।

श्री चैतन्य मत में परकीया भाव की उपासना की प्रधानता है। आशय यह कि उपास्य श्री राधा और कृष्ण का पारस्परिक सम्बन्ध पत्नी और पति का नहीं वरन् परस्त्री और उसके प्रेमी जैसा अनुमान किया जाता है। स्वयं श्रीकृष्ण चैतन्य के वचनानुसार 'परकीया भाव में रस का विशेष उल्लास होता है।' पति-पत्नी के नित्य संयोग में एकरसता की सम्भावना हो सकती है किन्तु परकीया भाव में संयोग के साथ वियोग की पुनः उत्तेजना देनेवाली उत्सुकता मिली रहती है। उपास्य युगल की आठों पहर की लीला का मानसी ध्यान साधक किस प्रकार करता है उसका एक उदाहरण देखिये :

कुंजाद्गोष्ठं निशान्ते प्रविशति कुरुते दोहनान्नाशनाद्यां।
प्रातः सायं च लीलां विहरति सखिभिः संगमे चारयन्गाः।
मध्यान्हे चाथनक्तं विलसति विपिने राधयाद्धापरान्हे।
गोष्ठं याति प्रदोषे रमयति सुहृदो यः स कृष्णेवतान्नः।

—रूप गोस्वामी, स्मरण-मंगलस्तोत्र, श्लोक २।

गुरु ने कृपा कर जो मानसी गोपी रूप देह शिष्य को प्रदान की है उसे यत्न से तथा प्रेम से शृंगार कराकर, मानसी ध्यान द्वारा प्रियाप्रियतम की अष्टकाल की लीलाओं का दर्शन करता रहे। ध्यान में समयानुसार श्री युगल को वस्त्रालंकार, ताम्बूल, चन्दन, दन्तकाष्ठ, सुगन्धित द्रव्य आदि समर्पित करे तथा अन्य सेवा में रत रहे। स्वयं को राधिका-सेवा-परायणा, राधिका की किंकरी करके माने। स्वयं को दोनों के मिलानेवाली गोपी रूप में जाने तथा उनके सुख से सुखी हो। आनन्द भाव से, परम शान्त रूप से इस मानसी सेवा में संलग्न रहे। यही इस उपासना का प्रकार है। यही प्रेमा भक्ति है। यह प्रेमा भक्ति ही परम पुरुषार्थ है। श्री चैतन्य महाप्रभु के मत का सार किसी ने निम्नलिखित श्लोक में स्पष्ट कह दिया है :

आराध्यो भगवान् ब्रजेशतनयस्तद्धाम वृन्दावनम्।
रम्या काचिदुपासना ब्रजवधूवर्गेण या कल्पिता।
श्रीमद्भागवतं प्रमाणममलं प्रेमा पुमर्थो महान्।
श्री चैतन्य महाप्रभोर्मतमिदं तत्राग्रहो ना परः।

३. श्री राधावल्लभीय सम्प्रदाय : समयक्रम के अनुसार यद्यपि इस सम्प्रदाय का वृन्दावन में प्रसार कुछ पीछे हुआ परन्तु महत्त्व की दृष्टि से यह सम्प्रदाय किसी से पीछे नहीं। इसके प्रवर्त्तक श्री हितहरिवंश जी की उपासनीय रस की रीति ही विलक्षण है। ब्रजभाषा के साहित्य की दृष्टि से यह सम्प्रदाय वृन्दावन के सब सम्प्रदायों से अधिक समृद्ध है।

श्री हित हरिवंश जी का जन्म मथुरा जिले के बाद नामक ग्राम में वैशाख शुक्ला ११ सं० १५५९ को हुआ। ३२ वर्ष की अवस्था तक ये देवबन्द में रहे तथा सं० १५९१ में वृन्दावन चले आये। यहाँ इन्होंने अपने उपास्य श्री राधावल्लभ जी का मन्दिर बनवाकर इसी वर्ष उनका पाटोत्सव किया। १८ वर्ष वृन्दावन में रहकर सं०-१६०९ की शरद पूर्णिमा को आपने शरीर त्याग किया। इनकी उपासना की रस रीति की उत्कृष्टता के सम्बन्ध में नाभाजी ने कहा है कि "बिरले ही इस भजन की रीति को कभी समझें। इस रीति को वही समझ सकता है जो इनके पथ का अनुकरण करे। ये श्री राधा को प्रधानता देते हैं। प्रिया प्रियतम की कुंज केलि की खवासी करना ही इनका निरन्तर कर्म है। महाप्रसाद को ये सर्वस्व के समान मानते हैं। इनके मार्ग में विधि निषेध का कोई स्थान नहीं।"[1] नाभाजी ने संक्षेप में श्री हितजी के मत का सार कह दिया है।

श्री हितजी के व्यक्तित्व और उनकी विलक्षण साधना ने अनेक भक्तों को वृन्दावन आने के लिए प्रेरित किया। श्री भगवतमुदित नामक चैतन्य सम्प्रदाय के भक्त कवि ने

१. श्री राधाचरण प्रधान हृदय अति सुदृढ़ उपासी।
कुंजकेलि दम्पती तहाँ की करत खवासी।
सर्वसु महाप्रसाद प्रसिद्ध ताके अधिकारी।
विधिनिषेध नहिं दास अनन्य उत्कट व्रतधारी॥
व्यास सुवन पथ अनुसरे सोइ भले पहिचानि है।
श्री हरिवंश गुसाईं भजन की रीति सकृत कोउ जानि है।
—नाभाजी, भक्तमाल, छप्पय सं० ९०।

अपने ग्रन्थ 'रसिक अनन्य माल' में श्री हितजी के तथा उनके पुत्र और पौत्र के अनेक कृपापात्रों के चरित्र लिखे हैं यथा नरवाहन नामक भूमिपति, छबीलदास, सेवक जी, लालदास, जयमल, सुन्दरदास कायस्थ, ध्रुवदास जी एवं नागरीदास। इन्होंने कुछ ऐसे नाम भी लिखे हैं जिनके सम्प्रदाय के सम्बन्ध में वृन्दावन में बहुत विवाद है जैसे श्री हरिराम व्यास एवं श्री प्रबोधानन्द सरस्वती।[1] स्वा० हरिदास जी का नाम भी इन्होंने श्री हित जी के कृपापात्रों में लिख दिया है जो स्पष्ट ही असंगत है।

श्री हित हरिवंश के सम्प्रदाय में ज्येष्ठ पुत्र ही (जो पिता से दीक्षा भी लेते हैं) गद्दी पर बैठते हैं। श्री हित जी के पुत्र श्री वनचन्द्र जी, उनके पुत्र श्री सुन्दरवर जी, उनके श्री दामोदर दास जी क्रम से गद्दी पर बैठे। श्री दामोदरदास जी से सेवा दो पुत्रों में बँट गयी। एक थे श्री रासदास जी तथा दूसरे श्री विलासदास जी। इन्हीं दोनों महानुभावों की सन्तति प्रधान गद्दी की अधिकारी होती आयी है। यों इस वंश के प्रत्येक गोस्वामी दीक्षा देते हैं। इस सम्प्रदाय में विरक्त शिष्य भी होते हैं परन्तु उन्हें गद्दी पर बैठने का अधिकार नहीं होता।

श्री हितहरिवंश जी की दो रचनाएँ मिलती हैं :

१. श्री हित चौरासी जो ब्रजभाषा में लिखे चौरासी पदों का संकलन है।
   इस ग्रन्थ की सम्प्रदाय के अनेक विद्वानों ने समय-समय पर टीकायें की हैं। यही ग्रन्थ वास्तव में इस सम्प्रदाय की उपासना का मूल आधार है।
२. श्री राधासुधानिधि जो २७० संस्कृत भाषा के छन्दों का सुन्दर स्तोत्र है।

श्री हितहरिवंश जी का सम्प्रदाय रस सम्प्रदाय है। विधिभक्ति से भी परे जो प्रेमा भक्ति है वही उन्होंने ग्रहण की है। नित्य वृन्दावन में ललितादिक सहचरियों से सेवित, नित्यनिकुंज-विहार में निरत नवकिशोरवयः श्री राधावल्लभ युगल ही इस सम्प्रदाय के इष्ट हैं। इनकी केलि नित्यसंयोगमय है, इसमें विरह की छाया भी नहीं आती। किन्तु इस नित्य संयोग में भी प्रेम पुराना नहीं होता। विरह की सी उत्कण्ठा, ललक, मिलने की चाह और चटपटी इस संयोग में भी रहती है। नित्य निरन्तर केलि से यह युगल तृप्त नहीं होते। 'इस प्रकार मिले रहते हैं मानो कभी मिले ही न हों।' स्वकीया-परकीया, विरह-मिलन से परे 'प्रेम-विरहा' युक्त नित्यविहार ही श्री हित जी के इष्ट युगल की लीला है।[2] श्री ध्रुवदास के कथनानुसार 'गोपियों के समान कोई भक्त नहीं। उद्धव और विधि भी उनकी चरणरज की लालसा करते हैं। वे गोपियाँ भी इस रस को प्राप्त नहीं कर सकतीं। निगमागम की कौन कहे, महाविष्णु को भी इस रस का आभास नहीं मिलता।'

इस सम्प्रदाय में श्री हित जी स्वयं उपास्य हैं। 'हित' शब्द का बहुत व्यापक अर्थ ग्रहण किया जाता है। 'हित' का अर्थ है 'प्रेम'। यह प्रेम चारों ओर व्याप्त है। यहाँ तक कि—

१. 'भक्त कवि व्यास जी' के रचयिता श्री वासुदेव गोस्वामी जो स्वयं व्यासजी के वंशज हैं उन्हें माध्व-गौड़ेश्वर सम्प्रदाय में मानते हैं परन्तु कहते हैं कि उन्हें श्री हितजी के प्रति गुरुवत निष्ठा थी। श्री माध्व-गौड़ेश्वर सम्प्रदाय के अनुयायी प्रबोधानन्दजी को अपने सम्प्रदाय का मानते हैं। श्री प्रबोधानन्द सरस्वती ने प्रसिद्ध 'श्री वृन्दावन शतक' की रचना की। कहते हैं इस नाम से उन्होंने १०० शतक लिखे थे। किन्तु आज केवल १७ शतक उपलब्ध हैं।

२. बाबा हितदास—श्री राधा सुधानिधि, भूमिका, पृ० ४४-४६।

'गौर-श्याम सहचरि विपिन हित समुद्र के मीन ।
जा उर सर हित नाम जल तहाँ वसत परवीन ।।'

—श्री लाड़िलीदास, श्री सुधर्मबोधिनी जी,
द्वितीय प्रसंग, दोहा १६ ।

उपासनीय रस के चारों अंग श्रीराधा, श्री राधावल्लभ, सखियाँ तथा श्री वृन्दावन-धाम' जिस 'हित' समुद्र के मीन हैं वह प्रेमतत्त्व अनिर्वचनीय है । एक ओर वह आचार्य श्री हितहरिवंश के रूप में वृन्दावन में स्थित हो श्री राधावल्लभ युगल को दुलराता है तो दूसरी ओर सखीभाव से उपासना करनेवाले साधकों के हृदय में बैठ माधुर्यरस का रसास्वादन कराता है । अतः 'हित' नाम युक्त श्री राधावल्लभ ही साधक के लिए नित्य स्मरणीय हैं ।

स्वयं श्री हित जी के शब्दों में उनके धर्म का सार है :

"सब सौं हित निष्काम मत वृन्दावन विश्राम ।
राधावल्लभ लाल को हृदय ध्यान मुख नाम ।।
तनहिं राखु सतसंग में मनहिं प्रेम रस भेव ।
सुख चाहत हरिवंश हित कृष्ण कलप तरु सेव ।।"

इस सम्प्रदाय में प्रभूत वाणी साहित्य लिखा गया है । श्री सेवक जी की वाणी श्री हित चौरासी के साथ सम्मिलित कर दी गयी है एवं नित्य पाठ के योग्य मानी जाती है । श्री ध्रुवदास जी के बयालीस छोटे-छोटे किन्तु अत्यन्त सुन्दर ग्रन्थ 'श्री बयालीस लीला' नाम से संकलित हैं । चाचा हित वृन्दावनदास (मृत्यु सं० १८५० के लगभग) के अनेक ग्रन्थ कहे जाते हैं । वृन्दावनधामानुरागावली (रचना सं० १९००) के अनुसार इनकी वाणी की संख्या सवा लाख है । श्री राधाचरण गोस्वामी ने इनके एक-एक लाख पदों के चार सागरों का उल्लेख किया है ।[1] किन्तु इनके जुगल-सनेह-पत्रिका नामक छोटे-से ग्रन्थ की भूमिका में प्रकाशक ने लिखा है कि इनके सात सागर, चौबीस छद्म, ३६० अष्टयाम, अनेक बेलियाँ जिनकी संख्या का ठीक नहीं, तथा अनेक फुटकर वाणी, पद, माँझ, बधाई आदि हैं । इन उल्लेखों में अवश्य ही अतिशयोक्ति होगी परन्तु फिर भी इनकी प्राप्त वाणी की संख्या भी बहुत है ।

श्री हितजी की चौरासी की ७ टीकाओं का उल्लेख मिलता है[2] तथा श्री राधा-सुधानिधि की १० टीकाओं का ।[3]

वृन्दावनधामानुरागावली में निम्नलिखित वाणी एवं ग्रन्थों का उल्लेख है :

गो० श्रीकृष्णचन्द्र—करुणाशत, आशाशत, उपसुधानिधि-राधाअन्वय एवं विनोद टीका सहित ।

श्री युगलकिशोर (गो० श्रीवनचन्द्र के शिष्य चतुर्भुज स्वामी के शिष्य)—गोलोक-वाणी ।

१. चाचा वृन्दावनदास के चार लक्ष पद चारों पयोधि ।
—राधाचरण गोस्वामी, नवभक्तमाल, छप्पय सं० १७ ।

२. बलदेव उपाध्याय—भागवत सम्प्रदाय, पृ० ४२६ ।

३. बाबा हितदास—श्री राधासुधानिधि, भूमिका, पृ० १५ ।

नागरीदास (झूंठास्वामी के शिष्य)—१८०० दोहे और पद एवं छन्द।
चन्द्रसखी जी—वाणी।
प्रियादास (गो० रसिकानन्द के शिष्य)—सेवक जी के उत्सव का ग्रन्थ।
प्रियालाल—अनेक ग्रन्थ।
आनन्दलाल अधिकारी—अनेक ग्रन्थ।

नाममाहात्म्य के वाणी अंक में इन कवियों के नाम और मिलते हैं—हठी जी (राधासुधा शतक), गो० वनचन्द्रजी, श्री राधावल्लभदास जी। श्री हितदामोदरजी (हस्तामलक पद्यावली तथा फुटकर पद), गो० रूपलालजी, गो० लालवल्लभजी, वंशीअलि जी, नागरीदास जी (नागरीविलास) एवं प्रियादासजी (राधावल्लभ भक्तमाल)।

श्री श्रीकिशोरीशरण 'अलि' ने अपनी पुस्तक 'साहित्य रत्नावलि' में सम्प्रदाय के साहित्य की सूची प्रस्तुत की है। उन्होंने ऐसे अनेक प्रसिद्ध कवियों के नाम इसमें रखे हैं जिनका इस सम्प्रदाय से सम्बन्ध सन्दिग्ध है परन्तु फिर भी शोधकर्ताओं के लिए यह सूची बड़े काम की चीज है।

४. श्री निम्बार्क सम्प्रदाय : श्री निम्बार्क सम्प्रदाय ब्रज का सबसे पुराना सम्प्रदाय है। इसके प्रधान केन्द्र रहे हैं—वृन्दावन, मथुरा, सलेमाबाद आदि। श्री निम्बार्काचार्य ने ही श्री राधाकृष्ण की मधुर भक्ति का प्रथम विधान किया, उनकी दशश्लोकी में ही श्रीराधा का नाम सबसे पहले आता है, ऐसी हमारी धारणा है। निम्बार्क सम्प्रदाय के अनुयायी वृन्दावन में रहते थे। जिसे हम सखीभाव की उपासना या वृन्दावन रस कहते हैं उसका पूर्ण विकास इस सम्प्रदाय में हुआ श्री श्रीभट्ट जी एवं उनके शिष्य श्री हरिव्यासदेवजी द्वारा। श्री श्रीभट्ट जी का युगलशतक इस सम्प्रदाय की सर्वप्रथम ब्रजभाषा रचना है। अतः यह 'आदिवाणी' कही जाती है। श्री हरिव्यासजी ने अपनी वाणी में युगलशतक की ही विशद व्याख्या की जिसे 'महावाणी' कहते हैं। वास्तव में इस सम्प्रदाय में वृन्दावनीय रस की पूर्ण प्रतिष्ठा करनेवाले श्री हरिव्यासदेव ही हैं और उन्हीं के कारण आज श्री निम्बार्क सम्प्रदाय की प्रधान शाखा 'हरिव्यासी' कही जाती है। इस सम्प्रदाय की 'हरिदासी' शाखा पहले ही अपना अलग अस्तित्व स्थापित कर चुकी थी। श्री वृन्दावन-रस के आचार्यों में समयक्रम से श्री श्रीभट्ट जी तथा श्री हरिव्यासदेव जी पीछे आते हैं। इसी कारण हमने उन्हें यह स्थान दिया है। श्री निम्बार्क एवं उनका सम्प्रदाय, उसके दार्शनिक सिद्धान्त तथा सम्बन्धित विषयों पर हम ग्रन्थ के परिशिष्ट भाग में विस्तार से चर्चा करेंगे।

यहाँ केवल इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि इस सम्प्रद्राय के वृन्दावनीय रस के प्रधान ग्रन्थ 'महावाणी' के अनुसार श्रीराधाकृष्ण के नित्य विहार की सखीभाव से मानसिक उपासना ही भक्त का साधन और साध्य है। माधुर्य एवं रस की मूर्ति सर्वेश्वर श्री कृष्ण ही एकमात्र परात्पर तत्त्व हैं। शुद्ध चैतन्य निर्गुण सर्वव्यापक ब्रह्म तो नित्यविहारी के चिदंश-मात्र हैं। गोलोक से भी अगोचर इसी भूमि पर स्थित चिन्मय वृन्दावन धाम में सर्वेश्वर श्रीकृष्ण अपनी आह्लादिनी शक्ति श्री राधिकाजी के संग अहर्निश सुशोभित हैं। श्री राधा अन्तर्भूता हैं, स्वयं श्रीकृष्ण इनकी आराधना करते हैं, अतः ये राधा कहलाती हैं।[१] श्री राधिका जी के ही अंश से गोपियाँ तथा श्रीकृष्ण की महिषियाँ लक्ष्मी आदि उत्पन्न

१. महावाणी, प्रणेता-परिचय, पृ० १८।

हुई हैं। श्रीराधा और श्रीकृष्ण रस-सागर-रूप तथा अभिन्न हैं किन्तु लीला के लिए दो हो गये हैं। ये निरन्तर अभंग केलि, नित्य विहार में रत हैं। 'महावाणी' के श्री युगल अष्ट सखियों तथा इनमें से भी प्रत्येक की आठ-आठ एवं उनमें से भी प्रत्येक की आठ-आठ इस प्रकार सहस्रों सखियों के परिकर से घिरे दिव्य योगपीठ पर विराजते हैं। यही श्री महावाणी के धाम तथा धामी का संक्षिप्त परिचय है।

श्री निम्बार्क सम्प्रदाय में श्री हरिव्यासदेवजी से पहले भी तथा पीछे भी संस्कृत में प्रभूत ग्रन्थरचना हुई जिनमें इस सम्प्रदाय के 'द्वैताद्वैत' मत की अनेकश: व्याख्या की गयी है, स्वयं श्री हरिव्यासदेवजी ने भी संस्कृत में ग्रन्थ रचना की है।[1] परन्तु इस सम्प्रदाय का ब्रजभाषा साहित्य भी अपने परिमाण में किसी सम्प्रदाय से कम नहीं। हम यहाँ संक्षेप में इसके कवियों एवं ग्रन्थों का नामोल्लेख करते हैं।[2]

श्री श्रीभट्ट—युगलशतक (आदिवाणी)।
श्री हरिव्यासदेव—महावाणी।
श्री परशुराम देव—परशुराम सागर।
श्री रूपरसिक देव—बृहदोत्सवमणिमाल, हरिव्यास रसामृत, नित्य विहार पदावली।
श्री तत्त्ववेत्ताजी—फुटकर पद एवं छप्पय।
श्री वृन्दावन देव—श्रीकृष्णामृतगंगा (वृन्दावन वाणी)।
श्री गोविन्ददेव —फुटकर पद, मंगल, बधाई आदि।
श्री गोविन्द शरणदेव—अनेक फुटकर पद।
श्री रसिक गोविन्दजी—रामायणसूचनिका, रसिकगोविन्दानन्दघन, लछिमन-चन्द्रिका, अष्ट देशभाषा, पिंगल, समय प्रबन्ध, कलिजुगरासो, रसिक गोविन्द एवं युगल रसमाधुरी।
श्रीकृष्णदास—माधुर्यलहरी।
श्री स्वामिनीदास—श्री हरिव्यास छबीसी।
रानी बाँकावतीजी—ब्रजदासी भागवत एवं फुटकर छन्द।
सुन्दर कुँवरिजी—मित्रशिक्षा, नेहनिधि, वृन्दावन गोपी माहात्म्य, भावनाप्रकाश, राम रहस्य, संकेत सुगल, रस पुंज, प्रेमसम्पुट, सारसंग्रह, रंगझर, गोपी माहात्म्य, भावनाप्रकाश, रामरहस्य, फुटकर पद तथा कवित्त।
बणीठणीजी—फुटकर पद।
छत्रकुँवरि जी—प्रेमविनोद।
श्री शीतलदास जी—वेदान्त सार।

१. इन ग्रन्थों का परिचय हम परिशिष्ट में देंगे।
२. (अ) विहारीशरण—निम्बार्क माधुरी (इस ग्रन्थ की सम्पूर्ण सूचनाओं को हम प्रामाणिक नहीं कह सकते, क्योंकि इसमें केशव, विद्यापति, देव, सेनापति आदि अनेक ऐसे प्रसिद्ध कवियों के नाम भी हैं जिनके सम्प्रदाय का ठीक पता नहीं, अत: हमने यथासम्भव सोच-विचार कर ही इस सूची में से नाम लिये हैं।)
(आ) डॉ० सत्येन्द्र—श्री निम्बार्क सम्प्रदाय के हिन्दी कवि (पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ३७९-९४)।
(इ) श्री निकुंज एवं श्री रसिकविहारी मन्दिर, वृन्दावन के पुस्तकालयों के हस्तलिखित पुस्तक संग्रह के आधार पर यह सूची प्रस्तुत की जा रही है।

श्री किशोरीदास जी—मन सुबोधिनी, अष्ट याम, वार्षिकोत्सव, युगलविनोद, श्रीकृष्ण नामामृत, श्रीकृष्ण नामावली, श्रीकृष्ण बाराक्षरी, आचार्य प्रार्थना, आचार्य परम्परा ।

श्री सुदर्शनदास जी—निकुंजदर्पण, अष्टयाम, निकुंजप्रकाश, राधाकृष्ण मानसी सेवा अष्टयाम, तत्त्वबोध रससिद्धान्त, रस मंजरी, ब्रजोल्लास, ज्ञान चपला, मौन मंजरी, ध्यान मंजरी, युगल ध्यान, भक्तचालीसा, विनय पत्रिका, ज्ञान-संदीपनी, तुलसीकृत रामायण का पदों में उल्था, राधाकृष्ण व्याह विनोद, राधाकृष्ण चौसर खेल, राधाकृष्ण जन्मोत्सव लीला, विश्वप्रकाश, भक्तिभूषण रामायण, सिद्धान्त दर्पण, स्तोत्रमाला, स्तोत्रसंग्रह, भक्तिमहिमा, आचार्य परम्परा, गद्यावली, संग्रह-ज्ञानप्रदीप सिद्धान्त, मानसी सेवा अष्टयाम, वेदान्त सेतु, निम्बार्क जन्मोत्सव ।

(प्रसिद्ध कवियों में श्री आनन्द घन एवं कृष्ण गढ़ नरेश नागरीदास[1] को भी निम्बार्क माधुरीकार ने श्री निम्बार्क सम्प्रदाय के अन्तर्गत माना है । इन दोनों के सम्प्रदाय के सम्बन्ध में इस सम्प्रदाय के विद्वान् श्री व्रजवल्लभशरण जी ने बहुत कुछ खोज की है और वह हमें इन दोनों को निम्बार्क सम्प्रदायानुयायी मानने को प्रेरित करती है ।)

५. श्री वल्लभ सम्प्रदाय : वृन्दावन की प्रशंसा एवं माधुर्य की उपासना श्री वल्लभ सम्प्रदाय में भी है परन्तु इस सम्प्रदाय का प्रधान उपासनीय रस वात्सल्य है । वृन्दावन में श्री महाप्रभु जी तथा श्री गुसाईं जी की बैठकें भी हैं परन्तु वृन्दावन वल्लभीय वैष्णवों का प्रधान केन्द्र नहीं । ब्रज में इनके केन्द्र हैं—गोकुल, जतीपुरा, कामा एवं मथुरा । अतः यहाँ हम इस सम्प्रदाय का नामोल्लेख-मात्र करते हैं । ब्रजभाषा साहित्य की दृष्टि से यह सम्प्रदाय सबसे अधिक समृद्ध सम्प्रदाय है एवं उस साहित्य पर अनेक विद्वानों द्वारा बहुत कुछ लिखा भी जा चुका है ।

इस सम्प्रदाय के भक्त वात्सल्य, सख्य, दास्य और कान्ताभाव से श्रीकृष्ण को भजते हैं । वे सदा श्रीकृष्ण के ईश्वरत्व के भाव की महत्ता को ध्यान में रखते हैं । इस सम्प्रदाय में श्री कृष्ण के दो रूप मान्य हैं—१. पूर्ण पुरुषोत्तम रस रूप ब्रज के कृष्ण, जिनकी बाल, पौगंड एवं किशोर वय की सभी लीलाएँ उपासनीय हैं । २. धर्मसंस्थापक व्यूहात्मक रूपधारी (ऐश्वर्य रूप) मथुरा-द्वारका के वासुदेव ।[2] अतः स्पष्ट ही है कि इस सम्प्रदाय की उपासना का क्षेत्र वृन्दावन में सीमित नहीं है जैसे यहाँ के अन्य सम्प्रदायों का ।

६. श्री विष्णु स्वामी सम्प्रदाय : इस सम्प्रदाय के दो-एक साधु वृन्दावन में हैं । इनका ज्ञानगुदरी में एक अखाड़ा भी है परन्तु वहाँ के वर्तमान महन्त, जिनसे मैं मिला, रामानन्दी हैं । प्रयाग के कुम्भ में भी इनके वयोवृद्ध महन्त एवं साधुओं से मैंने भेंट की परन्तु किसी से भी इस सम्प्रदाय के सिद्धान्त या उपासना सम्बन्धी तत्त्व पर कोई बात पल्ले न पड़ी । ग्रन्थों का तो एकदम अभाव है । अतः इस सम्प्रदाय के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता । केवल यह परम्परा प्राप्त किंवदन्ती है कि श्री विष्णुस्वामी वृन्दावन में रहे थे

१. व्रजवल्लभशरण (अ) भक्तवर श्री नागरीदास जी : सर्वेश्वर, वर्ष ३, अंक १, २, ५ ।
(आ) नागर समुच्चय गवेषणा : सर्वेश्वर, वर्ष ३, अंक १० ।

२. डॉ० दीनदयाल गुप्त (अष्टछाप की मधुर भक्ति) पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ, (पृ० ९५ से १०६) ।

एवं श्री राधाकृष्ण के उपासक थे। इसी आधार पर हम यहाँ इनका नाम-भर ले रहे हैं। श्रीवल्लभ सम्प्रदाय से इसका सम्बन्ध विवादास्पद है अतः इसका पृथक रूप से उल्लेख किया जा रहा है।[1]

श्री बाँके विहारी जी के गोस्वामीगण अपने को विष्णुस्वामी सम्प्रदायान्तर्गत मानते हैं परन्तु उपासना में वे पूर्णरीति से स्वा० हरिदास जी की पद्धति को स्वीकार करते हैं।

७. श्री शुक (चरणदासी) सम्प्रदाय : इस मत के प्रवर्तक श्री श्यामचरणदास जी सं० १७६० में डहरा नामक ग्राम में उत्पन्न हुए। कहते हैं कि वृन्दावन में सेवाकुंज में इन्होंने सखी रूप से रास का दर्शन प्राप्त किया एवं वंशीवट में श्री शुकदेवजी ने स्वयं प्रकट होकर इन्हें नवधा भक्ति के प्रचार की आज्ञा दी। तब ये दिल्ली चले गये और वहाँ सुन्दर मन्दिर बनवा श्री राधाकृष्ण की आराधना-सेवा करते हुए धर्म प्रचार करते रहे। सं० १८३९ में इन्होंने देह त्याग किया। इनका एक बड़ा ग्रन्थ 'भक्तिसागर' है जिसके अन्तर्गत अनेक छोटे-मोटे ग्रन्थ हैं। इसकी रचना ब्रजभाषा में है। इनके प्रधान शिष्यों में ५२ पुरुष थे एवं दो स्त्री—श्री सहजोबाई जिन्होंने सहज प्रकाश लिखा तथा श्री दयाबाई। श्री दयाबाई ने भी वाणी लिखी है। इनके एक अन्य शिष्य श्री रूप सखी ने 'भक्ति रस मंजरी' की रचना की है। इसके अतिरिक्त इनके अन्य अनेक शिष्यों के श्रीमद्भागवत और भगवद्गीता के हिन्दी अनुवाद तथा फुटकर वाणी भी हैं।

इनके सम्प्रदाय के लोग श्री तिलक लगाते हैं तथा पीले वस्त्र और नुकीली टोपी पहनते हैं।[2]

संक्षेप में इनके मत का सिद्धान्त इस छप्पय से प्रकट होता है :

राधाकृष्ण उपास्य धर्म भागवत हमारो ।
निज वृन्दावन धाम मुक्ति सामीप निहारो ।
तीरथ गंगा जान वृत्त ग्यारस को धारो ।
क्षमा शील सन्तोष दया नित हिये विचारो ।
सम्प्रदाय शुकदेव मुनि, आचार्य श्यामचरणदास ।
'रामरूप' तिन पद शरण, नवधा भक्ति निवास ।।[3]

अपने 'अमर लोक लीला' नामक ग्रन्थ में श्री चरणदास वृन्दावन के चिन्मय स्वरूप का ध्यान करते हैं और वहाँ चार द्वार, चौंसठ खम्भों से युक्त चबूतरे पर रंगमहल की कल्पना करते हैं। अनेक सखी सहेली यहाँ परिक्रमा करती हैं।

आसपास बहु कुंज हैं बीच लाल को धाम ।
चरनदास कूँ दीजियै सखियन में विसराम ।

यहाँ श्रीकृष्ण के वामांग में श्री राधिका जी विराजमान हैं। चौंसठ खम्भों के सहारे

१. जी० एच० भट्ट—विष्णुस्वामी एण्ड वल्लभाचार्य : आल इण्डिया ओरियेंटल कान्फरेन्स, दिसम्बर १९३३ ई० की कार्यवाही, पृ० ४४९-४६४। (इनके कथनानुसार इन दोनों सम्प्रदायों का कोई सम्बन्ध नहीं है। यह श्री विष्णुस्वामी का काल १०वीं शती ई० अनुमान करते हैं।)
२. श्री रूप माधुरीशरण द्वारा संग्रहीत 'श्री शुक सम्प्रदाय प्रकाश' के आधार पर।
३. श्री रूप माधुरीशरण—श्री शुक महत्त्व, पृ० ५० में उद्धृत।

चौंसठ सखी खड़ी हैं। यहाँ अखण्ड रास होता रहता है।

अखण्ड रास लीला अमर नित वृन्दावन धाम।
नितविहार जहाँ होत है चरनदास को वास।

इस प्रकार यह सम्प्रदाय भी सखी-भाव से माधुर्य का उपासक है। वृन्दावन को ही ये धाम मानते हैं। इनके सम्प्रदाय के कुछ साधु आज भी वृन्दावन में रहते हैं। श्री पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने इन्हें निर्गुणी बताया है[1]। इनकी वाणी में 'अनहद' आदि शब्द भी मिलेंगे। परन्तु ये मूर्त्ति-पूजा भी करते हैं। श्री राधाकृष्ण और शालिग्राम की पूजा इनके यहाँ होती है। वास्तव में इनके यहाँ निर्गुण और सगुण पद्धतियों का विलक्षण मेल है।

श्री प्राणनाथ जी का धामी सम्प्रदाय :

इस सम्प्रदाय के प्रमुख स्थान पन्ना, सूरत और जामनगर में हैं। ये श्री राधाकृष्ण की रासलीला के उपासक हैं तथा सखीभाव से युगल की मानसी आराधना करते हैं। अत: इनका यहाँ उल्लेख किया जाता है। इनकी सूरत शाखा के महन्त श्रीकृष्णप्रियाचार्य जी के कथनानुसार—इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक श्री प्राणनाथ जी का जन्म नवानगर में सं० १६७५ में हुआ। सं० १७३९ में आपने सूरत में अपने स्वतन्त्र मत का प्रवर्तन किया। इनके गुरु श्री देवचन्द्र जी स्वा० हरिदास जी की शिष्य परम्परा में एक अन्य हरिदास नामक महात्मा से दीक्षित हुए थे, अत: ये निम्बार्क सम्प्रदाय के अन्तर्गत हैं। पन्ना के प्रसिद्ध राजा छत्रसाल सं० १७४० में श्री प्राणनाथ जी के शिष्य हुए। सं० १७५१ में श्री प्राणनाथ प्रभु नित्यधाम को पधारे। सम्प्रदाय में आपके 'श्रीमिहिरराज', 'श्री जी साहब', 'मरु,' 'इन्द्रावती', 'इन्दिरा,' 'महामति' आदि नाम भी प्रचलित हैं। आपकी वाणी 'महावाणी' या 'श्रीमुखवाणी' कहलाती है। इस सम्प्रदाय को 'निजानन्दीय', 'श्रीकृष्ण प्रणामी' तथा 'मिहिरराज पन्थी' सम्प्रदाय भी कहते हैं। इसकी जामनगर शाखा के मत में थोड़ी भिन्नता है। वे श्रीदेवचन्द्र जी को प्रधान मानते हैं तथा अपने को किसी अन्य सम्प्रदाय के अन्तर्गत नहीं मानते। श्री देवचन्द्र जी को उनके गुरु ने अपने उपास्य श्री बाँकेविहारी जी का वस्त्र सेवा के लिए दिया था। श्री प्राणनाथजी श्री बाँकेविहारी जी के किरीट तथा मुरली की सेवा करते थे।

श्री प्राणनाथ जी के हृदय में श्रीकृष्ण साक्षात्कार के फलस्वरूप जो प्रेमसागर उमड़ा उसको आपने 'प्रेम', 'इश्क', 'शराब', 'तारतम ज्ञान', 'भक्ति' इत्यादि नामों से पुकारा। आपने श्रीकृष्ण लीला के व्यावहारिकी, प्रातिभासिकी, वास्तवी तीन भेद माने जो क्रमश: श्रेष्ठ हैं। नित्य ब्रज-लीला व्यावहारिकी लीला है। नित्य रासलीला प्रातिभासिकी लीला है एवं दिव्य ब्रह्मपुर की वास्तवी लीला को ब्रह्मानन्द मानकर ये उसकी उपासना करते थे। श्रीस्यामाजू ठकुराइन (रासेश्वरी श्रीराधा) पर आपका अनन्य प्रेम था।

सम्प्रदाय में श्री प्राणनाथ को पूर्णानन्द अक्षरातीत का अवतार माना जाता है। वर्णाश्रम धर्म का पालन करते हुए श्रीकृष्ण की पराभक्ति करने का उपदेश आपने दिया है[2]।

१. पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल—दी निर्गुण स्कूल आफ़ हिन्दी पोइट्री (१९३६ ई०) पृ० २६६-६७।
२. (अ) निम्बार्क माधुरी, पृ० ४६४।
(आ) श्रीकृष्ण प्रियाचार्य—पुराण संहिता (चौखम्बा संस्कृत सिरीज, १९५१ ई०) की प्रस्तावना।

श्रीप्राणनाथ जी की वाणी[1] के अन्तर्गत 'श्रीधाम की पहेली' में अनेक घाट, पुल, महल, चबूतरा, पहाड़ों वाले धाम का वर्णन है, 'नूर का सागर' में सखियों का वर्णन है, 'योगमाया प्रकरण' में रास का तत्त्व बताया है तथा 'भागवत का सार' में ब्रह्मलीला, रासलीला की उत्तरोत्तर सूक्ष्मता बतायी गई है।

वृन्दावन में धामियों का कोई स्थान इस समय नहीं है। डॉ० बड़थ्वाल ने इन्हें भी निर्गुणी माना है।[2]

रस-क्षेत्र वृन्दावन के इतिहास में स्वा० हरिदासजी का स्थान

आज वृन्दावन का जो महत्त्व है उसके विकास में स्वामी हरिदासजी का एक बहुत बड़ा भाग है। भक्ति के क्षेत्र में वृन्दावन का जो नवीन उत्कर्ष हुआ उसकी स्वामीजी पहली कड़ी हैं। विधिभक्ति को छोड़ केवल रस की उपासना को महत्त्व देनेवाले वृन्दावन में वे पहले आचार्य हैं। वह सखीभाव—जहाँ सखी अपने निज के आनन्द के लोभ से नहीं केवल प्रिया-प्रियतम को सुख पहुँचाने के उद्देश्य को ही सामने रख सेवा करती है, जहाँ लाड़ले तथा लाड़िली के स्वभाव को सहचरी इतना समझती है जितना कदाचित् वे स्वयं भी न समझते हों, जहाँ भोजन और शयन से पहले विहार को स्थान मिलता है, जहाँ ऐश्वर्य का ऐसा अभाव है कि वे सुकुमार लाल 'ठाकुर' कहकर सम्बोधित होने में सकुचाकर तनिक हो जाते हैं, जहाँ निरवधि नित्यविहार को छोड़ उन प्रिया-प्रियतम को ब्रज में अवतार धारण करने का भी अवकाश नहीं, ब्रह्म बनकर जगत् की सृष्टि-स्थिति-प्रलय के पचड़े में तो वे पड़ेंगे ही क्यों। ऐसे सखीभाव की उपासना के स्वामीजी प्रथम उद्घाटनकर्त्ता हैं। वास्तव में वृन्दावन को वास्तविक वृन्दावन के पद पर प्रतिष्ठित करनेवाले महानुभावों में उनका स्थान बहुत ऊँचा है।

१. नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सभा संग्रह, दो हस्तलिखित ग्रन्थ क्रम सं० ७७३ एवं १३७६।
२. पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल—दी निर्गुण स्कूल आफ़ हिन्दी पोइट्री (१९३६ ई०) पृ० २६०-६२।

द्वितीय अध्याय

शोध सामग्री

स्वा० हरिदास जी की परम्परा में जो वाणी साहित्य लिखा गया सौभाग्य से वह आज तक ज्यों का त्यों सुरक्षित रहता चला आया है। वाणियाँ इस सम्प्रदाय में अत्यन्त पूज्य मानी जाती हैं। 'गुरु की वाणी ही हमारा वेद है', 'सन्तों की वाणी शास्त्रों से भी बड़ी है', इस प्रकार की आस्था विरक्तों में सदा से चली आयी है। वाणियों का पाठ ही यहाँ उपासना का प्रधान अंग है। विशेष उत्सव आदि में जो समाज होते हैं उनमें भी प्राचीन वाणियों के पद गाये जाते हैं। पूजा-सेवा के सब अवसरों के लिए वाणी ही प्रयुक्त होती हैं, कोई श्लोक या मन्त्र नहीं। अतः साधक गुरुओं की वाणियों की प्रतिलिपि करना, उसे सुन्दर बस्ते में सँभालकर तथा प्राणप्रिय समझकर सुरक्षित रखना अपना परम कर्तव्य मानता है। यही कारण है कि स्वामी जी से लेकर आज तक सन्तों ने जो भी लिखा है वह लगभग सभी अक्षुण्ण रूप में प्राप्त है। किन्हीं-किन्हीं ठिकानों की अव्यवस्था के कारण कुछ वाणियाँ लुप्त हो गयी होंगी परन्तु ऐसे साहित्य की संख्या बहुत कम ही होगी। कम से कम सभी महत्त्वपूर्ण साहित्य तो ज्यों का त्यों मिलता है। अतः जहाँ तक वाणी साहित्य का सम्बन्ध है वहाँ तक हमारी प्राप्त सामग्री पर्याप्त समृद्ध है।

परन्तु इस सम्प्रदाय के इतिहास की सामग्री जितनी मिलती है उसका अधिकांश अत्यन्त विवादग्रस्त और सन्दिग्ध है। उसका विस्तृत विवरण देने से पहले यहाँ स्वामी जी के अनुयायियों के पारस्परिक मतभेद का उल्लेख कर देना ठीक होगा, जिसके कारण लगभग सभी इतिहास की सामग्री एक न एक पक्ष के रंग में रंगी हुई मिलती है। एक पक्ष में हैं—स्वामी जी के विरक्त अनुयायी जिनकी महन्त गद्दियाँ हैं—१. रसिकविहारी जी के मन्दिर, २. गोरेलालजी के मन्दिर एवं ३. टट्टी स्थान में। इसी परम्परा में सम्प्रदाय के सारे वाणीकर्त्ता हुए हैं। इन लोगों का मत है कि 'स्वामी हरिदास जी निम्बार्क सम्प्रदाय के अन्तर्गत थे। उनके गुरु थे आसुधीरजी। स्वा० जी का जन्म वृन्दावन के पास राजपुर ग्राम में गंगाधर नामक सनाढ्य ब्राह्मण के घर सं० १५३७ में हुआ। उन्होंने विरक्त होने से पहले विवाह नहीं किया। स्वामी जी के उपास्य श्री बाँकेविहारीजी की सेवा का अधिकार स्वामी जी के प्रशिष्य स्वा० विहारिणिदासजी ने श्री जगन्नाथ नामक सारस्वत ब्राह्मण को दिया जिनके वंशज गोस्वामीगण आज भी विहारीजी के सेवाधिकारी हैं।'

दूसरे पक्ष में हैं—बाँकेविहारीजी के गोस्वामी, जो इस मन्दिर तथा निधिवन के

सेवाधिकारी हैं। उनका एक विस्तृत वंश है। दूर-दूर के लोग उनके शिष्य बनते हैं। यह उनकी पितृ-परम्परा से प्राप्त जीविका है। इस परम्परा के कुछ गोस्वामियों ने साहित्य की रचना भी की है परन्तु वह अधिक महत्त्व की नहीं है। गोस्वामियों का मत है कि 'स्वा० हरिदासजी विष्णुस्वामी सम्प्रदाय के अन्तर्गत थे। उनके पिता आसुधीरजी ही उनके गुरु भी थे। स्वामी जी सारस्वत ब्राह्मण वंश में अलीगढ़ के पास हरिदासपुर नामक ग्राम में सं० १५६६ में उत्पन्न हुए (जन्म संवत् के विषय में इनमें से कई लेखकों के अलग-अलग मत भी हैं, परन्तु आजकल लगभग सभी गोस्वामी यही संवत् मानते हैं)। स्वामी जी का विवाह हुआ था परन्तु कोई सन्तान न थी। युवावस्था में ही अपनी पत्नी के देहान्त के बाद ये विरक्त हो वृन्दावन चले आये। आसुधीरजी के दो और बेटे थे—गो० जगन्नाथ जी तथा गो० गोविन्द जी। स्वा० हरिदासजी ने अपने छोटे भाई जगन्नाथ जी को अपने उपास्य बाँकेविहारी जी की सेवा सौंपी और उन्हीं गो० जगन्नाथ जी का वंश आज तक सेवा करता है। गो० गोविन्दजी का वंश अलीगढ़ में ही रहा और आज भी वहाँ है।'

स्वा० हरिदासजी की रचनाओं में उनके जीवन-सम्बन्धी कोई उल्लेख नहीं मिलते और न उनके समकालीन या निकट-पश्चात् के साहित्य में ही इन मतभेदों के सम्बन्ध में निश्चित मत निर्धारित करने योग्य सामग्री है। अतः दोनों पक्षों का विवाद सैकड़ों वर्षों से ज्यों का त्यों चला आ रहा है। दोनों पक्षों में झगड़े हुए हैं, मारकाट हुई है। मुकदमेबाजी हुई है। वाक्य-बाणों की वर्षा तो चलती ही रहती है, जो निष्पक्ष शोधकर्ता के लिए वातावरण को अत्यन्त जटिल बना देती है। पीढ़ियों से अपने-अपने पक्ष को पुष्ट करने के प्रयास चलते आये हैं और स्वभावतः ही मनगढन्त साहित्य के कूड़े-करकट का ढेर लग गया है जिसमें से सत्य की सुई को ढूँढ़ निकालना दिव्य चक्षुओं की अपेक्षा रखता है।

स्वा० हरिदासजी के बाद की परम्परा के इतिहास की सामग्री उतनी जटिल नहीं। सन्तों के विलक्षण चमत्कार, उनका प्रसिद्ध समकालीन राजपुरुषों पर प्रभाव, तथा अन्य सम्प्रदाय के सन्तों से उत्कृष्टता आदि की कहानियाँ तो सम्प्रदाय के विभिन्न वार्त्ताकार लिखते ही आये हैं। उनकी समझ में यही अपने बड़ों के महत्त्व-कथन का मार्ग है। इसमें से कल्पना के सिवार को हटाकर शुद्ध इतिहास के जल को प्राप्त कर लेना विशेष कठिन नहीं होता। परन्तु इन परवर्ती सन्तों के चरित्र में भी जहाँ इन दोनों पक्षों के झगड़ों का संसर्ग रहता है वहाँ सामग्री स्पष्ट रंगी हुई मिलती है। शोध सामग्री का अवलोकन करते समय साम्प्रदायिक विवाद की इस स्थिति को ध्यान में रखना आवश्यक है।

अध्ययन के आधार

सम्प्रदाय के स्थान—वृन्दावन में

निधिवन : जहाँ रास में निधियाँ प्रकट हुईं या निधुवन (श्रीराधाकृष्ण की रहसि क्रीड़ा का स्थल) स्वा० हरिदासजी की साधना भूमि है। प्राचीन वृन्दावन की वनश्री का क्या रूप रहा होगा, इसका आभास जिन दो-तीन स्थानों के दर्शन से होता है, उनमें एक निधिवन है। वर्तमान निधिवन पक्की चहार दीवारी से घिरा एक विस्तृत स्थान है जिसमें विभिन्न प्रकार के वृक्ष और बेलों की कुंजें हैं। वृक्षों में तमाल (पसैंदू), पीलू, खण्डार (डूँगर) तथा करील की प्रधानता है। इन वृक्षों की टेढ़ी-मेढ़ी शाखाएँ तथा उन पर लिपटी हुई सघन लताएँ जिनका एक पत्ता भी किसी ने सैकड़ों वर्षों से नहीं तोड़ा होगा, एक

अद्भुत वातावरण की सृष्टि करते हैं। इन कुंजों में अनेकों बन्दर तथा मोर स्वतन्त्रता से घूमते रहते हैं।

विरक्तों के मतानुसार सं० १५६२ में स्वा० हरिदासजी ने श्री आसुधीर जी से यहीं दीक्षा ली तथा आजीवन यहीं रहे। यहीं सं० १५६७ में उनके उपास्य श्री बाँकेविहारी जी का प्राकट्य हुआ। यहीं तानसेन के साथ सम्राट् अकबर ने आकर उनसे भेंट की।

जिस स्थान पर विहारी जी का श्रीविग्रह निकला उस स्थान पर एक गड्ढे के ऊपर एक छोटा-सा स्मारक बना है। घेरे में एक ललित सरोवर या ललितकुण्ड है। कुछ लोगों का कहना है कि स्वामी जी की पूर्व परम्परा में स्वा० ललितभानुदेव जी के हेतु इसी स्थान से श्री रसिकविहारी जी का प्रादुर्भाव हुआ, अतः इसका नाम 'ललित सरोवर' पड़ा। अन्य लोग कहते हैं कि स्वा० हरिदास जी को ललिता सखी का अवतार माना जाता है अतः उन्हीं के रस-क्षेत्र के नाम के आधार पर इस सरोवर का नाम 'ललिता कुण्ड' है। यह सरोवर किन्हीं बाबू नारायण पाल ने बनवाया था।[1] निधिवन की सबसे पुरानी इमारत है रंगमहल जहाँ पहले विहारी जी की पूजा होती थी, ऐसा कहते हैं। वन के बाहर की ओर एक छोटा-सा मन्दिर है। यहाँ भी पहले विहारी जी की सेवा-पूजा होती थी।

निधिवन के बीचोंबीच स्वामी जी की समाधि है। दो तीन वर्ष हुए उस पर एक पक्का स्मारक बन गया है। स्वामी जी की समाधि पर उनका एक बड़ा चित्र रखा रहता है जो हाल ही में बना है। इस समाधि के दोनों ओर स्वामी जी के शिष्य स्वा० वीठल विपुल जी तथा विहारी जी के गोस्वामियों के पूर्व पुरुष गोस्वामी जगन्नाथ जी की समाधि हैं। बहुत से लोगों का कहना है कि दोनों समाधियाँ पहले स्वा० वीठल विपुलजी तथा उनके शिष्य स्वा० विहारिनिदास जी के नाम से प्रसिद्ध थीं। अतः दूसरी समाधि स्वा० जगन्नाथ जी की ही है अथवा नहीं इसमें सन्देह है। इस समय पास ही की एक और समाधि स्वा० विहारिनिदास जी की समाधि बतायी जाती है। आज से १०० वर्ष पूर्व लिखी 'वृन्दावन-धामानुरागावली' के अनुसार यहाँ स्वा० सरसदास तथा स्वा० नागरीदास की भी समाधियाँ थीं। सम्भव है साम्प्रदायिक विवाद के कारण उन्हें हटा दिया गया हो। ये सभी समाधियाँ इन महानुभावों के स्मारक या बैठकें हैं, उनके शरीर की समाधियाँ नहीं हैं।

निधिवन का मन्दिर तथा विशाल पक्का घेरा किसने बनवाया इसके सम्बन्ध में दो प्रकार के उल्लेख देखने में आते हैं। 'वृन्दावनधामानुरागावली' के रचयिता कवि गोपाल ने जहाँ विहारी जी के गोस्वामियों का वर्णन किया है वहाँ लिखा है कि गोस्वामी रासदास जी (गो० जगन्नाथ जी के प्रपौत्र तथा गो० हरिराय जी के पुत्र) ने ६ बीघे में फैले निधिवन का पक्का घेरा तथा मन्दिर बनवाया[2]। परन्तु जहाँ वे निधिवन का वर्णन करते हैं वहाँ कहते हैं कि स्वा० नागरीदासजी के शिष्य नवलसखीजी के दो शिष्य बरसाना-वासी हलधर तथा भूधर नामक दो भाई थे। उन्होंने ३०००० रुपये व्यय करके यह घेरा बनवाया[3]। लेखक ने दो विरोधी पक्षों, गोस्वामी वर्ग तथा स्वामी जी के विरक्त शिष्यों में प्रचलित दोनों किंवदन्तियों को ज्यों का त्यों लिपिबद्ध कर दिया है, ऐसा ज्ञात होता है। 'निजमत सिद्धान्त'

१. वृन्दावनधामानुरागावली, पृ० १५१।
२. वही, पृ० २३।
३. वही, पृ० १६६।

(जो इस पुस्तक से लगभग ७५ वर्ष पूर्व रचा गया) के अनुसार हलधर, भूधर ने ३०००० रुपये जो उनकी सम्पूर्ण सम्पत्ति थी विरक्त दीक्षा लेते समय स्वा० नागरीदास जी को भेंट किये। स्वा० नागरीदास जी ने यह धन गो० रासदास जी को घेरा बनवाने को दिया[1]। कह नहीं सकते कौन-सी बात ठीक है परन्तु गो० रासदास जी का इस घेरे के निर्माण में महत्त्वपूर्ण योगदान अवश्य रहा होगा।

हलधर और भूधर का नाम भी निधिवन के नाम से अभिन्न रूप में जुड़ा हुआ है। विरक्त होने से पहले ये दोनों भाई पहलवान थे तथा बड़े बलिष्ठ और तेज स्वभाव के थे। 'निजमतसिद्धान्त' में कहा है कि एक बार मुगल निधिवन को काटने आये तब भूधर ने कहा कि 'पहले मेरा सिर कटेगा तब वन के वृक्षों पर कुठार चलेगा।' यह कहकर उन्होंने अपना सिर लता पर रख दिया। मुगल के कुठार से कटकर भूधर का सिर ज्यों ही पृथ्वी पर गिरा सारे मुगलों के सिर भी स्वतः ही कटकर गिर पड़े[2]। 'वृन्दावनधामानुरागावली' का लेखक भी इस घटना का उल्लेख करता है। कुछ समय बाद ही हलधर का विहारी जी के गोस्वामियों से झगड़ा हो गया। और वे विहारी जी को गोस्वामी अधिकारियों से छीनकर निधिवन में ले आये। तब गोस्वामियों ने तत्कालीन महन्त स्वा० नरहरिदास जी से, जो उस समय बुन्देलखण्ड में भ्रमण कर रहे थे, जाकर शिकायत की और उनकी आज्ञा से हलधर ने गोस्वामियों को विहारी जी लौटा दिये। किन्तु इनके शत्रुओं ने इन्हें एक दिन सोते में यमुना में बहा दिया[3]। इसके विपरीत गोस्वामियों के यहाँ यह कथा चली आती है कि विहारी जी की पूजा निधिवन में होती थी और वहाँ से हलधर तथा भूधर विहारी जी को रात में चुराकर भाग रहे थे कि यमुना के बीच में उन्हें गोस्वामियों ने जा पकड़ा। नदी के बीच भयानक मारकाट हुई और दोनों भाई हलधर भूधर मारे गये। इस प्रकार गोस्वामियों ने विहारी जी को पुनः प्राप्त किया।[4]

इन घटनाओं का कोई तिथि संवत् नहीं मिलता। स्वा० नरहरिदास जी के समय में ही औरंगजेब ने सं० १७२६ में वृन्दावन के मन्दिरों को नष्ट किया था। सम्भव है स्वा० हरिदासजी के विख्यात उपास्यदेव विहारी जी की मूर्ति तथा उनकी साधनाभूमि को भी नष्ट करने उसके सैनिक आये हों। इस उपद्रव की सूचना पाकर ही स्वा० नरहरिदेव जी वृन्दावन छोड़कर बुन्देलखण्ड चले गये हों। सम्भवतः उन्हीं दिनों यहाँ निधिवन की रक्षा में भूधर ने प्राण दिये। कुछ समय बाद विहारी जी के सेवाधिकार की छीनाझपटी में हलधर की मृत्यु हुई। गोस्वामियों तथा विरक्तों के ये झगड़े अब तक चले आ रहे हैं। निधिवन को लेकर कई बार मुकदमेबाजी भी हो चुकी है। इस समय निधिवन का अधिकांश भाग गोस्वामियों के हाथ में है। वे ही यहाँ के सेवाधिकारी भी हैं। परन्तु निधिवन के पुराने फाटक के पास का कुछ भाग विरक्तों के पास है जहाँ टट्टी स्थान के कुछ साधु रहते हैं।

निधिवन में वर्ष का प्रधान उत्सव होता है भाद्रपद शु० अष्टमी को। यह स्वा०

१. निजमत सिद्धान्त, अवसानखण्ड, पृ० ९४।
२. वही, पृ० ९५।
३. वही, पृ० ९९-१००।
४. यह वृत्तान्त तथा गोस्वामियों सम्बन्धी परम्परा-प्राप्त बहुत-सी मौखिक सामग्री मुझे गो० छबीले वल्लभजी से प्राप्त हुई जिसके लिए मैं उनका कृतज्ञ हूँ।

हरिदास जी का जन्मोत्सव है। प्रात:काल यहाँ नौबत बजती है तथा स्वामी जी की समाधि की पूजा होती है। स्वामी जी की रस की रचना 'श्री केलिमाल' का पाठ होता है। सायंकाल श्री विहारी जी के मन्दिर से चाव की सवारी निकलती है। जब यह सवारी निधिवन में पहुँचती है तब स्वामीजी की समाधि तथा चित्र का रोली चावल से पूजन होता है। इस एक दिन ही यहाँ 'वेणी गूंथन' नामक रासलीला होती है जिसमें स्वामी हरिदासजी का यह पद विशेष रीति से गाया जाता है :

बेनी गूंथ कहा कोउ जानैं मेरी सी तेरी सौं ।
बिच-बिच फूल सेत पित राते, और को कर सकै रीसों ।
बैठे रसिक संवारन बारन कोमल कर ककही सों ।
श्री हरिदास के स्वामी स्यामा कुंजविहारी, दै काजर नख ही सौं ।।[1]

श्री बांकेविहारीजी का मन्दिर : श्री बांकेविहारी स्वा० हरिदास जी के ठाकुर हैं। स्वामीजी अपनी रचनाओं में इन्हें कुंजविहारी कहते हैं। स्वामी बीठलविपुल जी तथा स्वा० विहारिनिदेवजी की वाणी में इनके लिए 'बांके' विशेषण का प्रयोग भी हुआ है। ये वृन्दावन के सबसे अधिक लोकप्रिय ठाकुर हैं। इनके विशेष उत्सवों पर दर्शनार्थियों की अपार भीड़ दूर-दूर से उमड़ती चली आती है। इनका मन्दिर विहारीपुरा में स्थित है। 'निजमत सिद्धान्त' के अनुसार श्री कुंजविहारी निधिवन में एक विवर में थे। स्वामीजी को इस तथ्य का ज्ञान था। वहीं से उन्होंने सं० १५६७ की मार्गशीर्ष शुक्ला पंचमी को उन्हें निकाल कर निधिवन में पधराया तथा उसी दिन उनका पाटोत्सव किया।[2] स्वामीजी, उनके शिष्य श्री बीठलविपुल जी तथा उनके शिष्य श्री विहारिनिदेव जी ने निधुवन में ही इनकी सेवा की। श्री विहारिनिदेव विधिभक्ति तो मानते ही न थे। सदा मानसी सेवा में लीन रहते। नित्यनिकुंजविहार का मानसी दर्शन करते-करते कभी-कभी दो-तीन दिन बीत जाते और वे समाधिस्थ यमुना जी के पुलिन पर बैठे-बैठे पद गाते रहते। न भोजन, न स्नान। विहारी जी की पूजा सेवा भी न होती। तब एक ब्राह्मण जगन्नाथ की प्रार्थना पर आपने विहारी जी उसे सौंप दिये।[3] यही गो० जगन्नाथ वर्तमान सेवाधिकारी गोस्वामियों के पूर्वपुरुष थे। 'वृन्दावनधामानुरागावली' का लेखक भी विहारिनिदास जी के चरित्रवर्णन में यही बात कहता है।[4] परन्तु विहारी जी के मन्दिर के प्रसंग में उसने गोस्वामियों में प्रचलित परम्परा का उल्लेख किया है कि स्वा० हरिदास जी ने स्वयं अपने छोटे भाई गो० जगन्नाथजी को विहारी जी की सेवा सौंपी।[5] गो० जगन्नाथ जी ने तीन समय की सेवा का अधिकार अपने तीन पुत्रों में बाँट दिया। श्रृंगार की सेवा गोस्वामी गोपीनाथ को, राजभोग की गो० मेघ-श्याम तथा शयनभोग की गो० मुरारिदास को मिली। इन्हीं के वंशजों में तीन समय की सेवा अब तक चली आती है।

गोस्वामियों के कथनानुसार प्राकट्य से लेकर सं० १८४२ तक विहारी जी की

१. श्री केलिमाल, पद ७०।
२. निजमत सिद्धान्त, मध्यखण्ड, पृ० ८७।
३. वही, अवसान खण्ड, पृ० १३।
४. वृन्दावनधामानुरागावली, पृ० १६७।
५. वही, पृ० २०।

सेवा निधुवन में ही हुई। प्रारम्भ में स्वामी हरिदासजी के समय में, वे वृक्ष के नीचे ही विराजते थे। स्वामीजी के पश्चात् निधुवन की परिक्रमा में जो छोटा-सा 'रंगमहल' है, वहाँ विराजे। फिर निधिवन का मन्दिर बन जाने के बाद, वहाँ विराजे। औरंगजेब के वृन्दावन पर आक्रमण का समाचार सुन गोस्वामी लोग विहारी जी को चुपचाप वहाँ से हटा ले गये तथा पता न लगे इसलिए बार-बार स्थान परिवर्तन करते रहे। पहले वे विहारी जी को श्यामगढ़ी ले गये, फिर बिसावर ले गये। कुछ दिन वृन्दावन में ही पुरोहितपाड़ा में उन्हें छिपाकर रखा गया। एक दिन तथा एक रात तो विहारी जी यमुना जी में रहे। पूर्णतया शान्ति स्थापित हो जाने पर फिर पूर्ववत् निधिवन में उनकी सेवा होने लगी।

जिस समय भरतपुर में राजा रतनसिंह राज्य करते थे उस समय विहारीजी करौली तथा भरतपुर भी गये। यह कथा इस प्रकार है। एक बार करौली नरेश वृन्दावन में आये। विहारीजी के दर्शन कर वे इतने मुग्ध हुए कि उन्होंने विहारी जी को करौली ले जाना चाहा। किसी गोस्वागी ने धन के लोभ से विहारी जी उन्हें सौंप दिये। करौली के राजा चुपचाप विहारी जी को यहाँ से ले गये और करौली में उन्हें विराजमान करा दिया। यह रहस्य तुरन्त ही प्रकट हो गया और गोस्वामियों ने उनके वापस लाने का उपाय करना प्रारम्भ किया। गोस्वामियों में उस समय गो० रूपानन्द (शयन भोग शाखा में, गो० जगन्नाथजी से ८वीं पीढ़ी में) बड़े प्रभावशाली व्यक्ति थे। वे भरतपुर गये और उनके कहने से राजा रतनसिंह ने सहायता देना स्वीकार कर लिया। गो० रूपानन्द ने भरतपुर की रानी का डोला लिया और यह प्रसिद्धि करते चले कि भरतपुर की रानी करौली में विहारी जी के दर्शन करने जा रही हैं। जब करौली के मन्दिर में पहुँचे तो रानी के लिए पर्दा करने के बहाने सबको अलग हटा दिया गया। तब तुरन्त विहारी जी को डोले में रख गोस्वामी लोग चल खड़े हुए। करौली की हद किसी तरह पार कर वे भरतपुर की सीमा में आ गये। वहाँ से भरतपुर पहुँचे। राजा रतनसिंह की इच्छा थी कि हम विहारी जी को भरतपुर में रख लें। इसके लिए उन्होंने सब व्यवस्था कर रखी थी। परन्तु गो० रूपानन्द इस चाल को समझ गये। वे चुपचाप वहाँ से विहारी जी को लेकर वृन्दावन आ गये। राजा रतनसिंह बहुत रुष्ट हुए और कई सौ सैनिकों सहित विहारी जी को छीन ले जाने के लिए वृन्दावन आये। जब गो० रूपानन्द ने देखा कि बल से हम विहारी जी को नहीं बचा सकेंगे तो उन्होंने रतनसिंह को रसायन बनाने का प्रलोभन देकर उस स्थान में बुलाया जिसे अब रतन-छत्री कहते हैं। वहाँ उन्हें एकान्त में तेल के खौलते कढ़ाव में धक्का देकर मार डाला। रतनसिंह के मरने की खबर सुन उनके सिपाहियों ने गोस्वामियों पर हमला किया। गोस्वामी भी खूब लड़े। गो० रूपानन्द भंगीपाड़े में लड़ते-लड़ते मारे गये। वहीं उनकी समाधि बनी है। इस प्रकार गोस्वामियों ने विहारी जी को वृन्दावन में रखा।

सं० १८४२ में जब स्वा० ललितमोहिनी जी विरक्तों की गद्दी पर थे, निधिवन के अधिकार को लेकर साधुओं और गोस्वामियों में भयानक झगड़ा हुआ। इसमें दोनों पक्ष के कुछ लोग मारे गये। गोस्वामियों में मोहनलाल तथा सोहनलाल नामक दो भाई (शयनभोग शाखा में गोस्वामी जगन्नाथ जी से १० वीं पीढ़ी में) मारे गये। इस झगड़े के बाद गोस्वामी लोग विहारी जी को निधिवन से ले आये और उन्हें वर्तमान मन्दिर के स्थान पर एक छोटा-

सा मन्दिर बनवाकर विराजमान कराया।[1] सं० १९२१ में यह नया मन्दिर गोस्वामियों के ही प्रयत्न से बना। वर्तमान मन्दिर के सम्बन्ध में ग्राउज़ ने लिखा है कि 'यह मन्दिर अभी ७०००० रुपये की लागत से बनकर तैयार हुआ है। ये धन गोस्वामियों ने अपने शिष्यों की भेंट से १३ वर्ष में इकट्ठा किया है। लाल पत्थर का यह चौकोर मन्दिर शिल्पकला में वृन्दावन के अन्य आधुनिक मन्दिरों से अधिक सुन्दर है। वृन्दावन संसार के उन थोड़े स्थलों में से है जहाँ स्थापत्य कला आज भी जीवित है और विकसित होती रहती है।[2]

विहारी जी की सेवा प्रणाली में अन्य मन्दिरों की पूजा सेवा से कुछ विशेषताएँ हैं। विहारी जी के साथ राधिका जी की मूर्ति नहीं है। उनकी केवल भावना की सेवा होती है। विहारी जी के वामांग में एक गद्दी पर राधिकाजी के नाम से अंकित एक शिला है जिसे श्री राधा की भावना से सब शृंगार धारण कराया जाता है।[3] विहारी जी सदा नित्य-निकुंज-विहार में रत हैं अतः सम्पूर्ण सेवाप्रणाली इसी भावना से ओतप्रोत है। और ठाकुरों की तरह वे शीघ्र नहीं उठते। यह माना जाता है कि वे रात्रि में निधिवन में विहार के लिए चले जाते हैं, अतः उन्हें पर्याप्त दिन चढ़े लगभग आठ बजे जगाया जाता है। फिर उन्हें स्नान तथा शृंगार कराते हैं। शृंगार में मुख्य भावना यह रहती है कि इस स्वरूप में प्रिया-प्रियतम दोनों का स्वरूप सम्मिलित है। अतः स्त्री पुरुष दोनों प्रकार का मिला-जुला शृंगार विहारी जी धारण करते हैं। उनके माथे पर चन्दन की बिन्दी इसी भाव से लगायी जाती है कि यह श्री राधा के लिए है। शृंगार में सिर पेच और पाग, चोटी और नकबेसर, नूपुर और क्षुद्रघण्टिका आदि सभी प्रकार के आभूषण धारण कराये जाते हैं। शृंगार के

१. 'बैंनदास' नामक एक वृन्दावनवासी कवि, जो सम्भवतः विहारी जी के गोस्वामी वंश में ही थे, की सं० १८७९ में रचित एक खण्डित पोथी। (नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, संग्रह सं० ५६१) में विहारी जी के एक नये मन्दिर के सम्बन्ध में एक पद मिलता है :—

"सखी सुनि कुंजविहारी प्रघट भये ।
जेठ सुकला पूरनमासी. भगतन दरस दये ।
आनन्द मंगल भयौ भोर तैं मंद्र नवीन ठये।
सेवक चन्दन चन्द पुनीत मन तिन हित आय छये।
दास बैंन ब्रजवन तैं टेरे सेवा मांझ लये ॥९८॥

इस पद से ज्ञात होता है कि बैंनदास के समय में विहारी जी का एक नवीन मन्दिर बना जिसे किसी चन्दन चन्द नामक व्यक्ति ने बनवाया था। वर्तमान मन्दिर के पहले इसी स्थान पर जो मन्दिर था यह उल्लेख उसी मन्दिर के सम्बन्ध में प्रतीत होता है।

२. एफ० एस० ग्राउज—मथुरा, ए डिस्ट्रिक्ट मेम्वायर, द्वि० संस्करण, पृ० २०० ।

३. वृन्दावन के कई अन्य पुराने विग्रहों जैसे राधारमण जी तथा राधावल्लभ जी के साथ भी श्री राधा की मूर्ति नहीं है। वहाँ भी गादी सेवा ही होती है। विशेषतः जहाँ राधा जी की ही प्रधानता है ऐसे राधा-वल्लभजी के मन्दिर में उनका विग्रह न होना आश्चर्य में डालता है। ये विग्रह तथा अन्य विग्रह जैसे गोविन्द देव जी, मदनमोहन जी आदि सभी बहुत प्राचीन हैं तथा कूप से, भूमि से या इसी प्रकार प्रकट हुए या किसी से मिले हैं। हमारा अनुमान है कि ये विग्रह उस समय के हैं जब श्री राधा की पूजा का प्रारम्भ नहीं हुआ था।

बाद शृंगार समय का भोग आता है और तब दर्शनार्थियों के लिए झाँकी होती है। झाँकी की विशेषता यह है कि पुजारी परदे को बन्द करते और खोलते रहते हैं जिससे अधिक समय तक टकटकी लगाकर कोई विहारी जी को न देखे। इसके दो कारण कहे जाते हैं। एक तो यह कि कहीं सुकुमार एवं सलौने विहारीलाल को नज़र न लग जाय। दूसरे यह कथा कही जाती है कि किसी भक्त का पहले निरन्तर दर्शन करते-करते तदाकार वृत्ति हो जाने के कारण समाधि में देहान्त हो गया था अतः झाँकी की यह प्रथा चली। थोड़ी देर बाद शृंगार की आरती होती है और फिर लगभग १२ बजे राजभोग आता है। इस समय आधे घण्टे पट बन्द रहते हैं और बाहर विहार के पद गाये जाते हैं। विहार के पदों के गाने का भाव यह है कि नित्य-विहारी का आहार भी विहार ही है और कुछ नहीं। पट खुलने पर कुछ देर झाँकी होती हैं, फिर राजभोग की आरती होती है तथा पट बन्द होकर शयन कराया जाता है। पद-गायन के साथ न किसी प्रकार का वाद्य बजता है न आरती के साथ घण्टी।

सायंकाल ५-५।। बजे फिर उत्थापन होता है। शृंगार होता है और फिर कुछ समय के लिये झाँकियाँ खुलती हैं। लगभग ८-९ बजे शयन का भोग आता है। भोग के बाद शयन की आरती होती है तथा तब शयन करा दिया जाता है। इस प्रकार केवल तीन ही समय सेवा की जाती है जिससे लाड़िली लाल के नित्य-विहार में अधिक विक्षेप न हो। स्वा० जी का एक चित्र भी मन्दिर के भीतर पूजा में रहता है।

श्री बांकेविहारी जी के उत्सव भी बहुत अधिक नहीं होते। श्रावण शुक्ला तृतीया (हरियाली तीज) को विहारीजी बाहर हिंडोले में झूलते हैं। यह एक बहुत विशाल सोने का हिंडोला है। इस मन्दिर में झूला केवल इसी दिन पड़ता है। भाद्रपद कृष्ण अष्टमी (श्रीकृष्ण जन्माष्टमी) को रात को भी दर्शन होते हैं तथा जन्म का तथा प्रातःकाल नन्दोत्सव का विशेष आयोजन होता है। भाद्रपद शुक्ला अष्टमी स्वा० हरिदास जी का जन्मदिन है। इस दिन प्रातः मन्दिर में नौबत बजती है। शृंगार में विहारी जी पीली पोशाक धारण करते हैं। लगभग ३ बजे दोपहर को केवल इसी दिन मन्दिर में रासलीला होती है। रासलीला का विषय होता है 'वेणी गूंथन'। इस लीला में विशेष रीति से स्वा० हरिदासजी का 'वेणी गूंथ कहा कोउ जानै मेरी सी तेरी सौं।' पद गाया जाता है। लगभग ६ बजे सायं यहाँ से 'चाव की सवारी' निकलती है जो निधिवन में स्वा० हरिदासजी की समाधि तक जाती है। इस जलूस में हाथी पर रासधारियों के स्वरूप होते हैं तथा पीछे-पीछे गोस्वामी लोग—

'रसिक नहिं प्रगटें जो हरिदास।
तौ अनन्य पथ जुगल उपासन को करतौ परकास।।[1]

यह पद गाते हुए जाते हैं।

शरत्पूर्णिमा को सायंकाल श्वेत पोशाक तथा ऊपर से कटि काछनी (रास की एक विशेष पोशाक) धारण कर विहारी जी जगमोहन में विराजते हैं। मार्गशीर्ष शुक्ला पंचमी को विहारी जी के प्राकट्य का दिन है। इस पंचमी को विहार-पंचमी भी कहते हैं। इस

१. नवनागरीदास—सांगीत विन्दु, पद सं० २।

दिन मन्दिर फूलों के झाड़, केले के खम्भे एवं बन्दनवारों से सजाया जाता है। विहारी जी पंचामृत में स्नान करते हैं तथा पीली पोशाक धारण करते हैं। निधिवन में विहारी जी के प्राकट्य स्थल की भी सजावट तथा पूजा होती है। वसन्त पंचमी से फाग खेलने के भाव से गुलाल फेंकना प्रारम्भ होता है तथा फाल्गुण शुक्ला एकादशी से पाँच दिन रंग की होली होती है। चैत्र कृष्णा प्रतिपदा को दोलोत्सव होता है। अक्षय तृतीया (वैशाख शुक्ला ३) के दिन दर्शनार्थियों की भारी भीड़ दूर-दूर से आती है। कारण, केवल इसी दिन विहारी जी के चरणों का दर्शन होता है। इस दिन 'चन्दन बागा' (चन्दन में लिपटी एक चोली, केवल एक धोती और बहुत थोड़ा शृंगार) धारण कराया जाता है। ग्रीष्म में सायंकाल फूलों का बंगला बनता है तथा फूलों का शृंगार धारण कराया जाता है। फूलों की कलात्मक सजावट इस मन्दिर की विशेषता है।

उत्सव केवल यही होते हैं। इनके इस विवरण से ज्ञात हो गया होगा कि ये सभी उत्सव इस सम्प्रदाय की उपास्य सम्बन्धी भावना के अनुकूल हैं। हमारी दृष्टि में केवल कृष्ण जन्माष्टमी का उत्सव कुछ अटपटा लगता है क्योंकि स्वामी जी के मत में उनके नित्यकिशोर अजन्मा हैं। उनका ब्रज से या वहाँ जन्म या लीला से कोई सम्बन्ध नहीं। सम्भव है यह उत्सव अधिकारियों ने साधारण जनसमुदाय की भावना को भी सम्मिलित कर लेने के लिए प्रारम्भ किया हो।

विहारी जी के गोस्वामी : विहारी जी के अधिकारी गोस्वामियों का परिवार बहुत बड़ा है। ये मन्दिर से लगे विहारीपुरा नामक मुहल्ले में रहते हैं। ये सारस्वत ब्राह्मण हैं। इनका गोत्र 'गर्ग' तथा अल्ल 'त्रिगुणायत' है। ये अपने को विष्णु स्वामी सम्प्रदाय के अन्तर्गत मानते हैं। वंश में ही, अधिकांश में पिता से ही दीक्षा लेने की प्रथा है। अतः सम्प्रदाय सबका एक ही होता है, परन्तु इसके अपवाद भी मिलते हैं। एक दो गोस्वामी निम्बार्क सम्प्रदाय में तथा टट्टी स्थान (निम्बार्क सम्प्रदाय के अन्तर्गत स्वा० हरिदास जी की शाखा) में भी दीक्षा ले चुके हैं। इनका निकास पंजाब से है, 'जहाँ इनके पूर्वज पहले चरणोदक नामक ग्राम में तथा पीछे मुलतान जिले के 'उच्च' नामक ग्राम में रहते थे।' वहीं से इनके पूर्वज आसुधीर जी अलीगढ़ आये।

इनके पूर्वइतिहास के सम्बन्ध में पं० गोविन्दराम पाठक ने लिखा है कि 'स्वा० हरिदासजी के पितामह स्वा० गजाधर थे। ये बड़े भजनानन्दी ब्राह्मण थे। ये एक बार कुएँ पर बैठे सन्ध्या कर रहे थे कि मुलतान के तत्कालीन राजा अर्जुनदेव शिकार से लौटते हुए वहाँ से निकले। वे प्यासे थे। उन्होंने गजाधर जी से पानी माँगा तो इन्होंने सन्ध्या से उठकर उन्हें पानी पिलाया। फिर इन्होंने मरे हुए जीवों को अपने मन्त्र बल से जिला दिया। राजा ने इस चमत्कार से प्रभावित हो इन्हें अपना गुरु बनाया तथा उच्च ग्राम, हरौदी, दैया, पिपलौद तथा बिसावर ये पाँच गाँव इन्हें दक्षिणा में दिये तथा स्वामी पदवी से विभूषित किया। स्वा० गजाधर जी के आसुधीरजी हुए और आसुधीरजी के पुत्र स्वा० हरिदासजी तथा जगन्नाथ जी। मुलतान के दूसरे शासक देवपाल के यहाँ स्वा० हरिदासजी उसकी पुत्री को दीक्षा देने गये थे। वहाँ किसी घटना पर अपमान अनुभव कर ये वैराग्य ले कोल (अलीगढ़) चले आये। इनके पिता भी बाद में सपरिवार कोल आ गये। अपनी पत्नी की मृत्यु के उपरान्त स्वा० हरिदासजी ने कोल भी छोड़ दिया और वृन्दावन

चले आये ।'[1]

गो० रामनाथ शास्त्री ने अपने 'कुंजविहारी सर्वस्व' नामक ग्रन्थ में लिखा है कि स्वामी हरिदासजी के प्रपितामह उच्चग्राम निवासी स्वामी सुरानन्द थे। स्वामी सुरानन्द के पुत्र स्वामी गजाधर तथा गजाधर जी के पुत्र स्वामी आसुधीर थे जो कोल में आकर रहे। इन्हीं के पुत्र स्वा० हरिदासजी, जगन्नाथ जी तथा गोविन्द जी थे।[2]

वृन्दावन से गो० छबीलेवल्लभ जी द्वारा प्रकाशित 'केलिमाल' की भूमिका में श्री सुदर्शन 'चक्र' ने लिखा है कि 'पंजाब के चरणोदक नामक ग्राम में गर्गगोत्रीय सारस्वत ब्राह्मण श्री कर्णदेव जी निवास करते थे। इनके पुत्र थे विष्णु शर्मा। जब विष्णु शर्मा बारह वर्ष के थे तभी इनके पिता का देहान्त हो गया। अतः ये 'उच्च' ग्राम में अपनी माता के साथ अपने पिता के शिष्य लक्ष्मीनारायण वर्मा के पास आ गये। श्री विष्णु शर्मा के पुत्र थे श्री गदाधर, गदाधर जी के आसुधीर जी तथा इनके स्वा० हरिदास जी, जगन्नाथ जी तथा गोविन्द जी।' इन तीनों कथनों का विवेचन हम यथास्थान करेंगे।

वर्तमान गोस्वामियों की शाखा गो० जगन्नाथ जी से प्रारम्भ होती है। गो० जगन्नाथ जी की वंश-परम्परा की चार वंशावलियाँ हमें मिलीं :

१. बलदेव कवि रचित 'गोस्वामीन की वंशावली' (गो० मधुसूदनलाल जी के संग्रह में)—यह ब्रजभाषा की पद्यबद्ध रचना है तथा इसे कवि ने सं० १९२७ में गो० आनन्द-नाथ की आज्ञा से लिखा।

२. (संस्कृत में) एक अन्य वंशावली (गो० मधुसूदनलाल जी के संग्रह में) इसमें तिथि संवत् या लेखक का नाम नहीं है। यह ७ पृष्ठ की छोटी-सी वंशावली है तथा अन्तिम नाम भोलानाथ के पुत्र हरिप्रसाद, कृष्ण तथा दामोदर के लिखे गये हैं।

३. गो० ब्रह्मानन्द द्वारा संस्कृत में लिखी वंशावली (गो० मगनविहारीलालजी से प्राप्त)—इसकी मूल प्रति मैंने नहीं देखी। गो० मगनविहारीलालजी के कथनानुसार उन्होंने इसे सं० १९७५ में गो० रघुनाथ जी द्वारा प्रतिलिपि की हुई वंशावली से पुनः प्रतिलिपि की है। मूल प्रति का रचनाकाल इसमें सं० १७७९ लिखा है। यह वंशावली गो० गजाधर (आसुधीरजी के पिता) से लेकर गो० गोपालात्मज गो० घनश्याम तक का उल्लेख करती है।

४. वंशवृक्ष (गो० मगनविहारीलालजी से प्राप्त)—इस वंश वृक्ष में गर्गाचार्य (इस गोत्र के आदि पुरुष) से लेकर आज तक के नाम हैं। यह वृक्ष मैंने उनके पास रखे एक लगभग ३० वर्ष पुराने तथा एक नये वंशवृक्ष के आधार पर नकल किया है। पिछली तीनों वंशावलियों तथा इस वंशवृक्ष में नाम लगभग एक से ही हैं। कहीं-कहीं वंशवृक्ष में एक-दो सन्तति-परम्परा बीच में ही छूट गयी हैं। छोटे-बड़े पुत्रों के नाम में कहीं विपर्यय भी हो गया है परन्तु अधिकांश नाम मिलते हैं।

१. 'ऑल इण्डिया सारस्वत', बम्बई, अप्रैल सन् १९३२।

२. हस्तलिखित, गो० जयविहारिनिदास के संग्रह में।

इस वंशवृक्ष में गो० जगन्नाथ जी से पूर्व की परम्परा इस प्रकार दी गयी है :

श्री गर्गाचार्य (यदुकुल के आचार्य)—आदि पुरुष
|
श्री शाण्डिल्य जी
|
श्री सर्वेश्वर जी
|
श्री नन्दीलालजी
|
श्री सुमुख जी
|
श्री सर्वगत जी
|
श्री सुपरा जी
|
श्री सुकर्मा जी
|
श्री सुयोग्य जी
|
श्री युवरथ जी
|
श्री सर्वरी जी
|
श्री कर्णदेव जी
|
श्री विष्णुशर्मा
|
श्री गजाधर जी (गदाधर)
|
श्री आसुधीर जी
|

स्वा० हरिदासजी | स्वा० जगन्नाथजी | स्वा० गोविन्दजी

स्वा० गोविन्दजी के दो पुत्र हुए—१. श्री विट्ठल विपुल, जो विरक्त हो गये तथा २. गो० कृष्णदास जी जिनका वंश अलीगढ़ में अभी तक है।

श्री जगन्नाथ जी से प्रारम्भ हुई परम्परा बहुत बड़ी है। परन्तु पीढ़ियों के अनुमान का आधार प्रस्तुत करने के लिए हम नमूने के लिए यहाँ कुछ ऐसे अपने परिचित गोस्वामियों

की परम्परा देते हैं जिनका नाम इस ग्रन्थ में भी आया है। इन परम्पराओं में हम प्रत्येक पीढ़ी में केवल एक-एक व्यक्ति का नाम ही लिखेंगे।

१. स्वा० जगन्नाथ	१. स्वा० जगन्नाथ	१. स्वा० जगन्नाथ	१. स्वा० जगन्नाथ
२. मेघश्याम	२. मुरारिदास	२. मुरारिदास	२. मुरारिदास
३. पीताम्बरदास	३. मोहनदास	३. मोहनदास	३. मोहनदास
४. जगजीवन	४. बैनीदास	४. बैनीदास	४. बैनीदास
५. उदयनाथ	५. राजाराम	५. राजाराम	५. राजाराम
६. शंभुनाथ	६. इच्छानन्द	६. विरजानन्द	६. इच्छानन्द
७. विश्वनाथ	७. सुखानन्द	७. लालचन्द	७. क्षेमानन्द
८. भजनलाल	८. ब्रह्मानन्द	८. गुलाबचन्द	८. महानन्द
९. रामकिशोर	९. मंशाराम	९. वृन्दावन	९. महताबलाल
१०. चन्द्रकिशोर	१०. देवकीनन्दन	१०. मूंआं जी	१०. गुलाबलाल
११. नारायण हरि	११. छोटेलाल	११. हरफूल	११. जीवनजी
१२. ओंकारनाथ	१२. किशनलाल	१२. मुरलीधर	१२. अलबेली जी
१३. अमरनाथ	१३. मगनविहारी	१३. रामनाथ	१३. लक्ष्मीनारायण
		१४. शरणविहारी	१४. ब्रजवल्लभ

इनमें से पहली परम्परा राजभोग शाखा की है तथा शेष तीन शयन भोग शाखा की।

गोस्वामी वंश के साहित्यकार

गोस्वामियों के वंश में अधिक कवि या लेखक नहीं हुए। जिन्होंने कुछ लिखा है उनकी सूची हम यहाँ देते हैं।

गोस्वामी बैनदास या बैंनीदास—इन्होंने बधाई आदि के अनेक छन्द लिखे। गो० मगनविहारी जी के अनुसार यह गो० जगन्नाथ जी से चौथी पीढ़ी में हैं। परन्तु हमें काशी नागरी प्रचारिणी सभा के हस्तलिखित पुस्तकालय में (संग्रह संख्या ५६१) इनकी एक पोथी मिली जिसमें रचना काल सं० १८७९ लिखा है अतः यह चौथी पीढ़ी से बहुत बाद के होंगे। इस पोथी के पहले दो पृष्ठ नहीं हैं। पाँचवें पृष्ठ में इन्होंने 'गोपी श्याम सन्देश' नामक अपनी रचना का संवत् १८७९ तथा अपने गुरु गोस्वामी रामप्रसाद का उल्लेख किया है। इस पुस्तक के साथ उसी जिल्द में एक पदावली भी है जो ३५ पृष्ठ के उपरान्त खण्डित है। इसमें १७० संख्या तक पद हैं। पदों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि ये वृद्धावस्था में विरक्त हो गये थे। विहारी जी का एक नवीन मन्दिर किसी व्यक्ति चन्दनचन्द ने इन्हीं के समय में बनवाया। इनके पदों में स्वा० हरिदासजी की तथा वीठलविपुलजी की बधाइयाँ हैं। अनेक उत्सवों तथा नित्य सेवा के फुटकर पद हैं तथा भक्ति और वैराग्य सम्बन्धी रचनाएँ हैं। इनके बधाई के पदों में अनेक स्थानों में स्वा० विहारिनिदास, स्वा० पीताम्बरदेव तथा स्वा० ललितकिशोरी देवजी के पदों की स्पष्ट अनुकृति है।

गो० नवनागरीदास (गो० लाड़लीप्रसाद रसिक)—इन्होंने 'सांगीत विन्दु' तथा 'प्रभावती परिणय चम्पू (संस्कृत)' ये दो रचनाएँ कीं। गो० मगनविहारी जी के अनुसार यह राजभोग शाखा में ११वीं पीढ़ी में थे अतः इनका समय लगभग ५० वर्ष पहले रहा

होगा। 'सांगीत विन्दु' सं० १९९४ में छपकर प्रकाशित हो चुकी है। यह छोटी-सी पुस्तक साधारण कोटि के कुछ पदों का संग्रह है। इसका एक पद 'रसिक नहिं प्रघटैं जो हरिदास' स्वामी जी की जयन्ती पर गोस्वामी लोग गाते हैं।

गो० नन्दकिशोर—इनकी हरिदास महिमामृत (संस्कृत) छोटी-सी सुन्दर रचना है। इनकी समय पच्चीसी, बाईसी, बारह मासी तथा अन्य फुटकर रचनाएँ भी बतायी जाती हैं। गो० मगनविहारी लाल जी की सूचनानुसार ये राजभोग शाखा में पाँचवीं पीढ़ी में हुए। परन्तु हमारी शोध में ये बहुत पीछे ठहरते हैं। हमें गोरेलालजी के मन्दिर के पुराने बस्तों में इनके हरिदास महिमामृत का अन्तिम पत्र मिला है जिसपर इन्होंने अपने हस्ताक्षरों में ग्रन्थ समाप्ति की तिथि ज्येष्ठ कृष्ण ९ गुरुवार, सं० १९१९ लिखी है। इस पत्र की संख्या ७ है तथा अन्तिम श्लोक संख्या १०६। यह रचना 'निजमत सिद्धान्त' के आचार्य खण्ड के अन्त में छपी है।

गो० केशवदेव (बरेली निवासी)—इनके दो संस्कृत ग्रन्थ 'कुंजकेलिका काव्य' तथा 'हरि स्मरण पद्धति' बताये जाते हैं।

गो० नन्दकुमार (आगरा निवासी)—इनका लिखा 'निधिवन विलास' नामक ग्रन्थ कहा जाता है।

गो० जगदीश—यमुना लहरी।

गो० श्रीगोपाल—विनोद विहार : ब्रजभाषा कवित्त आदि छन्दों में रचना।

गो० रामनाथ—'कुंजविहारी सर्वस्व' : यह पुस्तक हमने गो० जयविहारिनिदास जी के संग्रह में निधिवन में देखी थी। इसमें स्वामी हरिदास जी के सम्बन्ध में यत्रतत्र से प्राप्त प्रशंसात्मक तथा जीवन वृत्त सम्बन्धी संस्कृत तथा ब्रजभाषा के छन्द संकलित किये गये हैं। साथ में लेखक ने गद्य में कुछ सूचनाएँ दी हैं। उद्धरणों में लेखक की निजी रचनाएँ भी सम्मिलित हो सकती है।

गो० शरणविहारी अभय—आप पूर्वोक्त गो० स्वर्गीय रामनाथ जी के सुपुत्र हैं। आपने खड़ी बोली में 'स्वामी हरिदास' महाकाव्य की रचना की है, जो सं० २०१० में प्रकाशित हो चुका है।

साम्प्रदायिक विवाद सम्बन्धी उल्लेख

इस अध्याय के प्रारम्भ में हम इंगित कर चुके हैं कि स्वा० हरिदास जी के जन्म-स्थान, जाति, माता-पिता, जन्म संवत्, विवाह आदि विषयों के सम्बन्ध में स्वामी जी की विरक्त शिष्य-परम्परा तथा गोस्वामियों में बहुत समय से विवाद चला आता है। इस सम्बन्ध में गोस्वामियों की मत समर्थक जो सामग्री हमें प्राप्त हुई है उसका हम यहाँ संक्षेप में उल्लेख किये देते हैं :—

१. बैंनदास की पदावली—रचना सं० १८७९। इस ग्रन्थ का परिचय हम पहले दे आये हैं। इन्होंने अपने गुरु गोस्वामी रामप्रसाद को स्वा० हरिदासजी के वंश में कहा है। ये अपना तिलक केशर युक्त चन्दन तथा रोली का बताते हैं। स्वामी हरिदासजी के पिता आसुधीरजी तथा माता गंगारानी के घर बधाई का पद लिखा है। ये स्वा० हरिदासजी का जन्म ब्रज में मानते हैं तथा उनका जन्मदिन भाद्र पद शुक्ला अष्टमी। गोविन्दजी के घर वीठलविपुलजी का जन्म भी ब्रज में बताया है। कृष्णदास की अधोगति तथा श्रीनाथजी

की कृपा से स्वामीजी द्वारा उनके उद्धार का भी उल्लेख इन्होंने एक पंक्ति में किया है।

२. **वृन्दावन धामानुरागावली**—रचना सं० १९००, लेखक वृन्दावन के निवासी कवि गोपालराय। इन्होंने अपने सम्बन्ध में जो परिचय दिया है उसके अनुसार ये खरगराय के पुत्र थे तथा वृन्दावन के 'मनी पारौ' मुहल्ले के निवासी थे। इनका यह ग्रन्थ वृन्दावन के मन्दिरों के सम्बन्ध में प्रचलित किंवदन्तियों का एक सुन्दर कोष है। इन्होंने वृन्दावन के सारे प्रसिद्ध मन्दिरों एवं मुहल्लों का वर्णन तथा उनसे सम्बद्ध कथाएँ लिखी हैं। जहाँ ये विहारीपुरा का वर्णन करते हैं वहाँ इन्होंने गोस्वामियों में प्रचलित परम्पराओं का उल्लेख किया है तथा जहाँ ये स्वामी जी के अनुयायी विरक्तों के ठिकानों का वर्णन करते हैं वहाँ उन्हींके अनुसार, गोस्वामियों के कथन के बिलकुल विपरीत वृत्तान्त लिखा है। विहारीपुरा के वृत्तान्त में इन्होंने लिखा है सं० १५३७ की मार्गशीर्ष शुक्ला पंचमी को चार घड़ी दिन चढ़े विहारी जी का प्राकट्य हुआ। स्वा० हरिदासजी ने स्वयं गो० जगन्नाथजी को सेवा का अधिकार दिया। और इन्होंने अपने तीन पुत्रों मेघश्याम, मुरारीदास तथा मधुसूदन में तीन समय की सेवा इस प्रकार बाँटी—एक प्रहर श्रृंगार की सेवा, छः घड़ी की राजभोग की सेवा तथा चार घड़ी की शयन की सेवा। स्वा० हरिदासजी के छोटे भाई गो० जगन्नाथ जी का जन्म आसुधीरजी के घर सं० १५१२ आश्विन शुक्ला ८ को एक प्रहर दिन चढ़े हुआ। स्वयं स्वा० हरिदासजी का जन्म सं० १५०९ की भाद्र पद शुक्ला अष्टमी को अरुणोदय के समय मथुरा में हुआ। ये सारस्वत ब्राह्मण थे।

३. **वंशावली**—रचना सं० १९२७, लेखक बलदेव कवि। पुस्तक के अनुसार स्वा० हरिदास जी के पिता आसुधीर जी थे। इनकी जाति सारस्वत, गर्ग गोत्र तथा माध्यान्दिनी शाखा है। आगे इन्होंने लिखा है :

श्री व्रस्नस्वामि विनती प्रघट श्री हरिदास बषानियै।

अर्थात् स्वामी हरिदास जी ने प्रकट रूप से श्री विष्णु स्वामी (व्रस्न स्वामी) की विनती की। सम्भवतः इनका यह आशय है कि स्वा० जी विष्णु स्वामी सम्प्रदाय के अन्तर्गत हैं। इनके अनुसार 'स्वा० हरिदासजी का जन्म सं० १५१५ की भाद्र पद शुक्ला अष्टमी को अरुणोदय में मथुरापुरी में हुआ। स्वा० हरिदासजी के दो छोटे भाई जगन्नाथदास और गोविन्ददास थे। जगन्नाथदास महाराज के गोपीनाथ, मेघश्याम और मुरारिदास तीन पुत्र थे।' राजभोग की नामावली सम्पूर्ण होने के बाद जब इस वंशावली का शयन भोग वाला अंश प्रारम्भ होता है तब कवि ने पुनः स्वामी हरिदासजी और गो० जगन्नाथजी का कुछ वृत्तान्त लिखा है। इस वृत्तान्त के अनुसार 'एक समय आसुधीर जी कोल (अलीगढ़) से वृन्दावन आये और हरिदासजी को साथ लिवा ले गये। वहाँ हरिदासजी पाँच-सात दिन ही घर रहकर फिर वृन्दावन लौट आये। स्वा० हरिदास जी ने जब अपना महल पधारने (देहावसान) का समय जाना तब जगन्नाथजी को पास बुलाकर विहारीजी की सेवा देनी चाही। जगन्नाथजी ने संकोच प्रकट किया कि हम गृहस्थ हैं। कैसे सेवा निभा पायेंगे। तब विहारीजी ने स्वयं जगन्नाथजी की बाँह पकड़ ली। लाचार होकर जगन्नाथजी को सेवा स्वीकार करनी पड़ी।'

आगे इन्होंने लिखा है कि 'स्वा० विहारिनिदास गो० हरिराय के शिष्य थे तथा विहारिनिदासजी के सरसदास, सरसदास के नरहरिदास, इस प्रकार विरक्त परम्परा चली है।' स्वामी विहारिनिदेव की वाणी में स्पष्टतः वीठलविपुलजी को अपना गुरु तथा स्वा०

हरिदासजी को अपने गुरु का गुरु कहा गया है, अतः इस वंशावली का यह कथन प्रमाणित होता है।

४. **वंशावली** (संस्कृत में, गो० मधुसूदनलाल के संग्रह में)—रचनाकाल तथा लेखक अज्ञात। इस वंशावली के अनुसार 'गर्गान्वय में महागुणी गजपति हुए उनके पुत्र राधामाधव के उपासक आसुधीरजी हुए। इनके तीन पुत्र हुए—१. हरिदास जो विरक्त हो गये, २. जगन्नाथ जिनके तीन पुत्र हुए—गोपीनाथ, मेघश्याम तथा मुरारी।

५. **वंशावली** (संस्कृत)—रचना काल सं० १७७९ (१), लिपि सं० १९७५, लेखक—ब्रह्मानन्द। लेखक के अनुसार सारस्वत ब्राह्मण गजधर के पुत्र आसुधीर तथा उनके स्वा० हरिदास, जगन्नाथ, तथा गोविन्द तीन पुत्र थे।

इस वंशावली की जो प्रति मुझे मिली है उसमें बीच में खड़ी बोली गद्य में कुछ सूचनायें हैं जो सम्भवतः लिपिकर्ता की होंगी। परन्तु वंशावली पूर्ण हो जाने के बाद लगभग उसी शैली में निम्नलिखित पंक्तियाँ और जोड़ दी गयी हैं :—

श्री गोविन्दस्य पुत्रौ द्वौ बभूतां परम धार्मिकौ।
विपुलवीठल ज्येष्ठो वै रसभक्ति परायणः ॥१
कृष्णप्रसाद धर्मज्ञो वीठलस्य तथानुजः।
यस्य वंश्यास्तु अस्तिस्मिन् कोलस्थ नगरे शुभे ॥२
ऊपर कोटेति नाम्ना वै नगरेलीगढ़ संज्ञके।
कौशांब्यां नगर्यां वै नाम्नालीगढ़ संज्ञके।
समयेस्मिन् तस्य वंशे बाबूलालस्तु वर्तते ॥३

वर्तमान समय में अलीगढ़ में ऊपर कोट के विहारी जी के मन्दिर में जो गोस्वामी हैं उन्हीं का नाम बाबूलाल है। एकदम उसी शैली में यह आधुनिक पंक्तियाँ तथा किसी पुरानी मूल प्रति ही नहीं, अधिक पुरानी लिपि का भी न होना यह सिद्ध करते हैं कि यह वंशावली प्रामाणिक नहीं है, कोई आधुनिक रचना है।

६. **वंशवृक्ष** (गो० मगनविहारीजी के संग्रह में) की एक प्रति पर कुछ श्लोक लिखे हैं जिनके मूल लेखक या आकर ग्रन्थ का पता नहीं। अतः प्रमाण की दृष्टि से इनका उपयोग नहीं हो सकता। इनके अनुसार 'सारस्वत ब्राह्मण आसुधीरजी के तीन पुत्र थे स्वा० हरिदास, जगन्नाथजी तथा गोविन्दजी। स्वामी जी अपनी पत्नी के देहान्त हो जाने पर किशोरावस्था में ही विरक्त हो वृन्दावन आ गये।'

७. **भक्तमाल की पोथी पर एक टिप्पणी**—इन्हीं गो० मगनविहारीजी के पास एक हस्तलिखित भक्तमाल (नाभाजी, प्रियादासजी की टीका) के पृ० १२० के एक खाली कोने में यह श्लोक लिखा है—

'स्वाम्याशुधीरात्मजपादपल्लवं प्रणौमि सद्भागवतं च रागं।
कुंजान्तरे येन स्वयं प्रकाशितं श्यामानिपीतं स्वयमेव गीतम् ॥'

पूछने पर गोस्वामी जी ने बताया कि सम्भवतः यह श्लोक श्री किशोरी अलि का है तथा यह पंक्तियाँ भक्तमाल पर शायद उन्हीं ने लिखी हैं।

८. **गो० ओंकारनाथजी के संग्रह** में सं० १८८९ की लिपि की एक 'श्री केलिमाल' की प्रति है। ग्रन्थ की समाप्ति के बाद किसी ने भिन्न हस्ताक्षरों में पीछे से कुछ टूटे-फूटे दोहे जोड़ दिये हैं जो सारस्वत वंशी गो० आसुधीरजी के तीनों पुत्रों का अलीगढ़ में जन्म

तथा स्वा० हरिदासजी के विवाह आदि का औरों की भाँति ही उल्लेख करते हैं।

इन दोहों के बाद और किसी उत्साही ने भिन्न हस्ताक्षरों में एक अटपटा-सा श्लोक जोड़ दिया है, जो इस प्रकार का है :—

श्लोक स्वामी जी का।

४ ८ ५ १

वेदाष्टवानः क्षपमीषके गते भाद्रस्थिते सर्वभूमौप्रविजोहरि।
प्रसादोस्तुकले विवस्वान् तीर्थेत्तमे दोउकुल प्रसीदे।

सम्भव है इसके लेखक का आशय यह हो कि स्वा० हरिदासजी सं १५८४ में महल पधारे। यह स्पष्ट है कि ये दोहे तथा यह श्लोक प्रामाणिक नहीं हैं।

९. **एक पुष्पिका**—गो० ओंकारनाथ जी के संग्रह में तर्कसंग्रह की एक पुरानी पोथी है जिसके अन्त में पुष्पिका में लिखा है :—

'इति श्री मदन्नंभट्टोपाध्याय कृत तर्क संग्रह टीका तर्क संग्रह दीपिकाख्या समाप्ता। श्यामाकुंजविहारी के अनुचर स्वामी हरिदास के वंश में स्वामी सिम्भुनाथ जी तत्पुत्र स्वामी गोपीनाथेन लिषायतं लिषतं ब्राह्मण ऋषिरामेण वृन्दावन मध्ये युगल घाट समीपे संवत् १८४९ मिती पौष बदि ३ शनिवार श्रीरस्तु। कल्याणमस्तु लेखक पाठकयोश्चिरं भूयात्।'

ये गोपीनाथजी राजभोग शाखा में ७वीं पीढ़ी में गो० ओंकारनाथ से ५ पीढ़ी पूर्व, इन्हीं के वंश में थे।

१०. मथुरा के तीर्थपुरोहित के यहाँ का सं० १८६३ का एक लेख—मथुरा के तन्नू चौबे के पुत्र चीते चौबे (जो परम्परा से विहारी जी के गोस्वामियों के तीर्थ पुरोहित हैं) के यहाँ हमें एक प्राचीन सनद मिली जिसका लेख इस प्रकार है :—

'श्री विहारी जी

स्वामी जगन्नाथ जी के तीन पुत्र स्वामी आसुधीर जी के नाती स्वामी गोपीनाथ मेघश्याम मुरारीदास मेघस्वामी के पुत्र हरप्रसाद जगजीवनदास मुरारदासजी के पुत्र माधोदास मोहनदास तिनकी सन्तत ने यह लिष दीनो हाल में लिषतं श्री विहारीजी के गुशांई राजारामरायजी के नाती पंती गुसांई दीनानाथजी के नाती पंती गुसांई उदेनाथ जी के नाती पंती गुसांई हरिप्रसाद के नाती पंती गुसांईं उदेनाथजी के नाती पंती सवन यह लिषि दीनौ कै चौबे जादौ तिन के बेटा चिंतामन लालमन तिनपै हमारे बड़ेन कौ लिष्यौ निकस्यौ संवत् १६०५ (पहले सं० १६०८ लिखा है तथा पीछे काटकर उसे १६०५ किया गया है) कौ स्वामी आसुधीर जी के पुत्र स्वामी हरिदासजी स्वामी जगन्नाथजी स्वामी गोविन्ददासजी इनके हाथ कौ देषि के अब हमन यह नयौ कागद लिषि दीनौ वह कागद पुरानो जीरन होइ गयौ हौ याते अब नयौ लिषि दीनौ कै हमारे प्रोहत मौजी—हशी व इनकूं जो हमारो होइ सो माने जाइ संवत् १८६३ मिति भादौ सुदी रोज दषषत गुलाब के सुवन के कहें लिष्यौ सुभमस्तु'।

इस लेख के नीचे इन गोस्वामियों के हस्ताक्षर हैं :—

रामप्रसाद, मयानाथ, हरिनन्द, जीसुख, विहारीलाल, कुंदलाल, गोपीनाथ, राधा-प्रसाद, शीलचन्द, प्राना, राधालाल, सोहनलाल, आनन्दविहारी, तुलसीदास, वृन्दावन, राधा-किशन, जीवाराम, कोमलचन्द, चन्दनाथ, मगनविहारी, मन्नूलाल, प्रियालाल, चैनलाल, काशीनाथ, तथा ललितलाल।

वंशवृक्ष के अनुसार यह नाम गो० जगन्नाथ जी की ५वीं पीढ़ी से लेकर ९वीं पीढ़ी तक के हैं। रामप्रसाद शयनभोग में पाँचवीं पीढ़ी में थे तथा जीसुख छठी में, मयानाथ राजभोग शाखा में सातवीं पीढ़ी में हैं। मन्नूलाल, प्रियालाल और चैनलाल शयनभोग शाखा में सातवीं में, शीलचन्द आठवीं में तथा हरनन्द नवीं पीढ़ी में थे। सम्भव है इतने बड़े वंश में अलग-अलग कुटुम्ब के लोगों में कोई वृद्ध पाँचवीं पीढ़ी के तथा अन्य कुटुम्बों के युवक नवीं पीढ़ी तक के स्थित रहे हों। इनमें गो० हरिनन्द गो० रूपानन्द के पुत्र थे जो सं० १८२६ में भरतपुर के राजा के हत्याकाण्ड में मारे गये। कहते हैं कि हरिनन्द को पिता की मृत्यु के बाद पाँच वर्ष की अवस्था में ही आजन्म कारावास में डाल दिया गया था परन्तु साम्राज्ञी विक्टोरिया के पुत्र लाभ के समारोह में जब अनेक बन्दी मुक्त किये गये तब यह भी छूट आये। अतः इनका इस सनद पर हस्ताक्षर करना असम्भव नहीं।

११. **उज्जैन के पण्डे के यहाँ का लेख** —एक पुराने फटे-टूटे दूसरे कागज पर चिपकाये हुए लेख का फोटो मुझे गो० शरणविहारी जी 'अभय' ने दिखाया। मुझे बताया गया कि कुछ समय पहले उज्जैन से हरीवल्लभ नन्दलाल नामक एक पण्डा अपनी कन्या को साथ लेकर वृन्दावन आये थे। वे विहारी जी के गोस्वामियों के तीर्थ पुरोहित थे। उनका उद्देश्य था कन्या के विवाह के लिए यजमानों से धन एकत्रित करना। प्रमाण स्वरूप अपनी पुरानी बही का एक जीर्ण पत्र लाये थे जिसमें उनके कथनानुसार सं० १६२४ में स्वा० हरिदासजी ने स्वयं हस्ताक्षर किये थे। यह पत्र एक अन्य कागज पर चिपकाया हुआ तथा एक चौखटे में मढ़ा था। गोस्वामियों ने उन्हें उचित दक्षिणा से सम्मानित किया तथा उस लेख का तथा उस लेख के साथ उनका तथा उनकी कन्या का इस प्रकार दो फोटो चित्र ले लिये। मैंने ये दोनों चित्र देखे। लेख बहुत फटा-टूटा है। उसका जितना अंश पढ़ा जा सकता है वह यह है :—

'लखित्वा सददावृत्ति हरिदास द्विजातय ॥४॥
अस्मादीया वैस्नवा। जे राघा (धा) मा घ० (धव)
े (से) वका। तैमंतव्या प्रकत्तव्या ध्याइ
षस्य द्विजन्मनः॥ लि० स्वामी—
व हरीदास कटु तौर्थ प्रोहित हमारो है जु—
—होइ सु इनहि माने संवत् १६२४—'
.....

इसके नीचे पण्डे ने लिख दिया है :—

'श्री स्वामी हरिदासजी का लेख याको आधो पत्र फट गयो ता से चिपकाय कै राख्यौ है श्री बांकेविहारी जी के चरण का उज्जै (न) का तीर्थ पुरोहित

हरीवल्लभ नन्दलाल

टी० सोंघ (ध) पुरी० उज्जैन'

स्वा० हरिदासजी की वाणी में उपास्य का नाम सर्वत्र 'कुंजविहारी' मिलता है। कहीं भी 'राधा माधव' नहीं। किन्तु गोस्वामियों की मान्य परम्परा के अनुसार राधा माधव स्वा० हरिदास जी के पिता आसुधीरजी के सेव्य ठाकुर का नाम अवश्य था। उनकी विरक्त शिष्य परम्परा में तीर्थयात्रा प्रायः नहीं की जाती। कोई-कोई तो वृन्दावन छोड़कर भी बाहर नहीं जाते। इस लेख में जाति, पितृनाम या निवास-स्थान का कोई उल्लेख नहीं है।

यह तथ्य इस लेख की प्रामाणिकता में सन्देह उत्पन्न करते हैं।

१२. ग्राउज़ के मथुरा मेम्वायर में गोस्वामियों के मत का उल्लेख—मथुरा के भूतपूर्व कलेक्टर ग्राउज़ ने अपने 'मथुरा, ए डिस्ट्रिक्ट मेम्वायर' नामक ग्रन्थ (द्वितीय संस्करण, प्रकाशित सं० १९३७) में स्वा० हरिदास जी के जीवन सम्बन्धी तथ्यों का भक्त-माल की 'भक्त सिन्धु' टीका के आधार पर उल्लेख किया है तथा उसके विपरीत गोस्वामियों के मत का भी उल्लेख किया है। ये मत इन्हें गो० जगदीश (राजभोग शाखा में ११वीं पीढ़ी में) तथा गो० किशोरचन्द (शयन भोगशाखा में १३वीं पीढ़ी में) से ज्ञात हुआ। ग्राउज़ के अनुसार गोस्वामियों की मान्यता है कि 'इस शाखा के प्रवर्त्तक (स्वा० हरिदासजी) स्वयं ब्रह्मचारी थे परन्तु उनके भाई जगन्नाथ जी के तीन पुत्र थे—मेघश्याम, मुरारिदास तथा गोपीनाथ, जिनमें से तीसरे निःसन्तान मर गये।[1] पहले दो वर्तमान गोस्वामियों के पूर्वज थे। उनका परिवार कोल या जलेसर से (जैसा 'भक्तसिन्धु' में लिखा है) नहीं आया किन्तु पंजाब में मुलतान जिले के 'उच्च' गाँव से आया। स्वा० हरिदास सनाढ्य (भक्तसिन्धु का मत) नहीं सारस्वत थे। वे ४ शती पहले नहीं अधिक से अधिक ३ शती पहले हुए। लगभग ५० वर्ष से स्वामी जी के अनुयायियों में झगड़ा चला आता है अतः दो प्रकार के मत हो गये हैं।'[2]

१३. तीर्थदर्शन (बंगला) की टिप्पणी—कलकत्ता की बंगीय साहित्य परिषद् द्वारा सन् १३२२ फसली (सं० १९७२) में प्रकाशित 'तीर्थदर्शन' ग्रन्थ[3] में श्री यदुनाथ सर्वाधिकारी के सन् १२५९ फसली (सं० १९०९) से सन् १२६४ फसली (सं० १९१४) तक के तीर्थ-भ्रमण के संस्मरण छपे हैं। वृन्दावन के प्रसंग में मूल लेखक ने स्वा० हरिदासजी के सम्बन्ध में केवल इतना ही लिखा है कि 'निधुवन में बांकेविहारी ठाकुर प्रकट हुए। वन के बीच में हरिदास जी की गद्दी है।'[4]

परन्तु टीका एवं टिप्पणीकर्त्ता श्री नगेन्द्रनाथ बसु (रचना सं० १९७२) ने पाद टिप्पणी में लिखा है कि 'स्वामी हरिदास के दो भाइयों के वंशधर वृन्दावन में विहारी जी के नाम से विख्यात सुबृहत् और उत्कृष्ट मन्दिर के रक्षक तथा 'सेवाई' हैं। 'भक्त सिन्धु' में लिखा है कि इनके पिता का नाम आसुधीर था तथा इनका जन्म सं० १४४१ में हुआ।'

१४. कुंजविहारी सर्वस्व—लेखक गो० रामनाथ शास्त्री—यह हस्तलिखित छोटा-सा ग्रन्थ हमने गो० जयविहारिनिदास जी के पास निधिवन में देखा था। इसका परिचय हम गोस्वामियों के ग्रन्थों के प्रसंग में दे चुके हैं। ग्रन्थकर्ता के मत से 'उच्चग्राम' (मुलतान) में स्वामी हरिदासजी के प्रपितामह स्वामी सुरानन्द जी रहते थे। इनके पुत्र स्वा० गजाधर जी का जन्म सं० १५३१ में हुआ। गजाधर के घर सं० १५६० में स्वामी आसुधीर जी का जन्म हुआ। आसुधीर जी थे गृहस्थ, पर चर्या बड़े-बड़े विरक्तों की सी थी। ये उच्चग्राम

१. वंशवृक्ष के अनुसार इनके पुत्र हरिराय जी थे तथा हरिराय जी के रासदास तथा कृष्णदास। इन्हीं रासदास ने निधिवन का घेरा बनाया। रासदास तथा कृष्णदास दोनों निःसन्तान मरे। अतः ग्राउज़ के कथन का अर्थ यही है कि गोपीनाथ जी का वंश थोड़े ही दिन चला।

२. एफ० एस० ग्राउज़—मथुरा, ए डिस्ट्रिक्ट मेम्वायर, द्वि० सं०, पृ० २००-२०४।

३. श्री गोविन्ददेव जी के मन्दिर के गोस्वामी मूलचन्द्र जी के संग्रह में।

४. तीर्थदर्शन, पृ० १००।

छोड़ कोल में आ बसे। कोल में इन्होंने राधामाधव जी की मूर्ति स्थापित की। इनकी धर्म-पत्नी गंगादेवी थीं। आपने कोल में यह दोहा कहा—

चन्द्र वसू शर धरा में (१५८१) तजो देश अरु गेह।
वसे कोर ब्रज आय के सफल भयो ये देह॥

इनके तीन पुत्र हुए—१. स्वा० हरिदास जी (जन्म सं० १५८४ भाद्र पद शुक्ला अष्टमी गुरुवार) २. स्वा० जगन्नाथदास (जन्म सं० १५८६ माघ कृष्ण १३ बुधवार) ३. स्वा० गोविन्द जी (जन्म सं० १५९० फाल्गुण शुक्ला ११ रविवार) बालकपन में कोल के समीप जिस स्थान पर हरिदास जी अपने उपास्य का ध्यान करते थे उस स्थान का नाम हरिदासपुर हो गया। हरिदास जी ने अपने पिता से दीक्षा ली एवं किशोरावस्था में ही अपनी पत्नी विजयादेवी के योग समाधि द्वारा देह विसर्जन करने के उपरान्त वृन्दावन चले आये। विजया सती की समाधि अभी तक हरिदासपुर में है तथा गोस्वामी लोग आज तक वहाँ पूजन तथा बालकों के मुण्डन कराने जाते हैं।[1] स्वा० हरिदास जी सं० १६०२ में १८ वर्ष की अवस्था में निधिवन आये। सं० १६०४ मार्गशीर्ष शुक्ला पंचमी को बांकेविहारी जी का प्राकट्य हुआ। इस संवत् को पुष्ट करने के लिए इन्होंने यह श्लोक उद्धृत किया है :—

श्री स्वामी हरिदासभावितकृतिबांकेविहारी हरिः
श्रीमूर्त्याविर्भूत्स्वयं निधिवने वृन्दावने पावने।
वेदाकाशरसेन्दुभिः परिमिते संवत्सरे सत्प्रियो।
धन्यानां व्रजवासिनामहरहो यच्छत्प्रमोदे दृशाम्॥

(निधिवन विलास)

स्वामी जी सारस्वत वंश में थे, इसकी पुष्टि में इन्होंने ये दोहे उद्धृत किये हैं :—

सारस्वत कुल में भये श्री हरिदास महान्।
आशुधीर के सुवन हैं जानत सकल जहान॥
सबै रसिक चन्दन भये मलयागिर की पौन
आशू के हरिदास को लगें लाल पग पौन॥

(लालदास कृत)

आगे ये लिखते हैं कि अकबर ने १६५२ में वृन्दावन में आकर स्वामी जी से भेंट की। स्वामी जी के भाई गोविन्दजी के दो पुत्र हुए—१. विट्ठल विपुल (जन्म सं० १६०९) तथा २. कृष्णदास (जन्म सं० १६१४)। कृष्णदास जी का वंश अब तक कोल में चला आता है। जगन्नाथ जी के तीन पुत्र हुए—१. गोपीनाथ जी (जन्म सं० १६१०), २. मेघश्यामजी (जन्म सं० १६१४), ३. मुरारीदास जी (जन्म सं० १६१७)। स्वामी जी ने महल पधारने से पूर्व विहारी जी की सेवा जगन्नाथ जी को दी। इस सम्बन्ध में स्वा० विहारिनिदास जी के यह छन्द उद्धृत किये गये हैं :—

श्रीवन निधिवन राज में राजत श्री हरिदास।
सखी सहेली संग की सब मिलि आईं पास॥

१. गो० छबीलेवल्लभजी ने बताया कि विजया सती की एक समाधि ब्रह्मनिवास आश्रम के पास वृन्दावन में भी है और आजकल अधिकांश गोस्वामी मुण्डनादि के लिए यहीं जाते हैं।

छप्पय— *सब मिलि आईं पास आय यह वचन सुनायौ ।*
श्री वृषभानुकुमारि आप कूं बौलि पठायौ ॥
अब यह वेष छिपाय गमन स्वामिनि पर कीजै ।
अन्तर अन्तर होय जानि यह मन में लीजै ॥
सुनिकर सहचरि के वचन शीघ्र चलन त्यारी करी ।
सेवा कुंजविहारी की जगन्नाथ के सिर धरी ।

—लेखक विहारिनिदास

शास्त्रीजी के मतानुसार स्वा० हरिदासजी सं० १६६५ वि० में आषाढ़ शुक्ला २ को निधिवन में लीन हो गये ।

इस ग्रन्थ में अनेक नये कथन, नाम, संवत् आदि मिलते हैं। उन्हें प्रमाणित करने के लिए जो श्लोक या छंद दिये गये हैं, वे कहाँ से लिये गये, पता नहीं। इन्होंने स्वा० हरिदास जी के प्रपितामह का नाम स्वामी सुरानन्द बताया है जब कि वंशवृक्ष में उनका नाम विष्णु शर्मा है। जो दोहा आसुधीर जी के अलीगढ़ वास के सम्बन्ध में उन्हीं का लिखा बताया गया है उसका इस ग्रन्थ के अतिरिक्त और कहीं अस्तित्व नहीं। लालदास कृत जो दोहे इन्होंने उद्धृत किये हैं उनमें से पहला, जिससे स्वामी जी का सारस्वत होना सिद्ध होता है, कहीं नहीं मिलता। लालदास का जो एक दोहा सर्वप्रचलित है तथा पुरानी से पुरानी पोथियों में भी जहाँ स्वामी जी की प्रशंसा के छन्द संग्रहीत किये जाते हैं वहाँ मिलता है वह इस प्रकार है :—

रवनि रसायन परिहरी साहन मानत कौन ।
आसू के हरिदास की लगौ लाल पग पौन ॥

इस दोहे के अतिरिक्त लालदास की और कोई रचना प्राप्त नहीं है। अतः ऐसे छंदों को प्रामाणिक मानना कठिन है।

अकबर के वृन्दावन आने का समय सं० १६२७ (कुछ विद्वानों के मतानुसार सं० १६३०) माना जाता है। पता नहीं इन्होंने सं० १६५२ किस आधार पर लिखा। 'स्वा० जगन्नाथ जी को विहारी जी की सेवा स्वा० हरिदासजी से ही मिली' इस मत को पुष्ट करने के लिए इन्होंने विहारिनदास कृत कहकर जिस दोहे तथा छप्पय का उद्धरण दिया है उसका विहारिनदास जी (स्वा० हरिदासजी की विरक्त परम्परा में तीसरे महन्त) की वाणी में कहीं पता भी नहीं है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ अप्रामाणिक ही नहीं उन अनेक प्रयासों का एक उदाहरण भी है जो अपने-अपने पक्ष को पुष्ट करने के लिए लोगों ने समय-समय पर किये हैं और जिनके कारण इस सम्प्रदाय के इतिहास के विवादग्रस्त अंश की वास्तविकता और भी घने अन्धकार में लुप्त हो गयी है।

१५. 'सारस्वत' में पं० गोविन्दराम पाठक का लेख—बम्बई से प्रकाशित आल इण्डिया सारस्वत महासभा के (त्रैमासिक मुखपत्र 'सारस्वत' अंग्रेजी के) अप्रैल १९३२ के अंक में मथुरा के डिप्टी इन्स्पेक्टर आफ स्कूल्स पं० गोविन्दराम पाठक का जो लेख स्वा० हरिदासजी के सम्बन्ध में प्रकाशित हुआ उसका सारांश इस प्रकार है :—

'स्वा० हरिदास जी के पितामह का नाम गजाधर था। ये बड़े भजनानन्दी ब्राह्मण थे। एक बार यह सन्ध्या कर रहे थे। उसी समय मुलतान का राजा अर्जुनदेव शिकार

खेलकर वहाँ से निकला। राजा ने गजाधर जी से पीने को पानी माँगा। गजाधर जी ने सन्ध्या से उठकर पानी पिलाया। फिर उन्होंने राजा को चमत्कार दिखाने के लिए अपने मन्त्रबल से शिकार करके लाये हुए जानवरों को जिला दिया। उनमें एक चीता भी था। चीता जीवित होते ही राजा पर झपटा परन्तु गजाधर जी ने उसे अपने मन्त्र बल से वन में भाग जाने पर बाध्य किया। राजा ने प्रसन्न होकर गजाधर जी से दीक्षा ली तथा गुरु दक्षिणा में पाँच गाँव—उच्चग्राम, हरौदी, दैया, पिपलौद तथा विसावर—इन्हें दिये। राजा ने इन्हें स्वामी की पदवी से विभूषित किया जो वंश परम्परा से स्वा० हरिदासजी को प्राप्त हुई। यह सं० १५२६ की घटना है। स्वा० गजाधर जी के पुत्र स्वा० आसुधीर जी का जन्म सं० १५४८ में हुआ। आशुधीर जी के स्वा० हरिदास जी हुए। इन्होंने अपने पिता से दीक्षा ली।

एक बार अर्जुनदेव के उत्तराधिकारी राजा देवपाल ने युवक स्वा० हरिदास जी को अपनी पुत्री को दीक्षा देने के लिए बुलाया। ये राजगुरु के पद के अनुकूल अमीरी भड़कीली पोशाक पहने महल में गये। राजा ने पुत्री को दीक्षा दिलाने से पहले इनके चरित्र की परीक्षा लेनी चाही। उसने एक सुन्दरी दासी को इनकी परीक्षा लेने भेजा जिसने अपने हावभावों से स्वामी जी को विचलित करने की चेष्टा की। स्वामी जी पर उसका कोई प्रभाव तो न पड़ा पर राजा की इस धृष्टता से वे इतने दुखी हुए कि तुरन्त वस्त्राभरण फेंक कोपीन लगा अकेले ब्रज की ओर चल दिये। घूमते-घूमते ये ब्रजकोर या कोल पहुँचे तथा वहाँ एक रमणीक वाटिका देख वहीं ठहर गये तथा भजन करने लगे। (यही स्थान उनके वृन्दावन चले जाने पर हरिदासपुर नाम से प्रसिद्ध हुआ)। जब इनके पिता आसुधीर जी को इनका पता लगा तो वे अपने द्वितीय पुत्र जगन्नाथ जी के साथ इन्हें लौटा ले जाने के लिए कोल आये। परन्तु हरिदास जी ने घर लौटना स्वीकार न किया। तब पिता ने जगन्नाथ जी को स्वामी जी की माता तथा पत्नी को भी वहीं ले आने को मुलतान भेजा और इस प्रकार इनके परिवार के सब लोग आकर कोल में रहने लगे। परन्तु पिता के बहुत समझाने पर भी स्वामी जी पुनः गृहस्थ न हुए। 'सं० १६०७ में स्वा० हरिदास जी की पत्नी का देहान्त हो गया तब ये स्थायी रूप से वृन्दावन में आ बसे।' लेखक के अनुसार यह वृत्तान्त उन्होंने मीराते सिकन्दरी या मीराते अकबरी नामक फारसी ग्रन्थ के आधार पर लिखा है।

इस लेख की अधिकांश सामग्री अप्रामाणिक है। मुलतान जिले के गजेटियर के अनुसार 'सन् १४४५ ई० में राय सहरा लंगा जो शेख यूसुफ का ससुर था—उसने मुलतान को कब्जे में कर लिया तथा शेख यूसुफ को दिल्ली की ओर भगा दिया। सन् १५२८ से १५३० तक मुलतान का शासक लंगर खाँ था।' अतः सं० १५२६ में मुलतान के राजा अर्जुनदेव तथा उनके बाद के राजा देवपाल किसी की कल्पना में ही स्थित हो सकते हैं। गजेटियर में मुलतान के 'ऊँच' नामक स्थान का उल्लेख तो है परन्तु हरौदी, दैया, पिपलौद और बिसावर गाँवों के नाम कहीं नहीं हैं।[1]

अपने कथन की पुष्टि के लिए लेखक ने एक और भ्रमात्मक बात कही है। वह है अपनी कथित वार्ता को मीराते सिकन्दरी या मीराते अकबरी से उद्धृत बताना। प्रथम तो

१. पंजाब डिस्ट्रिक्ट गजेटीयर्स, वाल्यूम ७, भाग ए, मुलतान डिस्ट्रिक्ट, १९२३-२४ ई०, पृ० ३९-४२।
(और भी देखिये) इम्पीरियल गजेटियर, वाल्यूम, १०, १८८६ ई०, पृ० ४ में मुलतान जिले का इतिहास।

मीराते अकबरी नाम की कोई पुस्तक नहीं है। मीराते सिकन्दरी में यह वृत्तान्त तो क्या स्वा० जी या उनके वंश के नाम का भी कोई उल्लेख नहीं है।

भ्रमात्मक सामग्री प्रस्तुत करने में यह लेख अपनी उपमा नहीं रखता। आप देखेंगे कि इसी लेख के अनुकरण पर इस मत के पीछे के समर्थकों ने भी अनेक बार अपने किसी भी कथन को मीराते सिकन्दरी, मीराते अकबरी या अकबरनामा की आड़ लेकर प्रामाणिक बताने की चेष्टा की है। शायद उन्होंने यह सोचा होगा कि इन फारसी ग्रन्थों को पढ़कर कौन देखेगा। इस प्रकार के प्रयत्नों से प्रयत्नकर्ताओं के पक्ष को तो कोई लाभ नहीं हुआ है, हाँ उन्होंने शोधकर्ता के परिश्रम को अवश्य बढ़ा दिया है।

१६. **'सांगीत विन्दु' की भूमिका**—गो० नव नागरीदास जी के 'सांगीत विन्दु' का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। यह पुस्तक सं० १९९४ में प्रकाशित हुई। इसकी भूमिका में कहा गया है कि 'स्वा० हरिदास जी के पितामह गजाधर जी चार सौ वर्ष पूर्व कोल (अलीगढ़) में रहते थे। ये उच्च ग्राम (जिला मुलतान) के रहनेवाले थे। किसी कारण उच्च ग्राम छोड़कर कोल आ गये। इनके पुत्र आसुधीर हुए तथा उनके स्वा० हरिदास जी, स्वा० जगन्नाथ जी तथा स्वा० गोविन्द जी। स्वा० हरिदास जी के जन्म के कारण आसुधीर जी के निवास-स्थान का नाम हरिदासपुर हो गया। यहाँ ज्येष्ठ शुक्ला दशमी[1] को एक बृहत् मेला लगता है। जिस समय हरिदास जी निकुंज पधारने लगे तब स्वयं विहारी जी के हाथ पकड़ लेने के कारण विहारी जी की सेवा जगन्नाथ जी को मिली। आसुधीर जी के सेव्य राधामाधव जी की सेवा गोविन्द जी को मिली, जिनके वंश के लोग आज भी वहाँ सेवा करते हैं।

१७. **आनन्द वृन्दावन मोहन की भूमिका**—(सं १९५८ में प्रकाशित) संग्रहकर्ता गो० वंशीधर जी, गो० मन्नीलाल जी तथा गो० कृष्णवल्लभजी। यह १४ पृष्ठों की छोटी-सी पुस्तक है। इसमें सूर, व्यास आदि कवियों के पदों का संग्रह है। प्रारम्भ में गो० मन्नीलाल ने दोहा चौपाइयों में अपने वंश का परिचय दिया है जिनके अनुसार स्वा० हरिदास जी सारस्वत वंश तथा गर्ग गोत्र के थे। पृ० ३ पर कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :—

'बड़े भ्रात स्वामी हरिदासा। जगन्नाथ तिन नाम प्रकासा।
तिनके युगल पुत्र सब जानी। पितु सेवा रत सब गुण खानी।
इनको सौंपि प्रभुहि उन दीनौं। आप धरयौ निज देह नवीनौं।
कह्यो कि जब तक गंग यमुन जल। तब तक प्रभु रहि हैं ऊपर थल।
करियो तुम इनकी बहु सेवा। दूध भात भोजन अरु मेवा।
विट्ठल विपुल भ्रातृ लघु जानो। जिनको यश तिहुं लोक बखानो।
वीर धीर अरु पण्डित ज्ञाता। षष्ठ शास्त्र जिह्वाग्र लजाता।
इनहूँ के नहिं पुत्र कुमारी। तिनहुं गोद इनको बैठारी।
इनको वंश बढ़यौ अति भारी। जानत अज सुरेश बनवारी।

लेखक का ठीक-ठीक क्या आशय है इन पंक्तियों से ज्ञात नहीं होता। जो पंक्तियाँ सामने हैं उनसे यह ध्वनित होता है कि स्वा० हरिदास जी तथा जगन्नाथ जी भाई थे। जगन्नाथ जी के दो पुत्र हुए। छोटे वीठलविपुल थे। स्वामी जी के कोई सन्तान नहीं थी अतः उन्होंने

१. गंगा दशमी या ज्येष्ठ का दशहरा। इस मेले का हरिदास जी से कोई सम्बन्ध नहीं है।

वीठल विपुल जी को गोद बैठाल लिया। वंशवृक्ष तथा अन्य लेखकों की उक्तियों के आधार पर यह सभी बातें अंशतः सिद्ध हैं। जगन्नाथ जी के तीन पुत्र थे तथा विट्ठल विपुलजी गोविन्द जी के पुत्र थे ऐसी और गोस्वामियों की मान्यता है।

१८. श्री केलिमाल की भूमिका (सम्पादक—छबीलेवल्लभ गोस्वामी, प्रकाशन सं० २००९) इस ग्रन्थ में स्वा० हरिदासजी की सम्पूर्ण वाणी है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में श्री सुदर्शन सिंह 'चक्र' ने ४१ पृष्ठ में स्वामी हरिदास जी का परिचय लिखा है जिसमें उनके सम्बन्ध के विवादों का भी उल्लेख किया है तथा प्राप्त सामग्री के विश्लेषण का भी प्रयास किया है। अन्त में अपनी प्राप्त सामग्री के आधार पर वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि विहारीजी के गोस्वामीगण स्वामी जी के कुल आदि का जो परिचय देते हैं वही ठीक परिचय मानना चाहिए। उसे इन्होंने संक्षेप में इस प्रकार दिया है :—

'पंजाब के चरणोदक नामक ग्राम में गर्ग गोत्रीय सारस्वत ब्राह्मण श्री कर्णदेव रहते थे। इनके पुत्र विष्णुशर्मा जब बारह वर्ष के ही थे तभी कर्णदेव जी का देहान्त हो गया। तब विष्णु शर्मा और उनकी माता मुलतान जिले के उच्चग्राम में अपने पिता के शिष्य लक्ष्मी नारायण वर्मा के पास चले आये और वहीं रहे। विष्णु शर्मा के पुत्र गदाधर जी का जन्म सं० १५१९ ज्येष्ठ कृष्णा प्रतिपदा को हुआ। गदाधर जी का विवाह स्यालकोट के निवासी नरोत्तम मिश्र की पुत्री से हुआ। स्यालकोट के नरेश ने आपको पाँच गाँव माफी में दिये। मिराते सिकन्दरी में इनका वर्णन है। संवत् १५४८ में गदाधर जी के पुत्र आसुधीर जी का जन्म हुआ। आसुधीर जी का विवाह फिरोरा ग्राम निवासी श्री मंगलदेव सारस्वत की पुत्री गंगादेवी से हुआ। मुसलमान शासकों के उपद्रवों के कारण आसुधीर जी पंजाब से कोल (अलीगढ़) चले आये तथा वहाँ नगर के एक खेड़े पर निवास करने लगे। पीछे इसी खेड़े का नाम हरदासपुर या हरिदासपुर हो गया। यहीं दिव्य आदेश पाकर उन्होंने भूमि से शिव की एक मूर्ति निकाली जो खेरेश्वर नाम से प्रतिष्ठित की गयी। इनके पुत्र स्वा० हरिदास जी का जन्म सं० १५६९ पौष शुक्ला त्रयोदशी शुक्रवार को रोहिणी नक्षत्र में हुआ। दूसरे पुत्र स्वा० जगन्नाथ जी सं० १५७५ में तथा गोविन्द जी सं० १५८० में जन्मे। स्वा० हरिदास जी के वृन्दावन चले आने पर जगन्नाथ जी भी सपरिवार वृन्दावन चले आये। १५ वर्ष की अवस्था में स्वामी हरिदास जी का विवाह हरिमती नामक कन्या से हुआ। आपके कोई सन्तान नहीं हुई। लगभग २० वर्ष की अवस्था में हरिमती जी का शरीर छूट गया तब पिता की आज्ञा से २५ वर्ष की अवस्था में हरिदास जी वृन्दावन आ गये तथा विरक्त वेश में निधुवन में रहने लगे।"[1]

'चक्र' जी एक अन्य स्थान पर लिखते हैं :—

'मिराते सिकन्दरी या मिराते अकबरी' इस ग्रन्थ का कुछ भाग सं० १५२६ में लिखा गया था और शेष भाग सम्राट् अकबर के समय में पूरा हुआ था। इसमें बहुत विस्तार से तत्कालीन इतिहास का वर्णन है। यह कई जिल्दों में है। इसमें श्री हरिदास जी तथा उनके जन्म सम्वत्, जन्मस्थान, जाति, पिता आदि का वर्णन ग्रन्थ की छठवीं जिल्द में पाया जाता है। कोई कारण नहीं है कि इस ग्रन्थ को प्रामाणिक न माना जाय। इस ग्रन्थ के अनुसार स्वामी जी का जन्म पौष शुक्ला १३ भृगुवार सं० १५६९

१. केलिमाल, परिचय (चक्र), पृ० ३२-३४।

में हुआ।"[1]

आगे आप लिखते हैं—'अतः यही प्रामाणिक जान पड़ता है कि स्वा० हरिदासजी का जन्म सं० १५६६ पौष शुक्ला १३ शुक्रवार को हुआ था। २५ वर्ष की अवस्था में वे सं० १५६४ में वृन्दावन आये और ७० वर्ष वृन्दावन में व्यतीत करके सं० १६६४ में उन्होंने निकुंज प्रवेश किया।"[2]

इस वृत्तान्त में कुछ ऐसे नये व्यक्तियों तथा गाँवों के नाम बढ़े हुए दिखायी देते हैं जो पहले गोस्वामियों के कथनों में कभी सामने नहीं आये। पंजाब का चरणोदक ग्राम, लक्ष्मी नारायण वर्मा, स्यालकोट निवासी नरोत्तम मिश्र, फिरोरा निवासी मंगलदेव सारस्वत तथा स्वामी जी की पत्नी का नाम हरिमती। अब तक स्वामी हरिदास जी की पत्नी का नाम 'विजया' कहा गया था। पाँच गाँवों का दान श्री गोविन्दराम पाठक के अनुसार मुलतान के राजा ने किया था, चक्रजी के अनुसार यह स्यालकोट के राजा ने किया। मजा यह है कि इस सबका उल्लेख भी मीराते सिकन्दरी में है। मीराते सिकन्दरी के रहस्य को इस लेख में जरा और घुमाव मिला और यह वर्णन उसकी छठी जिल्द के अन्दर (जो अकबर के समय में पूरी हुई) बताया गया।

इन नामों के स्वीकार या अस्वीकार करने का कोई आधार नहीं है। यह सभी नये नाम तथा तथ्य काल्पनिक ही ज्ञात होते हैं।

मीराते सिकन्दरी के सम्बन्ध में भी हमने छानबीन की है। मीराते सिकन्दरी मंझू अकबर (सिकन्दर बिन मोहम्मद) ने लिखी। इसमें गुजरात के बादशाहों का वर्णन है। मुजफ्फर शाह तृतीय (मृत्यु हिजरी सन् १०००) तक का वर्णन लेखक ने किया है। गुजरात के बादशाहों का राज्य समाप्त होने के ४० वर्ष बाद हिजरी सन् १०२० (सं० १६६२) में मीराते सिकन्दरी की रचना सम्पूर्ण हुई। मीराते सिकन्दरी के बाद गुजरात का परवर्ती इतिहास मीराते अहमदी में लिखा गया है। मीराते अकबरी नामक कोई ग्रन्थ नहीं है और न मीराते सिकन्दरी की एक से अधिक जिल्द ही है। मीराते सिकन्दरी में ऊपर कहे उल्लेख कहीं नहीं हैं।[3]

लाल स्वामी की भक्तमाल से उद्धृत बताकर लेखक ने जो दो दोहे प्रमाण स्वरूप दिये हैं, उन्हें देखिये :—

"ज्यों गोकुल नन्दराय कें कृष्ण कियो परकास।
भक्ति हेतु त्यों प्रगट भे आशू के हरिदास॥

१. केलिमाल, परिचय (चक्र), पृ० २०।

२. वही, पृ० २१।

३. (अ) यह सूचनायें मुझे डॉ० एस० नूर-उल-हसन, रीडर इतिहास विभाग, अलीगढ़ विश्वविद्यालय तथा डॉ० अथर अब्बास रिजवी, प्रिंसीपल नार्मल स्कूल, अलीगढ़ की सहायता से प्राप्त हुईं। इन दोनों विद्वानों ने कृपा कर मूल फारसी ग्रन्थों को देखा। लन्दन के इण्डिया हाउस पुस्तकालय तथा ब्रिटिश म्यूजियम पुस्तकालय के फारसी ग्रन्थों की सूची भी इनकी कृपा से मैंने देखी। मैं इन दोनों विद्वानों का कृतज्ञ हूँ।

(आ) मीराते सिकन्दरी (अँग्रेजी) अनुवादक—फजलुल्लाह लुत्फुल्लाह फरीदी। प्रकाशक—एजूकेशन सोसायटी प्रेस, धरमपुर।

रमनि रसायन परिहरी साह न मानत कौन ।
आसू के हरिदास की लगे लाल पग पौन ।"

इनमें दूसरा दोहा तो सर्वत्र मिलता है परन्तु पहला दोहा न जाने कहाँ से लिया गया है । 'कुंजविहारी सर्वस्व' कार ने जो ३ पंक्तियाँ लालदास के नाम से नई उद्धृत की थीं, यह पहला दोहा उनसे भी भिन्न है ।

'कुंजविहारी सर्वस्व' के समान इस परिचय में भी श्री विहारिनदेव जी के नाम से एक नया प्रमाण देने की चेष्टा की गयी है । उनके किसी छप्पय की पहली दो पंक्तियाँ ये उद्धृत करते हैं जो इस प्रकार हैं :—

'श्री स्वामी हरिदास वंश में स्वामी श्री हरिराय ।
जिनको नित्य विहार बिन और न कछू सुहाय ।।'

यह पंक्तियाँ विहारिनिदेव जी की वाणी में कहीं नहीं मिलतीं । इस प्रकार अपने मत समर्थन के लिए इस परिचय में अनेक निराधार प्रमाणों का साहसिक प्रयोग किया गया है ।

१९. **'साधन'** (जुलाई सन् १९५३) का एक लेख—मथुरा से निकलने वाले इस पत्र में पृ० १३ से २५ तक एक लेख प्रकाशित हुआ । इसमें लेखक का नाम नहीं है । मेरे पूछने पर सम्पादक जी ने बताया कि किसी के द्वारा बतायी गयी सामग्री के आधार पर उन्होंने ही यह लेख लिखा है । यह लेख ग्रामों के नाम, व्यक्तियों के नाम, संवत् तथा घटनाओं के उल्लेख में उपर्युक्त 'केलिमाल की भूमिका' से बिल्कुल मिलता है, केवल एक अन्तर है कि मीराते सिकन्दरी के स्थान पर यहाँ 'अकबर नामा' का सहारा लिया गया है । लिखा है :—

'अकब्रनामा पुस्तक में भी स्वा० हरिदास का वर्णन मिलता है, यदि उसको सही मान लिया जाय तो इनके जन्म का विवरण इस प्रकार ठीक होगा :—

पूर्वज

पंजाब के चरणोदक नामक ग्राम में कर्णदेवजी नाम के एक सारस्वत ब्राह्मण थे उनके पुत्र का नाम विष्णु शर्मा था ।' इत्यादि (पृ० १४) ।

कहना न होगा कि अकबरनामा में भी इस प्रकार का कोई उल्लेख नहीं है । स्वा० हरिदास जी का वहाँ नाम भी नहीं मिलता ।[1]

२०. **धर्मयुग,** (नवम्बर १, १९५३ ई०)—इस साप्ताहिक के चरितचर्चा स्तम्भ में पृ० १५ पर 'स्वामी हरिदास जी' शीर्षक एक लेख है । लेखक का नाम नहीं है । इसमें स्वामी जी के पिता आसुधीर जी, माता गंगा, स्थान उच्चग्राम, तथा बाद में अलीगढ़-निवास का उल्लेख है । आसुधीर जी के तीन पुत्रों तथा स्वा० हरिदासजी के विवाह का उल्लेख भी है । इसमें भी 'केलिमाल की भूमिका' की भाँति स्वा० हरिदासजी के जन्म-संवत् तथा निधन-संवत् तो १५६९ एवं १६६४ ही हैं परन्तु जन्मतिथि में भेद है । इसके लेखक ने जन्मतिथि भाद्रपद शुक्ला अष्टमी मानी है । कुछ दिन हुए श्री शरणविहारी गोस्वामी 'अभय'

१. अकबरनामा, अनुवादक—एच० बेवरिज, प्रकाशक—रायल एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता, सन् १९३९ ई० ।

ने हमें बताया कि यह लेख उन्हीं का था।

२१. रामसन्देश (वर्ष २, अंक ११, नवम्बर १९५३)—देहरादून के इस मासिक पत्र में 'लोक रंगमंच के प्राण—स्वामी हरिदास' शीर्षक से एक लेख पृ० १२ पर प्रकाशित हुआ है। तथ्य ही नहीं भाषा भी धर्मयुगवाले लेख से मिलती है। भेद केवल इतना है कि यहाँ लेखक का नाम 'कुसुमकुमार' दिया है।

२२. स्वामी हरिदास, महाकाव्य—लेखक श्री शरणविहारी गोस्वामी 'अभय'। भूमिका लेखक श्री कृष्णदत्त बाजपेयी। खड़ी बोली के इस काव्य की आधारभूत कथावस्तु का भूमिका लेखक ने संक्षेप में पृष्ठ तीन पर उल्लेख कर दिया है। इसके तथ्य (जन्मतिथि समेत) धर्मयुग तथा रामसन्देश के लेखों से बिलकुल मिलते हैं।

२६. श्री रसिकविहारी का मन्दिर—स्वा० हरिदासजी की विरक्त शिष्य परम्परा में स्वा० नरहरिदेवजी से पहले के सभी आचार्य निधिवन में रहे। स्वा० नरहरिदेव जी निधिवन छोड़कर चले आये। वे वर्तमान रसिकविहारी जी के मन्दिर के स्थान के पास ही वृक्षों के नीचे बैठ उपासना करने लगे। उनका बहुत-सा समय बुन्देलखण्ड में भी बीता। उनके उपास्य ठाकुर थे गोरीलाल जी या गोरेलाल जी, जिनके लिए उन्होंने एक कच्चा मन्दिर बना लिया था। स्वा० नरहरिदेव के बाद गद्दी पर बैठे स्वा० रसिकदेव जी। इन्होंने डूंगरपुर से रसिकविहारी जी को मँगवाकर वृन्दावन में पधराया। रसिकविहारी जी का पुराना मन्दिर, जो वर्तमान मन्दिर से मिला हुआ ही है, रसिकदेव जी ने ही बनवाया था। निजमत सिद्धान्त, अवसान खण्ड (पृ० १२४-१२६) में रसिकविहारी जी की पूर्वकथा लिखी है। उसके अनुसार 'रसिकविहारी जी का प्राकट्य निधिवन में स्वा० हरिदासजी की गुरु परम्परा में बहुत पहले लगभग ४० पीढ़ी पूर्व स्थित स्वा० ललितभानुदेव जी के हेतु हुआ था और इस बीच यह ठाकुर द्वारका, जूनागढ़ तथा चित्तौड़ में रहे और वहाँ से डूंगरपुर आये।' हमें यह कथा केवल अपने उपास्य देव की प्राचीनता सिद्ध करने के लिए ही कही ज्ञात होती है। इसमें इतना ही प्रामाणिक अंश दिखायी देता है कि रसिकविहारी जी डूंगरपुर से वृन्दावन आये। स्वा० गोवर्द्धनशरणदेव जी ने रसिकविहारी जी का वर्तमान मन्दिर बनवाया। इन्हीं के प्रताप से सिन्धिया ने 'सिंहाना' नामक गाँव रसिकविहारी जी के मन्दिर के लिए दान दिया। रसिकविहारी जी के मन्दिर के प्रसंग में वृन्दावनधामानुरागावली (पृ० १३०-३१) में लिखा है कि "स्वा० गोवर्द्धनदेवजी ने यह नवीन मन्दिर तथा संगीन समाधि बनवाई। यहाँ इस समय छह आचार्यों की समाधि हैं—१. स्वा० नरहरिदेव, २. स्वा० रसिकदेव, ३. स्वा० पीताम्बरदेव, ४. स्वा० हरिदेव, ५. स्वा० गोवर्द्धनदेव तथा ६. स्वा० कृष्णशरण। स्वा० गोवर्द्धनदेव जी ने मेला प्रारम्भ किया। इन्होंने सिंहाना गाँव में नारदकुण्ड बनवाया तथा नारद और सनकादिक की मूर्तियाँ प्रतिष्ठित कीं।" प्रधान समाधि को कोई-कोई लोग स्वा० हरिदास जी की समाधि बताते हैं, परन्तु यह उनका भ्रम है।

ग्राउज़ ने अपने मेम्वायर्स (पृ० १३७) में लिखा है कि 'निम्बार्क सम्प्रदाय के अनुयायियों का एक और मन्दिर वृन्दावन में भी है जो रसिकविहारी जी के नाम से प्रसिद्ध है।' सम्भवत: ग्राउज़ साहब को यह ज्ञान नहीं था कि यह स्वा० हरिदास जी की ही परम्परा में है अन्यथा वे इसका वर्णन भी निधिवन तथा विहारी जी के मन्दिर के साथ ही करते।

स्वा० रसिकदेव जी के बाद स्वामी जी की विरक्त परम्परा की तीन महन्त गद्दियाँ हो गयीं। उनके शिष्य अनेक थे। इनमें से तीन की शिष्य-परम्परा विशेष रूप से प्रतिष्ठित हुई :

१. स्वा० ललितकिशोरीदेवजी जिनकी गद्दी टट्टी स्थान में चली आती है। २. स्वा० गोविन्ददेव जी जिनकी गद्दी गोरेलाल (गोरीलाल) जी के मन्दिर में चली आती है तथा ३. स्वा० पीताम्बर देव जी, जो यद्यपि सबसे छोटे थे, परन्तु जिन्हें रसिकदेव जी की गद्दी मिली। इनकी शिष्य-परम्परा के महन्त रसिकविहारी जी के मन्दिर में रहते हैं। इस स्थान की अद्यावधि गुरु परम्परा इस प्रकार है :—

स्वा० आसुधीर जी
|
स्वा० हरिदास जी (सं० १५६२-१६३२)
|
स्वा० विट्ठलविपुल जी (सं० १६३२-१६३२)
|
स्वा० विहारिनिदास जी (सं० १६३२-१६५९)
|
स्वा० सरसदास जी (सं० १६५९-१६८३)
|
स्वा० नरहरिदास जी (सं० १६८३-१७४१)
|
स्वा० रसिकदेव जी (सं० १७४१-१७५८)
|
स्वा० पीताम्बरदेव जी (सं० १७५८—)
|
स्वा० हरिदेव जी
|
स्वा० गोवर्द्धनशरणदेव जी
|
स्वा० कृष्णशरणदेव जी
|
स्वा० नरोत्तमशरणदेव जी
|
स्वा० निम्बार्कशरणदेव जी
|
स्वा० जगन्नाथशरणदेव जी
|
स्वामी ललितशरणदेव जी
|
स्वा० गंगाशरणदेव जी
|
स्वा० लाड़िलीशरणदेव जी (स्वा० गंगाशरणदेव जी के शिष्य)
|
स्वा० राधाशरणदेव जी (वर्तमान महन्त)

यह तीनों स्वा० निम्बार्क शरणदेव जी के शिष्य थे।

उपर्युक्त परम्परा में दिये हुए संवत् पं० अमोलकराम कृत 'अष्टादश सिद्धान्त' के पदों

की टीका' की भूमिका से उद्धृत किये गये हैं। शेष संवतों के लिए हमें कोई आधार प्राप्त नहीं हुआ। इस शाखा के अलग होने के बाद से अब तक इस परम्परा में दो महन्तों की वाणियाँ मिलती हैं—१. स्वा० पीताम्बरशरणदेव २. स्वा० गोवर्द्धनशरणदेव। गद्दीधारी महन्तों के अतिरिक्त इस परम्परा में एक और साहित्यकार हुए—श्री किशोरदासजी, जो पीताम्बरदेव जी के शिष्य थे। इन्होंने सम्प्रदाय का विस्तृत इतिहास अपने ग्रन्थों 'निजमत सिद्धान्त' में लिखा तथा और भी प्रभूत वाणी रचना की। इस परम्परा के साहित्य का विवरण हम स्वा० हरिदास जी की विरक्त परम्परा के सम्पूर्ण साहित्य के साथ देंगे।

इस मन्दिर में हस्तलिखित ग्रन्थों का एक विशाल पुस्तकालय है जिससे हमें बहुत-सी उपयोगी सामग्री प्राप्त हुई। कहते हैं कि इस पुस्तकालय में पहले सम्प्रदाय की अनेक वाणियाँ थीं परन्तु बीच में जब वर्तमान महन्त बालक ही थे ठीक व्यवस्था के अभाव में अनेक प्राचीन प्रतियाँ अनधिकृत व्यक्तियों के हाथ में पड़ लुप्त हो गयीं। इस पुस्तक संग्रह में 'निजमत सिद्धान्त' की एक प्रति उल्लेखनीय है जिसका लिपि सं० १८३५ है। मन्दिर के पास महन्तों की समाधियों में रखा एक प्राचीन चित्र भी उल्लेखनीय है। इसमें स्वा० हरिदासजी, श्री हितहरिवंशजी तथा श्री हरिराम व्यास को एकत्र बैठा दिखाया गया है।

रसिकविहारी जी के मन्दिर के उत्सव और समाज—गुरुओं के जन्मदिवस यहाँ बड़े समारोह से मनाये जाते हैं। निम्नलिखित अवसरों पर 'समाज' होता है जिसमें विरक्त साधु परम्परा प्राप्त संगीत की परिपाटी से आचार्यों की बधाइयाँ, पद आदि का गायन करते हैं :

१. स्वामी नरहरिदेवजी का जन्मोत्सव (ज्येष्ठ कृष्णा २) वैशाख शुक्ल १३ से ज्येष्ठ कृष्णा २ तक समाज।

२. स्वा० रसिकदेवजी का जन्मोत्सव (माघशुक्ला ५)—माघशुक्ला १ से ५ तक समाज।

३. स्वा० पीताम्बरदेवजी का जन्मोत्सव—(भाद्र कृष्णा ८) भाद्र कृष्णा ४ से ८ तक समाज।

४. स्वा० गोवर्द्धनशरणदेव जी का जन्मोत्सव (आषाढ़ शुक्ला १०) आषाढ़ शुक्ला ६ से १० तक समाज।

इन जन्मोत्सवों के अतिरिक्त विशेष समारोह होता है श्रावण शुक्ला ३ से १५ तक, जब नित्य रात्रि में रासलीला होती है। ठाकुर जी के विशेष दर्शनों में श्रावण शु० एकादशी तथा शरद्पूर्णिमा उल्लेखनीय है क्योंकि ठाकुरजी को केवल इन्हीं दो दिन मुकुट धारण कराया जाता है। चरणों के दर्शन केवल अक्षय तृतीया को होते हैं।

गोरेलाल जी का मन्दिर—स्वा० हरिदासजी के विरक्त शिष्यों की दूसरी गद्दी है गोरेलाल (गोरीलाल) जी के मन्दिर में। यह मन्दिर रसिकविहारीजी के मन्दिर के पास ही बना हुआ है तथा इसमें बहुत-सी इमारतें हैं। गोरीलालजी स्वा० नरहरिदेव जी के पूज्य ठाकुर हैं। वृन्दावनधामानुरागावली (पृ० १३९-४१) के अनुसार 'स्वा० रसिकदेवजी ने भी इनकी कुछ दिन तक सेवा की थी। यह सेवा रसिकदेव जी ने अपने शिष्य गोविन्ददेव जी को सौंप दी और उन्हीं की शिष्य परम्परा में यह सेवा चली आती है। स्वा० गोविन्ददेव जी ने वर्तमान मन्दिर के स्थान पर 'बेरिया' के वृक्ष के नीचे कुटी बनाकर गोरीलाल जी को पधरा दिया। गोविन्ददेव जी की परम्परा में श्यामचरणदेव जी हुए। इनका बुन्देलखण्ड के राजाओं पर बहुत प्रभाव था। इन्हीं के समय में नवीन मन्दिर बना। गोरीलाल जी के

पास ही मन्दिर में छह रानियों के छह जोड़ी (ठाकुर) विराजमान हैं—१. रसिकशिरोमणि, २. राधावल्लभ, ३. युगलकिशोर, ४. त्रिभंगीलाल, ५. राधिकाविहारी तथा ६. विनोदविहारी। मन्दिर के पास इन महन्तों की समाधियाँ हैं—१. श्री गरीबदास, २. गोविन्दचन्द, ३. श्री मथुरादेव, ४. श्री प्रेमदेव, ५. श्री जयदेव, ६. श्री श्यामचरण। श्यामचरण जी के शिष्य हरनामदास जी अब वहाँ सेवा करते हैं।

गोरेलाल जी के पुजारी बा० जमनादास से हमें ज्ञात हुआ कि वर्तमान मन्दिर दतिया के राजा का बनवाया हुआ है। यह श्यामचरणदेव जी के समय में बना परन्तु पीछे अन्य महन्तों के समय में विभिन्न चौक, मन्दिर तथा कुंज बनती गयीं। रसिकदेव जी के शिष्य गोविन्ददेव जी से आज तक इस गद्दी की गुरु परम्परा इस प्रकार है :

स्वा० गोविन्ददेव जी
स्वा० मथुरादास जी
स्वा० प्रेमदेव जी
स्वा० जयदेव जी
स्वा० श्यामचरणदेव जी
स्वा० हरिनामदास जी
स्वा० गोपीवल्लभदेव जी
स्वा० बलरामदास जी
स्वा० गुलाबदास जी
स्वा० हरिकृष्णदास जी
स्वा० दामोदरदास जी
स्वा० बालकदास—वर्तमान महन्त।

इन महन्तों की स्थिति के तिथि संवत् नहीं मिलते परन्तु विभिन्न राजाओं के अनेक दान-पत्र इस मन्दिर में सुरक्षित हैं। उनमें महन्तों के नाम, दानदाताओं के नाम तथा संवत् भी हैं। इन सनदों से इतना अवश्य ज्ञात हो सकता है कि कौन महन्त किस संवत् में वर्तमान थे। प्राप्त सनदों की सूची हम यहाँ देते हैं :

१. स्वा० प्रेमदेव जी सं० १८१८ से १८४० तक की सनदें।
२. स्वा० जयदेव जी सं० १८३४ से १८७२ तक की सनदें (सम्भवतः यह अपने गुरु के जीवनकाल में ही मन्दिर का काम-काज करते रहे होंगे अतः सं० १८४० से पहले की कई सनदें इनके नाम में मिलती हैं।)
३. स्वा० श्यामचरणदेव जी—सं० १८७२ से सं० १८८१ तक की सनदें।
४. स्वा० हरिनामदास जी—सं० १८८७ से १९०७ तक की सनदें।
५. स्वा० गोपीवल्लभदेव जी—सं० १९१९ की सनद गोविन्ददास नाम से मिलती है। सम्भव है इनका यह दूसरा नाम हो या इनके किसी शिष्य का नाम हो। एक और सनद वल्लभदास के नाम की सं० १९१७ की मिली। वह तो निश्चय ही इनका नाम होगा।[1]

१. साधुओं में प्रथा है कि स्वयं को 'दास' कहते हैं परन्तु शिष्य उनके सम्मानार्थ 'देव' शब्द को दास के स्थान पर रखते हैं या पूर्वनाम में जोड़ देते हैं। वास्तव नाम में शरणदेव, आनन्ददेव, दास देव आदि जोड़कर नाम को सम्मानित बनाने की भी साधुओं में प्रथा है।

६. स्वा० बलरामदास जी—सं० १९२२ से सं० १९४५ तक की सनदें।
७. स्वा० गुलाबदास जी—सं० १९४६ से सं० १९४८ तक की सनदें।
८. स्वा० हरिकृष्णदास जी—सं० १९५९ से सं० १९७९ तक की सनदें। (ये सं० १९८६ में महल पधारे)।
९. स्वा० दामोदरदासजी—सं० १९७२ की एक सनद। (ये सं० १९८६ में गद्दी पर बैठे तथा सं० २००४ में आश्विन शु० २ को महल पधारे।)

वर्तमान महन्त स्वा० बालकदास जी सं० २००४ में गद्दी पर बैठे। इस गद्दी के महन्त आजकल पन्ना राज्य के पड़रिया नामक गाँव में रहते हैं। यह गाँव पन्ना राज्य से तथा अर्जुनपुरा नामक गाँव दतिया राज्य स गोरेलाल जी के मन्दिर को मिला हुआ है। पड़रिया, अर्जुनपुरा तथा बक्सवाहा गाँवों में भी इस शाखा के मन्दिर हैं।

इस शाखा के महन्तों में से किसी की कोई वाणी उपलब्ध नहीं है। कहते हैं कि स्वा० गोविन्ददेवजी ने वाणी लिखी थी परन्तु वह मिलती नहीं। वृन्दावनधामानुरागावली के लेखक ने गोरीलाल जी के मन्दिर के प्रसंग में कहा है कि 'स्वामी जयदेव जी के शिष्य जमनादास (जो ब्रह्मनीक द्यौसावारे के पुत्र हैं) ने गुरु परम्परा रूप एक 'हरिदास चरित्र चन्द्रिका' लिखी थी। इन्होंने 'गोरीवल्लभ नित्यरस' और 'बारहखरी' बनायी। ये जमुनादास गृहस्थ में रहकर भी वैराग्य में छाया रहा तथा इसने रसिक जनों की संगति कर वृन्दावन प्राप्त किया।' इस कथन से ज्ञात होता है कि जमुनादास सं० १९०० से पूर्व ही मर चुके थे। इनकी कोई कृति हमें प्राप्त नहीं हुई।

गोरेलाल जी के मन्दिर में एक छोटा-सा पुस्तकालय भी है जिससे प्राप्त कुछ सामग्री का हमने उपयोग किया है। इनमें सं० १८०८ की लिपि की एक स्वा० रसिकदेव जी की वाणी की प्राचीन प्रति उल्लेखनीय है। यहाँ संग्रहीत जो दानपत्र तथा सनद हमने देखीं उनमें सं० १८५८ का महन्त जयदेवजी के समय का एक बैनामा उपयोगी जान हम यहाँ उद्धृत करते हैं। इसमें इन महन्तजी को निम्बार्क सम्प्रदाय में बताया गया है, साक्षी में सभी सम्प्रदायों के गोस्वामियों तथा साधुओं के हस्ताक्षर हैं, अतः यह इस बात का प्रमाण है कि इस सम्प्रदाय का निम्बार्क सम्प्रदाय के अन्तर्गत होना उस समय सर्वमान्य था। बैनामा अक्षरशः इस प्रकार है :—

'लिषतां श्री गुसाईं सदासुखलाल जी वा धीरजलाल जी श्री हीरालाल जी सुत श्री गुसाईं सहव जी के नाती गुसाईं व्यास जी के वासी श्री वीदावन जी के अमले परगने श्री मथुरा जी के आगे धीवरवारे की तामे हमारे वाट की जींमी ही सो अब हमने स्वामी जेदेवदास जी स्वामी प्रेमदेवदासजी के चेला स्वामी मथुरादास जी के नाती चेला वैसनौ श्री स्वौमी सपरदा नीमारक तीन के हथ वेची ताकी तूल गज पूरव पाछम गज २० अरज उतर गज २१ दषन गज १४ ताकी अधी गज १७।। ताकी जीमी गज ३५० पकी भट्ठी ताकौ मोल चुकयो चदर गज इेक पाछ आना साठ सतर १-।। ताके मुकरा रुपया ३८२।।।— और वीरछ १ नीम को ताके रु १-३-० ताके मुकरा रपया ३८४ अकेन तीन से चोरासीं नीमे इेक सोवनमे के दुने कु बेची ताकी हद चार लिष दीन हद पुरवनीकस को दरवाजो सेत षनो गोष छजो मोरी पनारो गली गज १।= की गुसाईन की मुत कुंज गोरधनदास जी की हद पछम दरवाजो नीकस को पनारे गली गुसाईन की हद दक्षन गली गुसाईन की हद उतर कुंज जैदेवदास जी की ईन चारो हदन के बीच की जीमी वीरछ अपनी बेची अपनी राजीनामा पुरा जासु बेची

रुपया पेहेले लीने ता पाछे षत लीख दीनो दावा हमारी कहुवत को रहो नाही कल कल्हा कोउ भईवन्द तथ हमसाहे को दावा करे तो झूठो मीती वैसष बदी १० संवत् १८५८ दसषत कीसनदास पटवारी म दोनो धन हजुर

दसषत गुसाई सदासुष धीरजलाल के ऊपर को लिष्यो सही।

आगे साक्षी में अनेक गोस्वामियों तथा महन्तों एवं नगर के जमींदार, मुकादम आदि के हस्ताक्षर हैं।

टट्टी स्थान—स्वा० जी की विरक्तशिष्य परम्परा की तीसरी किन्तु आजकल सबसे महत्त्वपूर्ण गद्दी टट्टी स्थान है। इसे बाबा 'मौनीदास की टटिया या टट्टी' भी कहते हैं। स्वा० रसिकदेव जी के शिष्य ललित किशोरीदेव जी बड़े होते हुए भी गद्दी पर नहीं बैठे। उन्होंने स्वा० हरिदास जी का करुवा तथा गूदरी जो परम्परा से चले आते थे, गुरुजी से माँग लिये और उन्हें ले यमुनापुलिन पर पीपल के वृक्ष के नीचे बाँस की टटिट्यों से स्थान बना वहीं उपासना करने लगे। टट्टियों से बना स्थान होने के कारण ही इस स्थान का नाम 'टट्टी स्थान' पड़ा। यद्यपि अब यहाँ बहुत बड़ा पक्का स्थान बन गया है परन्तु अभी तक मन्दिर के चारों ओर बाँस की टट्टियाँ लगी हैं। स्वा० हरिदास जी के जन्मोत्सव पर यहाँ भाद्रपद शुक्ला अष्टमी को एक विशाल मेला लगता है जिसे अपने एक शिष्य गोकुलचन्द चौबे की कार्यवाहकता में स्वा० ललितकिशोरी देव जी ने ही प्रारम्भ किया था।

इनके शिष्य स्वा० ललित मोहिनीदेवजी के समय में इस स्थान का प्रभाव बहुत बढ़ा। इन्हीं को लोग बाबा मौनीदास भी कहते थे अतः इस स्थान को 'मौनीदास की टट्टी' भी कहा जाता है। इन्हीं के समय में इनके ठाकुर 'राधिकाबिहारी' जी का मन्दिर 'सोनेजू' नामक एक पमार क्षत्रिय ने बनवाया। इस समय यह स्थान एक बहुत बड़े घेरे में स्थित है। बीच में एक मन्दिर है तथा गद्दी के प्रमुख गुरुओं की समाधियाँ हैं। चारों ओर सघन वन है जिसके प्राचीन वृक्ष और लताएँ एक अद्भुत वातावरण की सृष्टि करती हैं। वृन्दावन की रज को यहाँ बहुत महत्त्व दिया जाता है अतः मन्दिर के आँगन में यमुना की रेती बिछी रहती है। मन्दिर में उपास्य विग्रहों के पास ही कुंज विहारी जी की शैया है जिसकी पूजा होती है। स्वा० जी का करुवा, कोपीन, तथा कूबरी (बाँकी) उनकी गद्दी के पास रखे रहते हैं। ये वस्तुएँ प्राचीन नहीं केवल प्रतीक मात्र हैं किन्तु स्वा० हरिदास जी का करुआ (मिट्टी का पात्र) एवं गुदरी, जिन्हें श्री ललितकिशोरीदेव जी अपने गुरु रसिकदेव जी से माँग कर लाये थे, आज तक यहाँ सुरक्षित हैं। यह करुआ एक अत्यन्त जीर्ण मिट्टी का पात्र है तथा एक टिपारी में रखा रहता है। इसे केवल स्वा० हरिदास जी के जन्मोत्सव पर बाहर निकाला जाता है तथा किसी के प्रार्थना करने पर इसके दर्शन करा दिये जाते हैं।

स्वा० ललितकिशोरीदेव जी से लेकर आज तक इस स्थान की गुरु-परम्परा इस प्रकार है :—

स्वा० ललितकिशोरीदेव जी (सं० १७५८-१८२३)
स्वा० ललितमोहिनीदेव जी (सं० १८२३-१८५८)
स्वा० चतुरदास जी (सं० १८५८-१८५९)
स्वा० ठाकुरदास जी (सं० १८५९-१८६८)
स्वा० राधिकादास जी (सं १८६८-१८७८)

स्वा० सहचरिशरण (सखीशरण) जी (सं० १८७८-१८९४)
स्वा० राधाप्रसाददेव जी (सं० १८९४-१९४४)
स्वा० भगवानदासजी (सं० १९४४-१९८७)
स्वा० रणछोरदास जी (सं० १९८७-१९९०)
स्वा० राधारमणदास जी (सं० १९९०-१९९३)
स्वा० राधाचरणदास जी (सं० १९९४-वर्तमान महन्त)

इस स्थान के महन्त जब से गद्दी पर बैठते हैं तबसे स्थान के बाहर नहीं जाते। इस स्थान के महन्तों की उपासना और जीवनचर्या वैष्णवों में बड़े आदर की दृष्टि से देखी जाती है। इस स्थान के साधु स्वामी जी के सम्प्रदाय के आदर्शों का अनन्यता और दृढ़ता से पालन करते हैं। इनमें से बहुत-से वृन्दावन छोड़कर आजीवन बाहर नहीं जाते। स्थान तथा यमुनापुलिन को स्वच्छ करना, मानसी ध्यान तथा वाणियों का अध्ययन इनकी उपासना के प्रमुख अंग है। सारे अंग में रज लगाये, एक टेढ़ी-मेढ़ी लकड़ी ('बांकी' या 'कूबरी') हाथ में लिये, बहुत-सी वृन्दावन के वृक्षों के काष्ठ की मालाएँ गले में डाले तथा एक काली बिन्दियों की श्वेत चादर (गूदरी) ओढ़े इन्हें दूर से ही पहचाना जा सकता है। टट्टी स्थान में आचार्यों के जन्मोत्सव बड़े समारोहपूर्वक मनाये जाते हैं तथा इन अवसरों पर कई-कई दिन तक अपनी पूर्व परम्परा से चली आती हुई संगीत की परिपाटी से यह साधु अपने आचार्यों की वाणी का गायन करते हैं। इन बैठकों को 'समाज' कहते हैं। स्वा० हरिदास संगीत के युगप्रवर्त्तकों में से थे। उनकी परम्परा के ये विरक्त जिस पद्धति से उनके ध्रुवपदों का गायन करते हैं वह स्वा० जी की ही पद्धति है यह कहना तो कठिन है परन्तु अन्य ध्रुपदिये संगीतज्ञों से भिन्न दीखनेवाली इनकी समाज की पद्धति में स्वा० जी की संगीत-प्रणाली के तत्त्व अवश्य होंगे ऐसा अनुमान किया जा सकता है। संगीत-सम्बन्धी शोध की दृष्टि से इस स्थान के समाजों का बड़ा महत्त्व है। निम्नलिखित उत्सवों पर विशेष समारोह होता है तथा कई-कई दिनों तक समाज होता है :—

१. भाद्रपद शुक्ला अष्टमी—स्वा० हरिदासजी का प्राकट्योत्सव (७ दिन समाज)।
२. मार्गशीर्ष शुक्ला पंचमी—श्री बाँकेबिहारीजी का पाटोत्सव तथा स्वा० बीठल-विपुलदेव जी का प्राकट्योत्सव (४ दिन समाज)।
३. श्रावण शुक्ला तृतीया—स्वा० विहारिणिदेवजी का प्राकट्योत्सव (४ दिन समाज)।
४. आश्विन शुक्ला पूर्णिमा—स्वा० सरसदेवजी का प्राकट्योत्सव (४ दिन समाज)।
५. ज्येष्ठ कृष्णा द्वितीया—स्वा० नरहरिदेवजी का प्राकट्योत्सव (१ दिन समाज)।
६. माघ शुक्ला पंचमी—स्वा० रसिकदेवजी का प्राकट्योत्सव (१ दिन समाज)।
७. मार्गशीर्ष कृष्णा अष्टमी—स्वा० ललितकिशोरीदेव जी का प्राकट्योत्सव (४ दिन समाज)।
८. माघ कृष्णा एकादशी—स्वा० ललितमोहिनीदेव जी का प्राकट्योत्सव (५ दिन समाज)।
९. फाल्गुण शुक्ला ८ से १५ तक (होली) (८ दिन समाज)।

१०. ज्येष्ठ शुक्ला दशमी—स्वा० भगवानदासजी तथा वर्तमान महन्तजी का जन्मोत्सव (४ दिन समाज)।

११. वैशाख शुक्ला तृतीया (अक्षय तृतीया) (१ दिन समाज)।

१२. आषाढ़ शुक्ला १५ (गुरु पूर्णिमा) (१ दिन समाज)।

स्वा० हरिदासजी से लेकर स्वा० ललितमोहिनीदेव जी पर्यन्त आठ आचार्य इस सम्प्रदाय में 'अष्टाचार्य' नाम से विख्यात हैं तथा इन्हीं की वाणियों का संकलन 'अष्टाचार्यों की वाणी' के नाम से विरक्तों के नित्यपाठ में रहता है। ये वाणियाँ स्वयं उपास्य हैं और इनका पाठ ही स्तोत्र, मन्त्र, सन्ध्या, गायत्री सब कुछ है। टट्टी स्थान की परम्परा के वाणीकर्ताओं में उल्लेखनीय हैं :—स्वा० ललितकिशोरीदेव जी, स्वा० ललितमोहिनीदेव जी, स्वा० सहचरिशरण जी, श्री भगवतरसिक जी, तथा श्री शीतलदास जी। इनके साहित्य का परिचय हम सम्प्रदाय के सम्पूर्ण साहित्य के साथ देंगे। इस स्थान में वाणियों का बहुत बड़ा संग्रह है जिसकी रक्षा बड़े यत्न से की जाती है। यह वाणियाँ अपने अनुयायी तथा अन्य अधिकारी व्यक्ति को ही पढ़ने को मिलती हैं। महन्त जी की विशेष आज्ञा से कभी-कभी जो ग्रन्थ छपते हैं वे बाजार में नहीं बिकते। अधिकतर शिष्यों तथा अन्य अधिकारी व्यक्तियों में ही बिना मूल्य वितरित किये जाते हैं। महन्तजी ने कृपा कर हमें सभी छपे ग्रन्थ भी दिये तथा जो वाणी साहित्य हम अन्यत्र से संग्रह नहीं कर पाये थे उसे अध्ययन करने की विशेष अनुमति भी प्रदान की जिसके लिए हम उनके कृतज्ञ हैं।

वृन्दावन से बाहर के स्थान

हरदासपुर (हरिदासपुर)—अलीगढ़ से खेर के मार्ग पर ३ मील दूर यह एक छोटा-सा गाँव है। बिहारी जी के गोस्वामियों के कथनानुसार "यही स्वा० हरिदासजी की जन्म-भूमि है। जब स्वामी जी यहाँ से वृन्दावन चले गये तब उस स्थान पर जो गाँव बसा उसका नाम हरिदासपुर हो गया। स्वा० जी के पिता आसुधीर जी उच्च ग्राम से आकर यहीं कोल (अलीगढ़) के एक खेड़े पर रहे थे और यहीं उन्होंने खेरेश्वर महादेव की प्रतिष्ठा की। यहाँ स्वा० जी की पत्नी 'विजया सती' (हरिमती) की समाधि है जहाँ हमारे वंश के बालकों के मुण्डन होते हैं। विजयासती की 'आन' हमारे परिवार की स्त्रियाँ अब तक मानती हैं और इसी कारण लाख का चूड़ा नहीं पहनतीं।"

मैंने स्वयं इस स्थान पर जाकर पूछताछ की। इस समय इस गाँव के लोगों को इन बातों का पता नहीं। परन्तु पास ही एक शिव मन्दिर है जहाँ अलीगढ़ के बहुत-से दर्शनार्थी आते हैं। मैं श्रावण के एक सोमवार को वहाँ गया था अतः वहाँ अनेक लोग मिले। उनमें कुछ वयोवृद्ध ऐसे भी थे जो बहुत दिन से यहाँ आते रहे हैं। उन्होंने बताया—"स्वा० जी के नाम पर ही इस गाँव का नाम हरिदासपुर पड़ा है। यह महादेव जी भी स्वा० हरिदासजी के ही हैं। सामने के खेत में ईंटों की बनी छोटी-सी तीन दीवारें हैं जिन्हें कुछ लोग स्वा० जी की समाधि बताते हैं और कुछ लोग उनकी स्त्री की। चार-पाँच वर्ष पहले यहाँ कुछ न था। ४-५ वर्ष हुए एक गोस्वामी वृन्दावन से आये थे। उन्होंने इस स्थान का इतिहास हमें बताया था। उन्होंने इस खेत में पुराना स्मारक खोजने के लिए हल चलवाया था। वहाँ एक पक्का 'आसार' मिला। उस पर वे कुछ ईंटें रखवाकर यह स्मारक बनवा गये। तभी से हमने जाना कि यहाँ यह समाधि है। शिव मन्दिर लगभग सौ वर्ष

पुराना है पर शिवमूर्ति प्राचीन है। इन्हें खौंखरिया महादेव कहते हैं।"

अलीगढ़ जिले के गज़ेटियर में इस स्थान के सम्बन्ध में कोई उल्लेख नहीं है। परन्तु इतना अवश्य ज्ञात होता है कि पहले से इस स्थान का नाम स्वा० हरिदासजी के नाम के साथ जुड़ा है। 'विजया सती' की समाधि वृन्दावन के पास छटीकरा की सड़क पर ब्रह्मनिवास आश्रम के पास भी बतायी जाती है। वास्तव में गोस्वामियों के मुण्डन संस्कार आजकल इसी समाधि पर होते हैं। हमारा विचार है कि 'विजया सती' इन गोस्वामियों के परिवार में कोई सती हुई होंगी और कहीं भी उनका स्मारक बनाकर पूजा जा सकता है। स्वा० हरिदास जी की पत्नी यदि रही भी हों तो उन्हें सती नहीं कहा जा सकता क्योंकि सती उन्हीं को कहते हैं जो पति की मृत्यु पर उनके शरीर के साथ जलती हैं। 'विजया सती' का नाम स्वामी जी के साथ वृतान्त लिखने वालों ने अपनी सुविधा के लिए जोड़ दिया ज्ञात होता है।

ऊपर कोट (अलीगढ़) का मन्दिर—यह एक पुराना जीर्ण मन्दिर है, जिसे पास-पड़ोस के लोग स्वामी जी का मन्दिर कहते हैं परन्तु इसके अतिरिक्त वे कुछ नहीं जानते कि यह स्वामी जी कौन थे। मन्दिर के अधिकारी स्वामी कहलाते हैं। वर्तमान अधिकारी वयोवृद्ध पं० बाबूराम शर्मा ने बताया—"यह बिहारी जी का मन्दिर है, स्वा० हरिदासजी के वंश में ही हम लोग हैं। वृन्दावन के बिहारी जी के गोस्वामी तथा हम लोग एक ही वंश के हैं। हम सारस्वत ब्राह्मण हैं। हमारा गोत्र 'कात्यायनी' (कात्यायन) तथा अल्ल 'तिक्खे' है। इस मन्दिर को माफी में जो भूमि मिली है वह कोल में रोरावर के पास है। हमारे पास कोई ताम्रपत्र, दस्तावेज या वंशवृक्ष नहीं है। वंशवृक्ष वृन्दावन में गोस्वामियों के पास मिलेगा, उसमें हमारा उल्लेख है।"

हमारे यह पूछने पर कि राधामाधवजी (जिनका नाम गो० गोविन्दजी के नाम के साथ लिया जाता है) का मन्दिर कहाँ है, उन्होंने बताया कि "यही राधामाधव का मन्दिर है।" पं० बाबूराम जी को अपने वंश के पुरावृत्त के विषय में विशेष ज्ञान नहीं था। इनके छोटे-से परिवार के अतिरिक्त इस वंश का और कोई परिवार नहीं है। गो० मगनबिहारी जी से प्राप्त ब्रह्मानन्द जी की वंशावली के बाद में जोड़े गये 'समयेस्मिन् तस्य वंशे बाबूलालस्तु वर्तते' इस श्लोकार्द्ध में इन्हीं बाबूराम जी का नाम है।

इस सम्बन्ध में यह बात विचारणीय है कि बिहारीजी (वृन्दावन) के गोस्वामी अपना गोत्र गर्ग तथा अल्ल त्रिगुणायत बताते हैं। इन बाबूराम जी का गोत्र कात्यायन तथा अल्ल तिक्खे है। अतः यह तो निश्चित है कि यह बाबूराम उसी वंश में नहीं हैं जिसके वृन्दावन के गोस्वामी हैं। या तो सारस्वत होने के नाते किसी ने आज से बहुत पहले अपने कथित इतिहास की पुष्टि के लिए इन दोनों वंशों के एक होने की कल्पना कर ली होगी या गोविन्दजी का जो वंश अलीगढ़ में बताया जाता है उसका अस्तित्व लुप्त हो चुका है और उनके स्थान पर कोई और सारस्वत ब्राह्मण अधिकारी चले आ रहे हैं। यह एक तथ्य गोस्वामियों द्वारा कथित वंश परम्परा सम्बन्धी इतिहास को बड़ा सन्दिग्ध बना देता है।

राजपुर—'निजमत सिद्धान्त' के अनुसार स्वा० हरिदासजी का जन्मस्थान राजपुर है। यह वृन्दावन से थोड़ी दूर मथुरा के मार्ग में एक छोटा-सा गाँव है। इसकी बस्ती वर्तमान वृन्दावन से भी अधिक पुरानी है। वृन्दावन की अधिकांश कृषि योग्य भूमि राजपुर मौजे के अन्तर्गत आती है।

यहाँ के कुछ ब्राह्मण बताते हैं कि स्वा० जी यहीं पैदा हुए थे। यहाँ कोई स्मारक या मन्दिर आदि नहीं है। केवल एक खेत में एक पुराना तमाल का वृक्ष है जिसे टट्टी स्थान के विरक्त साधु वृन्दावन-परिक्रमा के समय प्रणाम करते हैं। इस वृक्ष का स्वा० हरिदासजी के जन्म या बालकपन से सम्बन्ध बताया जाता है।

मोरकुटी—बरसाना गाँव से थोड़ी दूर पर वन में एक ऊँची पहाड़ी पर एक छोटा-सा सुन्दर मन्दिर बना है। यहाँ रासनृत्य में मग्न प्रिया-प्रियतम का एक अत्यन्त सुन्दर चित्र है तथा पास में स्वा० हरिदासजी का भी चित्र है। यहाँ स्वा० नागरीदासजी के शिष्य नवलदासजी (नवलसखी) निवास करते थे। आजकल भी इस स्थान की सुरक्षा एवं पूजा टट्टी स्थान के शिष्यों द्वारा होती है।

विहारवन—शेरगढ़ के पास विहारवन नामक स्थान में एक मन्दिर है। यह टट्टी स्थान के महन्तों के अधिकार में है।

राधाकुण्ड तथा बरेली में बिहारीजी के मन्दिर हैं जहाँ वृन्दावन के गोस्वामियों की सेवा है।

सम्प्रदाय का साहित्य

स्वा० हरिदास जी की शिष्य-परम्परा के सन्तों ने प्रभूत वाणी-साहित्य की रचना की है। वार्ता-साहित्य भी लिखा गया है, परन्तु कम। वाणियों के दो प्रधान अंग रहते हैं—सिद्धान्त और रस। सिद्धान्त की वाणी में प्राय: भक्ति के साधारण सिद्धान्त होते हैं—जैसे गुरु-शिष्य का स्वरूप निरूपण, आचरण के आदर्श, शाक्तादि कर्मठों की निन्दा, अपने घर के रस का सैद्धान्तिक निरूपण तथा उत्कर्ष कथन, वृन्दावन की प्रशंसा, वैष्णव-सत्संग की महिमा, सीतप्रसाद की महिमा, एकादशी, श्राद्ध, तर्पण, व्रत, तीर्थयात्रा आदि बाह्य कर्म-काण्ड की निन्दा आदि। रस की वाणी में केवल प्रिया-प्रियतम की निकुंजकेलि का वर्णन रहता है। अनेक समय और ऋतुओं में किशोर-किशोरी के नित्य संयोग की लीलाओं का सरस आँखों देखा जैसा वर्णन होता है। उस केलि में स्वा० हरिदास (हरिदासी) आदि सहचरियाँ किस प्रकार अपने प्राणप्रिय युगल को लाड़ लड़ाते हुए सहायक होती हैं, किस प्रकार किशोर-किशोरी एवं सहचरी एक-दूसरे की प्रकृति के सूक्ष्म से सूक्ष्म तत्त्वों को पहचानते हैं और इस मधुर अपनावे से कैसे निकुंज केलि में नित नूतन रस का सागर हिलोरें लेता रहता है यही रस की वाणी का विषय होता है। सिद्धान्त और रस दोनों में साखी (दोहा), पद, चौबोला, सवैया, कवित्त, छप्पय आदि छन्दों में रचना होती है। पदों में रागों का निर्देश रहता है। अधिकांश वाणी फुटकर होती है परन्तु किसी-किसी सन्त की सिद्धान्त की वाणी ग्रन्थ रूप में भी मिलती है। सिद्धान्त तथा रस की वाणी के अतिरिक्त गुरुओं के मंगल तथा उनके जन्मोत्सव की बधाइयाँ प्राय: प्रत्येक वाणीकर्ता ने लिखी हैं। इन गुरुमंगल तथा बधाइयों की संख्या भी बहुत बड़ी है।

इनमें से अधिकांश ग्रन्थ हस्तलिखित हैं किन्तु कुछ वार्ता ग्रन्थ, कुछ सिद्धान्त की वाणियाँ तथा गुरुमंगल और बधाइयाँ टट्टी स्थान से मुद्रित हो चुकी हैं। रस की वाणी छपाने या किसी अन्य को देने पर सम्प्रदाय में प्रतिबन्ध है। किन्तु शोधकर्त्ता के लिए स्थिति इतनी निराशाजनक नहीं है। अधिकांश प्रमुख वाणियों की प्राचीन प्रतियाँ बाहर के पुस्तकालयों में पहुँच चुकी हैं। काशी नागरी प्रचारिणी सभा का हस्तलिखित पुस्तक संग्रह,

ब्रजसाहित्य मण्डल का हस्तलिखित पुस्तक संग्रह, वृन्दावन का श्रीकृष्ण चैतन्य पुस्तकालय (स्वर्गीय गो० राधाचरणजी का निजी पुस्तक संग्रह) ऐसे स्थान हैं जहाँ ये वाणियाँ देखी जा सकती हैं। सम्प्रदाय की तीनों गद्दियों (टट्टी स्थान, रसिकबिहारी एवं गोरेलाल) के पुस्तक संग्रहों का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं, परन्तु यह बाहर के पाठक के लिए अगम्य हैं। टट्टी स्थान में ही सबसे अधिक वाणियों का संग्रह है और सबसे कड़ा प्रतिबन्ध भी वहीं है। यहाँ के महन्त जी द्वारा हमें भी बहुत कठिनता से बाहर के संग्रहों में अप्राप्य वाणियों के देखने की विशेष अनुमति दी गयी। इनमें से केवल एक ही प्रति प्राप्त है तथा जिसे महन्त जी अपने घर की अत्यन्त गुह्य और महत्त्वपूर्ण निधि समझते हैं। गोपनीयता की इस मर्यादा का हम शक्ति-भर आदर करेंगे। किंतु जहाँ कथ्य-प्रतिपादन के लिये रस की वाणियों से उद्धरण देना नितान्त आवश्यक होगा वहाँ परिपाटी का उल्लंघन करना ही पड़ेगा। हमारा उद्देश्य सम्प्रदाय के सम्बन्ध में विधिवत् तथा प्रामान्य जानकारी देना है, अतः आशा है सम्प्रदाय के अधिकारी हमें गलत नहीं समझेंगे।

अष्टाचार्यों की वाणी : सम्प्रदाय के प्रथम आठ आचार्यों की वाणियाँ पाठ में रहती हैं। टट्टी स्थान के शिष्यों की पोथी में १. स्वा० हरिदासजी, २. स्वा० बीठलविपुलदेव जी, ३. स्वा० विहारिणिदेव जी, ४. स्वा० सरसदेव जी, ५. स्वा० नरहरिदेव जी, ६. स्वा० रसिकदेवजी, ७. स्वा० ललितकिशोरीदेव जी तथा ८. स्वा० ललितमोहिनीदेव जी की वाणियाँ होती हैं। इनमें संख्या १, २, ४ तथा ५ के आचार्यों की सम्पूर्ण रचनायें तथा शेष की रचनाओं का कुछ अंश संग्रहीत होता है। आचार्यों के अतिरिक्त स्वा० सरसदास जी के बड़े गुरुभाई स्वा० नागरीदास जी की वाणी, उनके शिष्य श्री नवलदास जी की वाणी तथा उनके दूसरे शिष्य श्री कृष्णदास कृत गुरुमंगल अष्टाचार्यों की वाणी में सम्मिलित रहते हैं। रसिकबिहारी जी की गद्दी के शिष्यों में ७ स्वा० ललितकिशोरी देव जी तथा ८ स्वा० ललितमोहिनीदेव जी की वाणी के स्थान पर ७ स्वा० पीताम्बर देव जी की वाणी तथा ८ स्वा० गोवर्द्धन शरणदेव जी की वाणी होती हैं। इनकी पोथी में स्वा० रसिकदेव जी की सम्पूर्ण वाणी संग्रहीत होती है।

अष्टाचार्यों की वाणी[1] की निम्नलिखित प्रतियाँ हमें मिलीं :

१. गो० गोवर्द्धनलालजी भट्ट के संग्रह में (लिपि सं० १९६३)—यह प्रति टट्टी स्थान की परम्परा के अनुसार स्वा० ललितमोहिनीदेव जी तक की वाणियों का संग्रह है। प्रारम्भ में स्वा० हरिदास जी की वाणी नहीं है। सम्भवतः जिनके लिए यह लिखी गयी उनके पास दैनिक पाठ के लिए स्वामीजी की वाणी अलग से होगी। अन्त में भक्तों द्वारा आचार्यों की प्रशंसा में कहे गये अनेक छन्द संग्रहीत हैं।

इस वाणी की प्रतिलिपि लेखक के पास है। इस ग्रन्थ के उद्धरणों में इसी वाणी की मूल प्रति की छन्द तथा पृष्ठ संख्या का प्रयोग किया गया है।

१. स्वा० हरिदासजी के सम्प्रदाय के वृत्तान्त के प्रसंग में ग्राउज ने अपने मेम्वायर (पृ० २०५) में लिखा है—'मेरे पास एक ६८० पत्रों की छोटी-सी पोथी है जिसमें सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक से लेकर पाण्डुलिपि के संवत् (१८२५) तक के सभी महन्तों के नाम और उनकी रचनाएँ हैं। सूची में ग्राउज ने टट्टी स्थान के आठों आचार्य तथा नागरीदास और नवलदास के नाम लिखे हैं। निश्चय है कि यह पोथी 'अष्टाचार्यों की वाणी' रही होगी।

२. माधवदास जी की प्रति (बा० विश्वेश्वरशरण जी के संग्रह में)—लिपि सं० १८१८— इस प्रति में प्रारम्भ में आसुधीर जी की दो साखी हैं। वे इस प्रकार हैं :

बड़ कुल जनमें कहा भयो कहा बसें सुरसरी तीर।
आसुधीर सन्तनि भजैं पावन भयो सरीर।
धंनि धंनि तिहुंपुर भयो गई विप्रनि की ऐंठ।
आसुधीर जग जानियों जब लई सुरसुरी भेंट॥

आगे इस पोथी में स्वा० हरिदासजी से लेकर स्वा० ललितकिशोरीदेव जी तक की वाणी, शीलसखी (स्वा० ललितकिशोरीदेव जी के एक शिष्य) कृत सब आचार्यों की प्रशंसा तथा मयाराम (स्वा० ललितकिशोरीदेव के एक अन्य शिष्य) कृत (संस्कृत) 'रसिक जीवन काव्य' है। अन्त की पुष्पिका इस प्रकार है :

"अथ शुभ संवत्सरेस्मिन् श्री नृपति विक्रमादित्य राज्ये १८१८ तत्र कार्तिक मासे शुक्ल पक्षे सप्तम्यां तिथौ बुधवासरे श्री वृन्दावनमध्ये लिखितं वैष्णव राम कृष्णेन श्री माधवदासस्य पठनार्थे।"

ये माधवदास श्री ललितकिशोरीदेव जी के शिष्य थे अतः स्वा० ललितमोहिनीदेव जी की वाणी इस पोथी में सम्मिलित नहीं है।

३. टट्टी स्थान की प्रति—लिपि सं० १८१५—यह भी पूर्णतः संख्या २ की प्रति के ही समान है।

४. रसिकबिहारी जी के महन्त जी की प्रति (लिपि सं० १८६५) इसमें पिछले दो महन्तों श्री पीताम्बरदेव जी तथा श्री गोवर्द्धनशरणदेव जी की वाणियाँ सम्मिलित नहीं हैं। इस पोथी में वाणियाँ स्वा० हरिदास जी की वाणी से प्रारम्भ होती हैं तथा रसिकदेव जी की वाणी तक समाप्त। रसिकदेव जी की इसमें गुरु-परम्परा को छोड़ शेष सम्पूर्ण वाणी है। टट्टी स्थान की परम्परा में उनके केवल सिद्धान्त और रस के कुछ पद और साखियाँ हैं परन्तु इस पोथी में उनके अतिरिक्त रसिकदेव जी के छोटे ग्रन्थ भी हैं : १. पूजा विलास, २. भक्ति सिद्धान्त, ३. रस सार, ४. कुंज कौतुक, ५. रसार्णव पटल, ६. वाराह संहिता (भाषा)।

यहाँ तक की वाणी किसी नारायणदास ने बाबा हरिकृष्णदास के पठनार्थ सं० १८६५ में लिखी। ये हरिकृष्णदास स्वा० गोवर्द्धनदेव जी के शिष्य थे।

इसके बाद किसी ने स्वा० रसिकदेव जी कृत ७ 'गुरु मंगल' तथा ८ बाललीला नामक रचनाएँ और जोड़ लीं। अन्त में संवत् नहीं है। लिपिकर्ता का नाम मोतीराम है। हमने इस वाणी से स्वा० रसिकदेवजी की सम्पूर्ण वाणी तथा अष्टाचार्यों की वाणी सं० १ से अधिक पदों की प्रतिलिपि की है। सं० १ की वाणी के पाठ की भी इसके पाठ से तुलना की है।

५. रसिकबिहारी जी के मन्दिर की एक अन्य पोथी (लिपि सं० अज्ञात) यह पोथी महन्तों की समाधि में पूजा में रखी रहती है तथा 'समाज' के समय काम आती है। यह २६८ पृष्ठ की छोटी-सी पोथी है तथा अधिक प्राचीन नहीं है। इसमें अष्टाचार्यों की सम्पूर्ण वाणी नहीं है केवल स्वा० हरिदास जी, स्वा० बीठलविपुल जी, स्वा० बिहारिनिदास जी, स्वा० नागरीदास जी इन आचार्यों की वाणियाँ तथा भगवतरसिक जी की वाणी (अनन्य निश्चयात्मक ग्रन्थ) ही हैं।

सं० १ तथा ४ के अतिरिक्त जो पद इस वाणी में मिलते हैं उनका हमने संकलन किया है।

६. बाबा छबीलीदास जी की प्रति—इसकी लिपि वयोवृद्ध बाबा छबीलीदास जी ने स्वयं की है तथा यह उनके नित्य-पाठ में है। वे रसिकविहारी जी की गद्दी के शिष्य हैं अतः उनकी प्रति में स्वा० हरिदास जी से लेकर स्वा० गोवर्द्धनशरण देव जी तक आचार्यों की वाणियाँ हैं जिनमें गुरु-परम्परा को छोड़कर स्वा० रसिकदेव जी की सम्पूर्ण वाणी, स्वा० पीताम्बरदेव जी की सम्पूर्ण वाणी तथा स्वा० गोवर्द्धनदेव जी की सम्पूर्ण वाणी है।

आचार्यों की वाणी के बाद इस पोथी में स्वा० गोवर्द्धनदेव जी के तीन शिष्यों श्री विद्यानिधि, कृष्णदास तथा हरिप्रियादास कृत बधाई, गुरु-प्रशंसा आदि के छन्द तथा स्वा० गोवर्द्धनदेव जी के ही एक अन्य शिष्य श्री हरेकृष्णदास (हरिकृष्णदास) की वाणी संगृहीत हैं। जिस मूल प्रति से बा० छबीलीदास ने यह वाणियाँ उतारी हैं उसका लिपि सं० १८७९ है।

हमने इस पोथी से आचार्यों के अतिरिक्त पद तथा स्वा० गोवर्द्धनदेव जी और उनके सब शिष्यों की वाणियों की प्रतिलिपि प्राप्त की है।

७. गो० राधाचरण जी के पुस्तकालय की प्रति (लिपि सं० नहीं है) यह एक जीर्ण तथा पुरानी पोथी है। इसमें प्रथम आसुधीर जी के दो दोहे हैं परन्तु यह पत्र पीछे जोड़ा गया है, मूल पुस्तक के साथ नहीं है। इसके पश्चात् इसमें स्वा० हरिदास जी की संपूर्ण वाणी है तथा टट्टी स्थान की परम्परा के अनुसार स्वा० ललितकिशोरीदेव जी तक की वाणियाँ हैं। स्वा० ललितमोहिनीदेव जी की वाणी न होने से ज्ञात होता है यह प्रति उनके किसी समकालीन व्यक्ति के लिए लिखी गयी थी।

८. नागरी प्रचारिणी सभा काशी की प्रति (संग्रह सं० ३७१।२६९)—लिपि संवत् नहीं है—प्रति सं० ७ में जितने आचार्यों की वाणियाँ हैं, उतनी ही इस प्रति में भी हैं। आसुधीरजी के दो दोहे इस प्रति में मूल प्रति के साथ ही हैं। इसमें भी स्वा० ललित-किशोरीदेव जी तक की वाणियाँ संगृहीत हैं। इस प्रति का लिपिकाल भी सं० ७ के समान स्वा० ललितमोहिनीदेव जी का जीवनकाल ही होगा।

वाणीकर्त्ताओं के नाम और उनका साहित्य

अष्टाचार्यों की वाणी में सब आचार्यों की भी सब वाणियाँ संगृहीत नहीं हैं अतः यहाँ हम सम्प्रदाय के वाणी रचयिताओं तथा उनके साहित्य का क्रम से उल्लेख करते हैं :

स्वा० आसुधीरजी : इनके केवल दो दोहे कहे जाते हैं परन्तु कोई-कोई यह भी कहते हैं कि ये भेंट के दोहे हैं अर्थात् किसी अन्य की रचना हैं। ये केवल अष्टाचार्यों की वाणी में ही किसी-किसी प्रति में मिलते हैं।

स्वा० हरिदास जी : इनके १८ सिद्धान्त के पद तथा १०८ शृंगार के पद हैं। शृंगार के पदों के संग्रह का नाम ही 'केलिमाल' है। अष्टाचार्यों की वाणी के अतिरिक्त इनके अलग-अलग या एकत्र संग्रह भी पाठ में रहते हैं। लगभग सभी शिष्यों के पास स्वा० जी की वाणी की तो एक प्रति होती ही है। कहीं-कहीं सिद्धान्त के ३ तथा रस के ४ अतिरिक्त पद भी मिलते हैं पर वे भेंट के कहे जाते हैं। रचना से भी वे अन्य लोगों की रचना ज्ञात होते हैं। 'अष्टाचार्यों की वाणी' की नागरी प्रचारिणी वाली प्रति में सिद्धान्त

के पद २० दिये हैं तथा गो० राधाचरण जी की प्रति में 'केलिमाल' के पद ११२। किन्तु अधिकतर प्रतियों में केलिमाल के पद ११० तथा सिद्धान्त के पद १८ ही मिलते हैं। अष्टाचार्यों की वाणी के अतिरिक्त स्वा० हरिदास जी की वाणी की जो प्रतियाँ हमने देखीं वे इस प्रकार हैं :—

१. गो० गोवर्द्धनलालजी भट्ट के संग्रह में (लिपि सं० १९४८)—इसमें सिद्धान्त के पद २१ तथा शृंगार के ११० हैं।

२. गो० राधाचरणजी के पुस्तक संग्रह में (लिपि काल अज्ञात) सिद्धान्त के पद २० तथा शृंगार के ११०। (इस पुस्तक संग्रह में इसी प्रकार की दो प्रतियाँ और भी हैं)।

३. गो० ओंकारनाथ के संग्रह में (लिपि सं० १८८९)—सिद्धान्त के पद २० तथा रस के पद ११०।

४. नागरी प्रचारिणी सभा काशी—याज्ञिक संग्रह संख्या ५५६ ग। ५५ (लिपि काल अज्ञात)—सिद्धान्त के पद १८, रस के १०८।

५. श्री केलिमाल (मुद्रित)—कुंजविहारी पुस्तकालय, वृन्दावन, संपा० छबीलेवल्लभ गोस्वामी, मूल्य १ रु०, सिद्धान्त के १८ तथा शृंगार के ११० पद।

सिद्धान्त के पदों की निम्नलिखित टीकाएँ हुई हैं जो तीनों छप चुकी हैं :

१. अष्टादश सिद्धान्त के पदों की टीका : पं० अमोलकराम—सन् १९२८ ई०—टट्टीस्थान से वितरित। ग्रन्थ की भूमिका में अपनी आचार्य परम्परा के तिथि संवत् दिये हैं। लेखक ने निम्बार्काचार्य से लेकर आज तक के आचार्यों के तिथि, मास तथा संवत् इतनी निश्चित् रीति से किस आधार पर लिखे हैं इसका कोई निर्देश नहीं किया है। इनमें से स्वामीजी से पूर्व परम्परा की तिथियाँ कल्पित ही ज्ञात होती हैं।

२. अष्टादश सिद्धान्त के पदों की टीका : टीकाकार का नाम नहीं है। सं २००९ वि०, प्रकाशक बा० तुलसीदास, मूल्य ३ आ०। यह टीका लगभग पहली टीका के ही समान है। भाषा भी अधिकांश में वही है।

३. अष्टादश सिद्धान्त के पदों की टीका : टीकाकार श्री ललिताप्रसाद पाठक, द्वितीय संस्करण—सं० २०१०—(टट्टीस्थान से वितरित)—इस ग्रन्थ की भूमिका में स्वामी हरिदास जी का परिचय तथा उनके बाद की परम्परा की तिथियाँ दी गयी हैं।

स्वा० हरिदासजी के शृंगार के पदों (केलिमाल) की तीन टीकाएँ लिखी गयी हैं :

१. स्वा० पीताम्बरदेव जी की टीका : इन्होंने केलिमाल के ११० पदों की छन्दोबद्ध टीका की है। प्रत्येक पद की टीका में एक दोहा तथा एक पद लिखा गया है। कहीं-कहीं दोहों और पदों की संख्या एक से अधिक भी है। यह टीका रसिकबिहारी जी की अष्टाचार्यों की वाणी में सम्मिलित की जाती है।

२. श्री नागरीदास जी की टीका : ये नागरीदास स्वा० पीताम्बरदेव जी के शिष्य थे। इन्होंने प्रत्येक पद की विस्तृत टीका ब्रजभाषा गद्य में लिखी है।

३. श्री राधाशरण जी की वस्तुदर्शनी टीका : इन्होंने अपनी टीका दोहों में लिखी है। कहीं-कहीं पद भी हैं। प्रत्येक पद की टीका में दो से छह-सात तक दोहे लिखे गये हैं।

संख्या १ तथा २ की टीकाओं की एक सम्मिलित प्रति (लिपि सं० १९९१) बा० विश्वेश्वरशरण के संग्रह में है। संख्या १ तथा ३ की टीकाओं की एक सम्मिलित प्रति टट्टीस्थान के संग्रह में है। इन दोनों पोथियों की प्रतिलिपि हमने संग्रह की है।

स्वामी हरिदासजी के नाम से कई रचनाएँ तथा अनेक फुटकर पद मिलते हैं जो वास्तव में उनके नहीं हैं। उन्होंने जितनी वाणी लिखी उसे अत्यन्त पूज्य मानकर उनकी शिष्य परम्परा ने सदा सुरक्षित रखा है अतः उसके अतिरिक्त अन्य पदों की कोई प्रामाणिकता नहीं है। संगीतज्ञों में मौखिक परम्परा से तो ऐसे अनेक प्रक्षिप्त पद मिलते ही हैं, कलकत्ता से प्रकाशित स्वामी कृष्णानन्द-कृत संगीत राग कल्पद्रुम (३ भाग, सम्पादक नगेन्द्रनाथ बसु) में ३३ पद 'हरदास', 'हरदास ठाकुर' या 'हरिदास डागर' नाम से संगृहीत हैं और स्वा० हरिदास जी के बताये जाते हैं। वास्तव में 'हरिदास डागर' नाम के एक अन्य संगीतज्ञ कवि हुए हैं और इनमें से अधिकांश पद उन्हीं के हैं।

नागरी प्रचारिणी सभा, काशी के संग्रह में एक पोथी (सभा संग्रह ३६४।२६२) है जिसे सूची में 'हरिदासजी के पद' शीर्षक दिया गया है। उसका प्रथम पद इस प्रकार है :

राग गौरी—नमो रंगीली के निज अंस।
गुह्यतरी जगतरी प्रकासित को जाने यह गंस।
जातन कृपा दृष्टि भरी चीतवत असुभ कर्म सब नंस।
हरिदास के स्वामी श्यामा कुंज वीहारी सतगुर श्रीहरिवंस ।१।।

यह पद हरिदासजी का नहीं है। किसी राधावल्लभीय सम्प्रदाय के अनुयायी ने उन्हें श्री हितहरिवंश जी का शिष्य सिद्ध करने के लिए यह पद लिख दिया है।

इस संग्रह में स्वा० हरिदासजी का और कोई पद नहीं मिलता। अधिकांश संग्रह राधावल्लभीय सम्प्रदाय के कवियों के पदों का है, अतः सभा की सूची में इस पुस्तक का नाम भ्रमात्मक है।

कई पुस्तकें स्वामी हरिदास जी के नाम से मुद्रित भी हुई हैं जिनका स्वामी हरिदास जी से कोई सम्बन्ध नहीं। जो हमारे देखने में आयीं, वे हैं :—

१. रसिकलहरी अर्थात् मोहनविलास : स्वामी हरिदास-कृत—भार्गव पुस्तकालय काशी, पृष्ठ संख्या १२, मूल्य ३ आ०। इस पुस्तक में चौपाई, दोहा, सवैया आदि में दान-लीला का वर्णन है।

२. श्रीकृष्ण वाटिका : स्वामी हरिदास-कृत—भार्गव पुस्तकालय काशी—पृष्ठ संख्या १२, मूल्य १ आ०। यह १०० दोहों का संग्रह है तथा विषय है विनय तथा भक्ति।

३. सवैया प्रेमतरंग : (पहला भाग)—स्वामी हरिदास-कृत—गजाधर प्रसाद बुकसेलर, सागर, पृष्ठ संख्या १६, मूल्य ३ आ०। यह कुछ कवित्त, सवैया तथा दोहों का संग्रह है। इसमें सुदामाचरित्र के सवैयों से लेकर भाँग के सवैयों तक सभी कुछ है। कहना न होगा कि इन पुस्तक-विक्रेताओं ने स्वामीजी के नाम की व्यापक प्रसिद्धि का दुरुपयोग किया है।

स्वा० बीठलविपुलदेव जी की वाणी : स्वामी हरिदासजी के शिष्य स्वा० बीठल-विपुलदेव जी ने केवल ४० रस के पद लिखे। ये सब अष्टाचार्यों की वाणी में मिलते हैं। 'अष्टाचार्यों की वाणी' के प्रसंग में जिन प्रतियों का हम उल्लेख कर चुके हैं उन सब में ये हैं। कहीं-कहीं एक अतिरिक्त पद भेंट का भी मिलता है। ये पद 'श्री बीठलविपुल की वाणी' शीर्षक से बाबा तुलसीदास द्वारा वृन्दावन से पुस्तक रूप में प्रकाशित भी हो चुके हैं। सं० २००९, मूल्य १ आ०।

स्वा० बिहारिनिदास जी की वाणी : स्वा० हरिदासजी के सम्प्रदाय में इनकी रचना

सबसे अधिक प्रौढ़ है। वाणी का परिमाण भी बहुत है। अष्टाचार्यों की वाणी में इनके लगभग ७०० सिद्धान्त के दोहे तथा अनेक पद, सवैया, चौबोला, कुंडलिया एवं चौपाई सम्मिलित हैं। 'अष्टाचार्यों की वाणी' की जिन प्रतियों का हमने उल्लेख किया है उन सभी में यह वाणी मिलती है। इसके अतिरिक्त इनके रस के पदों का एक संग्रह और है। इस संग्रह की निम्नलिखित प्रतियाँ हमने देखी हैं :

१. श्री गोपालचन्द्र चतुर्वेदी के संग्रह में—लिपि सं० १८९२—यह किन्हीं विरक्त राधिका विलास के पठनार्थ जमुनादास ने लिखी। (प्रतिलिपि लेखक के संग्रह में)।

२. गो० गोवर्द्धनलाल भट्ट के संग्रह में—लिपि काल अज्ञात—प्राचीन प्रति—इसके अतिरिक्त पद हमने संग्रह किये हैं।

३. नागरी प्रचारिणी सभा, काशी—सभासंग्रह संख्या २८९६।१७८९ लिपिकाल अज्ञात—पृष्ठ सं० १३०—शीर्षक 'बिहारिनिदास की वाणी'—इस पोथी में बिहारिनिदास के केवल कुछ सिद्धांत की साखी, रस की साखी, चौबोला आदि संग्रहीत हैं।

स्वामी हरिदासजी की प्रशंसा संबंधी इनके ४० पद 'सिद्धान्त रत्नाकर' नामक ग्रन्थ (निम्बार्क शोधमण्डल से प्रकाशित) में 'महिमामृत' शीर्षक के अन्तर्गत छप चुके हैं।

स्वा० नागरीदास जी की वाणी : स्वा० नागरीदास जी स्वा० सरसदास जी के बड़े भाई भी थे तथा बड़े गुरु भाई भी। अतः आचार्य न होते हुए भी इनकी वाणी अष्टाचार्यों की वाणी में सम्मिलित की गयी है। इनके सिद्धान्त तथा रस के अनेक पद, साखी, तथा चौबोले हैं। ये सभी अष्टाचार्यों की वाणी में संग्रहीत हैं।

स्वा० सरसदास जी की वाणी : इनके सिद्धान्त तथा रस के कुछ कवित्त सवैये तथा पद हैं। ये सब अष्टाचार्यों की वाणी में सम्मिलित हैं।

श्री कृष्णदास जी का गुरु मंगल : ये स्वा० नागरीदास जी के शिष्य थे। इनका गुरुओं का मंगल अष्टाचार्यों की वाणी में सम्मिलित है।

श्री नवलदास जी की वाणी : ये स्वा० नागरीदास जी के शिष्य थे। इनकी छोटी-सी वाणी अष्टाचार्यों की वाणी में सम्मिलित है।

स्वा० नरहरिदेव जी की वाणी : इनकी छोटी-सी वाणी भी आचार्यों की वाणी में सम्मिलित है।

इनके नाम से (संस्कृत में) एक आचार्य वंश परंपरा भी सं० १९४८ में छपी है तथा टट्टी स्थान से वितरित होती है।

स्वा० रसिकदेव जी की वाणी : इनके सिद्धान्त तथा रस की साखी, पद आदि के अतिरिक्त अन्य छोटे-छोटे ८ ग्रन्थों का उल्लेख हम 'अष्टाचार्यों की वाणी' (रसिकबिहारी जी के महन्त जी की प्रति) के प्रसंग में कर चुके हैं। इनकी सम्पूर्ण वाणी अलग से एक पोथी में भी मिलती है तथा विभिन्न ग्रन्थ भी अलग-अलग मिलते हैं। ऐसी निम्नलिखित प्रतियाँ हमने देखी हैं :

१. सम्पूर्ण वाणी—गोरेलाल जी के मन्दिर की प्रति—लिपि काल सं० १८०८—इसमें संग्रहीत 'गुरुमंगल' का रचना काल सं० १७५९। यह वैष्णव गंगादास के पठनार्थ लिखी गयी। लिपिकर्त्ता हैं—खड्गराम। इस प्रति में रसिकदेव जी की सम्पूर्ण वाणी है।

२. पूजाविलास—रसिकबिहारी जी के पुस्तकालय की प्रति (खण्डित—लिपि सं० १९०७)—इसमें बीच के अधिकांश पत्र नहीं है।

३. 'भक्ति सिद्धान्त मनि' तथा 'रससार'—(मुद्रित) निम्बार्क शोध मण्डल से प्रकाशित 'सिद्धान्त रत्नाकर' नामक ग्रन्थ में छपे हैं।

इनकी एक संस्कृत रचना 'गुरु-परम्परा' भी मिलती है। 'बुन्देल वैभव'[1] में रसिक देव जी के नाम से ३२ रचनाओं की सूची दी गयी है :

१. बानी
२. प्रसाद लता
३. भक्तिसिद्धांतमणि
४. पूजा विलास
५. एकादशी माहात्म्य
६. रसकदंबचूड़ामणि
७. पूजा विभास
८. कुंज कौतुक
९. माधुर्यलता
१०. रतिरंगलता
११. सुवा मेना चरितलता
१२. आनन्दलता
१३. हुलासलता
१४. अतनलता
१५. रत्नलता
१६. रहसिलता
१७. कौतुकलता
१८. अद्‌भुतलता
१९. विलासलता
२०. तरंगलता
२१. विनोदलता
२२. सौभाग्यलता
२३. सौन्दर्यलता
२४. अभिलाषलता
२५. मनोरथलता
२६. सुखसारलता
२७. चारुलता
२८. अष्टक
२९. रससार
३०. ध्यानलता
३१. बाराहसंहिता
३२. अष्टक

उपर्युक्त रचनाओं में १, ३, ४, ८, २९, ३० तथा ३१ संख्यक रचनाएँ तो ही हैं परन्तु शेष रचनाओं में से प्राय: सभी श्री राधावल्लभ सम्प्रदाय के श्री रसिकदास की रचनायें हैं। उन्होंने जो पद रसिकदेव जी की रचना के नमूने के रूप में दिये हैं वे उनकी वाणी में कहीं नहीं हैं। उनके द्वारा कथित एक पद की अन्तिम पंक्ति—

'गदाधर प्रभु जुवती जन मुनि मन मानस मराल'

से तो स्पष्ट हो जाता है कि यह अन्य कवि की रचना है।

स्वा० ललितकिशोरीदेव जी की वाणी : टट्टी स्थान की शाखा में इनकी वाणी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। इनकी रचना का परिमाण भी बहुत है। अष्टाचार्यों की वाणी में इनके जितने सिद्धान्त और रस के पद, साखी तथा कवित्त सवैये संग्रहीत हैं उसके दूने से भी अधिक अतिरिक्त पोथियों में मिलते हैं। इनके कुछ बधाई के पद तथा वचनावली के दो संग्रह भी हैं। इनकी रचना की जो प्रतियाँ हमें मिलीं वे निम्नलिखित हैं :

१. **सिद्धान्त की साखी :** रस केलि की चौपाई तथा रस के दोहा—टट्टी स्थान के संग्रह में—लिपि काल अज्ञात।

२. **सिद्धान्त तथा रस** के ११३० दोहे, सोरठे, अरिल्ल तथा पद—टट्टी स्थान के संग्रह में—लिपि काल अज्ञात—इस प्रति में प्रथम ३०० के लगभग दोहे वही हैं जो अष्टाचार्यों की वाणी में मिलते हैं। शेष रचना—जिसमें ४०७ रस के दोहे भी हैं—रस के

१. श्री गौरीशंकर द्विवेदी, बुन्देल वैभव, प्रथम भाग (प्रकाशित टीकमगढ़, सं० १९९०) पृ० २३५।

निरूपण की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। इस रचना की और कोई प्रति उपलब्ध नहीं है।

३. **वचनावली** (वचनिका)—टट्टी स्थान के संग्रह में—लिपिकाल अज्ञात—इस पुस्तक में किसी भक्त ने स्वा० ललितकिशोरीदेव जी के समय-समय पर कहे वचनों को दोहा चौपाइयों में छन्दोबद्ध कर दिया है।

(उपर्युक्त तीनों पोथियों की प्रतिलिपि लेखक के संग्रह में है।)

४ **श्री वचनिका सिद्धान्त** (मुद्रित)—टट्टी स्थान से वितरित—स्वा० ललित-किशोरीदेव जी की कुछ वचनावली का यह संग्रह ब्रजभाषा गद्य में है।

स्वा० पीताम्बरदेव जी की वाणी : इनकी 'केलिमाल की टीका' का हम उल्लेख कर चुके हैं। इसके अतिरिक्त इनकी वाणी 'अष्टाचार्यों की वाणी' (रसिकबिहारी की परम्परा) में भी मिलती है तथा अलग पोथियों में भी प्राप्त होती है। इनकी वाणी में समय प्रबन्ध, गुरु प्रणाली, गुरु मंगल, सिद्धान्त के पद तथा साखी, रस के पद तथा साखी, मांझ तथा बधाइयाँ सम्मिलित हैं।

एक पोथी—टट्टी स्थान के संग्रह में—लिपि संवत् अज्ञात—इसमें केलिमाल की टीका के अतिरिक्त शेष सब रचनाएँ संकलित हैं।

स्वा० ललितमोहिनीदेव जी की वाणी : इनकी वाणी अधिक नहीं है। उसमें से कुछ साखी तथा पद अष्टाचार्यों की वाणी में सम्मिलित हैं। इसके अतिरिक्त थोड़े-से पद, साखी, चौपाई आदि और हैं। इनके कहे हुए वचनों का एक छोटा-सा संग्रह ब्रजभाषा गद्य में भी है।

इनकी सम्पूर्ण वाणी की दो प्रतियाँ (लिपिकाल अज्ञात) टट्टी स्थान के संग्रह में हैं। (प्रतिलिपि लेखक के संग्रह में।)

स्वा० गोवर्द्धनशरणदेव जी की वाणी : ये स्वा० पीताम्बरदेव जी के शिष्य थे। इनकी छोटी-सी वाणी रसिकबिहारी जी के शिष्यों की 'अष्टाचार्यों की वाणी' में संग्रहीत रहती है।

श्री रूपसखी जी की वाणी : ये स्वा० रसिकदेव जी के शिष्य थे। इनकी वाणी में आचार्यों की स्तुति, सिद्धान्त तथा रस के पद एवं कवित्त हैं। सिद्धान्त की वाणी की संख्या तो अधिक नहीं परन्तु इनके रस के पदों की संख्या बहुत है। रस के कुछ कवित्त भी हैं। आचार्यों की स्तुति तथा सिद्धान्त की वाणी 'सिद्धान्तरत्नाकर' नामक संग्रह-ग्रन्थ में प्रकाशित हो चुकी हैं। इनकी सम्पूर्ण वाणी टट्टी स्थान के संग्रह में एक पोथी में (लिपिकाल अज्ञात) मिलती है। इसकी प्रतिलिपि लेखक के संग्रह में है।

महन्त किशोरदास जी की वाणी : ये स्वा० पीताम्बरदेव जी के शिष्य थे। ये प्राय: निजमत सिद्धान्त के कर्त्ता होने के नाते ही जाने जाते हैं। परन्तु इन्होंने इस वार्ता ग्रन्थ के अतिरिक्त और भी बहुत वाणी-रचना की है जो इस प्रकार है :

१. रस के पद—टट्टी स्थान के संग्रह में—लिपि संवत् नहीं है, इनके सम्पूर्ण रस के पद उपलब्ध नहीं हैं। जो पद संकलित किये जा सके हैं वे इस पोथी में लिपिबद्ध हैं। (प्रतिलिपि लेखक के संग्रह में।)

२. सिद्धान्त सरोवर

३. सिद्धान्त सार संग्रह

४. अद्‌भुत आनन्द सत

५. उपदेस आनन्द सत
६. सवैया पचीसी
७. बिहारिनिदास जू कौ चरित्र
८. आसुधीर जू कौ चरित्र
९. फुटकर कवित्त

संख्या २ से ९ तक की रचनाएँ हमने एक पोथी में सेठ हरगुलाल जी, वृन्दावन के संग्रह में (लिपिकाल अज्ञात) देखीं। अब ये निम्बार्क शोध मण्डल से प्रकाशित 'सिद्धान्त-रत्नाकर' शीर्षक संग्रह ग्रन्थ में छप चुकी हैं। इनमें से सं० ६ सवैया पचीसी टट्टी स्थान से प्रकाशित 'गुलजार चमन' के साथ भी छप चुकी है।

श्री शीलसखी की वाणी : श्री शीलसखी स्वा० ललितकिशोरीदेव जी के शिष्य थे। इन्होंने आचार्यों का मंगल लिखा है जिसके अधिकांश भाग में स्वा० ललितकिशोरी जी की प्रशंसा है। यह वाणी कुछ अन्य छोटी-छोटी रचनाओं के साथ एक पोथी में (लिपिकाल अज्ञात) टट्टी स्थान के संग्रह में है। इसी पोथी की हमने प्रतिलिपि प्राप्त की है।

अब यह वाणी 'सिद्धान्त रत्नाकर' नामक संग्रह ग्रन्थ में निम्बार्क शोधमण्डल से प्रकाशित हो चुकी है।

श्री भगवतरसिक की वाणी : ये स्वा० ललितमोहिनीदेव जी के शिष्य थे। इनकी वाणी 'अनन्यनिश्चयात्म' नामक शीर्षक से टट्टी स्थान से दो बार प्रकाशित हो चुकी है।

श्री शीतलदास की वाणी : ये टट्टी स्थान के महन्त श्री ठाकुरदास जी के शिष्य थे। इनकी तीन रचनाएँ हैं—१. गुलजार चमन, २. आनन्द चमन, और ३. विहार चमन। ये तीनों रचनाएँ 'गुलजार चमन' नामक शीर्षक से टट्टी स्थान द्वारा सं० १९६९ में प्रकाशित हुई हैं।

श्री बिहारी वल्लभ जी की वाणी : ये श्री भगवतरसिक के शिष्य थे। इनकी वाणी के विषय हैं—सखी सुख सार सिद्धान्त, होरीधमारि, भगवतरसिक जी की प्रशंसा, नर लक्षण, व्रत लक्षण, भगवतरसिक अनन्य नाम प्रताप, भगवत रसिक अनन्य नाम प्रभाव तथा भगवद्भक्तों की नामावली। इनकी वाणी की एक पोथी (लिपिकाल अज्ञात) टट्टी स्थान के संग्रह में है जहाँ से हमने इसकी प्रतिलिपि प्राप्त की है।

श्री सहचरिशरणजी की वाणी : श्री सहचरिशरण (सखीशरण) स्वामी ललित-मोहिनीदेव जी के शिष्य श्री राधाशरण (राधिकादास) जी के शिष्य थे। ये स्वयं भी बाद में टट्टी स्थान की महन्त गद्दी पर बैठे। इनके प्रसिद्ध वार्त्ता ग्रन्थ 'ललितप्रकाश' के अतिरिक्त इनकी अन्य रचनाएँ इस प्रकार हैं :

१. सरस मंजावली—१५० छन्दों की यह रचना टट्टी स्थान से सं० १९७१ में प्रकाशित भगवतरसिक की वाणी (द्वितीय संस्करण) के साथ छपी है।

२-३. इनकी दो अन्य रचनाएँ 'गुरुप्रणालिका' तथा 'आचार्योत्सव सूचनिका' भी 'भगवतरसिक की वाणी' के साथ प्रकाशित हो चुकी हैं।

४. नखशिख ध्यान—यह छोटी-सी रचना टट्टी स्थान से सं० १९६९ में प्रकाशित 'गुलजार चमन' के साथ छप चुकी है।

'वृन्दावनधामानुरागावली' के लेखक ने इनकी एक और रचना 'आसिक कण्ठमाल' का उल्लेख किया है। यह हमें नहीं मिली।

श्री नरहरि अलि की वाणी : 'यह महात्मा मोरकुटी पर रहते थे तथा स्वा० हरिदास जी के सम्प्रदाय की शिष्य परम्परा में थे। ये अनुमान से १९वीं शती में रहे होंगे।' इस परिचय के साथ ब्रजभारती में इनकी वाणी की शोध-सूचना प्रकाशित हुई है।

(देखिए ब्रजभारती, भाद्र-पद २०१०, पृ० ३१)

श्री चतुरदास जी की वाणी : ये स्वा० ललितमोहिनीदेव जी के शिष्य थे तथा उनके बाद गद्दी पर बैठे। इनकी ८ साखी और दो पद टट्टी स्थान के संग्रह में हैं।

श्री मनसाराम का गुरुमंगल : ये रचना निम्बार्क शोधमण्डल से प्रकाशित 'सिद्धान्त रत्नाकर' नामक संग्रह ग्रन्थ में छपी है। इसमें स्वा० ललितकिशोरीदेव जी की प्रशंसा विषयक छन्द हैं।

श्री विद्यानिधि कृत स्वा० गोवर्द्धनदेव की प्रशंसा : यह छोटी-सी रचना स्वा० गोवर्द्धनशरणदेव जी की वाणी के साथ की पोथी में सम्मिलित है। इस पोथी का परिचय हम पहले दे चुके हैं।

श्री कृष्णदास कृत स्वा० गोवर्द्धनदेव जी की प्रशंसा : ये पद भी उपर्युक्त पोथी में सम्मिलित हैं।

श्री हरेकृष्णदास जी की वाणी : ये स्वा० गोवर्द्धनशरणदेव जी के शिष्य थे। इनकी छोटी-सी वाणी भी उपर्युक्त पोथी में सम्मिलित है। इस वाणी में भी अधिकांश में गुरु वन्दना है।

श्री रणछोरदास : ये टट्टी स्थान के स्वा० भगवानदास जी के शिष्य थे। इनके कुछ कवित्त टट्टी स्थान से प्रकाशित 'ललित प्रकाश' के साथ छपे हैं जिनमें सहचरिशरण जी से पीछे के भगवानदास जी तक महन्तों की प्रशंसा तथा परिचय हैं।

श्री रसिक किशोरी : ये टट्टी स्थान के किन्हीं महात्मा वृन्दावनदास जी के शिष्य थे। इन्होंने ब्रजभाषा गद्य तथा पद्य में 'आनन्द प्रभासिक' नामक ग्रन्थ लिखा तथा कुछ रस के पद लिखे। उपर्युक्त रचनाएँ हमने गोरेलाल जी के मन्दिर के पुस्तकालय की एक खण्डित लीथो में छपी पोथी से प्राप्त कीं। सम्भव है इस ग्रन्थ में इनकी और भी अधिक रचनाएँ रही हों। इस प्रति में प्रकाशक आदि का कोई परिचय नहीं है। न इसके अतिरिक्त इस पुस्तक की और प्रति ही हमें मिली है।

श्री ललितकिशोरीदास की 'भक्ति वाटिका' : ये विरक्त साधु रसिकबिहारी जी के महन्त स्वा० लाड़िलीशरणदेव के शिष्य थे। इनकी जबलपुर से छपी 'भक्तिवाटिका' नामक रचना की एक प्रति गोरेलालजी के पुस्तकालय में मिली। इसमें लावनी, भजन, पद आदि में साधारण कोटि की भक्ति सम्बन्धिनी रचना संग्रहीत है।

श्री सुन्दर सखी का 'राधाकृष्ण-विवाह' : निम्बार्क माधुरी (पृ० ६७२) में उसके सम्पादक श्री बिहारीशरण ने लिखा है कि उन्होंने स्वा० हरिदास जी के सम्प्रदाय के किसी महात्मा 'सुन्दर सखी' रचित 'राधाकृष्ण विवाह' नामक ग्रन्थ देखा। वे उसे विभिन्न रागों के पदों की रचना बताते हैं।

श्री रस रंग : ये स्वा० ललितमोहिनीदेव जी के शिष्य थे। इनका एक बड़ा पद टट्टी स्थान से प्रकाशित 'गुलजार चमन' के साथ छपा है।

श्री ब्रजदास पुजारी : इनका स्वा० विहारिनदेव जी की प्रशंसा का एक छप्पय रसिकबिहारी जी के मन्दिर की समाज की पोथी में संग्रहीत है। पद के साथ की सूचना

से ज्ञात होता है कि ये लाड़िली जी के पुजारी थे।

श्री दयालदास : उपर्युक्त प्रति में ही 'स्वा० हरिदासजी के शिष्य दयालदास' का एक छप्पय संकलित है।

श्री किशोरदास : श्री हरिराम व्यास के छोटे बेटे किशोरदास स्वामी हरिदासजी के शिष्य थे। 'वृन्दावन धामानुरागावली' कार ने लिखा है (पृ० १६१) कि इन्होंने रास सम्बन्धी एक पद बनाया था। श्री नागरीदास (कृष्णगढ़ नरेश) के 'पद प्रसंगमाला' ग्रन्थ में 'व्यास पुत्र किशोरीदास' के चरित्र-वर्णन में उनका यह पद उद्धृत है :

ए दोउ नृत्तति रास मैं रसिक प्यारी देषति सवनि कौं मन हरैं।
नखसिष कुंवर सिंगारी छवि उपजत भारी तत्तथेई बोलत लाल बिहारी ॥१॥
मृदंग बजावत ललिता री सुधंग देसी न्यारी एक बजावत तारी।
मिलवत गति न्यारी तिन मैं राधिका वारी लेत उरप तिरपारी लालन
रीझि कैं वारत कण्ठ की मुक्ता माला री ॥२॥
सुषद वृन्दावन सघन फूले पुहपारी त्रिविध पवन सुषकारी॥
जमुना पुलिन सारी तैसीय सुभग एकारी, प्राची दिसि भयो उडिराजा री
कहत नवनैं सुद्द सरद की उजियारी ॥३॥
किंकि निनूपुर बाजारी धुनि सुनि देह विसारी दोऊ रास में मगन रहत सदा व्यौहारी।
च्यार चरन रज किसोरीदास सिर धारी वृषभान की दुलारी तिनपर करैं तन मन
बलिहारी ॥४॥

नागरीदास जी के कथनानुसार इस पद को रासधारी रास में अब तक गाते हैं।

स्वा० जयदेव : गोरेलाल जी के पुस्तकालय के खण्डित पत्रों में हमें 'जय सहचरि' छाप से दो पद प्राप्त हुए। इनका शीर्षक है 'जलप्याउनी'। सहचरि द्वारा युगल के भोजन के समय की सेवा की भावना से ये पद लिखे गये हैं। हमारा अनुमान है कि ये गोरेलाल जी के महन्त स्वा० जयदेवजी के पद हैं।

श्री मयाराम : ये स्वा० ललितकिशोरीदेव जी के शिष्य थे। इन्होंने सुललित संस्कृत भाषा में 'रसिक जीवनं काव्यम्' नामक रचना की। यह रस की रचना है। इसकी टीका पं० अमोलकराम शास्त्री ने संस्कृत गद्य में की है। यह सटीक ग्रन्थ सं० १९९० में टट्टी स्थान से प्रकाशित हुआ।

श्री अमोलकराम शास्त्री : ये टट्टी स्थान की परम्परा में श्री स्वामिनी शरणदेव के शिष्य थे। इनकी 'अष्टादश सिद्धान्त' के पदों की टीका का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। इनकी संस्कृत भाषा की छन्दोबद्ध रचना 'आचार्यस्तव माला' टट्टी स्थान से सं० १९८४ में प्रकाशित हुई है। इस ग्रन्थ में श्री निम्बार्काचार्य से लेकर टट्टी स्थान के महन्त स्वा० भगवानदास जी तक का परिचय है। सभी आचार्यों के तिथि संवत् दिये गये हैं। इनमें से स्वा० हरिदासजी की पूर्व परम्परा के आचार्यों के काल कोई विशेष आधार न होने के कारण अप्रामाणिक ज्ञात होते हैं।

इन साहित्यकारों की कृतियों के अतिरिक्त अनेक ऐसे छन्द वाणियों की पोथियों में संगृहीत मिलते हैं जिनके रचयिताओं के नाम अज्ञात हैं। इन छन्दों में से लगभग सभी का विषय अपने गुरुओं की वंदना है।

सम्प्रदाय के इतिहास की आधारभूत सामग्री

सम्प्रदाय की रचनाएँ

१. निजमत सिद्धान्त : स्वा० पीताम्बरदेव जी के शिष्य श्री किशोरदास का यह ग्रन्थ चार खण्डों में टट्टी स्थान से प्रकाशित हुआ है। इसका आदि खण्ड तथा आचार्य खण्ड सं० १९६८ में, मध्य खण्ड सं० १९७१ में तथा अवसान खण्ड सं० १९७२ में प्रकाशित हुआ। इसकी अधिकांश रचना दोहा चौपाइयों में है परन्तु बीच-बीच में कवित्त, सवैया, कुण्डलियाँ, दण्डक आदि छन्द भी हैं। इसके तीन खण्डों में श्री निम्बार्काचार्य से लेकर रचयिता के गुरु तक का इतिहास निबद्ध है। आचार्य खण्ड में यही सारा इतिहास संक्षेप में छन्दोबद्ध किया गया है।

इस ग्रन्थ के आदि, मध्य तथा अवसान खण्ड की एक हस्तलिखित प्रति (लिपि सं० १८३५) श्री रसिकबिहारी के मन्दिर के पुस्तकालय में है। यह प्रति लेखक के हाथ की नहीं परन्तु अन्य किसी गंगाधर के हाथ की है। इस ग्रन्थ का रचना काल भी सं० १८१० से सं० १८२० तक अनुमान किया जा सकता है।

ग्रन्थकर्त्ता की रुचि अन्य वार्त्ताकारों की भाँति बहुत बढ़ा-चढ़ाकर कथन करने की है। कहीं-कहीं तो ये कथन इतने काल्पनिक हो गये हैं कि सारा ग्रन्थ एक पुराण बन गया है। स्वा० बिहारिनदेव के प्रसंग में खानखाना की फौज की वानरों के राजा से लड़ाई, ऐसा ही प्रसंग है। स्वयं अपना चरित्र वर्णन करने में ये एक मनुष्यभक्षी राक्षस से भेंट होने का वर्णन करते हैं जो एक ऐसा पत्थर का प्याला हाथ में लिये था जिसमें दस मन दूध समा जाता था। चमत्कारपूर्ण घटनाओं का तो प्रत्येक चरित्र में उल्लेख है। सन्तों की वार्त्ताओं में प्रायः सभी लेखक चमत्कारों का ही वर्णन करते हैं परन्तु यह लेखक इस सम्बन्ध में उनसे दो कदम आगे बढ़ गया है। इतना तो निश्चय है कि इस लेखक ने अपने सम्प्रदाय की परम्परागत प्राप्त मौखिक कथाओं का भी इस ग्रन्थ में संकलन किया होगा तथा उन्हें अपनी निजी कल्पना से पल्लवित कर दिया होगा। सम्प्रदाय के ऐतिहासिक तथ्यों का संग्रह करने के लिए यह ग्रन्थ ही सबसे प्राचीन आधार है तथा बाद के लेखकों ने इसी का अनुकरण किया है। लेखक की कल्पना की उड़ानों के कारण इसे पूर्ण प्रामाणिक भी नहीं माना जा सकता और इसमें वास्तविक इतिहास के जो तथ्य हैं उनके कारण इसकी उपेक्षा भी नहीं की जा सकती। अतः इसके प्रत्येक उल्लेख की समुचित परीक्षा करके ही हम उन्हें ग्रहण करेंगे।

इस ग्रन्थ में अनेक स्थानों पर आचार्यों के जन्म, मृत्यु, दीक्षा आदि के संवत् दिये गये हैं। हमारा अनुमान है कि स्वा० हरिदास जी से लेकर अपने गुरु तक के महानुभावों के गद्दी पर बैठने तथा निधन संवत् के लिए तो इस ग्रन्थ के लेखक के पास पुष्ट परम्परा-प्राप्त आधार रहे होंगे। स्वा० हरिदास जी तथा अपने निकट भूतकाल के आचार्यों के जन्म संवत् आदि का ज्ञान भी इन्हें रहा हो ऐसा सम्भव है। परन्तु अन्य संवतों का आधार कहीं-कहीं कल्पना मात्र भी हो सकता है। अतः इनके कहे संवत् भी उचित परीक्षण के बाद स्वीकार किये जायेंगे।

सम्प्रदाय की भक्ति एवं रस प्रणाली के विवेचन के लिए यह ग्रन्थ एक अत्यन्त मूल्यवान आधार है। वास्तव में इसमें इतिहास सम्बन्धी उल्लेख तो बहुत थोड़े ही हैं।

अधिकांश ग्रन्थ गुरु शिष्यादि के कथोपकथन द्वारा अपने सम्प्रदाय के सिद्धान्तों के विवेचन से भरा है । इन स्थलों में लेखक के प्रकाण्ड पाण्डित्य तथा गम्भीर अध्ययन का परिचय मिलता है ।

स्वा० हरिदासजी के जन्मस्थान, पिता, जाति, जन्म संवत् आदि के सम्बन्ध में जिस विवाद का उल्लेख हम बांकेबिहारी जी के गोस्वामियों के प्रसंग में कर आये हैं उस सम्बन्ध में विरक्तों के पक्ष के मत-समर्थन का यही ग्रन्थ सबसे बड़ा आधार है। सम्प्रदाय के अन्य परवर्ती लेखकों ने भी इसी के तथ्यों को पुष्ट किया है तथा इससे पूर्व की जो दो-एक गुरु प्रणाली आदि रचनाएँ मिलती हैं उनसे इस ग्रन्थ का विरोध नहीं है। गोस्वामियों की सामग्री में तो स्वा० जी के जन्म संवत् आदि के सम्बन्ध में विभिन्न लेखकों के विभिन्न मत हैं परन्तु विरक्तों के पक्ष के लिए इसी ग्रन्थ की मान्यताओं का कथन कर देना पर्याप्त होगा ।

इस ग्रन्थ के मतानुसार 'स्वा० हरिदासजी वृन्दावन के पास राजपुर ग्राम में सं० १५३७ की भाद्रपद शुक्ला अष्टमी को प्रकट हुए । उनके पिता का नाम गंगाधर तथा माता का नाम चित्रा था । वे सनाढ्य ब्राह्मण तथा बालब्रह्मचारी थे । उन्होंने २५ वर्ष की अवस्था में स्वा० आसुधीर जी से वैराग्य की दीक्षा ली । सं० १६३२ में वे महल पधारे ।'

२. स्वा० बिहारिनदास को चरित्र : श्री किशोरदास

३. स्वा० आसुधीरजी को चरित्र : श्री किशोरदास

उपर्युक्त दोनों रचनाओं में कुछ कवित्तों में इन दो आचार्यों का वृत्तान्त लिखा गया है। वर्णन 'निजमत सिद्धान्त' के अनुसार ही है। ये रचनाएँ 'सिद्धान्त रत्नाकर' नामक ग्रन्थ में निम्बार्क शोध मण्डल से प्रकाशित हो चुकी हैं। इनका उल्लेख हम पहले भी कर आये हैं ।

४ ललित प्रकाश : श्री सहचरिशरण कृत इस ग्रन्थ का उल्लेख हम उनकी रचनाओं के प्रसंग में कर चुके हैं। यह ग्रन्थ टट्टी स्थान से सं० १९८७ में प्रकाशित हुआ। इसके पूर्वार्द्ध में स्वामी हरिदासजी का वर्णन है तथा उत्तरार्द्ध में स्वा० बीठलविपुलजी से लेकर स्वयं अपने गद्दी पर बैठते समय तक के सब महन्तों का परिचय तथा प्रशंसा हैं। इस ग्रन्थ की वर्णन-प्रणाली सीधी-सादी तथा निजमत सिद्धान्त की अपेक्षा अधिक संयत है।

५. गुरु मंगल : (रचना सं० १७५९) स्वा० रसिकदेव की वाणी (गोरेलालजी का संग्रह, लिपि सं० १८०८) में सम्मिलित इस रचना में लेखक के गुरु स्वा० नरहरिदासजी का परिचय तथा वन्दना है ।

६. ललितप्रकाश परिशिष्ट : ललितप्रकाश के अन्त में श्री रणछोरदास कृत अपने गुरु भगवानदास जी तक का लिखा परिचय छपा है ।

७. रसिक जीवन काव्य : श्री मयारामकृत इस संस्कृत ग्रन्थ के प्रारम्भ में श्री निम्बार्कादि आचार्यों का वर्णन है । स्वा० हरिदासजी की वन्दना में उनके माता-पिता, जाति, जन्मस्थान आदि का उल्लेख भी किया गया है।

गुरु-परम्पराएँ

इन रचनाओं के अतिरिक्त सम्प्रदाय के इतिहास पर प्रकाश डालनेवाली कुछ गुरु-परम्पराएँ भी लिखी गयी हैं। निम्नलिखित गुरु-परम्पराएँ हमें प्राप्त हुई हैं जो हमारी

सामग्री का महत्त्वपूर्ण अंग है ।

८. **श्री नरहरिदेव कृत 'गुरु-परम्परा'** : संस्कृत में रचित इस गुरु-परम्परा को पं० अमोलक राम शास्त्री ने संशोधित किया है तथा यह टट्टी स्थान से छपी है । अन्त में रचना-काल सं० १६८५ दिया गया है । इस परम्परा में श्री निम्बार्काचार्य से लेकर स्वा० सरसदास जी तक की ६६ पीढ़ियों के जन्म, मृत्यु, वृन्दावन वास, आचार्य-गद्दी पर स्थिति आदि की वर्ष संख्या तथा संवत् आदि का अत्यन्त क्लिष्ट संस्कृत के श्लोकों में उल्लेख किया गया है । इस पोथी की कोई प्राचीन प्रति उपलब्ध नहीं है । स्वा० हरिदास जी से बाद के संवतों का ज्ञान तो लेखक को हो सकता है परन्तु श्री निम्बार्काचार्य (जिनका काल द्वापरान्त में माना गया है) से लेकर प्रत्येक आचार्य के कालादि का कथन निराधार एवं काल्पनिक ही होगा । हमें इसमें भी सन्देह है कि यह रचना स्वा० नरहरिदेव की है ।

९. **श्री रसिकदेव कृत 'गुरु-परम्परा'** : इस रचना की दो पुरानी पोथियाँ हमें मिलीं : १. रसिकबिहारी जी के पुस्तकालय में तथा २. गोरेलाल जी के पुस्तकालय में । दोनों में से किसी पर लिपि संवत् नहीं लिखा है परन्तु कागज तथा लेख को देखते हुए दोनों ही काफी पुरानी ज्ञात होती हैं । रसिकबिहारी जी के पुस्तकालय में किसी साधु के नित्य पाठ की पोथी में लिखी एक आधुनिक प्रति भी मिली जिसमें मूल गुरु-परम्परा की समाप्ति के पश्चात् पाठ करनेवाले ने अपने गुरु श्री लाड़िलीशरणदेव तक के नाम और जोड़ दिये हैं । स्वा० रसिकदेवजी की यह गुरु-परम्परा पूर्वोल्लिखित स्वा० नरहरिदेव जी की गुरु-परम्परा के साथ टट्टी स्थान से छप भी चुकी है । इस पुस्तक की पुरानी पोथियाँ मिलती हैं अतः इस रचना की उपेक्षा नहीं की जा सकती किन्तु स्वा० रसिकदेव जी की वाणी के संग्रहों में कहीं भी इस गुरु-परम्परा के संकलित न होने से इसकी प्रामाणिकता में सन्देह उत्पन्न होता है । किन्तु इस सन्देह का निराकरण इस तथ्य से हो जाता है कि स्वा० रसिकदेव जी के शिष्य स्वा० पीताम्बरदेवजी ने भी एक गुरु-परम्परा लिखी है और वह उनकी वाणी में ही सम्मिलित है । शिष्य के द्वारा जो आचार्य सूची दी गयी है वह उन्हें गुरु से ही मिली होगी । स्वा० रसिकदेव की गुरु-परम्परा की रचना-शैली भी अत्यन्त सरल और सुगम है । अतः इसका स्वा० रसिकदेव द्वारा प्रणीत होना असम्भव नहीं । हाँ, स्वा० हरिदासजी से पहले के आचार्यों की लम्बी सूची तथा रचना में दिये उल्लेख विचारणीय अवश्य हैं । इनका विवेचन हम यथास्थान करेंगे ।

१०. **स्वा० पीताम्बरदेवकृत 'गुरु प्रणाली'** : चौपाइयों में लिखी गयी इस रचना में केवल आचार्यों के नामों का स्मरण है । आचार्यों में सनत्कुमारों, नारद तथा श्री निम्बार्क से लेकर अपने गुरु तक का नामोल्लेख है । रसिकबिहारी जी की परम्परा में यह अष्टाचार्यों की वाणी में सम्मिलित है ।

११. **श्री सहचरिशरण कृत 'गुरु प्रणालिका'** : इस गुरु-परम्परा में श्री निम्बार्काचार्य से लेकर स्वा० ललितकिशोरीदेव एवं स्वा० पीताम्बरदेव जी तक के आचार्यों का संक्षिप्त परिचय है । यह रचना टट्टी स्थान से प्रकाशित 'श्री भगवतरसिक की वाणी' के साथ छप चुकी है ।

१२. **श्री सहचरिशरण कृत 'आचार्योत्सव सूचनिका'** : स्वा० हरिदासजी से लेकर स्वा० ललितमोहिनीदेव जी तक अष्टाचार्यों के जन्म, शरणागति, निधन आदि के तिथि संवत् इस छोटी-सी छन्दोबद्ध रचना में निर्दिष्ट हैं । यह रचना भी पूर्वोक्त 'भगवतरसिक जी की

वाणी' के साथ प्रकाशित हो चुकी है।

१३. 'गुलजारचमन' के साथ छपी 'गुरु प्रणालिका' : इसका स्वा० रसिकदेव जी तक का भाग पीताम्बरदेव जी की 'गुरु परम्परा' से लिया गया है तथा फिर टट्टी स्थान के स्वा० ललितकिशोरीदेव जी से लेकर श्री भगवानदास तक के नामों का उल्लेख है। लेखक ने नीचे स्पष्ट लिख दिया है कि स्वा० ललितकिशोरी जी से पहली परम्परा मेरी रचना नहीं है। प्रकाशक ने नीचे गद्य में स्पष्ट कर दिया है कि ऊपर की रचना पीताम्बरदेव जी की है।

१४. संस्कृत की तीसरी 'गुरु-परम्परा' (खण्डित) : संस्कृत में लिखी एक गुरु-परम्परा का केवल एक पत्र हमें श्री रसिकविहारी जी के पुस्तकालय के फटे हुए पत्रों में मिला। इसकी रचना अन्य संस्कृत गुरु-परम्पराओं से भिन्न है। केवल सरल भाषा में गुरुओं का नामोल्लेख है। इस पत्र में 'हरिवल्लभ देव' से लेकर 'बालगोविन्ददेव' तक के नाम हैं।

१५. संस्कृत की चौथी 'गुरु-परम्परा' : यह परम्परा हमें रसिकविहारी जी के पुस्तकालय में किसी की पाठ की पोथी में मिली। इस पोथी में पहले अनेक संस्कृत श्लोक संगृहीत हैं, फिर स्वा० पीताम्बरदेव जी की ब्रजभाषा चौपाइयों वाली गुरु-परम्परा है तथा अन्त में टूटी-फूटी संस्कृत में यह गुरु-परम्परा है। गुरु-परम्परा में भी प्रथम के निंबादित्य स्तुति आदि के श्लोक सुन्दर हैं। वे यत्रतत्र से संकलित किये गये हैं परन्तु परम्परा के नामों में तो अधिकतर 'ततःश्री' लिखकर नाम जोड़ दिया गया है और किसी तरह पादपूर्ति की गयी है। इसमें श्री निम्बार्क से लेकर रसिकदेव जी तक के नाम हैं।

ऐसा ज्ञात होता है कि साधुओं में (विशेषतः रसिकविहारी जी के साधुओं में) संस्कृत में गुरुओं की नामावली लिखकर उसका पाठ करने का विशेष प्रचलन रहा होगा।

१६. गुरुनामों की सूची : गोरेलालजी के मंदिर के खण्डित पत्रों में एक जीर्ण पत्र पर सुन्दर हस्ताक्षरों में लिखी यह सूची हमें मिली जिसमें स्वा० गोवर्द्धनदेव तक गुरुओं के नाम हैं। इस सूची में श्री हंसावतार पर संख्या १ तथा इसी क्रम से स्वामी गोवर्द्धनदेव के नाम पर सं० ७१ लिखी है। सम्भवतः यह परम्परा अपने प्रयोग के लिए स्वा० गोवर्द्धनदेव के किसी शिष्य ने लिखी होगी।

१७. घनश्यामदास की गुरु-परम्परा : गोरेलाल जी के मंदिर के बस्तों में हमें एक पत्र मिला जिसमें दोनों ओर दो रचनाएँ हैं। पहले में रचयिता घनश्यामदास ने दोहों में स्वा० हरिदास जी से लेकर श्री श्यामचरणदेव (गोरेलालजी के एक महन्त) तक के नाम लिये हैं। दूसरी ओर यही नाम छप्पय में लिखे गये हैं।

१८. अमोलकराम जी की 'आचार्यस्तवमाला' (संस्कृत) : इस ग्रन्थ का परिचय हम पहले दे आये हैं। इसमें दिये स्वा० हरिदास जी से पहले के आचार्यों के संवत् आदि कल्पित ज्ञात होते हैं।

१९. वंशवृक्ष : सं० १९८५ में टट्टी स्थान से प्रकाशित इस वंश-वृक्ष में श्री हंस भगवान्, सनकादिक, नारद तथा श्री निम्बार्काचार्य से लेकर महन्त भगवानदास जी तक आचार्यों के नाम तथा स्वा० हरिदासजी से स्वो० राधाप्रसाद जी तक आचार्यों में से प्रत्येक के सारे शिष्यों के नाम दिये हैं।

सूचनाओं के ग्रन्थ आधार

२०. अष्टाचार्यों की वाणी का मंगलाचरण : बा० विश्वेश्वरशरण के संग्रह में लिपि सं० १८१८ की माधवदास जी के पठनार्थ लिखी गयी प्रति का हम उल्लेख कर चुके हैं।

इस पोथी के प्रारम्भ का मंगलाचरण इस प्रकार है :

श्री अनिरुद्धसमारम्भां सनकादिकमध्यमाम् ।
श्री नारदयुतां श्रद्धां निम्बार्कं परिवृंहिताम् ।
अस्मदाचार्यपर्यंतां वंदे गुरुपरम्पराम् ।

स्वा० हरिदास जी के मूल सम्प्रदाय पर यह मंगलाचरण प्रकाश डालता है।

२१. एक अन्य अष्टाचार्यों की वाणी (लिपि सं० १८१५) का मंगलाचरण : यह प्रति टट्टी स्थान के संग्रह में है। इसका मंगलाचरण भी वैसा ही है जैसा सं० १८१८ की प्रति का। यह प्रति मथुरानिवासी किसी बालकदास ने भक्त नयनसुख के लिए लिखी। इसकी पुष्पिका इस प्रकार है :—

संवत् अठारह सै लिषी, पन्द्रह ऊपर वर्ष।
स्रावन शुक्ल एकादशी, भौमवार मन हर्ष ॥
रविजाजू को आसरो, और मधुपुरी वास।
भक्त नैनसुष पाठ हित, लिषितं बालकदास ॥

२२. रसिकबिहारी जी के महन्त जी की प्रति के अन्त में लेख : अष्टाचार्यों की वाणी के प्रसंग में संख्या ४ पर हम इस प्रति का उल्लेख कर आये हैं। इसका रसिकदेवजी की वाणी का अधिकांश भाग सं० १८६५ में लिखा गया। उसके बाद इसमें किसी ने रसिकदेव जी की दो रचनाएँ और जोड़ दीं। और अन्त में किसी ने अन्य हस्ताक्षरों में लिखा है—

'जै श्री निम्बारक देव उदार। चरन कमल जन भजे अपार।'

इससे केवल इतना ही पता लगता है कि साधुओं में निम्बार्क सम्प्रदाय का नाम अपने साथ लेने का आग्रह परम्परा से चला आता है।

२३. महानुभावन की चर्चा : लेखक तथा रचनाकाल अज्ञात—लिपि सं० १९२३—इस ब्रजभाषा गद्य में लिखी छोटी-सी पुस्तक में स्वामी हरिदासजी से श्री वल्लभाचार्य, श्री हितहरिवंश, श्री रूप गोस्वामी, श्री सनातन गोस्वामी तथा श्री हरिराम व्यास की भेंट का वर्णन है, जिसमें अपने-अपने रस पर इन महानुभावों ने प्रकाश डाला है। इस प्रकार की भेंट हुई होगी इसमें सन्देह है। लेखक का उद्देश्य स्वा० हरिदासजी के रस का उत्कर्ष कथन करना है। एक विशेष सम्प्रदाय के अनुयायी के दृष्टिकोण से इन सभी उपासकों के रस की अलग-अलग परिभाषाओं का यह संकलन देखने योग्य है।

यह रचना निम्बार्क शोध मण्डल से प्रकाशित 'सिद्धान्त रत्नाकर' में छप चुकी है।

२४. आचार्य तत्त्व निर्णय : लेखक श्री नन्दकुमारशरण ब्रह्मचारी, मुद्रित सं० १९९५—इस छोटी-सी पुस्तक में लेखक ने बिहारीजी के गोस्वामियों के मत का खण्डन किया है कि स्वामी हरिदास जी विष्णुस्वामी सम्प्रदाय के थे।

२५. हित विनोदाक्षेपापनोद : प्रकाशक वैष्णव शालिग्राम—सं० १९८३—इस पुस्तक में किसी पहले छपी पुस्तक 'हित विनोद' के इस मत का खण्डन किया गया है कि स्वामी हरिदासजी श्री हितहरिवंश जी के शिष्य थे।

२६. मिथ्यावादविधूनन : प्रकाशक वैष्णव शालिग्राम—सं० १९८४—इस पुस्तक के प्रथम भाग में बिहारी जी के गोस्वामियों के इस मत का खण्डन किया गया है कि 'स्वामी हरिदास जी विष्णु स्वामी सम्प्रदाय के थे, हरिदासपुर में पैदा हुए थे तथा गो० जगन्नाथजी तथा गोविन्द जी उनके भाई थे।' पुस्तक में इन्होंने कई पत्रों-दस्तावेजों आदि की नकल दी

हैं जिनमें अदालत मुंसफी मथुरा के एक मुकदमे संख्या २६८ सन् १९२४ ई० का उल्लेख है। यह मुकदमा बांकेबिहारीजी के गोस्वामियों के दो पक्षों के बीच हुआ था। इसमें एक पक्ष ने यह बयान दिया था कि "बिहारीजी का मन्दिर निम्बार्क वैष्णव सम्प्रदाय का है, अत: इसके कार्य-संचालन में 'उदयात् तिथि' ही मानी जाती है।"

२७. **'सर्वेश्वर' में बाबा विश्वेश्वरशरण का लेख :** वृन्दावन से प्रकाशित निम्बार्क सम्प्रदाय के 'सर्वेश्वर' नामक मासिक पत्र में श्री विश्वेश्वरशरण का 'स्वामी हरिदासजी महाराज' शीर्षक लेख पौष सं० २०११ से कार्त्तिक सं० २०१३ तक धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुआ। इसमें स्वा० हरिदासजी के जीवन-सम्बन्धी तथ्यों का विस्तृत विवेचन किया गया है।

सम्प्रदाय से बाहर की रचनाओं में उल्लेख

१. **हरिदास वंशानुचरित्र :** लेखक नवनीत कवि, मथुरा, प्रकाशित सं० १९५७—मथुरा के प्रसिद्ध ब्रजभाषा-कवि नवनीतजी ने इस ग्रन्थ में स्वा० आसुधीर जी से लेकर महन्त श्री भगवानदास जी तक का संक्षिप्त परिचय दिया है तथा आठ आचार्यों के थोड़े-थोड़े पदों का संकलन भी। इस ग्रन्थ के संवतों में कहीं-कहीं प्रूफ की भूलें हैं जैसे स्वा० हरिदासजी का जन्म सं० १५७७ छपा है (पृष्ठ १२) तथा निधन ९५ वर्ष की अवस्था में सं० १६३२ (पृष्ठ ३८)। सूचनाएँ भी कई स्थानों पर भ्रमात्मक हैं। स्वा० नागरीदास जी को इन्होंने स्वा० बिहारिनदेव जी का उत्तराधिकारी बताया है तथा स्वा० सरसदास जी को नागरीदास जी का शिष्य (पृ० ६९ एवं ७६)। वास्तव में नागरीदास जी तथा सरसदास जी दोनों स्वा० बिहारिनदेव जी के शिष्य थे तथा उनके उत्तराधिकारी केवल सरसदास जी थे। इसी प्रकार इन्होंने पृ० ८९-९० में सहचरिशरणजी को चतुरदास जी का शिष्य बताया है—जब कि वास्तव में सहचरिशरण जी उनसे दो पीढ़ी पीछे राधिकादास जी के शिष्य थे।

२. **निम्बार्कमाधुरी :** सम्पादक, ब्रह्मचारी बिहारीशरण, वृन्दावन—सं० १९९७—इस ग्रन्थ में निम्बार्क सम्प्रदाय की मूल शाखा के वाणीकारों के साथ स्वामी हरिदासजी की परम्परा के भी मुख्य-मुख्य वाणीकर्त्ताओं के परिचय एवं उनकी रचनाओं के नमूने संग्रहीत हैं।

३. **वृन्दावन धामानुरागावली (हस्तलिखित)**—गोपाल कवि—रचना सं० १९००—इस ग्रन्थ में निधिवन, रसिकविहारी, गोरेलाल, तथा टट्टी स्थान के वर्णन में स्वा० हरिदासजी की विरक्त परम्परा का चरित्र विस्तार से गाया गया है। निधिवन के प्रसंग में इन्होंने स्वामी हरिदास जी का जो परिचय दिया है वह लगभग वैसा ही है जैसा 'निजमत सिद्धान्त' तथा 'ललित प्रकाश' में है। केवल स्वामीजी के जन्म संवत् तथा जन्म स्थान के सम्बन्ध में इन्होंने भिन्न बातें कही हैं। ये लिखते हैं—

उषरायो गंगा तट गाम सुस्वामीजी को जानों।
गाम तीन सो साठ तहां सुखबास राजपुर मानौ॥
(पृ० १५३)

यह 'उषराया' गाँव कहाँ है पता नहीं। इस ग्रन्थ के अतिरिक्त और कहीं इस गाँव का

उल्लेख नहीं मिलता[1]। आगे यह लिखते हैं :

पन्द्रह सै सैंतीस साल भादौं सुदि आठैं जानौं
श्रीस्वामी जू को सरनोत्सव ग्रन्थन मांझ बखानौं।
बरस पचीस ग्रेह में रहि पुनि गुरु को सरनो लीयो।
सत्तरि बरस वास निधिवन मधि वृन्दावन में कीयो।
पिच्यानवैं वरष पाछें अव्यक्त भाव विस्तार्‌यो।
सखीरूप धरि कुंज भवन सुख सखियन सहित निहार्‌यो॥

इसके अनुसार स्वामीजी का जन्म संवत् १५१२ ठहरता है (पृष्ठ १६६)। किन्तु यही लेखक इसी ग्रन्थ में 'बिहारीजी के मन्दिर' के प्रसंग में सं० १५१२ में स्वा० हरिदासजी के छोटे भाई जगन्नाथ जी का जन्म बताता है तथा स्वामी जी का जन्म संवत् १५०९ में बताता है। देखिए :

मथुरा जनम सर्वाचारज मुकुटमनि ललितावतार सब कहें भगवतदास।
सुकवि गुपाल षट्‌गुण औ चर्य वीर्य जस सिरी ज्ञान वयराग्य पूर्ण परकास।
पंध्रै सै के ऊपर प्रगट नौं की साल भादौं सुदी तिथि आठैं अरुनोदय समैं प्रकास।
पांच क्रोर एक सौरु एक जीवतारन कौं धारन कर्‌यो है अवतार स्वामी हरिदास॥

(पृ० २२)

इस ग्रन्थकर्त्ता के उद्धरण विश्वसनीय नहीं हैं। इनकी इतनी प्रामाणिकता भले ही हो कि लेखक ने जहाँ जो बातें सुनी होंगी वह वैसी की वैसी लिख दीं। सम्भव है उस समय में कुछ गोस्वामी स्वामीजी का जन्म सं० १५०९ तथा कोई-कोई विरक्त १५१२ मानते हों। विरक्त यह संवत् नहीं मानते थे यह तो इसी से निश्चय है कि इस लेखक से कुछ दिन पहले के श्री सहचरिशरण ने अपने 'ललित प्रकाश' में स्वा० हरिदासजी का जन्म संवत् १५३७ दिया है। इस लेखक ने 'ललित प्रकाश' का उल्लेख भी किया है पर ज्ञात होता है कि इसने उसे पढ़ा न होगा।

४. ग्राउज का मथुरा मेम्वायर : ग्राउज ने बिहारी जी के गोस्वामियों के मत का जो उल्लेख किया है उसका वर्णन हम गोस्वामियों के प्रसंग में कर चुके हैं। स्वा० हरिदास जी के परिचय में ग्राउज ने नाभाजी की भक्तमाल[2] के स्वा० हरिदास सम्बन्धी छप्पय की किसी लक्ष्मण नामक व्यक्ति द्वारा लिखी हुई २११ छन्दों की टिप्पणी का सारांश इस प्रकार दिया है :

'कोल के पास एक स्थान पर जहाँ आज हरिदासपुर नामक गाँव है, ब्रह्मधीर नामक एक सनाढ्य ब्राह्मण रहते थे। उनके एक ज्ञानधीर नामक पुत्र हुए। ज्ञानधीर गोवर्द्धन की परिक्रमा को जाया करते थे तथा श्री गिरिधारी के बड़े भक्त थे। उनका विवाह मथुरा में हुआ और उनकी पत्नी ने आसधीर नामक पुत्र को जन्म दिया। आसधीर जी का विवाह राजपुर के एक ब्राह्मण गंगाधर की पुत्री से हुआ जिसने भाद्रपद कृष्णा अष्टमी सं० १४४१ को हरिदास जी को जन्म दिया। माता-पिता के आग्रह करने पर भी हरिदास जी ने विवाह नहीं किया और २५ वर्ष की अवस्था में विरक्त हो यमुना के दूसरी पार मानसरोवर पर

१. गंगा के किनारे के जिलों के गजेटियरों में जिन गाँवों के नाम हैं उनमें भी कहीं यह नाम नहीं मिलता।
२. ग्राउज ने भक्तमाल की इस टीका का नाम 'भक्तसिन्धु' लिखा है। आजकल यह अप्राप्य है।

रहने लगे। यहाँ से ये निधिवन चले आये और यहीं उन्होंने अपने प्रथम शिष्य बीठलविपुल जी को दीक्षा दी। ये बीठलविपुल हरिदासजी के मामा थे।

'स्वामीजी की प्रसिद्धि शीघ्र ही दूर-दूर तक फैल गयी। दिल्ली का एक खत्री दयालदास, जिसे पारस पत्थर मिला था, स्वामीजी के पास आया और उसने वह पारस पत्थर उन्हें भेंट किया। किन्तु स्वामी जी को पारस की क्या आवश्यकता थी। उन्होंने उसे यमुना में फेंक दिया। दयालदास यह देखकर दुखी हुआ कि उसकी दी हुई इतनी अलभ्य वस्तु उन्होंने क्यों फेंक दी। तब स्वामी जी ने उसे जल में से यमुना जी की रेती उठाने की आज्ञा दी। दयालदास ने देखा कि उस रज का एक-एक कण पारस था। स्वामी जी का ऐसा प्रभाव देख वह उनका शिष्य हो गया।'

'कुछ चोर यह सुनकर कि दयालदास ने स्वा० जी को पारस भेंट किया था उनके 'शालिग्राम' ठाकुर को पारस समझ चुरा ले गये परन्तु जब उसकी परीक्षा की तो उससे सोना न बना। तब वे उसे एक झाड़ी में फेंक गये। स्वामी जी अपने ठाकुरजी को ढूंढते-ढूंढते जब वहाँ से निकले तब 'शालिग्राम' ने स्वयं आवाज देकर बताया कि मैं यहाँ हूँ। तब से शालिग्राम की गद्दी पर रोज उन्हें एक मोहर पड़ी मिल जाती जिसे वे भोग राग एवं मोर बन्दरों तथा मछलियों के लिए अन्न डालने में खर्च कर देते थे।'

'एक दिन एक कायस्थ १००० रु० का इत्र उन्हें भेंट करने लाया। स्वामी जी ने सारा इत्र यमुना की रेती में उलट दिया। कायस्थ उदास हो गया। तब स्वामीजी ने उसे मन्दिर में दर्शन करने भेजा। वहाँ उसने देखा कि उसी इत्र की गन्ध से सारा मन्दिर महक रहा है।'

'दिल्ली के सम्राट् के एक गवैये का पुत्र बड़ा मूर्ख था। उसे दरबार से निकाल दिया गया था। वह भटकता-भटकता वृन्दावन में आया। और रात में यमुना के मार्ग में पड़ा रहा। प्रातः स्वामी जी जब निधिवन से यमुना नहाने जा रहे थे तो उस सोते हुए व्यक्ति को ठोकर लगी। स्वामी जी दया कर उसे अपने साथ ले आये तथा केवल अपने आत्मिक बल से ही उसे बहुत बड़ा गवैया बना दिया। स्वामी जी ने ही उसे तानसेन नाम दिया। जब दिल्ली लौटने पर उसने बादशाह को अपनी गान कला का परिचय दिया तो सम्राट् ने भी उसके गुरु के दर्शन करने की इच्छा प्रकट की। जब एक बार बादशाह आगरा जा रहा था तो मार्ग में मथुरा में रुका और वृन्दावन आया। वह भतरौंड़ तक तो सवारी में आया परन्तु वहाँ से निधिवन तक पैदल चलकर स्वामी जी के दर्शन करने आया। स्वामी जी ने अपने शिष्य तानसेन का तो दयापूर्वक स्वागत किया परन्तु सम्राट् की ओर ध्यान भी न दिया, यद्यपि वे जानते थे कि यह कौन है। सम्राट् ने चलते समय उनसे कुछ सेवा करने की बहुत प्रार्थना की, परन्तु स्वामी जी ने यह स्वीकार न किया। जब उसने बहुत हठ किया तो स्वामी जी ने उसे बिहारीघाट की सीढ़ी के पत्थर का एक टूटा हुआ कोना दिखाकर कहा कि इसे बनवा दो। सम्राट् ने देखा कि वह सारा घाट बहुमूल्य रत्नों से बना है और उसका एक कोना भी बनवा देना उसकी सामर्थ्य के बाहर है। स्वामी जी का यह चमत्कार देख सम्राट् बहुत प्रभावित हुआ तथा मोर बन्दरों को खिलाने के लिए कुछ दान की व्यवस्था कर तथा स्वामी जी के उपदेश सुन चला गया।'

स्वा० हरिदासजी की मृत्यु सं० १५३७ में हुई। उनके उत्तराधिकारी बीठलविपुल जी हुए और इनके बिहारीदास। बिहारीदास जी अपनी भावना में इतने तल्लीन रहते थे कि

मन्दिर की सेवा-पूजा न देख पाते थे। अतः उन्होंने एक पंजाबी सारस्वत ब्राह्मण जगन्नाथ को कोल से बुलवाकर मन्दिर का कार्यभार सौंप दिया।[1]

इस उल्लेख के बाद ग्राउज़ ने भक्तिसिन्धु की टिप्पणी की आलोचना की है। उनके कथनानुसार "भक्तसिन्धु के कथन स्वामी जी के वंशजों (गोस्वामियों) के कथन से नहीं मिलते। यह ज्ञात होता है कि भक्तसिन्धु का लेखक इस समुदाय में लगभग ५० वर्ष से उठ खड़े हुए विवाद के चक्कर में पड़ गया है क्योंकि कोल से लाये हुए जिस जगन्नाथ का उल्लेख वह करता है उसका नाम वास्तविक महन्तों की सूची में कहीं नहीं है।[2] भक्तसिन्धु की तिथियाँ तो स्पष्ट ही गलत हैं क्योंकि जिस सम्राट् का उसने उल्लेख किया था वह निश्चय ही अकबर था। वह सं० १६१२ में गद्दी पर बैठा, जब कि भक्तसिन्धु के अनुसार १५३७ में स्वामी जी की मृत्यु भी हो चुकी थी।

प्रो० विल्सन ने हिन्दुओं के धार्मिक सम्प्रदायों का उल्लेख करते हुए 'हरिदास को चैतन्य का शिष्य बताया है जिनका जन्म सन् १४८५ में हुआ तथा मृत्यु सन् १५२७ ई० में। यद्यपि हरिदास पर चैतन्य के उपदेशों का प्रभाव है परन्तु इन दोनों की भेंट का कोई प्रमाण नहीं मिलता अन्यथा इसका उल्लेख भक्तमाल या उसकी टीकाओं में अवश्य होता।'

मेरे सामने एक छोटी-सी ६८० पत्रों की पोथी है जिसका लिपि संवत् १८२५ है। इसमें सारे महन्तों की सूची तथा उनकी रचनायें हैं। महन्तों की सूची इस प्रकार है: १. स्वामी हरिदास, २. बीठलविपुल, ३. निहारिनिदास, ४. नागरीदास, ५. सरसदास, ६. नवलदास, ७. नरहरदास, ८. रसिकदास, ९. ललितकिशोरी जिनका नाम ललितमोहिनी भी है। यदि एक पीढ़ी के लिए २० वर्ष का समय भी लगाया जाय तो हरिदासजी की मृत्यु सं० १६६५ में होनी चाहिए। उनकी रचनाएँ भी शैली में तुलसीदास (मृत्यु सं० १६८०) की रचनाओं से अधिक प्रौढ़ नहीं हैं। अतः सब बातों का विचार कर हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि स्वा० हरिदास १६वीं शती के अन्तिम भाग तथा १७वीं शती ई० के प्रारम्भ में, सम्राट् अकबर और जहाँगीर के समय में स्थित थे।

इन महन्तों में से प्रत्येक अपने से पहले का शिष्य है तथा प्रत्येक ने कुछ भक्ति सम्बन्धी रचनाएँ की हैं।"[3]

ग्राउज़ के इन कथनों के मूल में अनेक भ्रामक धारणाएँ हैं। उसने सम्प्रदाय सम्बन्धी अपनी कुछ सूचनाएँ गो० जगदीश तथा गो० किशोरचन्द्र से प्राप्त की थीं, ऐसा उसके कथन से ज्ञात होता है। उसने 'भक्तसिन्धु' तथा 'अष्टाचार्यों की वाणी' तो देखी थीं परन्तु विरक्तों या उनके शिष्यों में से किसी से उसने बात नहीं की थी अतः वह इनका ठीक-ठीक आशय न ग्रहण कर सका। यही कारण है कि उसे 'कोल से लाये हुए जगन्नाथ' का नाम 'अष्टाचार्यों' की वाणी की सूची में न मिलने पर आश्चर्य होता है। उसे ज्ञान न था कि मन्दिर के अधिकारी का नाम महन्तों की सूची में नहीं होगा। उसे यह भी ज्ञान न था कि यह पोथी महन्तों की सूची का क्रम से उल्लेख नहीं करती, केवल कुछ सन्तों की

१. ग्राउज़—मथुरा, ए डिस्ट्रिक्ट मेम्वायर, पृ० २०२—४।

२. एक अष्टाचार्यों की वाणी के आधार पर ग्राउज़ ने स्वामी हरिदासजी की विरक्त शिष्य परम्परा के नाम दिये हैं।

३. ग्राउज़—मथुरा, ए डिस्ट्रिक्ट मेम्वायर, पृ० २०५।

वाणी का संग्रह है। उसका यह भ्रम था कि सरसदास नागरीदास के शिष्य थे, नवलदास सरसदास के, तथा नरहरिदास नवलदास के। वास्तव में नागरीदास और सरसदास दोनों बिहारिनिदास के शिष्य थे। नवलदास नागरीदास के शिष्य थे तथा नरहरिदास सरसदास के। इनमें से नागरीदास और नवलदास महन्त नहीं थे। ग्राउज़ ने ललितकिशोरी और ललितमोहिनी को एक ही व्यक्ति मान लिया जबकि ललितमोहिनी ललितकिशोरी के शिष्य तथा उनके उत्तराधिकारी महन्त थे।

जानकारी के अभाव में ही उसने जहाँ रसिकबिहारी के मन्दिर का उल्लेख किया[1] वहाँ उसे केवल निम्बार्क सम्प्रदाय का मन्दिर कहकर रहने दिया है और यह नहीं बताया कि यह स्वा० हरिदास के शिष्यों की प्रमुख गद्दी है। इसी प्रकार टट्टी स्थान के सम्बन्ध में भी उसने लिखा है :

"भादों सुदी ८ (राधाष्टमी) का मेला—निधिवन से लगी मौनीदास की टट्टी के पास एक विशाल मेला लगता है जो सदा मौन रहनेवाले एक साधु के सम्मान में चला आता है।"[2]

किसी ने उसे भ्रामक सूचनाएँ दी थीं, इसी से न तो उसने यह जाना कि यह मेला स्वामी हरिदासजी के जन्मोत्सव का मेला है और न यह कि यह स्थान स्वा० हरिदासजी के शिष्यों की एक बड़ी गद्दी है और न यह कि मौनीदास ललितमोहिनी का ही दूसरा नाम है और इस नाम का मौन रहने से कोई सम्बन्ध नहीं है। इन भूलों के होते हुए भी ग्राउज़ का यह ग्रन्थ लेखक के समय की उपलब्ध सामग्री के परिचय के लिए एक मूल्यवान आधार है।

५. मथुरा, डिस्ट्रिक्ट गजेटियर : डी० एल० ड्रेक ब्राकमैन, इलाहाबाद सन् १९११ ई०—इस गजेटियर के कथनानुसार सन् १९०१ में स्वामी हरिदास के अनुयायियों की संख्या १६३० थी। उनके अनुयायी एक समृद्ध तथा महत्त्वपूर्ण मन्दिर के अधिकारी हैं। इस मन्दिर के उपास्य हैं 'विहारी जी'। कहा जाता है कि इस सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक सनाढ्य ब्राह्मण थे, उनका जन्म वृन्दावन के पास राजपुर गाँव में सं० १४४१ में हुआ था। हरिदास जीवन के अधिकांश भाग में वृन्दावन या उसके पास ही रहे। इन्होंने चैतन्य की शिक्षाओं का सार ग्रहण किया। ये सं० १४४१ में उत्पन्न हुए यह बात सन्दिग्ध है। अधिक सम्भावना यह है कि ये १६वीं शती के अन्त में तथा १७वीं शती ई० के प्रारम्भ में थे। इन्होंने केवल दो छोटी रचनाएँ लिखीं—१. साधारण सिद्धान्त तथा २. रस के पद। इनके शिष्यों ने बहुत ग्रन्थ-रचना की, परन्तु उनके सिद्धान्तों में गौड़ीय वैष्णवों के सिद्धान्तों से बहुत कम अन्तर है।"[3]

सम्भव है यह सामग्री ग्राउज़ के मेम्वायर से ली गयी हो। ग्राउज़ के समान ही यहाँ भी स्वा० हरिदासजी के सम्प्रदाय के सिद्धान्तों को गौड़ीय वैष्णवों के सिद्धान्तों के समान ही बताया गया है। ऐसा उन सिद्धान्तों को न जानने के कारण ही हुआ है।

६. नाभाजी की भक्तमाल : (रचनाकाल लगभग सं० १६५७)—स्वा० हरिदासजी

१. ग्राउज़—मथुरा, ए डिस्ट्रिक्ट मेम्वायर, पृ० १३७।
२. वही, उत्सवों की सूची, पृ० २४७।
३. डी० एल० ड्रेक ब्राकमैन—मथुरा डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, सन् १९११ ई०, पृ० १०४—५।

के सम्बन्ध में नाभाजी ने यह छप्पय लिखा है :

युगल नाम सों नेम जपत नित कुंजबिहारी ।
अवलोकत रहें केलि सखी सुख को अधिकारी ।
गान कला गंधर्व श्याम-श्यामा को तोषै ।
उत्तम भोग लगाय मोर मर्कट तिमि पोषै ।
नृपति द्वार ठाढ़े रहें, दर्सन आसा जास की ।
आसधीर उद्योत कर, रसिक छाप हरिदास की ।।९१।।[1]

उक्त छप्पय में स्वामीजी की उपासना पद्धति का स्पष्ट कथन किया गया है । उनके चरित्र की निस्पृहता तथा उनके व्यापक यश का वर्णन किया गया है । किन्तु जहाँ वे 'आसधीर उद्योत कर' कहते हैं वहाँ उन्होंने यह स्पष्ट नहीं किया कि स्वामी हरिदासजी को वे आसधीर के पुत्र मानते थे या केवल शिष्य । गोस्वामियों के मत में इस 'उद्योत कर' का अर्थ है 'औरस पुत्र' और विरक्तों के मत में 'गुरु का यशवर्द्धन करनेवाला शिष्य' ।

नाभाजी ने एक छप्पय में स्वा० बीठलविपुल जी का भी उल्लेख किया है । वह छप्पय इस प्रकार है :

सर्वसु राधारमण भट्ट गोपाल उजागर ।
हृषीकेश भगवान विपुल विट्ठल रस सागर ।
थानेश्वरी जगन्नाथ लोकनाथ मधु श्री रंग ।
कृष्णदास पंडित उभै अधिकारी हरि अंग ।
घमंडी युगलकिशोर भृत्य भूगर्भ जीव दृढ़व्रत लियो ।
श्री वृन्दावन की माधुरी इनि मिलि आस्वादन कियो ।।९४।।

इस छप्पय में बीठलविपुल जी की 'रस सागर' कहकर प्रशंसा की गयी है तथा उनके समकालीन गोस्वामी गोपाल भट्ट आदि का उल्लेख है ।

७. भक्तमाल पर प्रियादास जी की रसबोधिनी टीका : (रचनाकाल सं० १७६९) —इस रचना में प्रियादास जी ने नाभाजी के छप्पयों से कुछ अधिक सूचनाएँ अपनी टीका में दी हैं । स्वामी हरिदास जी के सम्बन्ध में उनकी टीका का कवित्त इस प्रकार है :

"स्वामी हरिदास रसरासि को बखान सकै रसिकता की छाप जोई
जाय मधि पाइये ।
ल्यायो कोउ चोवा वाको अति मन भोवा यामें डार्‌यो यह पुलिन यह
खोवा हिय आइये ।
जानि के सुजान कही लै दिखावो लाल प्यारे नेसुक उघारे पट
सुगन्ध बुड़ाइये ।
पारस परवान करि जल डरवाय दियो कियो जब सिष्य ऐसे नाना-
विधि गाइये ।३६७।।"[2]

इस कवित्त में स्वामी जी द्वारा दिखाये गये जो अनेक चमत्कार कहे जाते हैं उनमें से पुलिन में इत्र उँडेलने तथा पारस पत्थर यमुना में फिंकवा देने की दो कथाओं का उल्लेख

१. भक्तमाल, मुम्बई वैभव प्रेस, आवृत्ति ४ थी, सं० १९८० ।
२. वही ।

किया गया है ।

श्री बीठलविपुल जी से सम्बन्धित नाभाजी के उल्लेख की व्याख्या में भी प्रियादास जी ने एक कवित्त लिखा है, जो इस प्रकार है :

"स्वामी हरिदास जू के दास नाम बिट्ठल हैं गुरु के वियोग दाह
उपज्यो अपार है ।
रास के समाज में विराज सब भक्तराज बोलि के पठाये आये आज्ञा
बड़ो भार है ।
युगलस्वरूप अवलोकि नाना नृत्य भेद गान तान कान सुनि रही न
संभार है ।
मिलि गये वाही ठौर भायो भाव तन और कहे रस सागर सो ताकों यों
विचार है ।३७७।।

इस कवित्त में स्वामी बीठलविपुल जी के रासलीला में शरीर छोड़ने की कथा का वर्णन है । जब स्वामी हरिदासजी का निधन हुआ तो बीठलविपुल जी गुरु के वियोग में अत्यन्त व्याकुल हो गये । वृन्दावन के भक्तों ने उनका शोक दूर करने के लिए उन्हें रासलीला देखने को बुलाया । रासलीला देखते-देखते वे इतने तल्लीन हो गये कि वहीं बैठे-बैठे निकुंज लीला में प्रविष्ट हो गये ।

भक्तमाल की इस टीका के अतिरिक्त अनेक टीकायें तथा टिप्पणियाँ लिखी गयी हैं । उनमें से एक-'भक्तसिन्धु' का कथन हम ग्राउज़ के मेम्वायर के प्रसंग में कर आये हैं । यह टीका अब प्राप्त नहीं है । जो टीकाएँ हमने देखी हैं उनके उल्लेखों को हम यहाँ संक्षेप में उद्धृत करते हैं ।

८. भक्तमाल पर मलूकदास की टिप्पणी : हस्तलिखित—नागरी प्रचारिणी सभा संग्रह संख्या १७६, लिपिकाल सं० १९६२ वि० । मलूकदास वास्तव में कई हुए । उनमें से यह टिप्पणी किसकी है कह नहीं सकते । प्रसिद्ध निर्गुणी सन्त मलूकदास का जन्म सं० १६३१ माना जाता है ।[1] स्वा० हरिदासजी के सम्बन्ध में इस टिप्पणी में लिखे छन्द देखिए :

स्वामी जी हरिदास की गाथा परम विशाल ।
सुनो सन्त श्रोता सबै जिनहि मिलै गोपाल ।।
कछुक दिवस घर बास कर पुनि वृज कियो पयान ।
श्याम राधिका मुख रटत हृदय जुगल को ध्यान ।। (पृ० १८२)

इस टिप्पणी के लेखक की ऐसी मान्यता ज्ञात होती है कि स्वा० हरिदासजी ब्रज के बाहर के निवासी थे ।

अगले पृष्ठ पर किसी का यह श्लोक उद्धृत है :

भक्तिप्रीत्यार्पितं वस्तु प्रभुर्गृह्णाति सत्वरम् ।
हरिदासार्पितं तैलम्प्रीतो विष्णुर्यथाग्रहीत् ।

इस श्लोक में इत्र की शीशी पुलिन में उँड़ेलने की कथा की ओर संकेत किया गया है ।

९. भक्तमाल पर नारायणदास की टिप्पणी : सं० १९०१—गो० राधाचरण जी के

१. परशुराम चतुर्वेदी : उत्तरी भारत की सन्त परम्परा, पृ० ५०५ ।

पुस्तकालय में एक भक्तमाल की हस्तलिखित पोथी पर नाभाजी के मूल छप्पय तथा प्रियादास जी के कवित्तों के अतिरिक्त किसी नारायणदास ने ब्रजभाषा गद्य में अपनी टिप्पणियाँ भी लिख दी हैं। सम्भवतः ये महाशय कथावाचक रहे होंगे तथा अपनी सुविधा के लिए उन्होंने यह टिप्पणी लिखी हैं। स्वामी हरिदासजी के छप्पय के साथ उनकी दो टिप्पणी इस प्रकार हैं :

१. *"आसधीर ब्राह्मण मारवाड़ देश के रहनेवाले। लोग गंगा स्नान को गये। सुपाड़ी भेजी सो गंगा ने ग्रहण करीं। प्रतिष्ठा सूकरी विष्ठा जान वृन्दावन वास कियो। पुलिन मध्य। हरिदास जन्म स्थान राजपुर॥ घोड़ा चढ़े जायें तब कही।"*

२. *"कोऊ तौ स्वामी जू को आसधीर को पुत्र कहै हैं, कोऊ शिष्य, बड़ेन में सब नाते बनैं।"*

पुस्तक के अन्त में टिप्पणीकार के हस्ताक्षर तथा संवत् हैं।

दूसरी टिप्पणी से ज्ञात होता है कि सं० १९०१ में स्वामी जी के आसुधीर जी के पुत्र या शिष्य होने के सम्बन्ध का विवाद बहुत व्यापक हो चुका था।

१०. भक्तमाल पर महन्त जयदेव जी की टिप्पणी : गोरेलालजी के मन्दिर के संग्रह में भक्तमाल की प्रियादास जी की टीका सहित एक हस्तलिखित (लिपि सं० १८६१) पोथी है। इसमें यत्र-तत्र कथाओं के संकेत के लिए टिप्पणियाँ दी गयी हैं। लिपिकर्त्ता 'कवि प्रवीन राइ' ने यह प्रति गोरेलालजी के महन्त जयदेव जी के लिए लिखी थी ऐसा पुष्पिका से ज्ञात होता है। वृन्दावनधामानुरागावली के अनुसार यह जयदेव जी भक्तमाल के एक प्रसिद्ध कथावाचक थे, अतः यह टिप्पणी उन्हीं की होगी। स्वा० हरिदासजी सम्बन्धी छप्पय के साथ की टिप्पणी इस प्रकार है :

"गांन कला गन्धर्व पै॥ तानसेंन के षिजमितिदार पातसाहि है कैं राग सुन्यौ सो प्रसंग। दोहा॥ कै सुजान सोंधौ सरस कै सुन्दर कल गान। इनही के कर मीच है मेरी मेरे जान॥१॥ तानसेंन चूकि कै पद गायौ॥ स्वामी जू ने गायौ उही। तब कही वै प्रभु मुष देषि॥ मैं आपकौ मुष देषि इह भेद॥१॥

स्वामी जी नें जानी मेरौ प्रसंग न लग्यौ याकौ पारस ध्यान है॥"

यहाँ 'गानकला गन्धर्व' के प्रसंग में टिप्पणीकर्त्ता ने यह उदाहरण दिया है कि अकबर स्वामी जी का गायन सुनने के लिए तानसेन के सेवक का वेश धारण कर निधिवन में आया। तानसेन ने जो पद स्वामी जी के सामने गाया उसमें संगीत की दृष्टि से जानबूझकर कोई भूल कर दी। तब स्वामी जी ने वही पद ठीक करके गाया। बाद में अकबर ने तानसेन से पूछा कि वही पद तुम गाते हो तब ऐसा रस क्यों नहीं आता जैसा तुम्हारे गुरु के गाते समय आता है। तानसेन ने उत्तर दिया कि मैं आपका मुख देखकर गाता हूँ और वे प्रभु का मुख देखकर गाते हैं यही भेद है। टिप्पणीकर्त्ता ने इस प्रकार तानसेन सम्बन्धी सारी वार्त्ता को ही संक्षेप में लिख दिया है।

११. भक्तमाल, ज्वालाप्रसाद मिश्र की टिप्पणी : मुद्रित सं० १९५६, लक्ष्मी वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई—नाभाजी की भक्तमाल तथा प्रियादास जी की टीका में दी हुई कथाओं को टिप्पणीकर्त्ता ने अधिक स्पष्ट करने की चेष्टा की है। स्वामी हरिदास जी से सम्बन्धित छप्पय की व्याख्या में टिप्पणीकर्त्ता ने इत्र की शीशी पुलिन में ढुलकाने तथा पारस यमुना में फिंकवा देने की कथाओं के साथ-साथ तानसेन और अकबर की स्वामी जी से भेंट का

वृत्तान्त भी कुछ विस्तार से दिया है।

१२. **भक्तमाल, भक्तिसुधास्वादतिलक (४ भाग)** : प्रकाशित गया सं० १९६६—श्री रामरसरंगमणि की सहायता से श्री सीतारामशरण भगवान प्रसाद द्वारा विरचित—इस टीका में नाभाजी के छप्पयों का शब्दार्थ किया गया है तथा साथ में विशेष परिचय भी दिया है। स्वा० हरिदास जी के प्रसंग में (पृ० ८७७-७९) 'वार्त्तिक तिलक' की कुछ व्याख्यायें इस प्रकार हैं :

"स्वामी श्री हरिदासजी शृंगार उपासना में बड़े ही दृढ़ और धीर हुए। अपने पिता आसधीरजी के सूर्य्यवत प्रताप से रसिकों में आप प्रसिद्ध हुए। आप श्री रसिकजी के नाम से प्रसिद्ध थे।"

'आसधीर उद्योतकर' का अर्थ 'आसधीर के सूर्यवत प्रताप से' लगाना अवश्य कुछ खटकता है परन्तु ध्यान देने योग्य बात यही है कि इन्होंने स्वा० हरिदास जी को आसधीर जी का पुत्र बताया है।

आगे ये कहते हैं कि "बादशाह अकबर तानसेन के साथ वेष छिपाकर आया तथा स्वामी जी के दर्शनों से कृतार्थ हुआ। सं० १६११ से सं० १६६२ के मध्य किसी समय की यह घटना है।"

संवतों के लिखने का आधार है अकबर का राज्यकाल (सं० १६१२ से १६६२ तक)।

१३. **भक्तमाला, रामरसिकावली** : लेखक रघुराजसिंह जू देव—प्रकाशक वेंकटेश्वर प्रेस, सं० १९१७। इस ग्रन्थ की रचना राजा रघुराजसिंह ने सं० १९१४ में की। इसमें कविता में भक्तों के चरित्र वर्णित हैं। लेखक के अनुसार "इसमें नाभाजी की भक्तमाल तथा प्रियादास जी की टीका की विस्तृत व्याख्या के अतिरिक्त अन्य सन्तों का भी वर्णन है।"

स्वामी हरिदासजी के वृत्तान्त (पृ० ७७६ से ७८२) में इन्होंने कई नयी किंवदन्तियाँ दी हैं तथा कई पुरानी किंवदन्तियों को भिन्न रूप में सामने रखा है। कुछ उल्लेख देखिये :

श्रीहरिनाम दास हरिदासा। बालहिं ते त्यागो जग आसा॥ (पृ० ७७७)

तज्यो विषय जग मीठी खट्टी। वृन्दावन स्थान सुटट्टी। (पृ० ७७७)

यहाँ स्वामी जी द्वारा बालकपन में ही वैराग्य लेना एक नयी उक्ति है। स्वामी जी टट्टी स्थान में नहीं, निधिवन में रहते थे। टट्टी स्थान बहुत बाद में बना, कदाचित् लेखक को यह ज्ञात नहीं था।

'पारस' के प्रसंग में इन्होंने किसी 'गिरनार के साधु' द्वारा पारस पत्थर लाने का उल्लेख किया है। एक नयी कथा दी है कि "एक दिन भावना में डूबे हुए हरिदासजी रास का मानसी दर्शन कर रहे थे। स्वामीजी गा रहे थे तथा प्रिया प्रियतम नृत्य कर रहे थे। नाचते-नाचते प्रिया जी का नूपुर टूट गया। हरिदासजी ने तुरन्त अपना यज्ञोपवीत तोड़कर नूपुर बाँध दिया। सामने बैठे लोग चकित हुए कि यज्ञोपवीत क्यों तोड़ दिया परन्तु मन्दिर में जाकर देखा तो प्रिया जी के पग के नूपुर में जनेऊ बँधा था।"

नाभाजी ने इसी घटना का उल्लेख श्री हरिराम व्यास के प्रसंग में इस प्रकार संक्षेप में किया है :

नौगुनौ तोरि नूपुर गुह्यौ, महत सभा मधि रास के।
उत्कर्ष तिलक अरु दाम को, भक्त इष्ट अति व्यास के।

तानसेन सम्बन्धी वार्ता को ये इस प्रकार लिखते हैं :

"अकबर के दरबारी गवैये तानसेन से संगीत की होड़ में कोई न जीत पाता था। बड़े-बड़े गायक आये और तानसेन से हार कर गये। एक बार एक बैजू बावरा नामक गायक जो गायनशास्त्र में गन्धर्व के समान था तथा नायक कहा जाता था, संगीत के ग्रन्थों से भरे सौ शकर साथ लिये विजय के लिए दिल्ली आया। जब अकबर के दरबार में उसकी तानसेन से प्रतिस्पर्धा हुई तो उसने अंगन्यास तथा करन्यास करके रागों का आवाहन किया और अपने गायन से रागों को मूर्त्तिमान कर दिया। जब उसने सारंग राग गाया तो वन के हिरन मुग्ध हुए चले आये। अब तानसेन की बारी आयी। तानसेन ने कहा कि यदि यह मेरा मंजीरा उखाड़ दें तो मैं हार मान लूं। तानसेन ने गाना गाया और वह जिस पत्थर पर बैठा था वह पाषाण द्रवित हो गया। तानसेन ने मंजीरा उठाकर उसमें डाल दिया और गाना बन्द कर दिया। तब पाषाण पूर्ववत् हो गया परन्तु मंजीरा उसी में जम गया। बैजू ने बहुत गाया, परन्तु पाषाण द्रवित न हुआ। तानसेन की विजय हुई। अकबर ने उसकी प्रशंसा करते हुए कहा कि संगीत में तुम्हारे समान कोई नहीं है। तानसेन ने उत्तर दिया कि गायनशास्त्र की मर्यादा के जाननेवाले हरिदास मेरे स्वामी हैं। मैंने तो उनसे जो कणिका प्राप्त की है उसी का यहाँ प्रकाश करता हूँ। तब तानसेन के सेवक का वेष धर कर अकबर स्वामी जी का गायन सुनने गया।"

स्वामी जी से भेंट की कथा वैसी ही है जैसी अन्यत्र परन्तु अन्त में लेखक ने कहा है कि "अकबर ने मोर-बन्दरों के लिए चालीस मन चने रोज डलवाने की व्यवस्था की जिसे उसके उत्तराधिकारी भी सदा मानते रहे। किन्तु वर्तमान काल में एक अंग्रेज अधिकारी ने ये चने डलवाना बन्द करा दिया तब बन्दरों ने उससे बदला लिया। वह हाथी पर बैठा मार्ग में चला जा रहा था कि बन्दरों ने उसे घेर लिया और हाथी के समेत कालीदह में डुबा दिया।" ऐसी किसी घटना का और कहीं उल्लेख नहीं मिलता।

स्वामी जी के उपास्य बिहारी जी के सम्बन्ध में इन्होंने दो नयी किंवदन्तियों का उल्लेख किया है :

"अकबर ने एक बार हरिदासजी को दिल्ली बुलाया और उनका बड़ा आदर-सत्कार किया। एक सुन्दर नर्तकी के नृत्य से प्रसन्न हो स्वामी हरिदासजी ने कहा कि यह 'पातुरी' हमें दे दो। उस नर्तकी को लेकर वे वृन्दावन आये और बिहारी जी से बोले कि 'लो लाला, तुम्हारे लिए पातुरी लाये हैं।' सायंकाल हरि के सम्मुख उस नर्तकी ने नृत्य किया। वह नन्दलाल की मूर्ति पर ऐसी मुग्ध हुई कि एक टक देखती ही रह गयी और उन्हीं की तरफ देखती हुई भाव बताती रही। फिर नृत्य बन्द कर मन्दिर की 'चौकठ' पर हाथ धर खड़ी हो बिहारी जी को देखने लगी। पुजारी चिल्लाया कि यह तूने क्या किया, मन्दिर अशुद्ध कर दिया। उसे चौकठ से हटाने लगे तो देखा कि वह तो मर चुकी है और उसका अंग ऐसा सूख गया है मानो एक वर्ष पहले मरी हो। जब हरिदासजी ने सुना तो बोले 'क्यों लाला, क्षण-भर भी धीरज न रखा'।"

दूसरी कथा इस प्रकार है :

"एक दिन एक सास अपनी सुन्दर युवती बहू को लिये बिहारी जी के दर्शन करने आयी। सास ने पहले बहू को हरिदास जी के दर्शन कराये तब दोनों मन्दिर में गयीं। बिहारी जी के दर्शन करके जब वे मुड़ने लगीं तो बिहारी जी की मूर्ति का मुख भी उस सुन्दरी

बहू को देखने के लिए मुड़ गया। पुजारी ने आश्चर्यान्वित हो स्वामी हरिदासजी को बुलाया। वे मुसकाकर बिहारी जी से बोले कि 'अभी तुम्हारी बान न गयी।' पुजारी ने सास को डाँटा कि तू यहाँ बहू को क्यों लायी जो ठाकुर को उसे देखने को अपने नयन फेरने पड़े। तब सास बोली, 'मुझे क्या पता था ! अब तक दई मारे की बान न गयी'।"

ये दोनों किंवदन्तियाँ और कहीं प्रचलित नहीं हैं। लेखक-जैसे राजाओं के विलासी दरबारियों में ही इन का प्रचलन रहा होगा।

१४. **भक्तमाल प्रदीपन (उर्दू)** : मुन्शी तुलसीराम, रचना सं० १९११, मुद्रित सन् १९१० ई०, मुन्शी नवलकिशोर कानपुर—यह पुस्तक उर्दू गद्य में लिखी गयी है तथा इसका प्रधान आधार नाभाजी की भक्तमाल तथा प्रियादास जी की टीका है। यद्यपि कुछ नये चरित्र तथा भिन्न प्रकार के वर्णन भी मिलेंगे। स्वामी हरिदास जी के प्रसंग में इन्होंने भी 'पुलिन में इत्र गिराने', 'पारस यमुना में फेंकने' तथा अकबर द्वारा तानसेन के साथ स्वामी जी का दर्शन करने आने की वार्ताएँ लिखी हैं। और वार्ताकारों से इस कथा में भेद केवल इतना ही है कि अकबर के आग्रह करने पर स्वामी जी ने उसे ३ आज्ञाएँ दीं—'१. बन्दरों को चने डलवाओ, २. ऐसी व्यवस्था करो कि ब्रज भूमि के वृक्ष तथा शाखाओं को कोई नष्ट न करे; तथा ३. फिर कभी हमारे पास न आना।'

बीठलविपुल जी की रास में देह त्याग की कथा भी इन्होंने उसी प्रकार लिखी है जैसी अन्यत्र मिलती है।

१५. **भक्त कल्पद्रुप** : लेखक राजा प्रतापसिंह, संशोधक पं० कालीचरण, मूलरचना सं० १९२३, मुद्रित (लीथो) सं० १९२६, नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ—लेखक ने स्वयं लिखा है कि यह भक्तमाल उन्होंने तुलसीराम की भक्तमाल प्रदीपन के आधार पर देवनागरी पढ़ने-वालों के लाभार्थ बनायी। उन्होंने इससे भी पहले की तीन उर्दू भक्तमालों का उल्लेख किया है : १. हिजरी सन् ११५८ (सं० १७९७), लाला लालजीदास का 'भक्त उर्वशी' नामक उर्दू तर्जुमा, जिसे उन्होंने प्रियादास जी के पौत्र वैष्णवदास के मत से लिखा। ये राधावल्ल-भीय सम्प्रदाय के शिष्य थे तथा कांधले के निवासी थे। इनका विरक्ति से पूर्व का नाम लक्ष्मणदास था। २. एक और उर्दू अनुवाद जिसके कर्त्ता का नाम प्रतापसिंह जी को याद नहीं रहा। तथा ३. रत्थक निवासी लाला गुमानीलाल कायस्थ का अनुवाद जो सं० १९०८ में समाप्त हुआ।

'भक्त कल्पद्रुम' में दी हुई स्वामी हरिदासजी तथा बीठलविपुल जी की कथाएँ मुन्शी तुलसीराम की उर्दू भक्तमाल से शब्दशः अनूदित की गयी हैं।

१६. **भक्तमाल (संस्कृत)** : लेखक ईश्वरीसिंह (हस्तलिखित) रचना तथा लिपि काल, अज्ञात—यह पोथी हमने स्वयं नहीं देखी है। हमने गोस्वामी मगनबिहारी जी के संग्रह में कुछ श्लोक देखे जो उनके कथनानुसार किसी हस्तलिखित प्रति से लिये गये हैं। अतः इसकी प्रामाणिकता के सम्बन्ध में भी हम कुछ नहीं कह सकते। स्वामी हरिदास सम्बन्धी वे श्लोक इस प्रकार हैं :

उदितोयमासुधीराद्धरिदासो रसिकमुद्रयामधुरः।
सयुगलनामस्नेहः कुंजबिहारीतिकलितनित्यजपः॥
नित्यमवलोकमानः तिष्ठति लीलासखीसुखेधिकृतः।
गानकलागन्धर्वः श्यामाश्यामंच योनुतोषयति॥

कलयत्युत्तमभोगान्स्तैः पोषितकेकिमर्कटसमूहः ।
यद्दर्शनाभिलाषान्नरपतयो द्वारि संस्थिताः नित्यम् ।।
अयमाशुधीरतनयो हरिदासः परमरसिकवरः ।
संचितवैराग्यधनः कृष्णप्रेमैकपूर्णपाथोधिः ।।

उपर्युक्त श्लोक नाभाजी के छप्पय का अनुवाद मात्र हैं । इनके अनुसार स्वामीजी आसुधीरजी के पुत्र थे ।

१७. भक्तमाल (संस्कृत) :-लेखक चंद्रदत्त, प्रकाशित—वेंकटेश्वर प्रेस, सं० १९५९ । इस भक्तमाल के स्वामी हरिदासजी संबंधी श्लोकों में केवल प्रियादासजी के कवित्त की संस्कृत में विस्तृत व्याख्या है । इसमें 'इत्र को पुलिन में डालने' तथा 'पारस मणि फेंकने' की कथाएँ ही हैं । किंतु वार्ता का प्रारंभिक श्लोक एक अतिरिक्त सूचना देता है जो उल्लेखनीय है । यह श्लोक इस प्रकार है :

आसाधीरेति नाम्नासीद्विप्रो गुर्ज्जरसंभवः ।
तस्य पुत्रोति विख्यातो हरिदास इति श्रुतः ।।७।। (पृ० १४९)

यह लेखक स्वामीजी को 'गुर्ज्जरसंभव' विप्र आशाधीर का पुत्र बतलाता है । कह नहीं सकते लेखक ने आसुधीरजी को गुजरात में उत्पन्न किस आधार पर कहा है । यह रचना बिलकुल आधुनिक है अतः लेखक ने आज जिसे 'गुजरात' प्रांत कहते हैं, उसी को 'गुर्ज्जर' देश कहा होगा ।

१८. भक्तमाल (संस्कृत) : बालगण कवि, हस्तलिखित, रचना तथा लिपि काल अज्ञात—यह पोथी हमें बा० कृष्णदास के संग्रह में मिली । इसके रचयिता हैं श्री रामानुज संप्रदायानुयायी बालगण कवि । लेखक ने श्लोकों में नाभाजी के छप्पय तथा प्रियादासजी की टीका की व्याख्या की है । 'इत्र' तथा 'पारस' संबंधी दो वार्ताएँ ही यहाँ दी गयी हैं ।

१९. नव भक्तमाल : राधाचरण गोस्वामी—प्रकाशित सं० १९४३ । इस ग्रंथ में गोस्वामीजी ने नाभाजी के परवर्त्ती वैष्णवों की प्रशंसा में छप्पय लिखे हैं । स्वामी हरिदासजी के संप्रदाय के इन महानुभावों की प्रशस्तियाँ इस ग्रंथ में हैं :—१. श्री ललित मोहिनीदास (छप्पय सं० १६), २. श्री विहारिनिदास (छप्पय सं० ३३) ।

२०. श्री हरिराम व्यास की वाणी : श्री हरिराम व्यास (सं० १५६७-१६६९) स्वामी हरिदासजी के समकालीन थे । ये स्वामीजी के प्रति अत्यंत श्रद्धा तथा सौहार्द का भाव रखते थे । इनकी वाणी में अनेक स्थानों पर स्वामीजी का नामोल्लेख है । कुछ पद जिनसे स्वामीजी के इतिहास संबंधी तथ्यों पर प्रकाश पड़ता है इस प्रकार हैं :

विहारहिं स्वामी बिनु को गावै
बिनु हरिवंसहिं राधावल्लभ को रस रीति सुनावै ।।
रूप-सनातन बिनु, को वृन्दाविपिन-माधुरी पावै ।
कृष्नदास बिनु, गिरिधर जू कों को अब लाड़ लड़ावै ।।
मीराबाई बिनु को भक्तनि पिता जानि उर लावै ।
स्वारथ परमारथ जैमल बिनु, को सब बंधु कहावै ।
परमानंद दास बिनु को अब लीला गाइ सुनावै ।
सूरदास बिन पद-रचना कों, कौन कविहिं कहि आवै ।

और सकल साधन बिनु को कलिकाल कटावै ।
'व्यासदास' इन बिन को अब तन की तपन बुझावै ॥२६॥

(भक्तकवि व्यास जी, पृ० १९७)

इस पद में व्यासजी ने हरिदासजी आदि दिवंगत भक्तों का अपने मन में व्याप्त विरह-वर्णन किया है।

श्री हरिवंशजी और स्वा० हरिदासजी का इन्होंने सखी रूप में अनेक स्थानों पर स्मरण किया है और एक स्थान पर तो स्वामी हरिदासजी के 'ललिता' उपनाम का भी प्रयोग किया है। देखिये :—

सखी सहेली कब मिलि हैं वे हरिवंसी हरिदासी ।
बंसीवट की सीतल छैयाँ सुभग नदी जमुना सी ॥

(पद २५६, भक्तकवि व्यास जी, पृ० २५६)

तथा *मिलिहैं हित ललितादिक दासी रास में गावत सुनि मन ।*
जमुना-पुलिन-कुंज, वन-वीथिन, विहरत गौर-स्याम-घन ।

(पद २५८, पृ० २५६)

बाद में तो अनेक लोगों ने स्वामीजी का 'ललितावतार' कहकर उल्लेख किया है। स्वामीजी के संबंध में इनका यह प्रशंसा का पद तो बहुत ही प्रसिद्ध है :

अनन्य नृपति श्री स्वामी हरिदास ।
श्री कुंजविहारी सेये बिनु जिन छिन न करी काहू की आस ।
सेवा सावधान अतिजान, सुघर गावत दिन रास ।
ऐसो रसिक भयो ना ह्वै है, भुवमंडल आकास ।
देह विदेह भये जीवत ही बिसरे विस्वविलास ।
श्रीवृन्दावन-रज तन-मन भजि, तजि लोक वेद की आस ।
प्रीति रीति कीनो सब ही सों किये न खास खवास ।
अपनो व्रत हठि ओर निबाह्यो, जब लगि कंठ उसास ।
सुरपति भूपति कंचन कामिनि, जिनकें भायें घास ।
अबके साधु 'व्यास' हमहू से जगत करत उपहास ॥१२॥

(भक्तकवि व्यासजी, पृ० १९३)

व्यासजी ने एक पद श्री विहारिनिदेवजी की प्रशंसा में कहा है :

सांची प्रीति श्री बिहारिनिदासैं ।
कै करुवा कै कुंज कामरी, कै घरु श्री स्वामी हरिदासैं ॥
प्रतिबाधक सहि सकत न जिनकैं, जानत नहीं कहा कहै त्रासैं ।
महामाधुरी मत्त मुदित ह्वै गावत रस जस जगत उदासैं ॥
छिन ही छिन परतीत बढ़त, रस रीतनि देखि बिबि बदन बिलासैं ।
अंग-अंग नित्य बिहार करत मिलि, इहै आस निजु बन बसि 'व्यासैं ॥२०॥

(भक्तकवि व्यासजी, पृ० १९५)

२१. ध्रुवदासजी की भक्त नामावली : ध्रुवदासजी की कई रचनाएँ, जिनमें रचना-काल का उल्लेख है, सं० १६५० से १६९८ तक की हैं। इनकी 'भक्त नामावली' में स्वामी

हरिदासजी के संबंध में निम्नलिखित दोहे मिलते हैं :

रसिक अनन्य हरिदास जू गायो नित्य विहार ।
सेवा हू में दूर किय, विधि निषेध जंजार ।।
सघन निकुंजन रहत दिन बाढ़्यौ अधिक सनेह ।
एक विहारी हेत लगि छांड़ि दिये सुख गेह ।।
रंक छत्रपति काहु की करी न मन परवाह ।
भीजि रहे रस भजन् में लीने कर करवाह ।।

स्वामीजी की उपासना-पद्धति पर इन दोहों से अच्छा प्रकाश पड़ता है । ध्रुवदासजी ने स्वामी हरिदासजी की शिष्य परंपरा के कई अन्य संतों की भी प्रशंसा की है । श्री वीठल विपुलजी के संबंध में इनका दोहा है :

विट्ठलविपुल विनोद रस गाई अद्भुत केलि ।
बिलसत लाड़िली लाल सुख अंसनि पर भुज मेलि ।।

स्वामी विहारिनिदेवजी के संबंध में ये लिखते हैं :

विहारीदास निज एक रस ज्यों स्वामी की रीति ।
निर्वाही पीछे भली तोरी सबसों प्रीति ।।
मत्त भयो रस रंग में करी न दूजी बात ।
बिन विहार निज एक रस और न कछू सुहात ।।

श्री सरसदास एवं नागरीदास के संबंध में इनका दोहा है :

कह कहों मृदुल सुभाव अति, सरस नागरीदास ।
विहारी विहारिनि को सुयश गायो हरषि हुलास ।।

२२. अग्रदासजी का छंद : अग्रदासजी नाभाजी के गुरु थे । इनका कहा एक कवित्त मिलता है :

नमो नमो श्री हरिदास वृन्दाविपिनवास वर प्रान सर्वस बांकेविहारी ।
स्याम स्यामा जुगल रूप माधुर्य के रसिक रिझवार प्रेम अवतारी ।
परम वैराग निधि वसत निधुवन सदा भावना लीन सु प्रवीन भारी ।
कामना कलपतरु सकल संतापहर 'अग्रदास' अलि कल्यानकारी ।।

यह पद स्वामी हरिदासजी के संप्रदाय की वाणियों के साथ लिखे प्रशंसा के छंदों में सम्मिलित रहता है । इस छंद के 'बसत निधुवन सदा' से ध्वनित होता है कि इस छंद की रचना के समय स्वामी हरिदासजी जीवित थे ।

२३. पद प्रसंगमाला : लेखक कृष्णगढ़ नरेश श्री नागरीदास—रचना-काल, लगभग सं० १८००—हस्तलिखित, गो० राधाचरणजी के संग्रह से—इस पोथी में स्वामी हरिदासजी के प्रसंग में तानसेन की वार्ता दी गयी है । और पुस्तकों के आख्यानों से इसमें विशेषता यह है कि इन्होंने अकबर के सामने स्वामी हरिदासजी द्वारा गाया हुआ पद भी दिया है । लिखा है :

यह सुनि पातसाह तानसैन कैं संग जलघरी लै श्री वृन्दावन स्वामीजी पैं आये । पहिलैं तानसैंन गायो विनती करी ।। महाराज कुछ अलापचारी करी मलार राग की । चैत वैसाष को महीनौं हुतो तव वाही वेर घटा घुमड़ि आई । मोर बोलनि लागे तब नयो बनाइ विष्णु

पद गायो । तब ताही वेर वरषा होंन लगी । सो वह यह पद

अैसी रीति (रितु) सदा सर्वदा जो रहै बोलति मोरनि ।

नीके बादर नीको धनुष चहूं दिशि नीको श्री वृन्दावन आछो नीको मेघनि को घोरनि ।

आछी नीकी भूमि हरी हरी, आछी नीको बूढ़नि की रेंगनि काम की रोरनि
श्री हरिदास के स्वामी स्यामा के मिल गावत, जम्यो राग मलार
किशोर किशोरनि ।।

२४. चाचा हित वृन्दावनदास : 'केलिमाल की भूमिका' में श्री चक्र ने कहा है कि चाचा हित वृन्दावनदासजी ने श्री हित हरिवंशजी का वसन्त-वर्णन करते हुए लिखा है :

सबसों जु प्रथम श्री व्यास नन्द ।
पुनि सुकुल सुमोखन कुल सुचन्द ।
सुत आसुधीर मूरत अनन्द ।
धन भक्तिथंभ परबोधानंद ।।

यह पद हमने स्वयं किसी प्रति में नहीं देखा है तथा चक्रजी के द्वारा कथित 'लालस्वामी' और 'विहारिनदासजी' के उद्धरणों की अप्रामाणिकता के संबंध में हम पहले ही चर्चा कर आये हैं अत: कह नहीं सकते कि इन पंक्तियों की कितनी प्रामाणिकता है ।

२५. नौरंगस्वामी की वाणी : नौरंगस्वामी श्री प्राणनाथजी (सं० १६७५-१७५१) के शिष्य थे । अनुमान से इनका रचना-काल लगभग सं० १७६० होगा । इनके ग्रंथ 'मतमारगभेद' में स्वामी हरिदासजी के संबंध में कुछ उल्लेख हैं । प्रकरण २२ के कुछ छंद इस प्रकार हैं :

एक समय पूछी धणी हरिदास जो कूं तब ।
परम्परा निजधर्म की कहो गुरु मोहि अब ।१५।
कही तदा हरिदास ने है अनादि ए धर्म ।
सनकादिक शिव विष्णु विधि सखी भाव धरी मर्म ।१६।
भजे निरन्तर वेद मुनि पुरातन पाय ।
कृपा साध्य यह धर्म है लख्यो न किनहूं जाय ।१७।
शिव ईश्वर हरिहर विधि-तंत्र संहिता मांहि ।
गुप्त प्रकट करि के धर्‌यो आचारज पावत ताहि ।१८।
द्वारा श्री हरिदास की नियमानंद मत मांहि ।
स्यामा-स्याम उपासना प्रगटी कछु इन मांहि ।१९।

इस उद्धरण में लेखक ने कहा है कि स्वामी हरिदासजी निम्बार्क (नियमानंद) संप्रदाय के अंतर्गत थे । आगे प्रकरण २० में ये लिखते हैं :

बड़े भक्त हरिदासजी नित वृन्दावन ध्याय ।
बैठे तिनकी गोद में लाल-लाड़िली आय ।।
गही लाल कूं प्रथम इन लाडिली भयी अन्तरध्यान ।
मूर्तिमयी पाषाण की बांकेविहारी जान ।।
नित सेवें हरिदास जी सोई मूरति पाय ।
गान तान करि रिझावें सखी भाव को लाय ।।

इन पंक्तियों में नौरंग स्वामी ने स्वामी हरिदासजी के उपास्य बाँकेविहारीजी के प्राकट्य की कथा वर्णन की है। आगे ये २२वें प्रकरण में लिखते हैं :

भक्त बड़े हरिदास जी साध्य साधन स्वतंत्र ।।
तानसेन अकबर से सब इनके आधीन ।
भक्त आचारज ब्रज विषे रहे सोइ इन दीन ।।
दियो दरसन श्रीकृष्ण ने इनको जो कै वार ।
हाथ आई मूरति तबै कारज कारनि कैसोर ।।
गुरु धणी देव चंद्र स्वामी श्री हरिदास ।
सो पुनि शिष्य इनही के गृही वस्तु इन पास ।।
बारह वर्ष ब्रज में रहे अपने गुरु के पास ।
षोडषो बत्तीस में कियो देश निज वास ।।

उपर्युक्त पंक्तियों का सारांश यह है कि 'स्वामी हरिदासजी के एक और शिष्य हरिदासजी थे। ये १२ वर्ष तक स्वामीजी के पास वृन्दावन में रहे और सं० १६३२ में (स्वामीजी की मृत्यु हो जाने पर) अपने देश चले आये। यही हरिदासजी प्राणनाथजी के गुरु देवचंद्रजी के गुरु थे। और इन्होंने बाँकेविहारीजी के वस्त्र की सेवा देवचंद्रजी को सौंपी जो उनकी शिष्य परंपरा में अब तक चली आती है। इस कथा की पुष्टि प्राणनाथी संप्रदाय की सूरत शाखा के महंत श्री कृष्णप्रियाचार्य की लिखी पुराणसंहिता की प्रस्तावना से भी होती है, जिसका उल्लेख हम प्राणनाथजी के संप्रदाय के वर्णन में कर आये हैं[1]। श्रीकृष्ण-प्रियाचार्य ने इस प्रस्तावना में अपने संप्रदाय के अन्य ग्रंथों से भी कई उद्धरण दिये हैं जो इस प्रकार हैं :

हरिदास स्वामी कृपा मोहि कीनी ।
सेवा श्री बंकविहारी की दीनी,
(तारतम्य सागर, भट्ट तुलजाराम ।)
शिष्य स्वामी हरिदासजी के जेही ।
श्री हरिदास भक्त हैं तेही ।।
सेवा करिके गुरु रिझाये । स्वामी हरिदास परम सुख पाये ।।
तो सेवा बांकेविहारीजी की दीनी । गुरु ने कृपा सवों विधि कीनी ।

(सुन्दरसागर, प्रकरण १८)

२६. **रसिक अनन्यमाल-उत्तमदास :** हस्तलिखित—लिपि सं० १९६०, बाबा तुलसी दास के संग्रह में। इस ग्रंथ का रचना-काल सं० १७८९ के लगभग कहा जाता है[2]। इस ग्रंथ में श्री हितहरिवंशजी के कृपापात्रों का चरित्र वर्णित है। लेखक ने स्वामी हरिदासजी को भी उनके कृपापात्रों में सम्मिलित कर लिया है। स्वामी हरिदासजी संबंधी पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :

इक दिन यमुना न्हाये आवत । सुन्यो कुंजतर कोउ यक गावत ।। १ ।।
निकट जाइ बूझी तब बात । गावत सुठि तुम सुंदर गात ।। २ ।।

१. पुराण संहिता : चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस, प्रस्तावना पृ० ३-४।
२. वासुदेव गोस्वामी, भक्त कवि व्यासजी, पृ० ३५ (पाद टिप्पणी)

पै जो सुंदर रूपहि गावहु। तो या वन में अति छवि पावहु ॥ ३ ॥
सुनि बोले स्वामी हरिदास। ज्ञान वैराग्य शान्त रस आस ॥ ४ ॥
हित जू दास्य सख्य लौं गायौ। सर्वोपरि सिंगार बतायो ॥ ५ ॥
स्वामी बड़े जानमनि जानि। सब तजि सो रस कीनो पान ॥ ६ ॥
है विरक्त सेवा पधराई। सो सब विधि हित जी ते आई ॥ ७ ॥
श्री कुंजविहारिणि संग बिहारी। हितजी की पद्धति उर धारी ॥ ८ ॥
गादी मधि स्थापी सुकुमारी। सदन पुलिन में लखे विहारी ॥ ९ ॥
श्यामा श्यामहि गाइ रिझावहि। बांके सुर बांके पद गावहि ॥ १० ॥
पृथ्वीपति आवहि जब नेरे। अन्तराय लखि तिनहि न हेरें ॥ ११ ॥
उत्तम चरित अनेक युत श्री स्वामी हरिदास।
चोवा डार्‌यौ पुलिन में दम्पति भवन जु वास ॥ १२ ॥

यह चरित्र यह सिद्ध करने के लिए लिखा गया है कि स्वामीजी श्री हरिवंशजी के शिष्य थे। इस प्रकार के प्रयत्न कई संप्रदायों के अनेक लेखकों ने किये हैं और अपने-अपने आचार्यों का उत्कर्ष दिखाने की चेष्टा की है। आगे भी हम जिन ग्रंथों से उद्धरण देंगे वे इसी प्रकार के प्रयास मात्र हैं। इनकी कोई प्रामाणिकता नहीं है। उत्तमदासजी से पहले श्री भगवतमुदित ने 'रसिक अनन्यमाल' नामक ग्रंथ की रचना की थी। उनकी रचना का काल था लगभग सं० १७०७।[1] उत्तमदासजी ने कई जगह लिखा है कि हम भगवत मुदितजी के ग्रंथ के आधार पर ही यह चरित्र लिखते हैं। किंतु स्वामी हरिदासजी का चरित्र श्रीभगवत मुदित की 'रसिक अनन्यमाल' में कहीं नहीं मिलता। अतः स्पष्ट है कि यह चरित्र यहाँ अपने संप्रदाय के उत्कर्ष कथन के लिए ही जोड़ दिया गया है।

२७. श्री चैतन्य चरित्र सार : लेखक, श्री राधाचरण (पुत्र श्री लाड़िली लाल) लिपि सं० १९४५—श्री राधाचरण गोस्वामी के संग्रह में यह एक आधुनिक ग्रंथ है। इसमें स्वामीजी को श्री गोपाल भट्ट का शिष्य सिद्ध करने के लिए उनका चरित्र इस प्रकार लिखा गया है :

"अब दो जने श्री गोपाल भट्ट गोस्वामीजी के शिष्य श्रीहरिदासजी तथा श्री व्यासजी तिन की वार्ता लिखें हैं। श्री वृन्दावन के समीप राजपुर ग्राम के सनाढ्य ब्राह्मण हरिदासजी निंबार्क संप्रदायी बड़े गवैया सो नित्य आय श्री जी कूं भजन सुनाते। उनने दासत्व के लिए प्रार्थना करी। उन्हें निधिवन में रहने की आज्ञा दी। वहीं विहारीजी का प्राकट्य हुआ। कुछ समय पश्चात् हरिदासजी वृन्दावन प्राप्त हुए।" (पृष्ठ ५४)

एक ओर लेखक ने स्वामीजी को निम्बार्क संप्रदायानुयायी कहा है तथा दूसरी ओर उन्हें गोपाल भट्टजी का, जो स्वयं माध्व गौड़ेश्वर संप्रदाय के थे, शिष्य बताया है। स्पष्ट है कि यह उसी प्रकार का प्रयास है जैसा पिछले ग्रंथकार का।

२८. चारि संप्रदाय वैष्णव वंदना : लेखक नाम, रचना तथा लिपि काल अज्ञात—यह एक पुरानी पोथी हमें श्री राधाचरण गोस्वामी के पुस्तकालय में मिली। इसमें पहले श्री वृन्दावनदास रचित वैष्णव वंदना है तथा उसके बाद 'चारि संप्रदाय वैष्णव वंदना।' इसकी भाषा बंगला है परंतु लिपि देवनागरी। प्रारंभ में लेखक कहता हैं कि 'मैं

१. वासुदेव गोस्वामी, भक्तकवि व्यास जी, पृ० २६।

श्री चैतन्य को अवतार न जानकर वैष्णवों की निंदा करता था अब मुझे कुष्ठ रोग हो गया। तब मैंने महाप्रभु से प्रार्थना की। उन्होंने मुझे श्रीवास पंडित के पास भेजा और श्रीवास पंडित की आज्ञा से मैं वैष्णव वंदना करने लगा। मैंने जो-जो भक्त देखे हैं, पढ़े या सुने हैं उनकी यहाँ वंदना करता हूँ।' गौड़ीय वैष्णवों में कथा है कि एक वासुदेव नामक भक्त से अपने गुरु श्रीवास पंडित का कुछ अपराध बन गया था, अतः उन्हें कुष्ठ हुआ। तब वे श्री चैतन्य महाप्रभु की आज्ञा से श्री वृन्दावनदास कृत वैष्णव वंदना का नित्य पाठ करने लगे। बाद में महाप्रभु ने स्वयं उनका आलिंगन करके उनका कुष्ठ दूर किया।

'चारि संप्रदाये वैष्णव वंदना' में चारों संप्रदाय के सैकड़ों भक्तों का उल्लेख है। यदि यह प्रामाणिक पुस्तक होती तब तो अनेक जटिल विवादों का समाधान कर सकती थी परंतु इसके अनेक उल्लेखों का कोई आधार ज्ञात नहीं होता।

इस पुस्तक की और कोई प्रति प्राप्त नहीं है।[1] इस पोथी में जहाँ सनक संप्रदाय (श्री निम्बार्क संप्रदाय) का वर्णन करते हैं, वहाँ स्वामीजी के नाम के साथ की कुछ पंक्तियाँ देखिये :—

'लक्ष्मण आचार्य वंदों तार शिष्यवर्य्य। ताहार सेवक वंदों वल्लभ आचार्य। विल्लमंगल पद वंदिव सानंदे। सदा ये हों कृष्ण पादमकरंदे। कृष्ण भट्टेर आर शिष्य श्री माधवानंद। तार पाद पद्म वंदों करिञा आनंद। माधवानंदेर शिष्य स्वामिहरिदास। श्री भट्ट गोसाञि आर हरिवंशदास। युगल मंत्र उपासना इहाँ सभाकार। सभाचरणे मोर कोटि नमस्कार। इहा सभा सेवकेर कतनिव नाम। व्यासादि रसिक मिरावाइ रे प्रणाम।'

इस लेखक ने स्वामी हरिदासजी को माधवानंद का शिष्य माना है परंतु साथ ही वह श्री भट्टजी को भी उन्हीं का शिष्य मानता है जो निर्णयात्मक रूप से केशव काश्मीरी भट्ट के शिष्य थे। अतः यह रचना अप्रामाणिक ही सिद्ध होती है।

२९. **संप्रदाय भास्कर :** गोस्वामी गंगाप्रसाद, कटड़ानील दिल्ली, द्वारा संकलित एवं प्रकाशित—इस ग्रंथ में प्रत्येक संप्रदाय को रुद्र संप्रदाय (विष्णुस्वामी संप्रदाय) के अंतर्गत सिद्ध करने की चेष्टा की गयी है। इनके कथनानुसार नारदजी की परंपरा में होने के कारण निम्बार्क एवं माध्व संप्रदाय भी रुद्र संप्रदाय के अंतर्गत हैं। स्वामी हरिदासजी तथा श्री हरिवंशजी को भी इन्होंने रुद्र संप्रदाय के अंतर्गत बताया है। स्वामी हरिदासजी के संबंध में इनका कथन है :—

'एवंच सारस्वतकुलकमलप्रभाकरगर्गाचार्यान्वयश्रीमल्ललितांशावतार हरिवदाराध्य-श्रीहरिदासस्वामिभिरपि श्रीविष्णुस्वामिसम्प्रदाय एवानुष्ठितस्तत्र ललितायाः प्राधान्यात्।'

(पृ० ३८)

३०. **'हरिदासजी के पद (अपूर्ण पद संग्रह)** हरिदास परमानंद आदि।'—(हस्तलिखित)—नागरी प्रचारिणी सभा संग्रह, सं० ३६४/२६२। पुस्तकालय की सूची में

१. माध्व गौड़ेश्वर संप्रदाय के अन्यतम दो सांप्रदायिक शोधकर्त्ताओं बाबा कृष्णदास, कुसुमसरोवर तथा बा० हरिदासदास, नवद्वीप ने मुझे बताया कि 'वैष्णव वंदना' केवल वृन्दावनदास की ही लिखी मिलती है तथा उसमें केवल श्रीकृष्ण चैतन्य के परिकर के भक्तों का ही वर्णन है। 'चारिसंप्रदाय वैष्णव वंदना' जैसी कोई पुस्तक उनके देखने में नहीं आयी।

पुस्तक का नाम भ्रमात्मक है। वास्तव में इस पोथी में दो-चार पदों को छोड़कर शेष सभी पद श्री राधावल्लभीय संप्रदाय के कवियों के हैं। सबसे पहला पद स्वामी हरिदास की छाप लिए है परंतु न उनकी वाणी में है, न इस पोथी के अतिरिक्त अन्यत्र मिलता ही है। वह पद इस प्रकार है :—

'नमो रंगीली के निज अंस।
गुह्यतरी जगतरी प्रकासित को जाने यह गंस ॥ १ ॥
जातन कृपा दृष्टि भरी चीतवत असुभकर्म सब नंस।
हरिदास के स्वामी स्यामा कुंजवीहारी सतगुर श्री हरिवंश ॥ २ ॥

स्पष्ट है कि स्वामी हरिदास द्वारा श्री हरिवंशजी की इस प्रकार प्रार्थना कराने का यह प्रयास उन्हें श्री हितहरिवंश का शिष्य सिद्ध करने के लिए ही किया गया है।

३१. **भक्तनाममालिका (संस्कृत)** वनमालीदास शास्त्री, प्रकाशित सं० २००७। यह एक आधुनिक रचना है। इसके पृ० १२ पर स्वामी हरिदासजी का नाम इस श्लोक में आया है :—

श्रीआशुधीरतनयो हरिदासवर्यः
श्रीव्यासकोलिभगवान् मधुगोपितश्च।
श्रीविट्ठलादिविपुलश्च घमण्डिरंगौ
श्रीकृष्णदासबुधवर्णिवरौ च सोझाः।

३२. **टट्टीस्थान की एक सनद :** हिजरी सन् १२१६ (सं० १८५८) इस सनद पर बादशाह शाहआलम की मुहर है तथा इसके अनुसार "मोहनीदास की खानकाह के फकीरों के खर्च के लिए दर वजह इनाम ८४३ दाम मवाजे कोयला अमला परगना इस्लामाबाद खिलाफत अकबराबाद" की माफी दी गयी है।

स्वामी ललितमोहिनीजी के समय में यह दान संभवत: सिंधिया की ओर से उत्तर भारत के प्रशासक लखवादादा के समय में दिया गया होगा।[1] मुगल सम्राट् की ओर से उन दिनों सिंधिया ही इस प्रदेश का शासन करता था।

कुछ प्राचीन चित्र

स्वामी हरिदासजी के चरित्र संबंधी कुछ विवादों के निर्णय के लिए उनके प्राचीन चित्रों का अध्ययन आवश्यक है। वे किस संप्रदाय के अंतर्गत थे इसका निर्णय करने के लिए उनके प्राचीन चित्रों में दिये गये उनके तिलक और कंठी महत्त्वपूर्ण प्रमाण हैं। वृन्दावन के सभी वैष्णव संप्रदायों के वैष्णवों की पहचान उनके भिन्न-भिन्न तिलकों और कंठियों से की जा सकती है। संतों के प्राचीन चित्रों को देखने से पता चलता है कि उनके तिलक पहले भी संप्रदाय के अनुसार अलग-अलग थे तथा उनमें शताब्दियों के बाद भी कोई अंतर नहीं पड़ा है। उनके अनुयायी उन्हीं तिलकों का प्रयोग करते हैं। तिलक बदलते हैं परंतु तभी जब

१. ललितप्रकाश के इस दोहे से भी हमारे अनुमान की पुष्टि होती है :—

कामा में लखुवा मिल्यो भेंट कीन तिन्ह वित्त।
बन में लीन्हीं भूमि जब, भा प्रसन्न अति चित्त ॥ ४६७ ॥

—ललितप्रकाश, पृ० १२६

मूल संप्रदाय के अंतर्गत किसी उपसंप्रदाय का निर्माण होता है या जब मूल संप्रदाय की अलग-अलग शाखाएँ अपना अलग-अलग अस्तित्व रखना चाहती हैं। लेकिन उस समय भी ये तिलक संप्रदायों के ऐतिहासिक विकास के प्रतीक बनते हैं।

स्वामी हरिदासजी के चित्र संप्रदाय के स्थानों में भी मिलते हैं तथा बाहर भी। उनकी संगीत क्षेत्र में भी बड़ी ख्याति है अतः अनेक संगीतप्रेमी भी उनके चित्रों को आदर-पूर्वक रखते आये हैं। संप्रदाय संबंधी विवाद के दो पक्षों—गोस्वामियों और विरक्तों के ठिकानों और मंदिरों में भी अनेक चित्र मिल जायेंगे परंतु इनमें एक तो प्राचीन चित्र हैं ही नहीं दूसरे जिसके यहाँ चित्र होता है उसका तिलक भी उसी की मान्यता के अनुसार बना रहता है अतः इनके आधार पर किसी निर्णय पर पहुँचना कठिन है। हम यहाँ संप्रदाय के बाहर के कुछ ऐसे चित्रों का विवरण देंगे जो प्राचीन भी हैं तथा जिनके सांप्रदायिक विवाद के कारण बनावटी होने का संदेह भी नहीं किया जा सकता। ऐसे जो चित्र हमने देखे हैं उनका परिचय इस प्रकार है :—

१. स्वामी हरिदासजी का चित्र—भारतकला भवन काशी—संग्रह संख्या ५५१—कला भवन के अध्यक्ष श्री रायकृष्णदासजी के अनुसार यह चित्र सन् १७५० के कुछ पहले का बना होगा। इसकी शैली राजस्थानी है। ४$\frac{३}{८}$″ × ३″ का यह छोटा-सा चित्र हमारे देखे हुए स्वामीजी के चित्रों में सबसे सुंदर है। इसकी पृष्ठभूमि का प्रधान रंग हरा है। पीछे एक पेड़ है। उस पेड़ पर कुछ बंदर हैं तथा एक बंदर उनके सामने, चित्र के दाहिने

कोने में बैठा है। स्वामीजी के सामने एक लाल रंग का मिट्टी का 'करुवा' रखा है। वे भूमि पर बैठे हैं तथा पेड़ की एक डाल का उन्होंने सहारा ले रखा है। उनके हाथ में एक तम्बूरा है जिसे वे बजा रहे हैं। शरीर पर केवल एक घुटनों से भी ऊपर की सफेद धोती है। उनके गले में दो लड़ की गर्दन से चिपटी हुई कंठी है तथा माथे पर लगभग आधी नाक से प्रारंभ होकर ऊपर की ओर जाने वाला तिलक है। यह तिलक किसी सफेद से रंग से बना है तथा माथे पर तिलक के बीच में एक छोटी-सी काली बिंदी लगी है। ऊपर की ओर तिलक उत्तरोत्तर चौड़ा होता जाता है।

ये कंठी और तिलक निम्बार्क संप्रदाय के द्योतक हैं।[1] आज भी निम्बार्क संप्रदाय की मूल परंपरा के लोग ऐसा ही तिलक लगाते हैं तथा ऐसी ही कंठी पहनते हैं। यह बात ध्यान देने योग्य है कि आजकल स्वामीजी के विरक्त शिष्य जो तिलक लगाते हैं वह नाक की नोक से प्रारंभ होता है तथा उसमें काली बिंदी नहीं होती। इसका कारण यह है कि स्वामीजी स्वयं तो अपने गुरु द्वारा दिया हुआ तिलक लगाते होंगे। परंतु उन्होंने जो उपासना की नवीन पद्धति बतायी उसके आधार पर उनके प्रशिष्य विहारिनिदेवजी ने उपसंप्रदाय की स्थापना के चिह्न स्वरूप तिलक का स्वरूप थोड़ा परिवर्तित कर दिया। स्वामीजी की वाणी में कोई ऐसे प्रमाण नहीं मिलते जिनसे ज्ञात हो कि वे कोई नवीन संप्रदाय या पंथ चलाना चाहते थे। उनकी उपासना तो केवल स्वान्तः सुखाय थी। उनके शिष्य श्री वीठलविपुलजी का स्वामी हरिदासजी की मृत्यु के बाद केवल सात दिन बाद ही देहावसान हो गया। स्वामी-जी के मत का पल्लवन, उसका सिद्धांत-रूप से कथन, अन्य उपासना मार्गों से उसके विशिष्ट अस्तित्व की प्रतिष्ठा श्री विहारिनिदेव द्वारा की गयी। यही कारण है कि स्वामीजी के पुराने चित्रों में, जो निश्चय ही किन्हीं समसामयिक चित्रों के आधार पर बनते चले आते होंगे, निम्बार्क संप्रदाय का तिलक मिलता है तथा उनके अनुयायियों के मस्तक पर भिन्न तिलक।

विहारीजी के गोस्वामी अपने को विष्णु स्वामी संप्रदाय के अंतर्गत मानतें हैं तथा स्वामीजी का भी वही संप्रदाय बताते हैं। इनका तिलक नासिका के मूल भाग (नाक के अंत और माथे के प्रारंभ) से ऊपर उठता है। यह चंदन या गोपी चंदन से लगाया जाता है तथा बीच में उसी रंग की बिंदी होती है। उनके यहाँ भी स्वामीजी के चित्र मिलते हैं परंतु वे सभी आधुनिक हैं तथा उनमें इनका-सा ही तिलक बना रहता है। इनके अधिकार में केवल एक कुछ प्राचीन चित्र हमने निधिवन में गो० श्री जयविहारीलालजी के पास पूजा में देखा था। इस चित्र में स्वामी हरिदासजी, तानसेन तथा अकबर तीनों एक साथ हैं। किसी ने हाल ही में चित्र के ऊपर काली स्याही से सं० १६६६ आषाढ़ शुक्ला १० लिख दिया है जो स्पष्ट ही चित्र को प्राचीन सिद्ध करने का प्रयास है। इस चित्र के रंग ऐसे झड़ गये हैं कि तिलक का कहीं पता ही नहीं चलता।

१. वृन्दावन के अन्य संप्रदायों में से माध्व गौड़ेश्वर संप्रदाय का तिलक 'भालदार' तिलक कहलाता है तथा नासिका की नोक से प्रारंभ होता है। नाक पर उसका आकार त्रिकोणवत् होता है गोल नहीं। यह त्रिकोण भी नीचे भरा हुआ रहता है केवल रेखा मात्र नहीं। वृन्दावन के श्री राधावल्लभीय संप्रदाय में तिलक भौंहों के बीच से प्रारंभ होता है। नीचे गोल होता है तथा ऊपर की ओर रेखाएँ समानांतर रहती हैं।

विष्णुस्वामी संप्रदाय का तिलक वैसा ही होता है जैसा आजकल विहारीजी के गोस्वामी गण लगाते हैं तथा जिसका वर्णन हम यहीं कर रहे हैं।

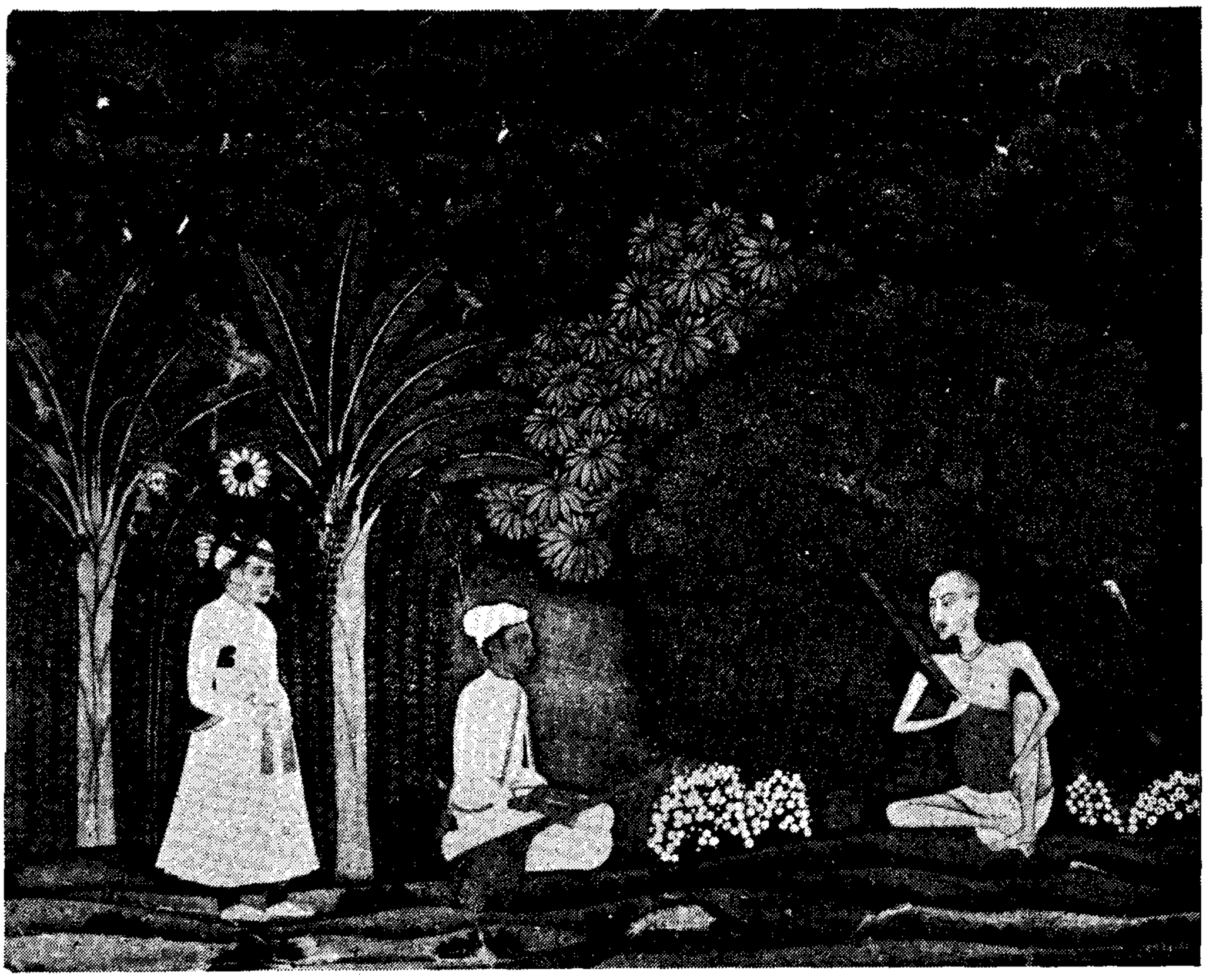

२. स्वामी हरिदासजी, तानसेन तथा अकबर का चित्र—नेशनल म्यूजियम, राष्ट्रपति भवन, दिल्ली–संग्रह सं० ४८-१४।६१ रचना-काल १७-१८वीं शती ईसवी—राजस्थानी शैली। (देखिये संलग्न चित्र) इस चित्र में स्वामीजी हाथ में तानपूरा लिये बैठे हैं। सामने तानसेन बैठे हैं तथा उनके पीछे बादशाह अकबर खड़े हैं। सुनहरी अक्षरों में तीनों आकृतियों के नीचे लिखा है—स्वामी हरिदासजी, मीयाँ तानसेन, पातस्याह अकबर। कलाभवन के चित्र से स्वामीजी की आकृति थोड़ी भिन्न है। इस चित्र में उनके मुख पर कुछ मूंछें हैं। कलाभवन के चित्र के समान ही कंठी तथा तिलक निम्बार्क संप्रदाय के हैं—वही दुहरी कंठ से चिपकी हुई कंठी। वही नाक के लगभग तिहाई भाग से प्रारंभ होने वाला तिलक तथा माथे पर तिलक के बीच में श्याम बिंदी। तानसेन के माथे पर भी वैसा ही तिलक है तथा अकबर के माथे पर त्रिपुंड है। तीनों की आयु की तुलना करें तो अकबर सबसे अधिक वृद्ध हैं, उनसे स्वामीजी कम आयु के लगते हैं और उनसे कम आयु के तानसेन। यह स्थिति इतिहास से मेल नहीं खाती। तानसेन का मृत्यु संवत् १६४६ बताया जाता है तथा अकबर का वृन्दावन आगमन सं० १६२७ माना जाता है। तानसेन इस समय ५० वर्ष के रहे होंगे। अकबर की आयु इस समय २७ वर्ष की रही होगी तथा स्वामीजी की आयु साम्प्रदायिक मान्यता के अनुसार लगभग ९० वर्ष। इस भूल का कारण यही ज्ञात होता है कि हमारे भारतीय परिपाटी के चित्रकारों को अपनी स्मरणशक्ति के आधार पर ही व्यक्तियों के चित्र बनाने का अभ्यास रहता था।

वे जिन अपने समकालीन लोगों का चित्र (शबीह) भी बनाते थे उसे उनके सामने बैठकर पाश्चात्य पद्धति की पोट्रेट की शैली से नहीं बनाते थे।[1] अतः इस चित्रकार के मन में तीनों व्यक्तियों का जो स्वरूप उनके विभिन्न चित्रों को देखते रहने के कारण, स्थिर हो गया होगा वही उसने तीनों के सम्मिलित चित्र में अंकित कर दिया।

३. स्वामी हरिदासजी, तानसेन तथा अकबर का चित्र—भारत कला भवन काशी के संग्रह में—संख्या ५२९—शैली राजस्थानी (श्री रायकृष्णदास के कथनानुसार संभवतः मेवाड़ की कलम)—आकार ७ $\frac{१}{४}$" × ६"। यह किसी साधारण चित्रकार द्वारा बनाया हुआ एक भद्दा-सा चित्र है। राय साहब के कथनानुसार यह १८वीं शती ई० के अंतिम भाग का होगा।

इस चित्र में स्वामीजी अधिक आयु के, तानसेन उनसे कम आयु के तथा अकबर और भी कम आयु के युवक जैसे लगते हैं।

इस चित्र में स्वामी हरिदास के शरीर पर तिलक तथा कंठी नहीं है।

४. स्वामी हरिदास, तानसेन तथा अकबर का चित्र—किशनगढ़ नरेश के संग्रह में—इस चित्र को मैंने स्वयं नहीं देखा है। भारतीय पुरातत्त्व विभाग के सेंट्रल एशियन एंटिक्विटीज़ म्यूजियम के संग्रह में किशनगढ़ के अनेक चित्रों के निगेटिव रखे हैं। उनमें से दो चित्रों (संख्या ४०० तथा ४०८) को स्वामी हरिदासजी का बताया गया है। वास्तव में सं० ४०० का चित्र श्री हितहरिवंश का है, हरिदास जी का नहीं। सं० ४०८ के चित्र में स्वामीजी बैठे हैं, तानसेन सामने बैठे हैं तथा अकबर पीछे खड़े हैं। निगेटिव में तिलक आदि का स्पष्ट पता नहीं चलता था और शायद प्रिंट से भी पता न चलता। अतः हमारी प्रार्थना पर म्यूजियम के फोटोग्राफर ने केवल स्वामीजी के चित्र का एक एनलार्जमेंट हमें बनाकर दिया जिससे स्पष्ट हो गया कि इस चित्र में स्वामीजी के माथे पर अन्य चित्रों की भाँति निम्बार्क तिलक तथा कंठ में वैसी ही कंठी है।

यह चित्र कितना पुराना होगा इसके संबंध में हमें किसी विशेषज्ञ की राय न मिल सकी किंतु यह चित्र संभवतः नेशनल म्यूजियम के चित्र से विशेष पुराना होगा। कहा जाता है कि शाहजहाँ के समय में होनहार नामक चित्रकार ने कुछ हिंदू संतों के चित्र तैयार किये थे जो किशनगढ़ नरेश अमरसिंह ने शाहजहाँ से प्राप्त किए। यदि यह चित्र भी उन्हीं चित्रों में से एक है तो निश्चय ही यह अन्य चित्रों से पुराना होगा। होनहार ने जो चित्र बनाये वे भी परंपरा प्राप्त किन्हीं पुराने चित्रों के आधार पर रहे होंगे। अतः इन चित्रों में लिखी स्वामीजी की आकृतियाँ उनकी वास्तविक देह तथा मुखाकृति का ही ज्ञान कराती हैं।

संप्रदाय के मंत्र

किसी भी संप्रदाय के चरम मंत्र उसकी उपासना पद्धति के सूत्र होते हैं। 'चरम मंत्र' कहने का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक गुरु अपने शिष्यों को कई प्रकार के मंत्र देता है। साधारण गृहस्थ लोग संपत्ति, संतान या धार्मिक वृत्तियों के साधारण संतोष के लिए मंत्रादि जपते हैं। अतः ऐसे लोगों को दीक्षा देते समय गुरु उन्हें साधारण नाम स्मरण का मंत्र देते हैं। ब्राह्मणादि

१. यह तथ्य मुझे इन चित्रों के संबंध में विचार विनिमय करने पर श्री रायकृष्णदास तथा श्री वासुदेवशरण अग्रवाल से प्राप्त हुआ।

जाति के लोग, जिन्होंने थोड़ा-बहुत धार्मिक ग्रंथों का अध्ययन भी किया है, मंत्र को उपासना की दृष्टि से ग्रहण करते हैं। परलोक के सौख्य की भावना भी उसमें सम्मिलित रहती है। अतः गुरु उन्हें कुछ अधिक महत्त्वपूर्ण मंत्र देते हैं। किंतु रस संप्रदायों में 'चरम मंत्र' रस का मंत्र माना जाता है और वह उन्हीं को दिया जाता है जो रस के मर्म को समझने के योग्य हैं, वैराग्य धारण करके जो निकुंजलीला का मानसी ध्यान कर सकने की परिस्थिति में पहुंच गये हैं।

स्वामीजी के संप्रदाय से संबंधित ठिकानों में से कौन उनकी उपासना की किस कोटि में ठहरता है इसका ज्ञान प्राप्त करने के लिए भिन्न-भिन्न मंत्र एक आवश्यक सामग्री हैं।

निम्बार्क संप्रदाय के मंत्र : इस संप्रदाय की मूल शाखा में साधारण शिष्य को द्वादशाक्षर मंत्र (ॐ नमो भगवते वासुदेवाय) या अष्टाक्षर मंत्र (श्रीकृष्णः शरणं मम) दिया जाता है। पढ़े-लिखे या अधिकारी शिष्य को गोपाल मंत्र (ॐ क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजनवल्लभाय स्वाहा) दिया जाता है। गोपाल मंत्र ही इस संप्रदाय का चरम मंत्र है तथा इससे इस संप्रदाय की रस-उपासना के सूत्र का पता चलता है।

स्वामी हरिदासजी की गद्दियों के मंत्र : श्री रसिक विहारीजी के मंदिर के महंत लोग पहले द्वादशाक्षर मंत्र देते हैं, पढ़े-लिखे तथा ब्राह्मण शिष्य को गोपाल मंत्र देते हैं तथा अधिकारी ब्राह्मण या विरक्त शिष्य को युगल मंत्र देते हैं। युगल मंत्र ही इस ठिकाने का चरम मंत्र है तथा वह इस प्रकार है :

'ॐ नमस्तुभ्यं भगवते कृष्णायाकुंठमेधसे
श्रीराधाधरसुधासिंधौ नमो नित्यविहारिणे।'

निकुंज केलि का यहाँ स्पष्ट संकेत ही इसे रस का मंत्र बनाता है। गोरीलालजी की गद्दी के महंत भी इसी परिपाटी से मंत्र देते हैं।

टट्टीस्थान की परिपाटी में अष्टाक्षर, द्वादशाक्षर तथा गोपाल एवं उपर्युक्त युगल मंत्र तो क्रम से दिये ही जाते हैं परंतु उनका चरम युगल मंत्र जो केवल अधिकारी विरक्तों को ही मिलता है भिन्न है। वह है—

'श्री कुंजविहारिनि, श्री कुंजविहारी, श्री वृन्दावन, श्री हरिदास।'

इससे पता चलता है कि टट्टीस्थान की उपासना में श्रीकृष्ण का ब्रज का स्वरूप (कृष्ण या नंदनंदन) ग्राह्य नहीं, उनका कुंजविहारी रूप ही ग्राह्य है। वृषभानुनंदिनी राधा उपास्य नहीं 'कुंजविहारिणी' ही उपास्य हैं। श्री वृन्दावन भी उपास्य कोटि में आ जाता है तथा स्वामी हरिदास (सहचरि या गुरु) भी उतने ही उपास्य हैं जितने विहारी-विहारिनि। और सभी मंत्र किसी न किसी संहिता या पुराण के आधार पर बने हैं परंतु यह मंत्र वाणी के आधार पर बना तथा उन सबसे भिन्न है। अतः इससे यह भी द्योतित होता है कि स्वामी हरिदासजी के मत के रसिक तंत्र, संहिता या पुराणों में वर्णित रस की पद्धति के उपासक नहीं, स्वामी हरिदास द्वारा उद्घाटित रस के ही अनन्य उपासक हैं।

टट्टीस्थान के अनेक साधारण शिष्यों को इसी से मिलता-जुलता एक मंत्र दिया जाता है : 'श्री कुंज विहारी, श्री कुंज बिहारिनि, श्री ललित किशोरी, श्री ललितमोहिनी, श्री हरिदास।'

विहारीजी के गोस्वामी अष्टाक्षर या द्वादशाक्षर मंत्र, गायत्री मंत्र आदि अनेक मंत्र शिष्यों को देते हैं, परंतु स्वयं गोस्वामियों को दीक्षा देते समय जो मंत्र देते हैं उसे वे भी युगल मंत्र कहते हैं परंतु वह उपर्युक्त दो युगल मंत्रों से भिन्न है। मुझे उसके अक्षरों का ज्ञान नहीं परंतु गोस्वामी छबीले वल्लभ के कथनानुसार वह सनत्कुमार संहिता से लिया गया है। सनत्कुमार संहिता के ३२वें पटल (पूजा पटल) में दिये सूत्रों के अनुसार केवल यह मंत्र बनता है :

'ॐ क्लीं नमो राधावल्लभाय सखीगण प्रेमविवर्द्धिने स्वाहा'

संभवत: यही मंत्र गोस्वामियों का युगल मंत्र होगा। परंतु यह मेरा अनुमान मात्र है।

मौखिक सामग्री

रस की उपासना के संप्रदायों का एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण अंग 'रस की पहचान' अत्यंत गुप्त रहता है। न इसका वर्णन किसी ग्रंथ में होता है न बाहर इसकी कोई कथावार्ता ही होती है। जिन संप्रदायों का आधार ब्रह्मसूत्र, गीता या भागवत हैं उनके सिद्धांतों का विवेचन तो विद्वान लोग अपनी तर्कबुद्धि से कर लेते हैं, परंतु जहाँ वाणी ही प्रधान आधार है तथा उसकी व्याख्या तथा उसका उपासना में उपयोग गुरु केवल अपने अंतरंगांतरंग शिष्यों को ही बताता है, वहाँ वास्तविक भेद को पकड़ पाना बड़ा टेढ़ा काम है। माध्व-गौड़ेश्वर संप्रदाय जैसे संप्रदायों की भी, जहाँ सैकड़ों सिद्धांत ग्रंथ लिखे गये हैं, उपासना की पद्धति विद्वानों की पकड़ में आ गयी है, ऐसा नहीं है। 'उज्ज्वल नीलमणि' इस संप्रदाय का आदर्श रस ग्रंथ है परंतु यह न समझिये कि उसे पढ़ने से गौड़ीय संप्रदाय का रस भेद समझा जा सकता है। यही कारण है कि आज तक वैष्णव संप्रदायों पर जो ग्रंथ लिखे गये हैं उनमें रस की उपासना का पक्ष एकदम अपूर्ण रह जाता है तथा उन संप्रदायों के भक्तों की दृष्टि में हमारे बड़े से बड़े साहित्यिकों का प्रयास हास्यास्पद बनकर रह जाता है।

स्वामी हरिदासजी के संप्रदाय में तो रस ही सार है। इस संप्रदाय के टट्टीस्थान की गद्दी के विरक्त ही रस के विशेष अनन्य हैं। इन विरक्तों से यदाकदा रस की चर्चा करके हमने उसे समझने की चेष्टा की है। इन मौखिक वार्त्तालापों में जो कुछ प्राप्त हो सका है उससे हम शायद संप्रदाय के रस की कोर छू पाये हों। इस रस को ठीक से समझने के लिए हमने अन्य संप्रदायों के संतों, कथावाचकों आदि के भी रस संबंधी कथा-वार्त्तालाप आदि में भाग लिया है। इस मुखोद्भूत सामग्री का प्रयोग हम अपने रस संबंधी अध्याय में करेंगे। संभव है यह अध्ययन रस संप्रदाय संबंधी शोध में एक नयी दिशा सुझाये। सांप्रदायिक भावुकों की दृष्टि में हमारा यह रस परिचय स्वभावत: ही पूर्ण एवं प्रौढ़ नहीं होगा परंतु हमें आशा है कि संप्रदाय के बाहर के एक व्यक्ति द्वारा, इतने जटिल प्रतिबंधों में बंधे रहस्य तत्त्व का, यह प्रारंभिक अध्ययन उनकी दृष्टि में भी क्षम्य होगा।

आशा है संप्रदाय के ग्रन्थों के अध्ययन संबंधी प्रतिबंध धीरे-धीरे शिथिल होंगे। संप्रदाय के विद्वान एवं रसिक जिज्ञासु साहित्यिकों के समक्ष अपने घर के तत्त्व की चर्चा करने का संकोच शनैः-शनैः छोड़ देंगे और तब हिंदी के शोधकर्त्ता एवं साहित्यिक इस संप्रदाय के प्रभूत वाणी साहित्य का सांगोपांग अध्ययन करने का सौभाग्य प्राप्त कर सकेंगे।

तृतीय अध्याय

जीवन-चरित्र

स्वामी हरिदासजी

स्वामी हरिदासजी की जन्मतिथि : स्वामीजी की जन्मतिथि लगभग सभी लोग भाद्रपद शुक्ला अष्टमी मानते हैं। केवल दो उल्लेख इसके विरुद्ध हैं :

१. केलिमाल की भूमिका में श्री चक्र ने पौष शुक्ला १३ को स्वामीजी की जन्म-तिथि माना है और उसका आधार दिया है 'मीराते सिकंदरी[1]।' जैसा हम पहले स्पष्ट कर चुके हैं मीराते सिकंदरी में स्वामीजी का नाम भी नहीं है, जन्मतिथि होना तो दूर की बात है। अन्यत्र भी इस कथन की पुष्टि कहीं नहीं होती। अतः ज्ञात होता है कि भूमिका लेखक अथवा उसे सामग्री देने वालों का प्रयास विरक्तों में चली आती प्रत्येक परंपरा का खंडन करने के उद्देश्य से ही किया गया है। इस प्रमाण को ग्राह्य नहीं माना जा सकता।

२. ग्राउज़ के अनुसार भक्तसिंधु नाम की भक्तमाल की टीका में स्वामीजी की जन्मतिथि भाद्रपद कृष्ण ८ बतायी गई है[2]। यह ग्रन्थ आजकल नहीं मिलता। संभव है अनुवाद करने में ग्राउज़ ने भूल की हो। इस कथन की भी अन्यत्र कहीं पुष्टि नहीं होती। इसके विपरीत भाद्रपद शुक्ला अष्टमी के जो अनेक प्रमाण मिलते हैं उनके सामने यह प्रमाण असिद्ध है।

स्वामी हरिदासजी की शिष्य परंपरा के विरक्त साधु तथा बाँकेविहारीजी के गोस्वामी दोनों भाद्रपद शुक्ला अष्टमी को स्वामी हरिदासजी के जन्म-दिवस का उत्सव धूमधाम से मनाते हैं। यह उत्सव परंपरा से चला आया है। स्वामी ललितकिशोरीदेवजी ने स्वामीजी की बधाई इस प्रकार लिखी है :

"भादों सुकल अष्टमी भूपर प्रगटे श्री हरिदास।
घर-घर प्रति अति होत कुलाहल नर-नारीन हुलास॥

१. 'चक्र', केलिमाल, भूमिका, पृ० २०।
२. ग्राउज—मथुरा ए डिष्ट्रिक्ट मेम्वायर, पृ० २०२।

उदित मुदित दुति भानु किरन ज्यों पूरन प्रेम प्रकास ।
विपुल विनोद भयो सबहिन कै संग विहारिनदास ।। १७ ।।

—'सिद्धांत रत्नाकर', पृ० ६० ।

गो० बैंनदास की पदावली में एक बधाई इस प्रकार है :—

नमो नमो जै श्री हरिदास रसिककुल मंडन ।
भादों मास उजियारी आठैं प्रघट भये आसधीर के नंदन ।
सब सुखदाई बजत बधाई सबही के मन भाई करत सकल जन वंदन ।
गंगारानी जायो दासवैंन मन भायो छिरकत दूध दही केशरि घिसि चंदन ।।१४८

—पदावली, बैंन, ना० प्र० सभा संग्रह ।

निजमत सिद्धांत में लिखा है :—

'सम्वत पंद्रह सै सैंतीसा । भादौं शुक्ल अष्टमी दीसा ।
बुद्धवार मध्यान्ह विचार्‌यो । श्री हरिदास प्रगट तनुधार्‌यो ।'

—निजमत सिद्धांत, मध्य खंड, पृ० ५४ ।

श्री सहचरिशरण की आचार्योत्सव सूचनिका में लिखा है :—

श्री स्वामी हरिदास कृपानिधि रसिक अनन्य महीपति ।
तिनकौ प्रगट जन्म लीला दिन सुन हुलसाय लाय चित ।।
भादौं शुक्ल अष्टमी मनहर पुनि बुधवार पुनीता ।
संवत् पंद्रह सै सैंतिश कौं ता बिच उदित सुमीता ।।१।।

—भगवतरसिक की वाणी (प्रकाशित सं० १९७१) परिशिष्ट, पृ० १३४ ।

अतः यह निश्चित है कि स्वामीजी की जन्मतिथि भाद्रपद शुक्ला अष्टमी हा है ।

स्वामी हरिदासजी का जन्म संवत् : स्वामी हरिदासजी की विरक्त शिष्य परंपरा के सभी लेखक एकमत से स्वामीजी का जन्म संवत् १५३७ बताते हैं । इस संबंध में निजमत सिद्धांत (किशोरदास), आचार्योत्सव सूचनिका (सहचरिशरण), आचार्यस्तव माला (अमोलकराम) सभी सहमत हैं । किंतु ग्राउज़ के कथनानुसार 'भक्तसिंधु' के लेखक ने इनका जन्म संवत् १४४१ लिखा है। गोस्वामियों के पक्ष के कई लेखकों ने अलग-अलग मत दिए हैं । बलदेव कवि की वंशावली के अनुसार इनका जन्म सं० १५१५ में हुआ । इस वंशावली का यह कथन इस प्रकार है :

'संमत पंध्रै सै कहैं तापर पंद्रै जानि,
श्री स्वामी हरिदासजी प्रगटे भुव पर आनि ।'

गो० रामनाथ ने अपने 'कुंजविहारी सर्वस्व में' स्वामीजी का जन्म संवत् १५८४ माना है। गोस्वामी ओंकारनाथजी के संग्रह की केलिमाल की पोथी के बाद के पृष्ठों में किसी ने पीछे से यह टूटाफूटा श्लोक जोड़ दिया है जो 'कुंजविहारी सर्वस्व' के संवत् की पुष्टि करता है :

'वेदाष्टवानः क्षपमीषके गते भाद्रस्थिते सर्वभूमौ प्रविजो हरि ।
प्रसादोस्तु कले विवस्वान् तीर्थेत्तमे दोउ कुलप्रसीदे ।

केलिमाल की भूमिका में श्री चक्र ने 'मीराते सिकंदरी' के आधार पर (?) सं० १५६९ को स्वामीजी का जन्म संवत् माना है । 'धर्मयुग' तथा 'रामसंदेश' के लेख एवं श्री शरणविहारी गोस्वामी का 'हरिदास महाकाव्य' भी इसी कथन की पुष्टि करते हैं । 'साधन' ने 'अकबरनामा' के आधार पर (?) स्वामी जी का जन्म सं० १५६९ माना है ।

'वृंदावन धामानुरागावली' के लेखक ने एक ही पुस्तक में दो मत दिये हैं। गोस्वामियों के वर्णन के प्रसंग में उन्होंने सं० १५०९ को जन्म संवत् माना तथा निधिवन का वर्णन करने में सं० १५३७ को। इस प्रकार हमारे सामने १४४१ से लेकर १५८४ तक के सात संवत् हैं जिनमें से उचित विवेचन द्वारा हमें स्वामीजी का जन्म संवत् ग्रहण करना है।

स्वामी हरिदासजी के जन्म संवत् का विवेचन करने से पहले हम कुछ ऐसे तथ्यों का उल्लेख कर देना चाहते हैं जो इस विवेचन में कसौटी का काम करेंगे। वे तथ्य इस प्रकार हैं :—

स्वामीजी की आयु अधिकांश लेखकों ने ९५ वर्ष मानी है। 'निजमत सिद्धांत', 'ललितप्रकाश', 'आचार्यस्तव माला', 'केलिमाल की भूमिका' (चक्र), 'वृंदावनधामानुरागावली' का निधिवन सम्बन्धी उल्लेख—ये सभी उनकी आयु ९५ वर्ष बताते हैं। भक्तसिंधु के अनुसार उनकी आयु ९६ वर्ष थी। केवल गो० रामनाथ ने अपने 'कुंजविहारी सर्वस्व' में स्वामीजी की मृत्यु सं० १६६५ में ८१ वर्ष की आयु में लिखी है। हमारा अनुमान है कि इस सम्बन्ध में इनका आधार था ग्राउज़ का मेम्वायर जिसने अपने अनुमान से सं० १६६५ के लगभग स्वामीजी का मृत्यु संवत् निर्धारित किया है। परन्तु ग्राउज़ ने जन्म संवत् कहीं निश्चित नहीं किया है, अतः गोस्वामी रामनाथ ने मृत्यु संवत् तो पुष्ट प्रमाण समझ ग्राउज़ से ले लिया, परन्तु जन्म संवत् की खोज में रहे। संभव है यह जन्म संवत् उन्हें 'वेदाष्टवानः-क्षपम्' इस श्लोक से मिला हो जो किसी ने उन्हीं के पड़ोस में रखी एक पोथी पर कभी लिख दिया था। इसी कारण उनके मत में स्वामीजी की आयु केवल ८१ वर्ष की ही रही। अतः इनके द्वारा दी हुई आयु को हम प्रामाणिक नहीं मानते। शेष सभी लोगों के मत में स्वामीजी ने ९५-९६ वर्ष की आयु पायी थी तथा उन्होंने २५ वर्ष की आयु में वैराग्य लिया था। वैराग्य लेने के ५ वर्ष बाद उनके उपास्य श्री बांके विहारी का प्राकट्य हुआ था।

अकबर से भेंट—इतिहासकारों का कहना है कि अकबर सं० १६२७ (ग्राउज़) या सं० १६३० में (वाजपेयी) वृंदावन आया था। कई दो सौ ढाई सौ वर्ष पुराने चित्रों से इस धारणा की पुष्टि होती है कि अकबर स्वामीजी से मिला था। अकबर का जन्म सं० १६०० में हुआ था।

तानसेन स्वामीजी का संगीत-शिष्य था। इस सम्बन्ध में संगीतज्ञों में चली आती किंवदंतियों के अतिरिक्त ये प्राचीन चित्र एक पुष्ट प्रमाण हैं। पिछले अध्याय में संकलित भक्तमाल की कई टिप्पणियों से भी इस बात की पुष्टि होती है। निजमत सिद्धांत आदि संप्रदाय के ग्रंथों में भी तानसेन के स्वामीजी का संगीत-शिष्य होने तथा अकबर के साथ उनके पास आने का उल्लेख है। तानसेन के पदों में भी स्वामीजी के प्रति श्रद्धा के प्रमाण हैं। उसके निम्नलिखित पद में स्वामीजी के उपास्य बांकेविहारी जी का नाम लिया गया है :—

रागिनी भैरव। ताल चौताल

अन्तकाल कृपा करो। हिआ-पर ठाढ़ो हरि कंवल-नैन, कंवला पति, मुरली अधर, ललित मधुर, बंकिम भइ बंकविहारी।

बदनखीन, इन्द्रियहीन, पाप सुवंरि सुवंरि अस्थिर प्रान, निरासा प्रवर, विश्व अंधार, गेह छोड़ प्रान जात हरि। (इत्यादि)

—(विश्ववाणी, नवंबर १९४६, पृ० ३७३, श्री सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या के लेख 'कविवर तानसेन' से उद्धृत)

अतः निश्चित है कि तानसेन का स्वामी हरिदासजी से संपर्क रहा होगा। श्री सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने अपने उपर्युक्त लेख में तानसेन का जन्म सं० १५७७ के लगभग तथा मृत्यु सं० १६४६ में मानी है[1]। यह पहले राजाराम बघेले के आश्रय में रहते थे तथा सं० १६१९ में अकबर ने जलालुद्दीन कूरची को भेजकर राजाराम के यहाँ से इन्हें अपने दरबार में बुला लिया।[2] किंवदंती है कि तानसेन ने किशोरावस्था में ही स्वामीजी से संगीत सीखा था।

बैजू बावरा या बैजू नायक स्वामीजी के संगीत के शिष्य थे यह किंवदंती भी संगीतज्ञों में बहुत प्रचलित है। सं० १५४३-१५७३ के आसपास यह रहे होंगे ऐसा माना जाता है।[3] 'मीराते सिकंदरी' के अनुसार सं० १५९१ में ये गुजरात के सुलतान बहादुरशाह के यहाँ थे।[4] यद्यपि इस ग्रन्थ के इस अनुवादक ने इस नाम को मंझू पढ़ा है परंतु यह उनकी भूल ज्ञात होती है। अलीगढ़ विश्वविद्यालय के संग्रह में एक हस्तलिखित फारसी ग्रंथ मीराते आफताबनुमा (संग्रह सं० ४९, रचना-काल सं० १८६०, लिपिकाल सं० १८६२) है जिसके लेखक नवाब अब्दुर्रहमान ने मीराते सिकंदरी से इसी स्थल की घटना को बैजू नायक के नाम के साथ उद्धृत किया है। (डॉ० रिजवी तथा डॉ० नूर-अल-हसन भी इस नाम को बैजू ही मानते हैं।) बैजू के संबंध में यह भी कहा जाता है कि वे ग्वालियर के राजा मानसिंह तोमर (राज्यकाल सं० १५४३-१५८०) के यहाँ रहे थे। अतः यदि इस प्रचलित किंवदंती पर विश्वास करें कि बैजू स्वामी हरिदासजी के शिष्य थे तो बैजू युवावस्था में सं० १५७० के लगभग स्वामीजी के संपर्क में आये होंगे।

श्री हरिराम व्यास : श्री हरिराम व्यास (सं० १५६७-१६६९) स्वामीजी के अति-निकट सुहृद थे। इन्हें स्वामीजी के प्रति बड़ी श्रद्धा थी जिसका परिचय इन्होंने यत्र-तत्र अपनी वाणी में दिया है। ये सं० १६१२ में वृन्दावन में आकर रहने लगे। इसके बाद यह स्वामीजी के निकट सम्पर्क में आते रहे। स्वामीजी की मृत्यु का उल्लेख इन्होंने एक पद में किया है :

'विहारहिं स्वामी बिनु को गावै।'

इस पद को हम पहले उद्धृत कर चुके हैं।

मीरांबाई : मीरां सं० १५९५ में वृन्दावन आयीं। ये यहाँ के सब संतों से मिलीं तथा उसी वर्ष यहाँ से लौट गयीं। कुछ लोग तो यह भी कहते हैं कि ये स्वामी हरिदासजी के साथ अकबर से मिली थीं परंतु यह बात नितांत असंगत है। सं० १५९५ में तो अकबर

१. सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, कविवर तानसेन, विश्ववाणी, नवम्बर १९४६, पृ० ३६५।
२. आईने अकबरी, ब्लाकमैन, द्वितीय संस्करण, पृ० ४४५।
३. जरनल आफ दी यू० पी० हिस्टोरिकल सोसायटी, ग्रन्थ २१, भाग १-२, १९४८ ई०, श्री शीतोले, 'तानसेन', पृ० १८०।
४. मीराते सिकंदरी, अनु० फजलुल्लाह लुतफुल्लाह फरीदी, प्र० एजूकेशन सोसायटी प्रेस, धरमपुर, पृ० १९२।

का जन्म भी नहीं हुआ था। हाँ, यह अवश्य है कि वे स्वामीजी से मिली होंगी तथा उन्होंने स्वामीजी के उपास्य श्री बाँकेविहारी के दर्शन भी किए होंगे। यह इस पद से और भी स्पष्ट हो जाता है जिसमें उन्होंने श्री बाँकेविहारीजी की वंदना की है :—

'हमरो प्रणाम बाँके विहारी को।
यह छवि देखि मगन भई मीरां मोहन गिरिवरधारी को।'

(साहित्य संदेश, भाग १३, अंक ६, श्री किरण के लेख 'क्या मीरां वृन्दावन गयी थीं' से उद्धृत, पृ० २७४)

यदि वे स्वामीजी से न भी मिली हों तो भी उनके उपास्य की प्रसिद्धि सुन उनके दर्शनों को गयीं, यह तो इस पद से निश्चित ही है।

इन तथ्यों को ध्यान में रखकर हम स्वामीजी के जन्म संबंधी सभी संवतों का एक-एक कर विवेचन करेंगे :—

सं० १४४१ (भक्तसिंधु)—इन्होंने स्वामीजी की मृत्यु सं० १५३७ में मानी है तथा दिल्ली के सम्राट् के साथ तानसेन के स्वामीजी के दर्शनार्थ आने का उल्लेख किया है। तानसेन के आश्रयदाता दिल्ली सम्राट् अकबर का जन्म ही संवत् १६०० है अतः इनका जन्म संवत् १४४१ किसी प्रकार ग्राह्य नहीं हो सकता।

सं० १५०९ (वृन्दावनधामानुरागावली, गोस्वामियों के प्रसंग में), सं० १५१२ (वृन्दावनधामानुरागावली, निधिवन के प्रसंग में) तथा सं० १५१५ (बलदेव कवि की वंशावली) भी इसी कारण नहीं टिक सकते क्योंकि इनके अनुसार यदि सं० १६०४, १६०७ या १६१० में स्वामीजी का निधन मानें तो अकबर से उनकी भेंट की संगति नहीं बैठती। अतः यह तीनों संवत् भी असंगत सिद्ध होते हैं।

सं० १५६९ में जन्म तथा सं० १६६४ में मृत्यु मानें तो भी कई कठिनाइयाँ आती हैं—१. तानसेन का जन्म सं० १५७७ माना गया है। स्वामीजी का जन्म सं० १५६९ में मानने पर वह उनसे केवल ८ वर्ष ही छोटा सिद्ध होता है। किंवदंती में यह प्रसिद्ध है कि स्वामीजी ने बड़ी आयु में बालक या किशोर तानसेन को शिक्षा दी।

२. श्री हरिराम व्यास का जन्म सं० १५६७ है[1]। अतः वे स्वामीजी से भी आयु में २ वर्ष बड़े ठहरेंगे फिर उनकी स्वामीजी के प्रति इतनी श्रद्धा ठीक नहीं जँचती। पुनः यह निश्चित है कि व्यासजी जब प्रथम बार सं० १५९१ में वृन्दावन आये तो स्वामी हरिदासजी से मिले। तभी तो सं० १६१२ में पुनः वृन्दावन आने[2] से पूर्व उन्होंने इस प्रकार के उत्कंठा भरे वाक्य लिखे हैं :—

(अ) कब मिलिहैं वे सखी सहेली हरिवंशी हरिदासी।
(आ) अब न और कछु करने रहने हैं वृन्दावन।
मिलिहैं हित ललितादिक दासी, रास में गावत सुनि मन।

यदि सं० १५६९ में स्वामी हरिदासजी का जन्म मानें तो सं० १५९४ में उनका वृन्दावन में वैराग्य लेकर आना सिद्ध होगा। फिर वे सं० १५९१ में व्यासजी के इतने श्रद्धा-भाजन कैसे बन सकते थे।

१. वासुदेव गोस्वामी, भक्तकवि व्यासजी, पृ० ४१।
२. वही, पृ० ७३।

३. मीरां सं० १५९५ में वृन्दावन आयीं और उन्होंने बाँकेविहारी का दर्शन किया परंतु सं० १५६९ में जन्म मानने पर तो बाँकेविहारीजी का प्राकट्य ही सं० १५९९ में संभव होगा। तब मीरां ने उनके दर्शन कैसे कर लिये और उनको अपने पद में प्रणाम कैसे किया।

४. इस संवत् के मानने पर बैजू का शिष्य होना, तो सम्भव हो ही नहीं सकता क्योंकि उनकी आयु ही स्वामीजी से बहुत अधिक ठहरेगी।

अत: इन सब तर्कों के बाद हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि स्वामीजी का जन्म संवत् १५६९ नहीं हो सकता।

सं० १५८४ (कुंजविहारी सर्वस्व) को स्वामीजी का जन्म सं० मानने में तो यह कठिनाइयाँ और भी अधिक सामने आयेंगी। इस संवत् के अनुसार तो तानसेन भी स्वामीजी से ७ वर्ष बड़े होंगे। मीरां की मृत्यु (सं० १६०३) तक भी स्वामीजी वैराग्य न ले सके होंगे। मीरां के वृन्दावन आगमन के समय बाँकेविहारीजी के दर्शन की तो बात ही दूर है। व्यासजी स्वामीजी से १७ वर्ष बड़े ठहरेंगे। अत: निश्चित है कि यह संवत् भी अग्राह्य है।

अब केवल एक ही संवत् रह जाता है और वह है सं० १५३७। इस सम्वत् से उपर्युक्त किसी घटना की संगति नहीं बिगड़ती। फिर जिन ग्रन्थों से अन्य संवत् लिये गए हैं उनमें सबसे पुरानी रचना है वृन्दावनधामानुरागावली-सं० १९००। किन्तु सं० १५३७ का उल्लेख सबसे प्रथम प्रामाणिक रूप से 'निजमत सिद्धांत' में मिलता है जो वृन्दावन-धामानुरागावली से भी ८० या ९० वर्ष पूर्व लिखा जा चुका था। अत: सबसे प्राचीन प्रमाण भी यही है।

जो ग्रंथ सं० १५३७ को स्वामीजी का जन्म संवत् नहीं मानते उनकी धारणा में भी १५३७ एक महत्त्वपूर्ण संख्या अवश्य है। भक्तसिंधु सं० १५३७ में स्वामीजी की मृत्यु मानता है। वृन्दावनधामानुरागावली ने सं० १५३७ में विहारीजी का प्राकट्य माना है। यह अनुमान किया जा सकता है कि सं० १५३७ की स्वामीजी के जन्म सम्वत् सम्बन्धी प्रसिद्धि पहले से चली आती थी अत: ये लेखक उस सम्वत् की उपेक्षा तो न कर सके किन्तु किन्हीं कारणों से उसे अन्य घटनाओं का संवत् बता दिया।

सं० १५३७ के जन्म संवत् सम्बन्धी उल्लेख में एक बाधा अवश्य है। 'निजमत सिद्धांत' तथा उसके आधार पर 'आचार्योत्सव सूचनिका' ने स्वामीजी का जन्म दिन बुधवार को बताया है, परन्तु गणित से[1] सं० १५३७ की भाद्रपद शुक्ला अष्टमी को सोमवार निश्चित होता है। ज्ञात होता है कि तिथि में यह 'बुधवार' जोड़ देना किशोरदासजी की अपनी कल्पना रही होगी। किन्तु इन सभी संवतों में सबसे अधिक तर्कसंगत सं० १५३७ ही है तथा उसी को हम स्वामी हरिदासजी का जन्म संवत् मानेंगे।

स्वामी हरिदासजी के माता-पिता, जाति एवं जन्मस्थान : स्वामीजी के चरित्र सम्बन्धी तथ्यों में यही तीन बातें सबसे अधिक विवाद का विषय हैं और ये एक-दूसरी से सम्बद्ध हैं। विहारीजी के गोस्वामियों का कथन है कि स्वामीजी के पिता आसुधीरजी थे जो सारस्वत ब्राह्मण थे और अलीगढ़ (कोल या कोर) के पास उस स्थान के रहने वाले थे जहाँ आज हरिदासपुर है तथा वहीं स्वामीजी का जन्म हुआ था। विरक्तों का कथन है कि

१. डॉ० श्री माताप्रसाद गुप्त ने मेरी प्रार्थना पर तिथिवार-गणना कर यह पुष्ट किया है कि भाद्रपद शुक्ला अष्टमी सं० १५३७ को सोमवार था। एतदर्थ मैं उनका आभारी हूँ।

स्वामी आसुधीरजी हरिदासजी के गुरु थे तथा उनके पिता गंगाधरजी थे जो सनाढ्य ब्राह्मण थे तथा वृन्दावन के पास राजपुर में रहते थे और वहीं स्वामी हरिदासजी का जन्म हुआ।

यह विवाद क्यों ? विवाद का विषय है—श्री बांकेविहारीजी की सेवा तथा निधिवन में स्वामीजी के स्थान की सेवा का अधिकार। ये दोनों सेवायें आज गोस्वामियों के हाथ में हैं तथा उनकी मान-प्रतिष्ठा तथा पैत्रिक जीविका का साधन हैं। स्वामी हरिदासजी तथा स्वामी विट्ठलविपुलजी के बाद स्वामी हरिदासजी की उपासना की पद्धति, वाणी की परंपरा एवं उनकी 'रहनी और कहनी' का उत्तराधिकार उनके विरक्त शिष्यों को मिला। सामान्यत: लोक में संतों के विरक्त शिष्यों को ही उनका वास्तविक उत्तराधिकारी माना जाता है और इस नाते उन्हें पूर्ण प्रतिष्ठा प्राप्त होती है। परंतु यहाँ बात अजीब-सी रही। विरक्त स्वामी हरिदासजी के शिष्य थे किन्तु वे उनके उपास्य ठाकुर की मनचाही सेवा न कर सके और बाद में उनके स्थान तथा समाधि से भी उन्हें हाथ धोना पड़ा। गृहस्थ गोस्वामियों में सब शांत स्वभाव या सहिष्णु नहीं हो सकते। संभव है समय-समय पर विरक्तों को विहारीजी के दर्शन करने में भी बाधाएँ आयी होंगी। फलस्वरूप झगड़े हुए। 'निजमत सिद्धांत' में लिखा है कि गोस्वामियों ने स्वामी विहारिनिदेवजी की हत्या कराने की चेष्टा की।[1] हलधर ने गोस्वामियों से विहारीजी को छीन लेने के प्रयास में प्राण दिये।[2] स्वा० ललितमोहिनीदेवजी के समय से निधिवन में भयानक मारकाट हुई जिसमें दो गोस्वामी मारे गये और तब से निधिवन से विरक्तों का रहा-सहा अधिकार भी जाता रहा।[3] आज-कल का विवाद केवल मौखिक विवाद रह गया है जिसके पीछे अपने-अपने आत्म-सम्मान की तुष्टि की भावना छिपी है। गोस्वामी कहते हैं कि 'हम स्वामी हरिदासजी के भाई के वंशज हैं, उनके कुल के हैं, अत: स्वामीजी के वास्तविक उत्तराधिकारी हैं, विरक्त तो हमारे पूर्वजों के शिष्य मात्र हैं।' विरक्तों का कथन है कि 'हमारे स्वा० विहारिनिदेवजी ने अपनी मानसी उपासना में तल्लीन रहने के कारण सेवा का भार गो० जगन्नाथजी को सौंप दिया था। अत: वास्तव में तो विहारीजी हमारे ही हैं, सेवा भले ही गोस्वामीगण किया करें।' परन्तु सैकड़ों वर्षों से चले आते हुए विवाद के कारण स्वामीजी के चरित्र सम्बन्धी तथ्य अंधकार में छुप गये हैं और उचित निर्णय करना लगभग असम्भव हो गया है।

यहाँ हम उपलब्ध सामग्री का क्रमानुसार विवेचन करेंगे :

नाभाजी का छप्पय : स्वामीजी के अनुमानत: कुछ ही दिन पीछे नाभाजी ने भक्त-माल की रचना की होगी। उन्होंने लिखा है :—

'आसुधीर उद्योतकर रसिक छाप हरिदास की।'

यहाँ 'उद्योतकर' का अर्थ क्या है—पुत्र या शिष्य—यह विचारणीय है। भक्तमाल के टीकाकारों या भक्तमाल के आधार पर भक्त चरित्र लिखनेवालों में से अधिकांश लेखक इस शब्द के अर्थ के विषय में कोई प्रकाश नहीं डालते। केवल तीन अपेक्षाकृत आधुनिक लेखकों ने इसका अर्थ 'पुत्र' माना है। वे हैं :

१. टीका—भक्ति सुधास्वादतिलक (राम रसरंग मणि)—'स्वामी श्री हरिदासजी

१. निजमतसिद्धांत, अवसान खंड, पृ० ९८।
२. वही, पृ० ९९-१०१।
३. ललितप्रकाश (सहचरिशरण), पृ० ११९-१२०।

शृंगार उपासना में बड़े ही दृढ़ और धीर हुए । अपने पिता श्री आसुधीरजी के सूर्यवत् प्रताप से रसिकों में आप प्रसिद्ध हुए ।' (पृष्ठ ८७७)

२. संस्कृत भक्तमाल (चंद्रदत्त)—

'आसधीरेति नाम्नासीद्विप्रो गुर्ज्जर संभवः ।
तस्य पुत्रोतिविख्यातो हरिदास इति श्रुतः ।।७।। (पृ० १४६)

३. टीका भक्तसिंधु—ग्राउज़ ने अपने मेम्वायर (पृ० २०२) में भक्तमाल की एक टीका भक्तसिंधु से उद्धृत किया है कि 'हरिदासजी आसुधीर के पुत्र थे ।'

विहारीजी के गोस्वामी 'उद्योतकर' का अर्थ पुत्र ही मानते हैं । किन्तु इसके विपक्ष में विरक्तों का मत है कि 'उद्योतकर' का अर्थ शिष्य है क्योंकि विरक्तों में शिष्य ही गुरु के नाम को उजागर करता है । यदि उद्योतकर का शाब्दिक अर्थ 'पुत्र' मान भी लें तो विरक्तों की परंपरा में शिष्य की भी 'पुत्र' संज्ञा होती है । उदाहरणार्थ श्री हरिव्यासदेवजी के जन्म की बधाई में कहा गया है :—

'भयो लाल रसिक प्रतिपाल जु श्री भटराज कैं ।'

यह निश्चित है कि हरिव्यासदेवजी श्री भट्टजी के शिष्य थे पुत्र नहीं, फिर भी यहाँ उन्हें केवल पुत्र ही नहीं कहा गया, गुरु के घर उनका जन्म लेना तक कह दिया गया । स्वामी हरिदासजी के प्रशिष्य स्वा० विहारिनिदेवजी ने कई जगह अपने पक्ष में इस प्रकार के उल्लेख किये हैं :—

"हम अनन्य श्री स्वामी हरिदास वंशी"
"राख्यो व्रत हरिदास सपूतनि"
"रहियो पूता दुरादुरी"

इन पंक्तियों में 'वंशज', 'सपूत', 'पूत' का अर्थ सर्वत्र 'शिष्य' है अतः नाभाजी के 'उद्योतकर' का अर्थ 'पुत्र' मान लेने पर भी शिष्य का वाचक होगा ।[1]

विरक्तों का कथन है कि "वैराग्य लेने के बाद व्यक्ति के माता-पिता, भाई-बंधु आदि का नाम नहीं लिया जाता, गुरु का कुल ही उसका कुल होता है, गुरु को छोड़ पिता के नाम का ग्रहण कभी किसी विरक्त के संबंध में नहीं हो सकता । अतः नाभाजी परम विरक्त स्वामी हरिदासजी के पिता का नाम नहीं ले सकते ।"

यह बात ठीक है कि नाभाजी ने प्रायः इसी नियम का पालन किया है परंतु इसके अपवाद भी हैं । उन्होंने अधिकांश में गृहस्थ महानुभावों के पिता तथा विरक्त महानुभावों के गुरु के नाम ही लिखे हैं परंतु एक-दो जगह विरक्तों के भी पिता या भाई-बंधुओं के नाम आ गये हैं । उनके छप्पयों से कुछ उदाहरण देखिये :—

श्री हितहरिवंशजी के सम्बन्ध में—

'व्यास सुवन पथ अनुसरे सोई भले पहिचानिहै ।' ९० ।।

श्री हरिराम व्यास के सम्बन्ध में—

'सुकल सुमोखन सुवन अच्युतगोत्री जु लड़ाये ।' ९२ ।।

गो० बिट्ठलनाथजी के सम्बन्ध में—

'वल्लभ सुत बल भजन के कलियुग में द्वापर कियो ।' ७९ ।।

१. श्री विश्वेश्वरशरण—सर्वेश्वर, वर्ष ४ अंक ९, लेख 'श्री स्वामी हरिदासजी महाराज', पृ० ५ ।

ये तीनों महानुभाव गृहस्थ थे और उनके पिता का नाम स्पष्टतः ग्रहण हुआ है।

श्री परशुरामदेव के सम्बन्ध में—

'श्री भट पुनि हरिव्यास संतमारग अनुसरई ।' १३८ ॥

श्री परशुरामदेव विरक्त थे। यहाँ उनके गुरु तथा उनके गुरु के गुरु का नाम स्मरण किया गया है।

श्री हरिवंश के सम्बन्ध में—

'शिष, सपूत श्रीरंग कौ उदित पारषद अंश के ।
निष्किचन भक्तन भजे हरि प्रतीति हरिवंश के ।' १७६ ॥

यहाँ 'शिष्य' के साथ 'सपूत' शब्द का प्रयोग विरक्तों के मत की पुष्टि करता है तो दूसरी ओर श्री माधवदास के प्रसंग में—

'बहुरो माधवदास भजनबल परचो दीनों ।
परमधर्म विस्तार हित, प्रगट भये नाहि न तथा ।
सोदर सोभूराम के सुनौं संत तिनकी कथा ।' १९० ॥

यहाँ निम्बार्क सम्प्रदाय के आचार्य (विरक्त) श्री स्वभूरामदेवजी के लघु भ्राता माधवदासजी को जो उनके शिष्य भी थे[1] केवल सोदर ही कहा गया है, शिष्य नहीं।

करमैतीबाई के प्रसंग में—

'निर्मल कुल कांथड्या धन्य परसा जिहि जाई ।' १६१ ॥

यहाँ करमैतीबाई के कुल एवं पिता का नाम लिया गया है।

श्री भगवत मुदित के प्रसंग में—

'माधव सुत संमत रसिक तिलक दाम धरि सेव लिय ।' १९८ ॥

यहाँ श्री भगवत मुदितजी, जो विरक्त थे, के पिता का नाम स्पष्टतः लिया गया है।

उपर्युक्त उद्धरणों से प्रकट है कि नाभाजी ने विरक्त महानुभावों के गुरु या पिता का नाम ग्रहण करने या न करने के सम्बन्ध में किसी विशेष नियम का दृढ़ता से पालन नहीं किया। यह स्पष्ट है कि 'उद्योतकर' शब्द का अर्थ पुत्र के पक्ष में भी लग सकता है और 'शिष्य' के पक्ष में भी, अतः वास्तव में नाभाजी ने इस शब्द का किस अर्थ में प्रयोग किया था, कहा नहीं जा सकता।

स्वा० रसिकदेवजी कृत गुरु परंपरा : नाभाजी के बाद का पहला उल्लेखनीय कथन है रसिकदेवजी की गुरु परंपरा का। टट्टीस्थान से छपी 'आचार्य वंश परंपरा' में रसिकदेवजी के गुरु नरहरिदेवजी की भी एक गुरु परंपरा प्रकाशित हुई है परन्तु जैसा हम पहले विवेचन कर चुके हैं, इसे हम प्रामाणिक नहीं मानते। रसिकदेवजी की छपी हुई गुरु परंपरा के स्वामी हरिदासजी सम्बन्धी श्लोक इस प्रकार हैं :

'आशुधीरस्य शिष्यो यो हरिदासः प्रकीर्त्तितः ।
दयादिगुणसम्पन्नः सनाढ्यद्विजवंशजः ॥ ४४॥
अनन्याधिपतिः श्रीमान् गुरूणाञ्च गुरुः प्रभुः ।
सर्वशास्त्रार्थतत्वज्ञो भक्तिवैराग्यवारिधिः ॥ ४५॥

१. निम्बार्कमाधुरी, पृ० ४४५।

युग्मकेलिप्रदर्शी च युग्मसेवापरायणः ।
निकुञ्जस्थित राधायाः संखीभावं समागतः ॥ ४६॥
परमाधुर्य्य सिक्तात्मा परमाधुर्य्यचिन्तकः ।
परमाधुर्य्यमग्नानां स्वामी सिद्धस्वरूपधृक् ॥ ४७॥

किन्तु हमें जो तीन हस्तलिखित गुरु परंपरायें रसिकविहारीजी तथा गोरेलालजी के मंदिरों के पुस्तकालयों में मिलीं उनमें स्वामीजी सम्बन्धी श्लोक इस प्रकार हैं :

"आसुधीरस्य शिष्यो यो हरिदासः प्रकीर्त्तितः ।
अनन्याधिपतिः श्रीमान् गुरूणां च गुरुः प्रभुः ॥ ४६॥
युग्मकेलिप्रदर्शी च युग्मसेवापरायणः ।
निकुंजस्थितराधायाः सखीभावं समागतः । ४७॥
परममाधुर्य्यशक्तात्मा परममाधुर्य्यचिन्तकः ।
परममाधुर्य्यमग्नानां स्वामी सिद्धस्वरूपधृक् ॥ ४८॥"

उपर्युक्त पंक्तियाँ गोरेलालजी के मंदिर की प्राचीन प्रति (पुष्करदास की लिपि) से उद्धृत की गई हैं। शेष दो प्रतियों का पाठ भी इसी प्रकार है। स्पष्ट है कि छपी हुई परंपरा में स्वामी हरिदासजी को 'सनाढ्य' सिद्ध करने के लिए कुछ पंक्तियाँ जोड़ दी गई हैं। इस परंपरा के बाद स्वा० पीतांबरदेवजी ने भी एक गुरु परंपरा लिखी किन्तु उसमें भी स्वामीजी की जाति या पिता का नाम नहीं है। अतः इन गुरु परंपराओं से भी स्वामीजी के पिता या जाति के सम्बन्ध में कोई प्रामाणिक जानकारी नहीं मिलती।

निजमत सिद्धांत : नाभाजी के बाद इन विषयों पर प्रथम स्पष्ट उल्लेख मिलता है श्री किशोरदासजी के 'निजमत सिद्धांत' में। प्रथम बार इसी ग्रंथ में यह उल्लेख मिलता है कि स्वामीजी के पिता सनाढ्य ब्राह्मण गंगाधर थे, माता चित्रा तथा जन्म-स्थान राजपुर।[1] पूर्ववर्ती वाणियों में इन उल्लेखों की पुष्टि के लिए कोई संकेत प्राप्त नहीं होते। केवल स्वामी विहारिनिदेवजी की वाणी में एक स्थान पर तीन ब्रजवासियों के नाम बड़ी श्रद्धा से लिए गये हैं जो 'निजमत सिद्धांत' में भी मिलते हैं। स्वा० विहारिनिदेवजी का पद है :

'हौं ब्रजवासिन कौ पाल्यौ पीला ।
आस पास रखवारौ डोलौं बोलौं, हरिजस लीला ॥
आहट पाऊँ टेरि जगाऊँ, जपना भगना भीला ।'

(सिद्धांत के पद, १४०)

निजमत सिद्धांत में इन जपना, भगना तथा भीला का उल्लेख इस प्रकार है :

'गंगाधर के मित्र सचीला । इक जपना इक भगना भीला ।
तीन मित्र गंगाधर केरे, निशिदिन रहत सकल मिलि नेरे ।'

निजमत सिद्धांत, मध्य खंड पृ० ३९।

विहारिनिदेवजी के पद से यह तो सिद्ध होता है कि उन्हें इन ब्रजवासियों के प्रति बड़ा श्रद्धाभाव था। इनका अवश्य ही स्वामी हरिदासजी से विशिष्ट संबंध रहा होगा। परन्तु इससे अधिक केवल इस पद के आधार पर कुछ नहीं कह सकते। केवल यही एक पंक्ति निजमत सिद्धांत के गंगाधर एवं राजपुर संबंधी कथनों को पुष्ट नहीं कर सकती।

१. निजमत सिद्धांत, मध्य खंड, पृ० ३९-४७।

पुनः यह भी विचारणीय है कि निजमत सिद्धांत के अनुसार जपना, भगना तथा भीला स्वामीजी के पिता के मित्र थे और स्वयं स्वामीजी ने ९५ वर्ष की पूर्ण आयु पाई। अतः स्वा० विहारिनिदेवजी के समय में स्वा० हरिदासजी के पिता के समवयस्कों का विद्यमान रहना कठिनता से ही संभव है।

स्वामीजी के चरित्र के सम्बन्ध में मिलनेवाले लिखित प्रमाणों में निजमत सिद्धांत ही सबसे प्राचीन है, परंतु इसके कथन संदेह से परे नहीं कहे जा सकते। 'निजमत सिद्धांत' की रचना के बहुत पहले से विरक्तों और गोस्वामियों में झगड़ा चला आता था। स्वयं निजमत सिद्धांत के ही अनुसार गोस्वामी स्वामीजी को सारस्वत वंश में उत्पन्न एवं आशुधीरजी का पुत्र मानते आये थे, गोस्वामियों के हाथों हलधर की मृत्यु के प्रसंग में किशोरदासजी लिखते हैं :

'श्री हलधर यमुना पधराये, बंकविहारी निज घर लाये।
तब प्रबंध कीनों इक भारी, सेवा कीनी विविध प्रकारी।
जो कुल रीति सदा चलि आई। सो फिरि इन कीनी दृढ़ताई।
रासदास शृंगार करातौ। मेघश्याम नृप भोग लगातौ।
शंन मुरारिदास अधिकारी, या विधि सेए बंकविहारी।
द्विज तैं धरी गुसाईं छापा। हम बड़ हम बड़ करत अलापा।
भाट बुलाय तिन्हें धन दीनों। उन पोथी मधि निश्चय कीनों।
आशधीर जू के सुत दोई। श्री हरिदास पुत्र बड़ होई।
प्रथम ब्याह करके तज्यो, फिरि कीन्हों बैराग।
बंक विहारी प्रगट करि सेए युत अनुराग ॥२१४॥
जगन्नाथ तिनके लघुभाई, ताके शिर सेवा पधराई।
तिन तव पुत्र तीन उपजाए, तासु वंश हम हूँ चलि आए।

—निजमत सिद्धांत, अवसान खंड, पृ० १०१-१०२।

इन्हीं पंक्तियों के ठीक बाद किशोरदासजी 'आशुधीरजी के पुत्र जगन्नाथ' के संबंध में प्रकाश डालते हुए लिखते हैं :—

आशुधीर जू गृही कहाए, प्रथम पुत्र उनहूँ उपजाए।
जगन्नाथ ताहू को नामा, तिन तनु तज्यौ न परनी बामा।
जीवत ही लखि इष्ट बिहारी। मिलकि भेंट करि दीनी सारी।
कूप भवन तिन बहुत बनाए। ते हरिदास नाम युत गाए।
तासु नाम तें नाम मिलायौ। भाटन तें छलयुत लिखवायौ।

किशोरदासजी के अनुसार गोस्वामियों ने अपने स्वार्थ के लिए भाटों को धन देकर स्वामी हरिदासजी के आशुधीरजी के पुत्र एवं जगन्नाथ के अग्रज होने की कथा उनकी बहियों में छल से लिखवा ली। संभव है यह सत्य हो। किन्तु यह भी संभव है किशोरदास अपने मत प्रतिपादन के लिए ही ऐसा कहते हैं और स्वयं उनकी दी हुई कथा ही कल्पित है। किशोरदासजी के समय में भी दोनों पक्षों का विवाद इतना बढ़ चुका था कि दोनों पक्षों में से किसी भी पक्ष द्वारा तथ्यों के तोड़ने-मरोड़ने का प्रयास किया जा सकता था। ऐसी परिस्थिति में हम यही कह सकते हैं कि निजमत सिद्धांत स्वा० हरिदासजी के माता-पिता तथा जाति सम्बन्धी लिखित उल्लेखों में सबसे प्राचीन है, विरक्तों की एतद्विषयक मान्यताओं का मूल आधार है परन्तु उसे स्वतःसिद्ध प्रमाण के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता।

विरक्त परंपरा के अन्य ग्रन्थ : 'निजमत सिद्धांत' के बाद इस परंपरा में जितने भी ग्रंथ लिखे गये उनमें निजमत सिद्धांत में कथित परंपरा का ही अनुकरण किया गया है। ये ग्रंथ हैं—श्री सहचरि शरण कृत 'ललित प्रकाश' तथा 'गुरु प्रणालिका' एवं श्री अमोलक राम कृत 'आचार्य स्तव माला'। इन्होंने भी राजपुर में सनाढ्य वंश में स्वा० हरिदासजी का जन्म तथा पिता और माता का नाम गंगाधर और चित्रा माना है। इन्होंने स्पष्ट ही ये तथ्य 'निजमत सिद्धांत' से प्राप्त किये हैं, अतः इनका अलग विश्लेषण करने की आवश्यकता नहीं।

इस परंपरा के पोषक बाहर के ग्रंथ : 'वृन्दावनधामानुरागावली' में विरक्तों के प्रसंग में लेखक ने स्वामीजी के पिता का नाम गंगाधर, माता का चित्रा तथा जाति सनाढ्य ब्राह्मण बताई है। जन्म-स्थान के सम्बन्ध में उनका कहना है कि इनका गाँव गंगा के किनारे 'उखरायौ' था जहाँ से ये राजपुर में आ बसे। यह 'उखराया' कहाँ है इसका बिलकुल पता नहीं चलता और न कहीं इसका नाम अन्यत्र मिलता है। अतः इनका यह कथन ध्यान देने योग्य नहीं है। माता-पिता तथा जाति के सम्बन्ध में इन्होंने 'निजमत सिद्धांत' का ही अनुकरण किया है।

भक्तसिंधु : भक्तमाल की 'भक्तसिंधु' टीका, जिसका उल्लेख ग्राउज़ ने किया है, के अनुसार स्वामी हरिदासजी के पिता तो आसुधीरजी ही हैं परंतु वे जाति के सनाढ्य हैं तथा उनका विवाह राजपुर में गंगाधर के घर होता है और वहीं हरिदासजी का जन्म होता है। ज्ञात होता है कि भक्तसिंधु के लेखक ने गोस्वामियों तथा विरक्तों के कथनों को मिलाकर यह धारणा बनाई अन्यथा आसुधीरजी को वह सनाढ्य न लिखता। आसुधीरजी को तो निजमत सिद्धांत ने भी सारस्वत माना है। अतः इस कथन का भी प्रमाण की दृष्टि से विशेष महत्त्व नहीं है।

मथुरा गजेटियर : इस ग्रंथ के उद्धरणों का आधार है ग्राउज़ का मेम्वायर्स। इसने ग्राउज़ से भक्तसिंधु के उद्धरणों को लेकर संक्षेप में लिख दिया है।

भक्तमाल, नारायणदास की टिप्पणी : (रचना-काल सं० १९०१) इन्होंने लिखा है कि कोई स्वामी हरिदासजी को आसुधीरजी का पुत्र कहते हैं, कोई शिष्य। इन्होंने विवाद के दोनों पक्षों का उल्लेख भर किया है। जन्मस्थान इन्होंने अवश्य राजपुर बताया है परंतु वह 'निजमत सिद्धांत' के आधार पर ही लिखा होगा।

गोस्वामियों के पक्ष के समर्थक उल्लेख : गोस्वामियों के पक्ष का सबसे बड़ा समर्थक इनका वंशवृक्ष है। इनके पक्ष की सामग्री के परिचय में हम दिखा चुके हैं कि समय-समय पर यत्र-तत्र आने वाले गोस्वामियों के नाम इसमें मिलते हैं तथा गोस्वामी जगन्नाथजी से लेकर आज तक की इसमें लिखी परंपरा पर सन्देह करने का कोई कारण नहीं। किन्तु यह वंशवृक्ष गो० जगन्नाथजी से पूर्व की परंपरा का निश्चित प्रमाण नहीं है और केवल इसी के बल पर हम यह नहीं कह सकते कि वास्तव में स्वामी हरिदासजी आसुधीरजी के पुत्र एवं सारस्वत ब्राह्मण थे।

तर्क संग्रह की पुष्पिका : सं० १८४९ में लिखी इस पुष्पिका से, जिसका परिचय हम दे चुके हैं, ज्ञात होता है इस पुस्तक के लिखाने वाले अपने को स्वा० हरिदासजी के वंश का मानते थे।

मथुरा के तीर्थ पुरोहित के यहाँ का सं० १८६३ का लेख : इसकी प्रतिलिपि हम दे

चुके हैं। इसके अनुसार कुछ गोस्वामियों ने सं० १८६३ में अपने पंडे के पास के सं० १६०५ के लेख को देखकर यह नया लेख लिखा और उसमें स्वामी आसुधीरजी के पुत्र स्वामी हरिदासजी, स्वामी जगन्नाथजी तथा स्वामी गोविंददासजी को अपना पूर्वज बताया है। संभव है सं० १६०५ के पुराने लेख का उल्लेख अपने कथन को विश्वसनीय बनाने के लिए ही किया गया हो। हाँ, इससे केवल यही ज्ञात होता है कि सं० १८६३ में गोस्वामी लोग स्वामीजी को आसुधीरजी का पुत्र और सारस्वत मानते थे।

बैंनदास की पदावली : (रचना-काल सं० १८७६) इन्होंने भी स्वामी आसुधीरजी को स्वामी हरिदासजी का पिता तथा गंगा रानी को माता कहा है।

वृन्दावनधामानुरागावली : (रचना सं० १६००) के गोस्वामियों सम्बन्धी उल्लेख में तथा बलदेव कवि की वंशावली (रचना सं० १६२७) में भी स्वामी हरिदासजी को आसुधीरजी का पुत्र बताया है। किन्तु इन दोनों स्थलों में उनका जन्मस्थान मथुरा बताया गया है। मथुरा का उल्लेख केवल इन दो ग्रन्थों में ही मिलता है। इनसे पहले 'निजमत सिद्धांत' में लिखा है कि गोस्वामी स्वामीजी का जन्म कोल में मानते हैं तथा बाद के सभी गोस्वामी पक्ष के लेखकों ने जन्मस्थान कोल ही माना है।

यहाँ तक तो गोस्वामियों के पक्ष के लेखकों ने केवल अपने पक्ष का सीधा-सीधा उल्लेख ही किया है परंतु इसके बाद के जो प्रमाण उपलब्ध हैं उनमें एक अजीब मनोवृत्ति दिखाई देती है कि जैसे भी हो अपने कथन को प्रामाणिक बनाया जाय। इस सामग्री का परिचय हम दे चुके हैं। ब्रह्मानंद की वंशावली को सं० १७७६ की लिखी बताना, जब कि इसमें उसी शैली में आज तक के नाम जुड़े हैं, ऐसा ही प्रयास है। 'केलिमाल' की पुरानी प्रति के साथ अन्य हस्ताक्षरों में जोड़ा हुआ परिचय भी ऐसी ही चेष्टा है। 'कुंजविहारी सर्वस्व' में लालदास के नाम से एक दोहा ही जोड़ दिया गया। 'सारस्वत' पत्र के लेख में अपने कहे अत्यंत अप्रामाणिक परिचय को मीराते सिकंदरी से उद्धृत बताया गया। 'केलिमाल' की भूमिका में मीराते सिकंदरी वा मीराते अकबरी की छठी जिल्द की सृष्टि हुई, चरणोदक ग्राम आदि कुछ नये स्थानों और व्यक्तियों के नाम आ गये तथा लालदास के नाम से एक और दोहा जुड़ गया। 'साधन' के लेख ने अपने सारे कथन का आधार 'अकबर नामा' को बता दिया। इस प्रकार पिछले ३०-४० वर्षों में ऐसे अनेक अनधिकृत प्रयास इस पक्ष से हुए जिनमें कल्पित प्रमाण देने की चेष्टा की गई।

गोस्वामियों द्वारा कथित वंश संबंधी कथन में एक गंभीर त्रुटि है। इन सब लेखकों का कहना है कि हमारा एक परिवार जो स्वामीजी के छोटे भाई गोविन्दजी से प्रारम्भ हुआ अलीगढ़ में चला आता है। अलीगढ़ में जो गोस्वामीजी मुझे मिले उन्होंने यह तो कहा कि हम और वृन्दावन के विहारीजी के गोस्वामी एक ही हैं परंतु उन्होंने जो गोत्र तथा अल्ल बताये वे वृन्दावन के गोस्वामी जनों से भिन्न हैं। वृन्दावन के गोस्वामियों का 'गर्ग' गोत्र तथा 'त्रिगुणायत' अल्ल है जब कि अलीगढ़ के वर्तमान गोस्वामी का 'कात्यायन' गोत्र तथा 'तिक्खे' अल्ल है। उनके पास कोई वंशवृक्ष न होने के कारण हम इस असंगति की युक्तियुक्त परीक्षा नहीं कर सके। इतना तो निश्चित है कि जो व्यक्ति आज अलीगढ़ में हैं वे विहारीजी (वृन्दावन) के गोस्वामियों के कुल के नहीं हैं। अतः या तो स्वा० हरिदासजी को सारस्वत तथा अलीगढ़ (कोल) में उत्पन्न सिद्ध करने के लिए वंशवृक्ष का कथन निराधार है या संभव है बीच में वह वंश परंपरा उच्छिन्न हो गई हो और उत्तरा-

धिकार वंश के किसी संबंधी के कुल में चला गया हो। स्वामीजी के सनाढ्य कुल में गंगाधरजी के यहाँ होने में एक बड़ी बाधा यह है कि 'निजमत सिद्धांत' या उसके आधार पर लिखे ग्रन्थों के अतिरिक्त इस सनाढ्य वंश के अस्तित्व तक का कोई प्रमाण नहीं है। इस समय न तो कोई यह कहने वाला है कि स्वामी हरिदासजी हमारे वंश में हुए थे, न राजपुर में कोई मंदिर, स्थान या स्मारक ही है जिसका दूरागत संबंध भी बताया जा सके। 'निजमत सिद्धांत' के बाद इस ब्राह्मण वंश का पता ही नहीं चलता। स्वामीजी के बाद वह संतति कहाँ गई ? वृन्दावन में अनेक भक्तों और संतों के वंश के लोग अपने को गोस्वामी कहते हैं तथा मंदिरों के अधिकारी हैं। पूर्वजों के विरक्त होते हुए भी उनके वंशजों ने उनके नाम का अपने स्वार्थ के लिए उपयोग किया है। तब इतने बड़े संप्रदाय प्रवर्तक का वंश क्या अपनी प्रतिष्ठा की आकांक्षा भी न करता और यों लुप्त हो जाता। यह स्थिति देख यह संदेह किया जा सकता है कि ऐसा कोई वंश था ही नहीं।

गोस्वामियों के पक्ष में एक बड़ी बात यह है कि स्वामीजी के तुरंत बाद से ही स्वामीजी की सर्वस्व निधि श्री बाँकेविहारी तथा उपासना स्थल 'निधिवन' पर उनका अधिकार चला आता है। झगड़े प्रारंभ से चले आये हैं परंतु उनका अधिकार घटा नहीं बढ़ता ही गया। यह संभव है कि वे केवल सेवा के लिए रखे गये पुजारी हैं और उन्होंने धीरे-धीरे अपना अधिकार दृढ़ कर लिया है और यह भी संभव है कि वे स्वामी हरिदासजी के भाई के ही वंश के हैं।

दोनों पक्षों की प्राप्त सामग्री यद्यपि परिमाण में प्रभूत है, उसमें से कुछ तो लगभग २०० वर्ष पुरानी है, परंतु वह हमें किसी निश्चित मत तक पहुँचने में सहायता नहीं देती। दोनों पक्षों का विवाद सैकड़ों वर्षों से चला आ रहा है और उनमें से किसी की भी लिखित सामग्री संदेह से परे नहीं। अतः आज यह निर्णय करना कि स्वामी हरिदासजी सारस्वत ब्राह्मण थे या सनाढ्य, आसुधीरजी के पुत्र थे या गंगाधर के, उनकी माता का नाम गंगा था या चित्रा, प्रायः असंभव ही है। अतः हमें केवल इन दोनों पक्षों का उल्लेख करके ही संतुष्ट होना पड़ेगा।

जन्मस्थान : स्वा० हरिदासजी के जन्मस्थान के संबंध में पाँच नाम मिलते हैं :

१. हरिदासपुर, २. राजपुर, ३. उखरायां, ४. मथुरा तथा ५. मुलतान।

जैसा हम पहले कह चुके हैं कि स्वामी हरिदासजी के जन्मस्थान का प्रश्न पिता के नाम के साथ जुड़ा हुआ है। आसुधीरजी कोल के पास के रहने वाले थे तथा उसी स्थान पर आज हरिदासपुर नामक गाँव है यह दोनों पक्ष स्वीकार करते हैं। यदि आसुधीरजी स्वामीजी के पिता हैं तो स्वभावतः हरिदासपुर ही स्वामीजी का जन्मस्थान रहा होगा। संभव है पीछे से इस छोटे से गाँव का नाम उन्हीं के नाम पर रखा गया हो। हरिदासपुर के लोगों में भी यह जनोक्ति चली आती है कि स्वामी हरिदासजी यहीं पैदा हुए थे। 'हरिदासपुर' गाँव के परिचय में हम इसका विस्तार से उल्लेख कर चुके हैं।

किन्तु स्वा० हरिदासजी के पिता स्वा० आसुधीरजी थे या नहीं यह संदिग्ध है अतः हरिदासपुर का उनका जन्मस्थान होना भी संदेह से परे नहीं।

राजपुर—निजमत सिद्धांत के अनुसार स्वा० हरिदासजी का जन्म राजपुर में हुआ। स्वामीजी के जन्मस्थान संबंधी उल्लेखों में यही लिखित उल्लेख सबसे प्राचीन है अतः इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। यदि गंगाधरजी को स्वा० हरिदासजी का पिता माना जाय तो स्वभावतः यह भी मानना होगा कि उनका जन्मस्थान राजपुर है परंतु जैसा हम पहले कह

चुके हैं यह तथ्य संदिग्ध है।

आज राजपुर में न तो स्वामीजी के वंश के कोई लोग ही हैं न वहाँ किसी प्रकार का स्मारक है।

उखराया—गंगा तट पर 'उखरायौ' वृन्दावनधामानुरागावली के अनुसार स्वामीजी के पूर्वजों का गाँव था जहाँ से इनका परिवार राजपुर चला गया। किंतु 'उखरायौ' नामक किसी गाँव का कहीं पता नहीं चलता और न इसका अन्यत्र उल्लेख ही है ऐसा हम पहले बता चुके हैं।

मथुरा—यह नाम भी इसी प्रकार 'वृन्दावनधामानुरागावली' के दूसरे उल्लेख में आया है तथा इसी से कुछ समय पीछे की रचना 'बलदेव कवि की वंशावली' में भी मिलता है। परन्तु दोनों ही लेखक इस सम्बन्ध में अविश्वसनीय हैं। वृन्दावनधामानुरागावली के लेखक ने तो स्वयं ही राजपुर, मथुरा, उखराया तीन नाम लिये हैं। कह नहीं सकते इनमें से लेखक स्वयं किसे मानता था। बलदेव ने पहले तो स्वामीजी का मथुरा में जन्म लिखा परन्तु दूसरे ही अध्याय में यह भी लिखा है कि 'स्वामी आसुधीरजी, स्वामी हरिदासजी को लेने 'कोर' से आये और उन्हें वृन्दावन से लिवा ले गये। परन्तु स्वामी हरिदासजी घर में सात ही दिन ठहरे और पुनः वृन्दावन आ गये। अतः बलदेव का कथन भी संदिग्ध हो जाता है। इन दो लेखकों को छोड़ और किसी ने 'मथुरा' का उल्लेख नहीं किया है।

मुलतान—यह नाम मिलता है 'सारस्वत' के लेख में परन्तु इसके लेखक ने किस प्रकार अनेक अनर्गल तथ्य 'मीराते सिकंदरी' या 'मीराते अकबरी' के आधार पर (?) लिख मारे हैं यह हम इस लेख के परिचय में दिखा चुके हैं। अतः इसका कथन विश्वसनीय नहीं माना जा सकता।

अतः सब उपलब्ध सामग्री के विवेचन के बाद हम केवल यही कह सकते हैं कि गोस्वामियों के मतानुसार स्वामी हरिदासजी अलीगढ़ के पास के उस स्थान पर उत्पन्न हुए थे जहाँ आजकल हरिदासपुर नामक गाँव बसा हुआ है, किंतु विरक्तों के मत से उनका जन्म-स्थान वृन्दावन के पास राजपुर है।

स्वामी हरिदासजी का विवाह हुआ था या नहीं ? : गोस्वामियों की इस किंवदंती का कथन हम कर चुके हैं कि "स्वामी हरिदासजी का छोटी आयु में विवाह हो गया था परन्तु कोई संतान नहीं थी। जब वे वैराग्य ले घर से चलने को उद्यत हुए तब उनकी पत्नी ने योगाग्नि में अपने शरीर को भस्म कर डाला।" वे यह भी कहते हैं कि "उन्हें विजया सती के नाम से आज भी पूजा जाता है। उनकी समाधि हरिदासपुर में है तथा हमारे वंश के लोग वहीं बालकों के मुंडन कराने तथा पूजन करने जाते हैं।"

गोस्वामियों के इस कथन का पहला उल्लेख 'निजमत सिद्धांत' में मिलता है जिसे हम उद्धृत कर चुके हैं। इसके बाद के 'बैंनदास की पदावली', 'बलदेव की वंशावली', 'वृन्दावनधामानुरागावली' के गोस्वामियों सम्बन्धी उल्लेख आदि में कहीं स्वामी हरिदासजी के विवाह का उल्लेख नहीं मिलता। उल्लेख मिलता है तो बहुत आधुनिक 'कुंजविहारी सर्वस्व' में जहाँ स्वामी हरिदासजी की पत्नी को 'विजया' नाम दिया गया है। सैकड़ों वर्ष तक जिनका किसी ग्रंथ में कभी नाम नहीं मिला उनका नाम अचानक 'कुंजविहारी सर्वस्व' कार को कैसे ज्ञात हुआ, यह विचारणीय विषय है। इसी की समकालीन रचना 'सारस्वत' पत्र के लेख में स्वामीजी की पत्नी का मृत्यु संवत् १६०७ भी बता दिया गया। इस संवत्

का क्या आधार था ? 'मीराते सिकंदरी' या 'मीराते अकबरी' के नाम से लेखक ने इसे अन्य बातों के साथ प्रमाणित करने की चेष्टा अवश्य की परन्तु हम पहले बता आये हैं कि यह आधार काल्पनिक था।

केलिमाल की भूमिका में पहली बार स्वा० हरिदासजी की पत्नी का नाम 'हरिमती' मिला। यह 'हरिमती' नाम अचानक ४०० वर्ष बाद कहाँ से आ गया यह स्वयं एक रहस्य है। यहाँ भी 'मीराते सिकंदरी' या 'मीराते अकबरी' की छठी जिल्द का सहारा लिया गया जो नितांत भ्रमात्मक है। अतः इन संपूर्ण कथनों में जहाँ स्वामीजी की पत्नी के नाम संवत् आदि आये हैं वे काल्पनिक ज्ञात होते हैं। इन सबसे केवल इतना ही ज्ञात होता है कि निज-मत सिद्धांत की रचना के समय गोस्वामी यह कहते थे कि स्वामीजी का विवाह हुआ था। परन्तु केवल इतने से उस कथन पर विश्वास नहीं किया जा सकता। जिस प्रकार के झगड़े दोनों पक्षों में चल रहे थे, उनमें दोनों ओर से नयी कथाओं की सृष्टि हुई यह स्पष्ट है, और इन कथाओं में से हम विश्वास केवल उन्हीं पर कर सकते हैं जिनको हम बाहर के तथ्यों से प्रमाणित कर सकें। स्वामीजी के विवाह तथा उनकी पत्नी के योगाग्नि में भस्म होकर प्राण देने का संकेत भी कहीं अन्यत्र प्राप्त नहीं होता। यह घटना इतनी महत्त्वपूर्ण थी कि यदि यह सत्य होती तो भक्तमाल का कोई न कोई टीकाकर्त्ता इसका अवश्य संकेत करता। सभी भक्तों के चरित्र में जहाँ परिवार के बंधनों या पद आदि के बंधनों से मुक्त होकर वैराग्य धारण करने की कथा आती है वहाँ भक्त चरित्र के गायकों ने उन्हें खूब बढ़ा-चढ़ाकर कहा है। फिर इतने बड़े संत के जीवन की इतनी बड़ी घटना का क्या वे संकेत भी न करते ? पच्चीस वर्ष की आयु में नवोढ़ा पत्नी का त्याग तथा उसका पति के वियोग में या पति का मार्ग उन्मुक्त करने के लिए प्राणदान ऐसी महत्त्वपूर्ण घटनाएँ थीं जिनकी तुलना भक्तमाल में वर्णित भक्तों के चरित्र में शायद ही एकाध स्थान पर कठिनता से मिले। करमैती बाई ने गौने के दिन पति का त्याग कर वैराग्य लिया और वृन्दावन वास किया इस कथा पर नाभाजी ने ही अलग छप्पय नहीं लिखा प्रियादासजी ने इस पर पूरे आठ कवित्त लिखे। तब स्वामीजी के विवाह और उनकी पत्नी की मृत्यु की बात ठीक होती तो क्या वे इसका एक पंक्ति में भी उल्लेख न करते। प्रियादासजी ही नहीं बाद के टीकाकारों में से भी किसी ने इसका कहीं संकेत तक नहीं किया है। अतः गोस्वामियों का यह कथन कि 'स्वामीजी ने विवाह किया था तथा उनकी पत्नी का नाम विजया या हरिमती था तथा वे स्वामीजी के वैराग्य लेने के समय योगाग्नि में भस्म हो गईं' प्रमाणित नहीं होता।

हमें बताया गया कि 'विजया सती की एक समाधि हरिदासपुर में है तथा वहाँ गोस्वामी मुंडन तथा पूजन को जाते हैं। विजया सती की 'आन' मानकर स्त्रियाँ लाख का चूड़ा धारण नहीं करतीं।' परन्तु हरिदासपुर जाने पर हमें ज्ञात हुआ कि पिछले अनेक वर्षों में वहाँ कोई गोस्वामी मुंडन या पूजन के लिए आते नहीं देखे गये। हरिदासपुर में जिन वयोवृद्ध ने हमें यह बताया कि सामने के खेत में जो ईंटें रखी हैं उनका हरिदासजी की पत्नी से सम्बन्ध है, उन्होंने यह भी बताया कि 'कई वर्ष पहले एक गोस्वामी आये थे उन्होंने ही यह तथ्य हमें बताया था तथा वही एक पुराने 'आसार' पर कुछ ईंटें रखवा गये थे।'

हमें यह भी बताया गया कि गोस्वामियों के मुंडनादि वृन्दावन के पास ही एक स्थान पर होते हैं और उसी को विजया सती की समाधि कहा जाता है। यदि अलीगढ़ का वह स्थान वास्तव में स्वामी हरिदासजी की पत्नी की समाधि है, तो एक नई समाधि वृन्दावन में

क्यों बनी और पुरानी समाधि इतनी उपेक्षित और त्यक्त क्यों है ?

विरक्तों की परंपरा के सभी ग्रंथ 'निजमत सिद्धांत', 'ललित प्रकाश' आदि तो यह कहते ही हैं कि स्वामीजी ने विवाह नहीं किया था, बाहर के कवियों के भी कुछ ऐसे उद्धरण मिलते हैं जो इसी ओर संकेत करते हैं। श्री हरिराम व्यास ने स्वामीजी के सम्बन्ध में 'अनन्य नृपति श्री स्वामी हरिदास' शीर्षक पद में कहा है :

'सुरपति भूपति कंचन कामिनि जिनके भायें घास।
अब के साधु 'व्यास' हम हूँ से करत जगत उपहास।'

इससे स्वामीजी के उत्कट वैराग्य का पता चलता है। अतः इस संपूर्ण विवेचन से हम इसी अनुमान पर पहुँचते हैं कि स्वामीजी का विवाह नहीं हुआ होगा तथा वे आजन्म ब्रह्मचारी रहे होंगे।

स्वामी हरिदासजी के गुरु

स्वामी आसुधीरजी ही श्री हरिदासजी के गुरु थे यह सभी पक्ष एक मत से स्वीकार करते हैं। स्वा० रसिकदेव कृत गुरु परंपरा में लिखा है :

आसुधीरस्य शिष्यो यो हरिदासः प्रकीर्त्तितः।
अनन्याधिपतिः श्रीमान् गुरूणां च गुरुः प्रभु ॥४६॥

(स्वामी रसिकदेव कृत गुरु परंपरा, गोरेलालजी की प्रति)

स्वा० पीताम्बरदेव कृत गुरु परंपरा नामावली में स्वा० आसुधीरजी तथा स्वा० हरिदासजी का क्रम से नाम स्मरण है :

श्री हरिदेव भक्तको माम। आसधीर भजि स्यामास्याम ॥ १८ ॥
आचारज हरिदास प्रकास। बीठलविपुल विहारीदास ॥

(अष्टाचार्यों की वाणी, श्री रसिक विहारीजी के महंतजी की प्रति)

सं० १८१५ की लिपि की एक प्राचीन अष्टाचार्यों की वाणी की प्रति में स्वा० हरिदासजी की वाणी के प्रारंभ में लिखा है :

'श्री कुंजविहारी विहारिनि को विहार रूपी जो सुमेर धीर है अषंडित एक रस ताको सरूप प्रकट श्री आसधीरजी तिनके शिष्य सूर्य रूपी श्री हरिदास जी विहार रूपी किरनें प्रकाश करत प्रगट भये रसिक जन-कमल तिनके पोष हेत।'

(अष्टाचार्यों की वाणी, लिपि काल सं० १८१५, टट्टीस्थान के संग्रह में)

सभी परवर्ती वार्त्ता ग्रंथों जैसे निजमत सिद्धांत, ललित प्रकाश आदि में तो स्वा० आसुधीरजी ही स्वा० हरिदासजी के गुरु हैं ऐसे उल्लेख अनेक स्थानों पर मिलते हैं।

श्री विहारीजी के गोस्वामी भी यही कहते हैं कि स्वा० हरिदासजी ने स्वा० आसुधीरजी से दीक्षा ली। स्वा० हरिदासजी की शिष्य परंपरा की वाणियों में तथा गोस्वामियों के साहित्य में कहीं भी ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिलता जिससे ज्ञात हो कि स्वा० हरिदासजी के गुरु कोई और थे।

दूसरे सम्प्रदायों के कुछ लोगों ने स्वामीजी को अपने-अपने सम्प्रदाय के महानुभावों का शिष्य बताने की चेष्टा अवश्य की है। ये उल्लेख इस प्रकार हैं :

१. श्री राधावल्लभीय सम्प्रदाय के एक कवि उत्तमदास ने अपनी 'रसिक अनन्य माल' में श्री हितहरिवंशजी के कृपापात्रों का परिचय देते हुए स्वामी हरिदासजी के प्रसंग

में लिखा है कि उन्हें अपनी सेवा पद्धति श्री हितजी से मिली। इस ग्रंथ के परिचय में हम सम्बन्धित पंक्तियों को उद्धृत कर चुके हैं।

उत्तमदासजी का यह कथन उनकी कल्पना मात्र है। उन्होंने स्वयं कई प्रसंगों में लिखा है कि उनके पूर्ववर्ती श्री भगवतमुदित की 'रसिक अनन्य माल' में ये चरित्र विस्तार से लिखे हैं। परंतु श्री भगवतमुदित की 'रसिक अनन्य माल' में स्वा० हरिदासजी का नाम तक नहीं आता। फिर श्री हितहरिवंशजी आयु में स्वामी हरिदासजी से २२ वर्ष छोटे थे। श्री हितहरिवंशजी सं० १५९१ में वृन्दावन आये जब कि स्वा० हरिदासजी सं० १५६२ में स्वा० आसुधीरजी से दीक्षा ले चुके थे तथा सं० १५६७ में उनके उपास्य श्री बाँकेविहारी का प्राकट्य हो चुका था। अतः उनका श्री हितहरिवंशजी का शिष्य होना किसी प्रकार संगत नहीं हो सकता।

२. नागरी प्रचारिणी सभा, काशी के संग्रह में 'हरिदासजी के पद' शीर्षक ग्रंथ का परिचय हम पहले दे चुके हैं। इस संग्रह के पहले पद की अंतिम पंक्ति है :

'हरिदास के स्वामी श्यामा कुंजविहारी सत्गुरु श्री हरिवंश।'

यह पद सिवाय इस संग्रह के और कहीं नहीं मिलता। अतः स्पष्ट है कि स्वा० हरिदासजी को श्री हरिवंशजी का शिष्य सिद्ध करने के लिए ही किसी ने स्वामीजी की छाप देकर इस पद की रचना कर डाली है।

३. श्री चैतन्य चरित्र सार (लिपि सं० १९४५) के लेखक ने स्वा० हरिदासजी को गो० गोपाल भट्टजी का शिष्य बताया है। इस ग्रंथ के परिचय में हम सम्बन्धित उद्धरण दे आये हैं। लेखक ने एक ओर तो स्वा० हरिदासजी को निम्बार्क सम्प्रदाय के अंतर्गत कहा है और दूसरी ओर उन्हें माध्वगौड़ेश्वर सम्प्रदाय के गो० गोपाल भट्ट का शिष्य। इस कथन की पुष्टि माध्वगौड़ेश्वर सम्प्रदाय के भी किसी ग्रंथ से नहीं होती। अतः स्पष्ट है कि स्वा० हरिदासजी को गो० गोपाल भट्ट का शिष्य बताने का यह एक असफल प्रयास है।

४. 'चारि सम्प्रदाय वैष्णव वंदना' के लेखक ने स्वा० हरिदासजी के सम्बन्ध में लिखा है :

'माधवानंदेरशिष्य स्वामि हरिदास। श्री भट्ट गोसाञि आर हरिवंशदास।'

स्वा० हरिदास माधवानंदजी के शिष्य थे ऐसा उल्लेख अन्यत्र कहीं नहीं मिलता। इस रचना के परिचय में हम बता आये हैं कि यह रचना अप्रामाणिक है। इसके लेखक ने श्री भट्टजी को भी माधवानंदजी का शिष्य बताया है। यह सुप्रसिद्ध है कि श्री भट्टजी श्री केशव काश्मीरी भट्ट के शिष्य थे। अतः स्वा० हरिदासजी के गुरु सम्बन्धी इसकी उक्ति विश्वसनीय नहीं।

स्व० आसुधीरजी ही स्वा० हरिदासजी के गुरु थे यह एक स्पष्ट और प्रमाणित तथ्य है।

स्वामी हरिदासजी का सम्प्रदाय

स्वामीजी की विरक्त शिष्य-परंपरा के अनुसार स्वामी हरिदासजी निम्बार्क सम्प्रदाय के अनुयायी थे। गोस्वामियों के कथनानुसार वे विष्णु स्वामी सम्प्रदाय के अनुयायी थे। श्री केलिमाल की भूमिका (पृ० ४१) में श्री चक्र ने लिखा है कि वे इन दोनों में से किसी भी सम्प्रदाय के अंतर्गत न थे, उनका सम्प्रदाय स्वतंत्र था।

सम्प्रदाय के सम्बन्ध में निश्चयात्मक रीति से निर्णय करने का सबसे अच्छा साधन हो सकता था उनके दार्शनिक सिद्धांत का विवेचन। यदि स्वामी जी की वाणी के द्वारा हम यह सिद्ध कर सकते कि वे द्वैताद्वैत मत को मानते हैं अथवा शुद्धाद्वैत मत को, तब तो सब विवाद ही मिट जाता। परन्तु संयोग से ऐसी सुविधा नहीं है। स्वामीजी के सम्प्रदाय में रस की उपासना ही प्रधान है अत: दार्शनिक विवेचन का उनकी वाणी में पूर्णत: अभाव है। उनके सिद्धांत के पदों में भी भक्ति सम्बन्धी साधारण सिद्धांत ही मिलते हैं जिन्हें सभी सम्प्रदाय समान रूप से स्वीकार करते हैं। उनके परवर्ती शिष्यों में भी कहीं दार्शनिक मत-प्रतिपादन का आग्रह नहीं मिलता। हाँ उनके प्रशिष्य श्री विहारिनिदेवजी ने कई स्थानों पर ऐसे संकेत अवश्य किये हैं जिनसे द्वैताद्वैत मत का प्रतिपादन होता है। उदाहरण के लिए :

(अ) इच्छा एक अनेक ह्वै पुनि अनेक ह्वै एक ।
विहारीदास संसय नसै ताको नाम विवेक ॥

(सिद्धांत की साखी, ५८८)

(आ) प्रभु जू हौं तेरा तू मेरा ।
राजी षसम कहा करै काजी लोग बकौ बहुतेरा ।
हौं तू एक अनेक गनैं गुन दोस न किसहूँ केरा ।
जल तरंग लौं सहज समागम निर्मल साँझ सवेरा ।
कोऊ स्वामी कोऊ साहिब सेवक कोऊ चाकर कोऊ चेरा ।
बिना ममत्व इकत्व न ऐसा जगत में भक्त घनेरा ।
तन मन प्रान प्रान सौं सन्मुष अब न फिरै मन मेरा ।
श्री विहारीदास हरिदास नाम निजु प्रेम नवेरा झेरा ।

(सिद्धांत के पद, ३५)

इन दोनों छंदों के 'एक अनेक' से द्वैताद्वैत मत का समर्थन किया गया है ऐसा ज्ञात होता है। वाणियों के अतिरिक्त ऐसे अनेक प्रमाण उपलब्ध होते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि स्वा० हरिदासजी निम्बार्क सम्प्रदाय के अंतर्गत थे :

१. प्राचीन चित्र : स्वामी हरिदासजी के अनेक प्राचीन चित्र मिलते हैं। इनमें से भारत कलाभवन काशी, राष्ट्रीय संग्रहालय दिल्ली तथा किशनगढ़ नरेश के संग्रह में उपलब्ध (१७वीं-१८वीं शती के) तीन चित्रों का परिचय हम दे चुके हैं। इन तीनों चित्रों में स्वा० हरिदासजी के माथे पर लगा हुआ तिलक निम्बार्क सम्प्रदाय का तिलक है। उनके गले की कंठी भी निम्बार्क सम्प्रदाय के अनुयायियों की कंठी के समान है। (पृ० १३३ पर मुद्रित रेखाचित्र से स्पष्ट हो जायेगा कि स्वामीजी का तिलक किस प्रकार निम्बार्क सम्प्रदाय से मिलता है।)

२. नौरंग स्वामी की वाणी : प्रणामी सम्प्रदाय के नौरंग स्वामी की वाणी का परिचय हम पहले दे चुके हैं। उन्होंने अपने ग्रंथ 'मतमारगभेद' के बाईसवें प्रकरण में लिखा है :

द्वारा श्री हरिदास की नियमानंद मत मांहि ।
स्यामास्याम उपासना प्रगटी कछु इन पाँहि ॥ १९ ॥

'नियमानंद' निम्बार्क का ही दूसरा नाम है। (आज भी प्रणामी सम्प्रदाय की सूरत शाखा के महंत श्री कृष्णप्रियाचार्य स्वयं को निम्बार्क सम्प्रदाय के अंतर्गत बताते हैं और

उसका कारण यह मानते हैं कि उनके मत के प्रवर्तक श्री प्राणनाथजी के गुरु श्री देवचन्द्रजी ने स्वा० हरिदासजी के शिष्य किन्हीं अन्य हरिदास नामक महानुभाव से दीक्षा ली थी।[1])

३. स्वा० रसिकदेवकृत गुरुपरंपरा : इस गुरुपरंपरा की कई पुरानी प्रतियाँ लेखक को मिलीं जिनका परिचय पहले दिया जा चुका है। इस परंपरा में श्री निम्बार्काचार्य से लेकर श्री नरहरिदेवजी तक के आचार्यों का नाम लिया गया है। स्वा० रसिकदेव स्वा० हरिदासजी से पाँचवीं पीढ़ी में आते हैं। यह गुरु-परंपरा स्वा० हरिदासजी के निम्बार्क सम्प्रदाय के अंतर्गत होने का एक पुष्ट प्रमाण है।

४. स्वा० पीताम्बरदेवकृत गुरुपरंपरा : स्वा० रसिकदेवजी के शिष्य स्वा० पीताम्बर-देवजी ने ब्रजभाषा में अपनी 'गुरुनामावली' लिखी जो उनकी वाणी में सम्मिलित है। इस परंपरा के नाम भी स्वा० रसिकदेवजी की गुरुपरंपरा के समान हैं।

स्वा० पीताम्बरदेवजी के शिष्य श्री किशोरदासजी का 'निजमत सिद्धांत', श्री सहचरिशरण कृत 'ललित प्रकाश', श्री अमोलकराम कृत 'आचार्यस्तवमाला' आदि ग्रंथ, तथा अनेक गुरु नामावलियाँ, गुरुमंगल आदि इसी परंपरा का अनुकरण करते चले आये हैं। विस्तारभय से हम यहाँ उनका उल्लेख नहीं करते। इन सभी में स्वा० हरिदासजी को निम्बार्क सम्प्रदाय के अंतर्गत माना गया है।

५. अष्टाचार्यों की वाणी की पुरानी प्रति का मंगलाचरण : सं० १८१५ तथा सं० १८१८ वि० में लिपिबद्ध दो अष्टाचार्यों की वाणी की प्रतियाँ क्रमशः टट्टी स्थान तथा बा० विश्वेश्वरशरण के संग्रह में हैं। इनका परिचय पहले दिया जा चुका है। मंगलाचरण में लिखा है :

श्री अनिरुद्धसमारंभां सनकादिकमध्यमाम्।
श्री नारदयुतां श्रद्धां निम्बार्कपरिवृंहिताम्।
अस्मदाचार्यपर्यंतां वन्दे गुरुपरंपराम्।

इस उल्लेख से सिद्ध होता है कि इस परंपरा के अनुयायी अपने को निम्बार्क सम्प्रदाय के अंतर्गत मानते आये हैं।

६. श्री गोरेलालजी के मंदिर की सं० १८५८ की सनद : शोध-सामग्री के परिचय में हम इस सनद का उल्लेख कर चुके हैं। इसमें स्वा० मथुरादासजी के प्रशिष्य एवं स्वा० प्रेमदेवदासजी के शिष्य स्वा० जयदेवदास को 'वैसनौ श्री स्वामी संपरदा नीमारक' कहा गया है। सनद में साक्षी के रूप में अनेक साधुओं और गोस्वामियों के हस्ताक्षर हैं। इस सनद से सिद्ध होता है कि गोरेलालजी की गद्दी के विरक्त बहुत समय से निम्बार्क सम्प्रदाय के अंतर्गत माने जाते रहे हैं।

गोस्वामियों का मत : श्री विहारीजी के गोस्वामियों का कथन है कि स्वा० हरिदासजी विष्णुस्वामी सम्प्रदाय के अनुयायी थे। इस मौखिक कथन के अतिरिक्त इस पक्ष के सम्प्रदाय सम्बन्धी लिखित प्रमाण बहुत कम मिलते हैं। गोस्वामियों के पक्ष का जो साहित्य हमारे देखने में आया उसमें विष्णुस्वामी सम्प्रदाय के सम्बन्ध में सबसे पुराना उल्लेख है—सं० १९२७ में रचित बलदेव कवि की वंशावली का। उन्होंने लिखा है :

१. श्री कृष्णप्रियाचार्य—पुराणसंहिता, चौखंबा संस्कृत सीरीज, १९५१ ई०, प्रस्तावना, पृ० ३।

अरुणोदय में जनम है और जाति सारस्वत जानिये ।
श्री ब्रस्नस्वामि विनती प्रघट श्री हरिदास बषानियं । १ ।।

किन्तु यह रचना इतनी अर्वाचीन है कि इसे निर्णयात्मक प्रमाण नहीं मान सकते ।

एक आधुनिक मुद्रित पुस्तक 'सम्प्रदाय भास्कर' (संकलनकर्त्ता—गोस्वामी गंगाप्रसाद, पृ० ३८) में स्वामी हरिदासजी को विष्णु स्वामी सम्प्रदाय के अंतर्गत बताया गया है । लेखक ने अनेक प्रकार के तर्कों से सभी सम्प्रदायों को रुद्रसम्प्रदाय (विष्णुस्वामी सम्प्रदाय के आदि गुरु रुद्र हैं) के अंतर्गत सिद्ध करने की चेष्टा की है । वे कहते हैं कि 'स्वा० हरिदासजी को ललिता सखी का अवतार माना जाता है अत: इस सम्प्रदाय में ललिता का प्राधान्य होने से यह रुद्र सम्प्रदाय के अंतर्गत माना जायेगा । श्री निम्बार्क को रंगदेवी सखी का अवतार माना जाता है अत: निम्बार्क सम्प्रदाय में रंगदेवी का प्राधान्य है । इसीलिए स्वा० हरिदासजी को निम्बार्क सम्प्रदाय के अंतर्गत नहीं मान सकते ।'

स्पष्ट है कि सम्प्रदाय भास्कर का तर्क विशेष ध्यान देने योग्य नहीं । सं० १९८३ के कुछ बाद छपे इस निबंध को हम यों भी प्रमाण की कोटि में नहीं रख सकते ।

गोस्वामियों के पक्ष की अन्य पुरानी साहित्यिक रचनायें सम्प्रदाय का कोई उल्लेख नहीं करतीं । अत: केवल उनके मौखिक कथन विरक्त परंपरा के निम्बार्क सम्प्रदाय सम्बन्धी पुष्ट प्रमाणों का खंडन नहीं कर सकते ।

स्वतंत्र सम्प्रदाय सम्बन्धी मत : श्री सुदर्शन सिंह 'चक्र' ने श्री केलिमाल के साथ छपे स्वा० हरिदासजी के जीवन चरित्र में कहा है कि स्वामीजी सम्प्रदाय-स्वतंत्र थे ।[1] इस मत के समर्थन में उनके दो प्रमाण ध्यान देने योग्य हैं :

१. ग्राउज ने अपने मथुरा मेम्वायर्स में कहा है : 'यहाँ तथा कथित चार वैष्णव सम्प्रदाओं से स्वतंत्र तीन और सम्प्रदाय हैं—वंगदेश से आये गौड़ीय, राधावल्लभीय एवं श्री हरिदासी ।'

२. श्री भगवतरसिक ने अपनी वाणी में कहा है :

आचारज ललिता सखी रसिक हमारी छाप ।
नित्यकिशोर उपासना, युगल मंत्र को जाप ।
नाहीं द्वैताद्वैत हरि नहीं विशिष्टाद्वैत ।
बँधे नहीं मतवाद में, ईश्वर इच्छाद्वैत ।

श्री चक्र के अनुसार इनका इच्छाद्वैत सिद्धांत ध्यान देने योग्य है ।

विवेचन करने पर यह दोनों ही प्रमाण युक्तियुक्त नहीं ठहरते । ग्राउज के ग्रंथ का परिचय देते समय हम बता आये हैं कि उसे स्वा० हरिदासजी के सम्प्रदाय सम्बन्धी सारी सामग्री दो गोस्वामियों से मिली थी । ग्राउज टट्टी स्थान के किसी संत से नहीं मिले यह इसी से विदित है कि उन्होंने भाद्रपद शुक्ला अष्टमी को स्वा० हरिदासजी के जन्म दिवस के मेले को किसी मौन रहने वाले साधु के सम्मान में लगने वाला बताया । उन्होंने यह नहीं लिखा कि 'मौनीदास' वास्तव में 'ललित मोहिनीदास' नाम का संक्षिप्त रूप था तथा ये स्वा० हरिदासजी की शिष्य परंपरा के एक आचार्य थे । ग्राउज ने रसिकविहारीजी के मंदिर को निम्बार्क सम्प्रदाय का मंदिर स्पष्टत: कहा है परन्तु उन्हें किसी ने यह नहीं

१. चक्र—केलिमाल, भूमिका, पृ० ३९-४१ ।

बताया कि यह मंदिर स्वा० हरिदासजी के अनुयायियों का ही है।

ग्राउज़ के कथन से केवल इतना ही ज्ञात होता है कि उन्हें सूचना देने वाले गोस्वामी स्वामीजी को सम्प्रदाय-स्वतंत्र मानते थे किन्तु रसिकविहारीजी की परंपरा के लोग उस समय भी अपने को निम्बार्क सम्प्रदाय के अंतर्गत मानते थे। अतः अपूर्ण सूचनाओं पर आधारित ग्राउज़ का कथन श्री 'चक्र' के कथन की पुष्टि नहीं कर सकता।

श्री भगवत रसिक की वाणी से ज़ो पंक्तियाँ श्री चक्र ने उद्धृत की हैं उन्हें उनकी अन्य पंक्तियों के साथ पढ़ने से इनके वास्तविक आशय का पता चलता है। उन्होंने यहाँ द्वैताद्वैत मत का खंडन नहीं किया है और न किसी नये इच्छाद्वैत मत का प्रतिपादन। उनका कहना केवल यही है कि रसिकों के मार्ग में सम्प्रदाय का आग्रह नहीं है। वे कहते हैं :

भरता कै द्वै भामिनी बसै एक ही गांव।
सेवा साधैं ओसरिन तोरैं पति के पांव।
तोरैं पति के पांव सौतियारौ सो मानै।
ऐसे ही सब मतवाद करें खंडन मत आनै।
आचारज अभिमान आपको मानै करता।
तजि विरोध नहिं भजहिं आपनौ भगवत भरता।

—निर्विरोधमनरंजन, १४।

आँधे के शिर संप्रदा नकटे कैसो पंथ
ठगाठगी संसार में समुझि लगौ संग कंथ।

—निर्विरोधमनरंजन, १८।

श्री भगवत रसिक के कहने का ढंग ही कुछ निराला है। एक स्थान पर उन्होंने कहा है :

चेला काहू के नहीं गुरु काहू के नाहिं।
सखी लड़ंती लाल की रहें महल के माहिं।
रहें महल के माहिं टहल सब करैं निरंतर।
दम्पति अति अकुलाहिं पलक कहुं परै जु अंतर।
भगवत भगवत कहैं करैं हम बिन नहिं केला।
ताते हम परिहरे देहमानी गुरु चेला।

इष्टध्यान, कुंडलिया, १।

इसका अर्थ यह नहीं है कि भगवत रसिकजी ने अपने गुरु को छोड़ दिया था या उनके कोई शिष्य नहीं थे। उन्होंने अपने गुरु की वंदना में बहुत कुछ लिखा है और उनकी शिष्य परंपरा भी है। उनका आशय केवल यही है कि रस की उपासना में अनन्यता ही सब कुछ है, ऐसी भावुकतापूर्ण अनन्यता जिसमें गुरु एवं सम्प्रदाय का भी ध्यान नहीं रहता।

श्री चक्र यह सिद्ध करना चाहते हैं कि भगवत रसिकजी के समय तक किसी विरक्त ने अपने को निम्बार्क सम्प्रदाय में स्वीकार नहीं किया। यह उनका भ्रम है। उनसे पहले श्री रसिकदेवजी तथा श्री पीताम्बरदेवजी नामक दो आचार्यों ने अपने सम्प्रदाय का स्पष्ट उल्लेख कर दिया था।

इस विवेचन के उपरांत हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि स्वा० हरिदासजी ने

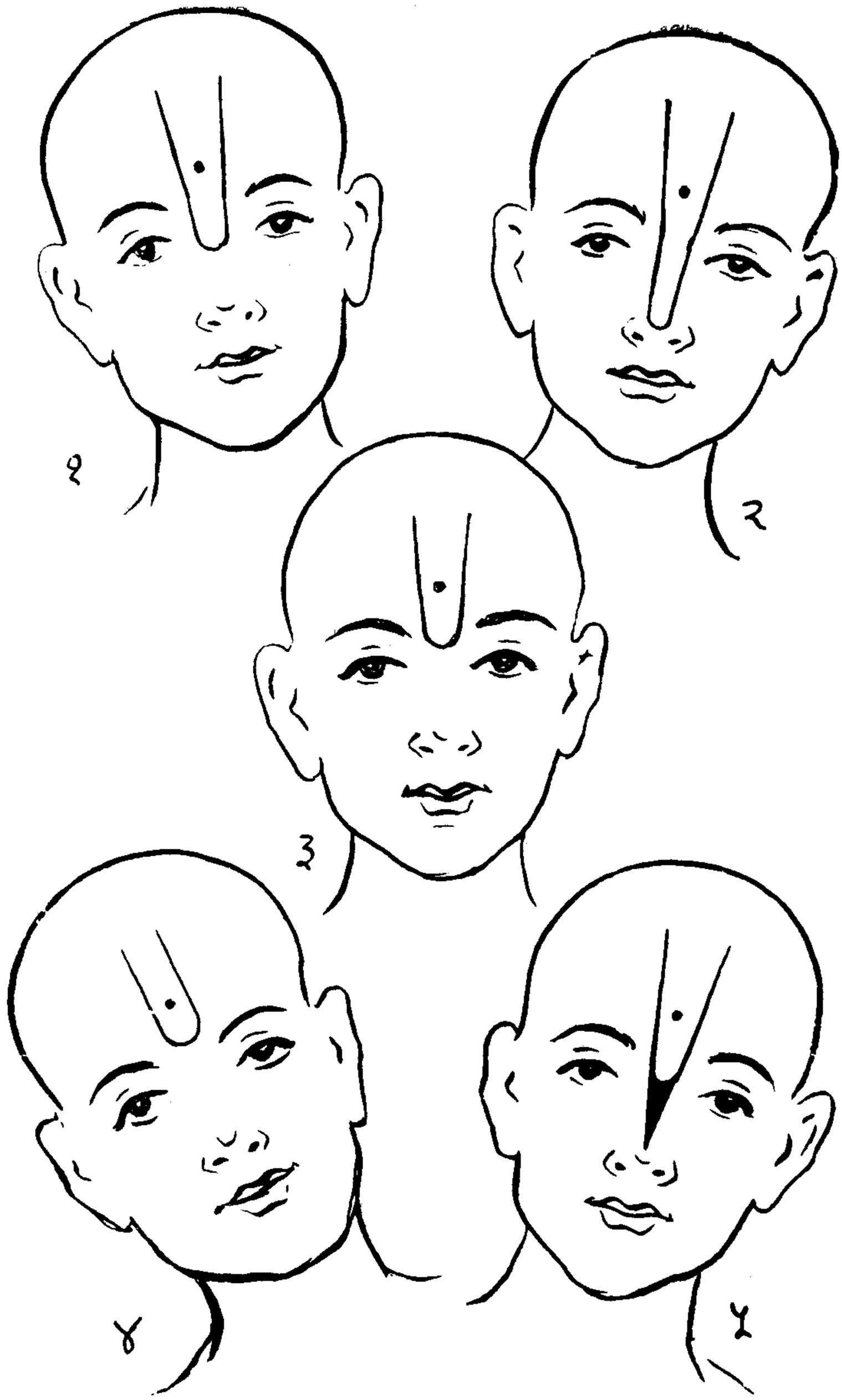

कुछ सम्प्रदायों के तिलक

१. श्री निम्बार्क सम्प्रदाय, २. स्वा० हरिदास जी का सम्प्रदाय, ३. श्री विष्णुस्वामी सम्प्रदाय
४. श्री राधावल्लभ सम्प्रदाय, ५. श्री माध्वगौड़ेश्वर सम्प्रदाय।

निम्बार्क सम्प्रदाय में दीक्षा ली थी। किन्तु सम्प्रदाय का आग्रह न उन्हें था, न उनके अनुयायियों को। वास्तव में तो उनके बाद ही से उनकी विलक्षण रस उपासना के आधार पर उनकी अलग परंपरा ही चल पड़ी, जिसका निम्बार्क सम्प्रदाय से मूल और शाखा जैसा सम्बन्ध तो बना रहा परन्तु अपनी विशिष्ट सत्ता के नाते ही उसे अधिक प्रसिद्धि मिली। यही कारण है कि स्वामी हरिदासजी के प्राचीन चित्रों में उनके माथे पर सर्वत्र निम्बार्क तिलक मिलता है। परन्तु उनके अनुयायियों में से जिनके चित्र मिलते हैं[1] उनके माथे पर नाक की नोक से ऊपर जाता हुआ वर्तमान हरिदासी तिलक मिलता है[2]। उनकी विरक्त परंपरा के सभी साधु तथा गृहस्थ शिष्य आज यही तिलक लगाते हैं।[3]

स्वा० हरिदास जी का वैराग्य धारण

स्वा० हरिदास जी के वैराग्य धारण के संबंध में निम्नलिखित उक्तियाँ प्राप्त होती हैं :—

१. निजमतसिद्धांत : ग्रंथकर्ता ने स्वा० हरिदास जी का चरित्र वर्णन करते हुए लिखा है :—

श्री हरिदास सकुचि शिरनायो। गुरु ऐश्वर्य्य सुनिज मुख गायो।
निज तनु वसन तासु छिन डारे। श्री गुरुचरण शीस पर धारे।
बार बार वंदन करी वदत भये यह बैन।
अच्युत कुल मो कहँ करौ तब उपजै चित चैन। ११८ ॥
आशुधीर हँसि वदत सुवानी। जो तुम कही सबै हम मानी।
ता दिन राधा जन्म सुहायो। श्री हरिदास वेष गुरु पायो।
सम्बत पंद्रह सै सैंतीसा। भादों शुक्ल अष्टमी दीसा।
बुद्धवार मध्याह्न बिचार्‌यो। श्री हरिदास प्रगट तनु धार्‌यो।
गृह में वर्ष पचीस बिताये। फिर वैराग्य त्याग उपजाये।[4]

इस कथन के अनुसार स्वामी हरिदास जी ने २५ वर्ष की अवस्था में भाद्र पद शुक्ला अष्टमी सं० १५६२ को स्वा० आशुधीर जी से वैराग्य-दीक्षा ली।

२. ललित प्रकाश एवं आचार्योत्सव सूचनिका : श्री सहचरिशरण ने अपने ललित प्रकाश नामक ग्रंथ में लिखा है :—

सो० वर्णत बनत न कोय, निरख्यो इक सुन्दर चतुर।
तुरँग फिरावत सोय, मानहुं मन चढ़ि वश करिउ ॥ २० ॥

१. स्वामी विहारिणिदेव आदि महानुभावों के कुछ चित्र टट्टी स्थान तथा रसिकविहारीजी के मन्दिर में रखे हैं। इनकी प्राचीनता के सम्बन्ध में हम कुछ नहीं कह सकते। सम्भव है इनमें से एकाध सौ-डेढ़ सौ वर्ष पुराने हों।

२. देखिये रेखाचित्र' पृ० १३३।

३. मूल संप्रदाय के अंतर्गत शाखाओं में भिन्न तिलक होना कोई अटपटी बात नहीं है। सभी संप्रदायों में इस प्रकार के उदाहरण मिलते हैं। माध्वगौड़ेश्वर संप्रदाय का तिलक मूल माध्व संप्रदाय से भिन्न है। स्वयं माध्वगौड़ेश्वर संप्रदाय में भी अलग-अलग गद्दियों के अलग-अलग तिलक हैं। वल्लभ संप्रदाय और रामानुज संप्रदाय में भी एक से अधिक तिलक मिलते हैं।

४. किशोरदास—निजमत सिद्धांत, मध्यखंड पृ० ५४।

श्री आशधीर मन विचार ।।

दो० नहिं पावत ब्रह्मादि सुर, विलसत युगल सिहाय ।
अस कल कोमल धरनि पर, तुरँग फिरावत हाय ।। २१ ।।

कुंडलिया—आसू के उर में भई लई जानि अभिराम ।
तजि तुरंग अरु संग सब भज वृन्दावन धाम ।।
भज वृन्दावनधाम वीतरागा अनुरागी ।
राखी सकल मृयाद दंडवत कृत रति पागी ।।
सहचरि शरण विलोकि हृदय हुलस्यो अति जासू ।
जनु अभिलाष समीप अमल फल आयो आसू ।। २२ ।।[1]

यहाँ श्री सहचरिशरण ने विरक्तों में चली आती हुई पुरानी कथा का उल्लेख किया है कि युवक हरिदास सैर करते हुए घोड़ा दौड़ाते निधिवन के पास से जा रहे थे। स्वा० आशुधीर जी को रसमयी वृन्दावन भूमि पर घोड़े की टापों का कठोर प्रहार बड़ा दुःखद प्रतीत हुआ। हरिदास जी को जैसे ही यह ज्ञात हुआ तो वे स्वा० आशुधीर जी के पास क्षमा माँगने आये और उन पर कुछ ऐसा प्रभाव पड़ा कि उसी समय वैराग्य ले आशुधीर जी के शरणागत हुए।

अपनी एक अन्य रचना 'आचार्योत्सवसूचनिका' में श्री सहचरिशरण ने लिखा है कि स्वा० हरिदास जी ने सं० १५६२ में २५ वर्ष की अवस्था में वैराग्य धारण किया। इनका यह कथन निजमतसिद्धांत के कथन से मिलता है। विरक्त परंपरा के अन्य लेखकों ने भी सर्वत्र इसी मत का अनुकरण किया है।

३. वृन्दावनधामानुरागावली : ग्रंथकर्ता ने 'गहवरवन वर्णन' में निजमत सिद्धांत के ही कथन के समान २५ वर्ष की आयु में सं० १५६२ में स्वा० जी का वैराग्यधारण वर्णन किया है।[2] किन्तु 'विहारीपुरा' के प्रसंग में यह स्वा० जी का जन्म सं० १५०९ में[3] तथा उनके उपास्य श्री बांकेविहारी का प्राकट्य सं० १५३७ में बताते हैं।[4] इस कथन से ज्ञात होता है कि यहाँ इन्होंने स्वा० जी का वैराग्य धारण सं० १५३४ से सं० १५३७ तक किसी समय में माना है।

४. भक्तसिन्धु : ग्राउज ने अपने 'मथुरा मेम्वायर्स' में भक्तमाल की एक 'भक्त सिंधु' नामक टीका का उल्लेख किया है तथा उससे उद्धरण भी दिये हैं। इस टीका के अनुसार स्वा० जी ने २५ वर्ष की अवस्था में वैराग्य लिया और यमुना की दूसरी ओर मानसरोवर के निकट वन में रहने लगे[5]। भक्त सिंधु के लेखक स्वा० जी का जन्म सं० १४४१ में मानते हैं अतः उनके अनुसार स्वा० जी ने सं० १४६६ में वैराग्य धारण कर वृन्दावन में वास किया।

५. पं० गोविंदराम पाठक का लेख[6] : इस लेखक के अनुसार स्वा० हरिदास जी

१. सहचरिशरण—ललित प्रकाश, पृ० ५।
२. वृन्दावनधामानुरागावली, पृ० १६५।
३. वही, पृ० २२।
४. वही, पृ० २०।
५. एफ० एस० ग्राउज, मथुरा ए डिस्ट्रिक्ट मेम्वायर, द्वितीय संस्करण, पृ० २०३।
६. त्रैमासिक 'आल इंडिया सारस्वत', अप्रैल १९३२ ई०।

सं० १६०७ में अपनी पत्नी की मृत्यु होने के बाद वैराग्य ले वृन्दावन में आकर रहने लगे।

६. कुंजविहारी सर्वस्व : इस पुस्तिका के लेखक गो० रामनाथ के मतानुसार स्वा० हरिदास जी १८ वर्ष की अवस्था में सं० १६०२ में अपनी पत्नी की मृत्यु हो जाने पर वैराग्य ले वृन्दावन में आ बसे।

७. केलिमाल की भूमिका : श्री चक्र ने 'मीराते सिकन्दरी वा मीराते अकबरी' की छठी जिल्द के तथाकथित आधार पर लिखा है कि स्वामी जी अपनी पत्नी की मृत्यु के पश्चात् २५ वर्ष की आयु में सं० १५९५ में विरक्त वेष ले निधिवन में आकर रहने लगे।[1]

उपर्युक्त चरित्र लेखकों में से जिन्होंने वैराग्य लेते समय स्वा० जी की आयु का उल्लेख किया है उनमें से केवल एक गो० रामनाथ को छोड़ सभी ने २५ वर्ष की आयु में उनका वैराग्य धारण करना बताया हैं। गो० रामनाथ ने अपने कथन के लिये कोई आधार नहीं दिया है। स्वयं उन्हीं के पक्ष के अन्य लेखक जब २५ वर्ष की आयु का कथन करते हैं तब उनका वैराग्य लेते समय स्वा० जी की आयु १८ वर्ष मानना निराधार ज्ञात होता है। स्वा० जी के वैराग्य धारण करने का संवत् उनके जन्म संवत् पर निर्भर है। जन्म संवत् के प्रसंग में हम विस्तृत विवेचन द्वारा स्पष्ट कर चुके हैं कि सं० १५३७ ही उनका जन्म संवत् माना जाना चाहिये। अतः हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि स्वा० जी ने २५ वर्ष की अवस्था में सं० १५६२ में स्वा० आसुधीर जी से वैराग्य दीक्षा लेकर निधिवन में निवास किया।

श्री बाँकेविहारी जी का प्राकट्य

स्वामी हरिदास जी को अपने उपास्य श्री बाँकेविहारी जी का विग्रह निधिवन के एक कोने में भूमि से प्राप्त हुआ। जिस दिन यह मूर्त्ति मिली उसी दिन उन्होंने अपने उपास्य विग्रह का पाटोत्सव किया। विहारी जी का पाटोत्सव प्रति वर्ष मार्गशीर्ष शुक्ला पंचमी को मनाया जाता है। सभी लेखक एक मत से मार्गशीर्ष शुक्ला पंचमी को ही विहारी जी के प्राकट्य का दिन मानते हैं। श्री किशोरदास ने लिखा है :—

शुक्ल पंचमी अगहन मासा। तादिन सुन्दर भये प्रकासा।
उत्सव पाट तासु दिन मानो। द्वादश मुहर भोग प्रकटानो।

—निजमतसिद्धांत, मध्यखंड, पृ० ८७।

श्री सहचरिशरण ने प्राकट्य का संवत् भी लिखा है :—

प्रगट भयो आनंद को विग्रह सुखमा-सिंधु विहारी।
मारगशिर शुक्ला सुपंचमी रसिकन को हितकारी।
संवत् को न ताहि में वर्णो सो सुनि लेहु सुजाना।
पंद्रह सै सड़सठ को कहिये लहिये प्रेम निदाना।

—आचार्योत्सवसूचनिका, छंद ३।

श्री अमोलकराम शास्त्री ने भी इसी कथन का अनुकरण किया है :—

भावज्ञैर्हयषट्शरेन्दु १५६७ गणिते वर्षे निजानां प्रभु :
मार्गे मासि सिते दले हि सुतिथौ कुंजेविहारी हरिः।

१. श्री केलिमाल, भूमिका (लेखक—श्री चक्र) पृ० २१ एवं ३४।

प्रादुर्भावित एव हृद्यगुरुभिः श्रीवक्रतामंडित।
वृन्दारण्यनिवासिभिश्च हरिदासैः साम्प्रतं द्योतते ॥ ३४३ ॥

—आचार्यस्तवमाला, पृ० ५१

श्री बैनदास जी लिखते हैं :—

अगहन सुदी पंचमी की बधाई
कुंजमहल में बजत बधाइयां ।
बधाइयां बधाइयां बधाइयां ।
श्रीहरिदास गेह प्रभु प्रघटे सामर कुमर कनाहीयां ।
ललितादिक सषी आठों आईं वन वीथन छवि छाईयां ।
निरष-निरष जन नाचैं गामैं फिरि-फिरि लैइं बलाईयां ।
राधाश्याम मनोहर प्यारो कुंजविहारी नाम कहाईयां ।
हरिजन हेत प्रघट भये गोविंद रंगमहल पर साईयां ।
सिंगार सैन राजभोग की विधि सब आरती तीनि ही गाईयां ।
दासबैंन विधि टहल महल की श्री गुर मोय बताईयां ॥ ९४ ॥

—बैंनदास की पदावली, ना० प्र० सभा संग्रह सं० ५६१, पृ० २१ ।

विहारीपुरा के प्रसंग में गोपाल कवि ने अपने ग्रंथ वृन्दावनधामानुरागावली में लिखा है :—

चारि घरी चढ़े दिन पंद्रह सै सैंतीस साल
प्रगटे विहारी अगहन सुदी पांचैं कों ॥ ८ ॥

—वृन्दावनधामानुरागावली, पृ० २० ।

विरक्तों के प्रसंग में इन्होंने विहारी जी के प्राकट्य के तिथि संवत् का उल्लेख नहीं किया है ।

'कुंजविहारीसर्वस्व' के लेखक श्री रामनाथ गोस्वामी अगहन शु० पंचमी सं० १६०४ को विहारी जी का प्राकट्य मानते हैं ।

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि विहारी जी के पाटोत्सव की तिथि मार्गशीर्ष शुक्ल ५ ही है । वर्ष का निर्णय स्वा० हरिदास जी के जन्म संवत् से संबद्ध है । अतः सं० १५६७ में ही स्वामी जी के उपास्य का प्राकट्य मानना चाहिये ।

निजमतसिद्धांत, ललितप्रकाश, तथा वृन्दावनधामानुरागावली में इस घटना का चमत्कारपूर्ण वर्णन किया गया है । इन ग्रंथों के आधार पर संक्षेप में स्वा० जी के उपास्य के प्राकट्य की कथा इस प्रकार है :—

'स्वामी हरिदास जी निधिवन में वृक्षों के तले बैठ मानसी उपासना में लीन रहते तथा कुंजविहारीविहारिणी की केलि का मानस दर्शन करते । वे प्रतिदिन प्रातःकाल स्नान कर निधिवन में एक स्थान पर जाकर शिरसा प्रणाम करते । श्री बीठलविपुल आदि शिष्यों को यह जानने की उत्सुकता हुई कि स्वामी जी किस उपास्य को प्रणाम करते हैं । पूछने पर स्वामी जी ने बताया कि यहाँ एक विवर में श्री कुंजविहारी तथा विहारिणी एक ही श्याम विग्रह का रूप धर कर विराजते हैं तथा हम उन्हीं को प्रणाम करते हैं । श्री बीठलविपुल के प्रार्थना करने पर स्वामी जी ने उन्हें उस श्री विग्रह को विवर से निकालने की आज्ञा दे दी । मार्गशीर्ष शुक्ला पंचमी को विहारी जी प्रकट हुए । वृन्दावन के सभी रसिक उनके दर्शनों

को आये और स्वामी जी से बोले कि मूर्त्ति की प्राण प्रतिष्ठा करा कर इसे स्थापित कीजिये। स्वामी जी ने अपने विग्रह की नासिका के सामने थोड़ी सी रुई रख दी जो विहारी जी की श्वास से तुरंत उड़ गयी। सभी उपस्थित जन इस चमत्कार को देख दंग रह गये। उन्होंने जान लिया कि स्वामी जी के उपास्य विग्रह तो साक्षात् प्राणवंत हैं, इनकी प्राणप्रतिष्ठा की आवश्यकता नहीं।

स्वामी जी ने उसी दिन विहारी जी का पाटोत्सव किया। विहारी जी की गद्दी पर नित्य प्रति १२ मुहरें रखी हुई मिलतीं, जिन्हें स्वामी जी उसी दिन नाना प्रकार के व्यंजनों का भोग लगाने में व्यय कर देते। उन भोग लगे व्यंजनों को वे वृन्दावन के बंदर, मोर, मछली, कच्छप आदि जीवों को खिला देते। वे स्वयं थोड़े से चने खाकर रह जाते या पास के गाँवों से अपने शिष्यों द्वारा लाये गये भिक्षा के अन्न की मधुकरी बनाकर खा लेते। स्वामी जी अपनी गान कला से प्रियाप्रियतम को रिझाते, प्रियाप्रियतम के नित्य-निकुंज-विहार में सहचरि रूप से उन्हें विविध प्रकार से लाड़ लड़ाते। इस प्रकार जीवनपर्यंत उन्होंने अपने उपास्य की सेवा की।[1]

स्वा० हरिदास के शिष्य

निजमतसिद्धांत में स्वामी जी के १२ प्रधान शिष्यों का नामोल्लेख है :—१. श्री बीठलविपुल, २. श्री दयालदास, ३. श्री मनोहरदास, ४. श्री मधुकरदास, ५. श्री गोविंद-दास, ६. श्री केशवदास, ७. श्री अनन्यदास, ८. श्री मोहनदास, ९. श्री बलदाऊदास, १०. श्री दयालदास (द्वितीय), ११. श्री किशोरदास, १२. श्री प्रकाशदास।

श्री बीठलविपुल : स्वामी हरिदास जी के पट्ट शिष्य थे तथा उनके बाद गद्दी पर बैठे। इनका विस्तृत परिचय हम स्वतंत्र रूप से आगे देंगे।

आठ महंत : जिस दिन स्वामी जी ने श्री बीठलविपुल को दीक्षा दी उसी दिन आठ अन्य ब्राह्मण भी उनके शिष्य हुए। निजमतसिद्धांत में इनकी कथा इस प्रकार लिखी है :—

स्वामी हरिदास जी के एक छोटे गुरु भाई थे देवदत्त। ये अपनी पत्नी सहित घर-बार त्याग कर स्वा० आशुधीर जी के शिष्य बने। एक बार यह दंपति गुरु से आज्ञा ले तीर्थ-यात्रा करते-करते गढ़मुक्तेश्वर आये और कुछ दिन वहाँ रहे। यहीं शिव के उपासक आठ कान्यकुब्ज श्रोत्रिय ब्राह्मण भी आये हुए थे[2]। ये ब्राह्मण पढ़े-लिखे और विद्वान् तो बहुत थे परंतु बड़े क्रोधी और प्रचंड स्वभाव वाले थे। ये शक्ति के उपासक थे तथा मदिरा-पान, पशुहिंसा आदि इनका नित्य का कार्य था। वैष्णवों को तो यह फूटी आँखों न देख सकते थे। देवदत्त तथा उनकी पत्नी को देख यह बहुत क्रोधित हुए तथा अनेक प्रकार के कटु वचन कहने लगे। देवदत्त जी ने नम्रतापूर्वक इनके आक्षेपों का उत्तर दिया और वैष्णव धर्म का मूल तत्त्व समझाया। उनकी पत्नी ने इन्हें एक चमत्कार दिखाया[3]। उन्होंने पास

१. (अ) निजमत सिद्धांत, मध्य खंड, पृ० ८५-८८।
   (आ) ललित प्रकाश, पृ० ९-३३।
   (इ) वृन्दावनधामानुरागावली, पृ० १५६।
२. निजमत सिद्धांत, आदि खंड, पृ० १४४।
३. वही, पृ० १६२।

खड़ी एक गाय को बुलाकर उसे श्रुति स्मृति आदि का पाठ करने की आज्ञा दी। गाय के मुख से वेद शास्त्रों के वचन सुन आठों अहंकारी ब्राह्मण चकित हो गये। उनका विद्या का अहंकार जाता रहा। दूसरे दिन वे विनम्र हो देवदत्त जी की शरण में आये। देवदत्त जी ने उन्हें अपना शिष्य नहीं बनाया परंतु साथ रहने की आज्ञा दे दी। संयोग से आशुधीर जी भी उसी समय गढ़मुक्तेश्वर आ गये। ब्राह्मणों को देवदत्त जी के प्रति श्रद्धा तो थी परन्तु प्रसाद की महिमा वे नहीं जानते थे। उन्होंने आशुधीर जी से प्रश्न किया, कि भगवान् किसके हाथ से प्रसाद ग्रहण करते हैं। उनके मत में ब्राह्मण स्वयं प्रसाद बना कर अर्पण करे वही देवता को ग्राह्य होता है। आशुधीर जी का कहना था कि भगवान् जाति का भेद नहीं मानते। जो भी प्रेम से प्रसाद अर्पण करे उसी को वह स्वीकार करते हैं। विवाद के निर्णय के लिये उन्होंने मार्ग बताया कि 'वैष्णव' साधु तथा ब्राह्मण दोनों अलग-अलग पाक करें तथा उसे ले जाकर गंगा को भेंट करें। गंगा श्रीहरि की पादोदक हैं। वे जिसकी भेंट ग्रहण कर लें उसी के हाथ का प्रसाद ग्राह्य समझा जाय। गंगा जी ने आशुधीर जी का भेजा हुआ प्रसाद जल से हाथ ऊपर कर ग्रहण किया किन्तु ब्राह्मणों के अनेक मंत्र पाठ करने पर भी उनकी भेंट स्वीकार न की। ये आठों विप्र संतों की यह महिमा देख आशुधीर जी के चरणों में आकर गिरे और प्रार्थना की कि हमें अपना शिष्य बना लीजिये। आशुधीर जी ने आज्ञा दी कि तुम वृन्दावन जाकर श्री हरिदास जी से दीक्षा लो। देवदत्त जी के साथ ये आठों विप्र वृन्दावन आये और जिस दिन स्वामी हरिदास जी ने श्री बीठल विपुल जी को दीक्षा दी उसी दिन इन्हें भी अपना शिष्य बना लिया। स्वामी जी ने इनके पूर्व नामों को छोड़कर भक्ति मार्ग के अनुकूल नये नाम दिये—दयाल दास, मनोहर दास, मधुकर दास, गोविंद दास, केशव दास, श्री अनन्य, मोहन दास, तथा बलदाऊ दास। संप्रदाय में इन्हें आठ महन्त कहकर पुकारा जाता है।[1]

द्वितीय दयालदास : निजमत सिद्धांत के अनुसार[2] "पंजाब के जसरौटा ग्राम में दयाराम नामक एक सारस्वत ब्राह्मण रहता था। उसकी पत्नी का नाम लाड़ो था। ब्राह्मण आचरण से अत्यन्त शुद्ध तथा विप्र और संतों की सेवा करने वाला था, पर उसके घर में धन की कमी थी। इस कारण साधु सेवा में व्याघात होता था। पत्नी के कहने पर दयाराम धन की खोज में चला और बहुत कष्ट सह कर उसने किसी प्रकार पारस पत्थर प्राप्त कर लिया। पारस के प्रभाव से उसके सभी सत्कार्य आनन्द से पूर्ण होने लगे। एक बार दयाराम तीर्थ-यात्रा करता हुआ वृन्दावन पहुँचा। स्वामी हरिदास जी के प्रति उसे अत्यन्त श्रद्धा हुई। उसने स्वामी जी को पारस पत्थर भेंट कर उनसे वैराग्य की दीक्षा लेनी चाही। स्वामी जी ने उत्तर दिया—पहले पारस को यमुना में फेंक कर स्नान करो और शुद्ध होकर दीक्षा ग्रहण करो। दयाराम ने आज्ञानुसार वैसा ही किया। विरक्त होकर वह स्वामी जी का शिष्य तो हो गया परन्तु थोड़े दिन बाद उसके मन में विचार उठा कि स्वामी जी ने ऐसी अमूल्य निधि को जल में क्यों फिकवा दिया। स्वामी जी उसके मन की बात जान गये और उसका समाधान करने के लिये आज्ञा दी—जाओ यमुना में से थोड़ी रज ले आओ। दयाराम ने ज्यों ही जल में से मृत्तिका निकाली उसके हाथ में अनेक पारस पत्थर आ गये। उसने देखा

१. निजमत सिद्धांत, मध्य खंड, पृ० ५६।
२. वही, पृ० ५७।

कि इस रज का प्रत्येक कण पारस है । तब वह इस रहस्य को समझा कि संतों के सामने पारस पत्थर का कोई मूल्य नहीं। स्वामी हरिदास जी का यह प्रभाव और उत्कट वैराग्य देखकर उसके मन का मोह मिट गया।"

विरक्त होने के बाद स्वामी जी ने दयाराम को दयाल दास नाम दिया और इसी नाम से ये प्रसिद्ध हुए।[1] निजमत सिद्धांत के अनुसार श्री प्राणनाथ के गुरु श्री देवचंद्र इन्हीं दयाल दास के शिष्य थे।

किशोरदास : प्रसिद्ध भक्त एवं कवि श्री हरिराम व्यास के छोटे पुत्र किशोरदास थे। व्यास जी ने एक समय अपनी सब संपत्ति को अपने तीन पुत्रों में बाँट बंधन मुक्त होना चाहा। उन्होंने एक भाग में अपने उपास्य श्री युगल किशोर की सेवा रखी, दूसरे में अपनी संपूर्ण पार्थिव संपत्ति तथा तीसरे में तिलक और मुद्रा। फिर उन्होंने तीनों पुत्रों से कहा कि जिसे जो भाग अच्छा लगे वह ले लो। एक पुत्र ने युगल किशोर लिये, दूसरे ने धन किन्तु किशोरदास ने प्रसन्नता पूर्वक तिलक और छाप को स्वीकार किया। वे पिता से बोले कि वैराग्य की बात पहले ही मेरे मन में क्यों न आयी। पुत्र की यह वृत्ति देख व्यास जी को अत्यंत हर्ष हुआ और वे वैराग्य की दीक्षा दिलाने स्वयं किशोरदास को स्वामी हरिदास जी के पास ले गये। किशोर दास ने स्वामी जी का शिष्य बन उनकी रीति का अनन्यता से अनुकरण किया। रास में इनका एक पद अब तक गाया जाता है जिसे हम विरक्तों के साहित्य के प्रसंग में पहले ही उद्धृत कर चुके हैं।[2]

प्रकाश दास : काश्मीर में पर्वत पुरी नामक एक संन्यासी रहते थे। ये बड़े योगी तथा सिद्ध थे। रसायन बनाना, लोगों की दृष्टि से विलुप्त हो जाना आदि अनेक क्रियाएँ इनके लिये अत्यन्त सहज थीं। एक बार स्थान-स्थान के लोगों को अपने चमत्कारों से आश्चर्य चकित करते हुए ये वृन्दावन आये। स्वामी हरिदास जी की प्रसिद्धि सुन ये उनसे मिलने गये; परन्तु स्वाभाविक रूप में नहीं, मयूर पक्षी का रूप धर कर। स्वामी हरिदास जी उनके वास्तविक स्वरूप को तुरंत पहिचान गये और उन्हें नाम लेकर पुकारा और पूछने लगे कि आप यहाँ काश्मीर से कैसे आये। पर्वत पुरी तब बन्दर का रूप बनाकर आये। स्वामी जी फिर भी उन्हें पहिचान गये। पर्वत पुरी ने अनेक रूप धारण कर स्वामी जी को भ्रम में डालना चाहा परन्तु स्वामी जी हर बार उन्हें पहिचान जाते और संन्यासी कह कर उनका स्वागत करते। अंत में पर्वत पुरी हार मान कर स्वामी जी के चरणों में गिरे। उन्होंने अपनी रसायन क्रिया स्वामी जी के चरणों में अर्पण कर दी तथा शिष्य बना लेने की प्रार्थना की। स्वामी जी ने उन्हें निरहंकार हो शरण में आया देख शिष्य रूप में ग्रहण किया तथा प्रेमा-भक्ति का उपदेश दिया। स्वामी जी ने इनका नाम प्रकाश दास रखा और संप्रदाय में यह इसी नाम से प्रसिद्ध हुए।[3]

१. निजमत सिद्धांत, मध्य खंड, पृ० ७७।
२. (अ) निजमत सिद्धांत, मध्य खंड, पृ० ११२-११४।
   (आ) ललित प्रकाश, पूर्वार्द्ध, पृ० ५४-५९।
३. (अ) निजमत सिद्धांत, मध्य खंड, पृ० ११७-१२३।
   (आ) ललित प्रकाश, पूर्वार्द्ध, पृ० ६४-६७।

कुछ चमत्कार पूर्ण वार्ताएँ

स्वामी हरिदास जी के शिष्यों के प्रसंग में जिन चमत्कारों का उल्लेख हम कर चुके हैं उनके अतिरिक्त और भी अनेक चमत्कारों का स्मरण उनके चरित्र कथन में किया जाता है। इनमें से कुछ को संक्षिप्त रूप में हम यहाँ लिपिबद्ध करते हैं :—

विज्ञानी क्षत्रिय की कथा : लाहौर में विज्ञानी नामक एक क्षत्रिय रहता था। सत्कर्म और सत्संग में उसकी बड़ी रति थी। उसने स्वामी हरिदास जी की प्रसिद्धि सुनी और उनका दर्शन करने को उत्सुक रहने लगा। वृन्दावन चलते समय उसने सोचा कि स्वामी जी के लिये क्या भेंट ले जाऊँ। किसी संत ने उसे बताया कि स्वामी जी दो ही वस्तुओं से प्रसन्न होते हैं—१. उनके इष्ट श्री विहारी जी को सुंदर राग गा कर सुनाना तथा २. उनके इष्ट को सुंदर गंध भेंट करना। विज्ञानी ने बहुत-सा द्रव्य व्यय कर बहुमूल्य इत्र प्राप्त किया तथा उसे लेकर वृन्दावन की ओर चल पड़ा। जिस समय वह स्वामी जी के समक्ष पहुँचा उस समय वे रसिकों की सभा में बैठे मानसी ध्यान में प्रिया-प्रियतम को होली खिला रहे थे। विज्ञानी ने उन्हें प्रणाम कर इत्र की शीशी उनके आगे रख दी। स्वामी जी ने उसे यमुना की रेती में उँडेल दिया। विज्ञानी बड़ा दुःखी हुआ और सोचने लगा कि स्वामी जी ने भेंट स्वीकार नहीं की। स्वामी जी ने अपने शिष्यों से कहा कि इसे विहारी जी के दर्शन करा लाओ। मन्दिर में जाकर विज्ञानी ने देखा कि उसी गंध से सारा मंदिर महक रहा है। इत्र विहारी जी के सर से बह कर पैरों तक आ गया है। वापस आकर वह स्वामी जी के चरणों में गिरा और इस घटना का रहस्य पूछने लगा। स्वामी जी ने कृपा कर उसे प्रिया-प्रियतम की लीला का मानसी दर्शन कराया और बताया कि जिस समय विज्ञानी ने गंध सामने ला कर रखी उस समय प्रिया-प्रियतम होली खेल रहे थे। विहारी जी प्रिया को भिगोने आगे बढ़े। हरिदास जी प्रिया जी की ओर थे, उन्होंने सारी शीशी विहारी जी के सिर पर उँडेल दी। देखने वालों ने समझा कि गंध पृथ्वी पर गिर रही है, परंतु वास्तव में गंध का इससे अच्छा उपयोग और क्या हो सकता था।

विज्ञानी ने स्वामी जी का शिष्य होने की बहुत प्रार्थना की परन्तु उन्होंने विरक्त के अतिरिक्त किसी अन्य को शिष्य बनाना स्वीकार न किया। स्वामी जी के आदेशानुसार विज्ञानी ने श्री रूप गोस्वामी से दीक्षा ली।[1]

कृष्णदास के अपवाद-निवारण की कथा : एक समय संतों की सभा में चर्चा हुई कि अष्टछाप के प्रसिद्ध भक्त श्री कृष्णदास मृत्यु के उपरांत प्रेत हो गये हैं। स्वा० हरिदास जी ने कहा—"ऐसा नहीं हो सकता। साक्षात् श्री नाथ जी के सेवक एवं अधिकारी, श्री वल्लभाचार्य के शिष्य, उत्तम काव्य के रचयिता कृष्णदास प्रेत नहीं हो सकते। यह केवल झूठा अपवाद है।" संतों ने स्वामी जी से प्रार्थना की कि आप स्वयं गोवर्धन जाकर इस अपवाद का निवारण करें। स्वामी जी गोवर्धन पहुँचे। श्री वल्लभाचार्य तथा उनके पुत्र गोस्वामी विट्ठल नाथ जी ने उनका बड़ा स्वागत-सत्कार किया। स्वामी जी ने उनके उपास्य ठाकुर श्री नाथ जी का दर्शन करते समय उलाहना दिया कि आपके कृष्णदास जैसे भक्त का भी अपवाद ! स्वामी जी श्री वल्लभाचार्य के पास बैठे वार्तालाप कर ही रहे थे कि कुंजों में

१. (अ) निजमत सिद्धांत, मध्य खंड, पृ० १०५-११०।
(आ) ललित प्रकाश, पूर्वार्द्ध, पृ० ४२-४७।

में झाड़ू लगाने वाले कान्हा नामक भंगी ने आकर सूचना दी कि मैंने एक अद्भुत दृश्य देखा है। अनेक गायों और ग्वाल-बालों के बीच नटवर वेषधारी श्रीकृष्ण चले जा रहे थे। उनके साथ में पानदान लिये कृष्णदास भी सेवा में उपस्थित थे। चलते-चलते कृष्णदास मुझसे कह गये कि—"मैं हरि के सखा रूप में उनकी सेवा में रहता हूँ। गुरु जी से कह देना कि मेरे आसन के नीचे एक लाख रुपया गड़ा है। उसे खोद कर निकलवा लें। आधे रुपये से श्रीनाथ जी के आभूषण बनवायें तथा आधा मंदिर के निर्माण में लगा दें।" आसन के नीचे खोदने पर रुपया ज्यों-का-त्यों मिल गया। इस घटना से सभी को विश्वास हो गया कि कृष्णदास प्रेत नहीं बने, वरन् स्वयं प्रभु की सेवा में पहुँच गये हैं। स्वामी जी के चमत्कारपूर्ण प्रभाव से ही कृष्णदास के इस अपवाद का निवारण हुआ।[1]

यह कथा इतिहास की दृष्टि से जाँचने पर खरी नहीं उतरती। श्रीकृष्णदास का देहावसान सं० १६३१ से १६३८ (विक्रमीय) के बीच किसी समय हुआ।[2] श्री वल्लभाचार्य उससे बहुत पहले सं० १५८७ में गोलोकवासी हो चुके थे।[3] अतः कृष्णदास की मृत्यु के पश्चात् स्वामी हरिदास जी से उनकी भेंट सम्भव नहीं। यदि यह भी मान लें कि स्वामी जी केवल गोस्वामी विट्ठलनाथ जी से मिले और यह भी सोच लें कि कृष्णदास जी की मृत्यु सं० १६३१ में ही हो गई तो स्वामी जी का ९४ वर्ष की अवस्था में वृन्दावन से जतीपुरा जाना असम्भव ही ज्ञात होता है।

श्री राधिका जी की वेणी की कथा : श्री कृष्ण चैतन्य महाप्रभु के शिष्य परम विरक्त श्री रघुनाथ दास गोस्वामी राधाकुण्ड में रह कर मानसी उपासना करते थे। एक समय वे श्री राधाकृष्ण की मिलन-लीला का अवलोकन कर रहे थे। लीला में संलग्न श्री राधिका जी की वेणी वन में कहीं गिर गयी। सखियों ने बहुत ढूँढ़ा, परन्तु न मिली। श्री रघुनाथ दास प्रिया जी की वेणी खो जाने के कारण अत्यंत व्याकुल रहने लगे। राधाकुण्ड से वे वृन्दावन पहुँचे और श्री सनातन गोस्वामी, श्री रूप गोस्वामी, श्री गोपालभट्ट गोस्वामी श्री हितहरिवंश आदि रसिकों से पूछने लगे कि आपने कहीं श्री राधिका जी की वेणी देखी है? कोई कुछ न बता सका। जब स्वामी हरिदास जी से पूछा तो उन्होंने तुरन्त बता दिया कि अश्वत्थ वृक्ष के नीचे वेणी पड़ी है और सौरभ-लुब्ध भ्रमर उस पर गुंजार कर रहे हैं। श्री रघुनाथ दास ने अश्वत्थ के नीचे से वेणी लेकर प्रिया जी का शृंगार किया तथा प्रेम पूर्वक अपनी मानसी उपासना में लग गये। सभी रसिकों ने स्वामी जी की प्रशंसा की कि वास्तव में श्री प्रिया-प्रियतम की लीला का सूक्ष्म अवलोकन स्वामी हरिदास जी ही करते हैं।[4]

श्री माधवदास के चना चबाने की कथा : श्री माधवदास जगन्नाथपुरी के बड़े प्रसिद्ध संत थे। वे एक बार घूमते-घूमते निधिवन पहुँचे। विहारी जी के मंदिर के द्वारपाल ने प्रार्थना कि की राजभोग में थोड़ी-सी देर है, प्रसाद लेकर जाइयेगा। स्वामीजी की आज्ञा है

१. (अ) निजमत सिद्धांत, मध्य खंड, पृ० १००-१०४।
   (ब) ललित प्रकाश, पूर्वार्द्ध, पृ० ९०-११७।
२. अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय, भाग १, पृ० २५५।
३. वही, पृ० ७३।
४. निजमत सिद्धांत, मध्य खंड, पृ० १०१-१०२।

कि कोई संत द्वार से भूखे न जायें। माधवदास जी ने कहा, हम राजभोग तक न ठहर सकेंगे, जो कुछ हो वही ले आओ। द्वारपाल ने कुछ चने लाकर उन्हें दे दिये। माधवदास जी ने यमुना तट पर जा उन्हीं चनों का भगवान को भोग लगाया और उन्हें खाकर जल पी लिया। इधर स्वामी जी ने विहारी जी के सामने जब राजभोग रखा तो उन्होंने उसे ग्रहण न किया; बोले—'माधवदास के चने खाने से मेरे पेट में दर्द हो रहा है।' स्वामी जी यह रहस्य जान बड़े व्याकुल हुए। द्वारपाल से पूछने पर उसने बताया कि वास्तव में एक संत यहाँ से चने लेकर यमुना तट पर गये हैं। स्वामी जी ने माधवदासजी को बुला कर उनका अत्यंत सम्मान किया। स्वाजी जी ने पुनः थाल सजा कर विहारी जी को भोग लगाया और माधवदास जी को प्रेमपूर्वक भोजन करा कर तृप्त किया। तब कहीं विहारी जी स्वस्थ हुए[1]।

सम्पर्क में आने वाले अन्य व्यक्ति

तानसेन : प्रसिद्ध गायक तानसेन किस प्रकार स्वामी जी के संगीत-शिष्य बने तथा किस प्रकार सम्राट् अकबर ने तानसेन के साथ स्वामी जी का दर्शन किया—यह कथा थोड़े-बहुत भेद से अनेक ग्रन्थों में वर्णित है। ग्रन्थों के परिचय के प्रसंग में हम इसका उल्लेख कर आये हैं। निजमत सिद्धांत के अनुसार[2] तानसेन ने एक बार अकबर की सभा में दीपक राग गाया। राग की गर्मी से उसका शरीर जल गया। पीड़ा से व्याकुल तानसेन उपचार की खोज में जहाँ-तहाँ भटकने लगा। ओरछा नगर में एक स्त्री ने उसका रोग पहचान, मलार राग गाकर उसके ताप को शान्त किया। तानसेन ने उससे वह राग सिखा देने की प्रार्थना की। स्त्री ने इस सम्बन्ध में असमर्थता प्रकट की और उससे कहा कि राग सीखना हो तो वृन्दावन में स्वामी हरिदास जी के पास जाओ। तानसेन ने वृन्दावन जाकर स्वामी जी का दर्शन किया और उनसे वह राग सिखाने की प्रार्थना की। स्वामी जी की कृपा से उसे अनेक राग-रागिनियाँ सिद्ध हो गईं। तानसेन जब फिर से अकबर के दरबार में पहुँचा तो सम्राट् उसकी राग-सिद्धि देख चकित रह गये। उन्होंने स्वामी जी के दर्शन करने तथा उनसे संगीत सुनने का आग्रह किया। तानसेन ने कहा कि स्वामी जी राजपुरुषों से नहीं मिलते और न उनके सामने गाते हैं। बहुत हठ करने पर तानसेन सम्राट् के साथ वृन्दावन की ओर चला। सम्राट् ने तानसेन के सेवक का वेश धर उसका तंबूरा हाथ में ले लिया। स्वामी जी के समक्ष पहुँच तानसेन नें मेघमलार राग गाया और जानबूझ कर राग में भूल कर दी। स्वामी जी ने उसी राग को शुद्ध करके गाया और इस प्रकार अकबर को स्वामी जी का संगीत सुनने का अवसर मिल गया। संगीत क्या था, राग मूर्तिमान हो गया था। स्वामी जी का मेघ-गंभीर-स्वर सुन मेघ जल बरसाने लगे। अकबर ने गद्गद् हो स्वामी जी को प्रणाम किया। स्वामी जी तो जान ही गये थे कि यह सम्राट् अकबर है। वे तानसेन से बोले—'तू इसे क्यों लाया ? हम विरक्त हैं; राजा या राजपुरुषों के आने से हमारी साधना में विघ्न पड़ता है'। अकबर ने अनेक प्रकार से स्वामी जी की वंदना की तथा कुछ सेवा करने

१. (अ) ललितप्रकाश, पूर्वार्द्ध, पृ० ३३-३६।
   (आ) वृन्दावनधामानुरागावली, पृ० १५६।
२. निजमत सिद्धांत, मध्य खंड, पृ० ८९-९८।

के हेतु आज्ञा देने की प्रार्थना की। बहुत हठ करने पर स्वामी जी ने आदेश दिया—'जाओ! यमुना-पुलिन पर घाट की सीढ़ी का एक कोना टूट गया है, उसे बनवा दो।' अकबर ने जाकर देखा तो सारा घाट रत्नों से मण्डित शिलाओं से बना था। यह चमत्कार देख वह स्तब्ध हो गया और लौट कर स्वामी जी से बोला कि 'कई जन्म तक सम्राट् बने रहने के बाद भी मेरी सारी संपत्ति इतनी नहीं होगी कि इस सीढ़ी को बनवा सकूँ। मेरे योग्य कुछ सेवा बताइये।' तब स्वामी जी ने आज्ञा दी कि वृन्दावन के बन्दरों को सौ मन चना नित्यप्रति डलवाओ और आज्ञा प्रचारित कर दो कि वृन्दावन के पशु-पक्षियों को कोई सता न सके। और अधिक सेवा की इच्छा प्रकट करने पर स्वामी जी ने कहा—अब चले जाओ और जब तक मैं न बुलाऊँ, तब तक न आना।

ललित प्रकाश में तानसेन की कथा कुछ भिन्न रूप में वर्णित है।[1] ग्रंथकार ने लिखा है कि तानसेन ग्वालियर का निवासी था। किशोरावस्था में तानसेन के पिता ने इसे राग-रागिनियाँ सिखाने की बहुत चेष्टा की, परन्तु तानसेन का मन न लगता। तब पिता ने क्रोधित हो पुत्र को घर से निकाल दिया। वह भूखा-प्यासा भटकता-भटकता जंगल में एक शिव-मंदिर में पहुँचा, जहाँ आकाशवाणी द्वारा उसे संकेत मिला कि तू वृन्दावन में स्वामी हरिदास जी की शरण में जा। तब तानसेन स्वामी जी की शरण में आया और उनकी कृपा से उसे राग-रागिनियाँ सिद्ध हुईं। वृन्दावन से ही वह अकबर के दरबार में चला गया। वहाँ उसके संगीत से प्रभावित हो सम्राट् अकबर भी स्वामी हरिदास जी के दर्शन करने आये।

तानसेन स्वामी जी के संगीत-शिष्य थे। यह तथ्य संगीतज्ञों में प्रचलित अनेक किंवदंतियों तथा भक्तमाल की विभिन्न टीकाओं से पुष्ट होता है, तानसेन द्वारा रचित पदों में स्वामी जी के उपास्य ठाकुर श्री बांकेबिहारी की स्तुति भी इस तथ्य को प्रमाणित करती है।[2] तानसेन तथा अकबर की स्वामी जी से भेंट का सब से पुष्ट प्रमाण है—तत्सम्बन्धी प्राचीन चित्र[3]। अकबर-कालीन फ़ारसी ग्रन्थों में इस भेंट का कहीं उल्लेख नहीं। यों भी इन फ़ारसी ग्रन्थों ने हिन्दू संतों के तथा उनके द्वारा प्रेरित वैष्णव भक्ति के विकास के सम्बन्ध में कुछ नहीं लिखा है। तानसेन यद्यपि अकबरी दरबार के प्रमुख रत्न थे तो भी उनके सम्बन्ध में केवल दो समसामयिक उल्लेख इन फ़ारसी ग्रन्थों में मिलते हैं। आईने अकबरी के अनुसार[4] तानसेन पिछले सहस्र वर्षों में होने वाले संगीतज्ञों में अद्वितीय थे। इसके विपरीत मुन्तखबुत्तवारीख़ के लेखक अब्दुलक़ादिर बदायुंनी ने लिखा[5] है कि "तानसेन को अकबर ने और गवैयों के साथ अबुलफ़ज़ल के पिता शेख मुबारक के पास यह जांचने के लिए भेजा कि इनमें कौन कैसा गाता है। शेख मुबारक ने कहलाया—'और गवैये तो सब ऐसे हैं जैसे मनुष्यों में पशु; हाँ, तानसेन कुछ गा लेता है।' बदायुंनी अकबर की नीति का अत्यन्त कटु आलोचक था इसीलिए उसने उसके दरबार के एक महान् गायक के लिए भी ऐसे निन्दापूर्ण वाक्य लिखे।

१. ललितप्रकाश, पूर्वार्द्ध, पृ० ६७-८८।
२. देखिए पृ० ११३।
३. देखिए पृ० १०७-८, चित्र सं० २ (नेशनल म्यूजियम, दिल्ली), चित्र सं० ३ (भारत कला भवन) तथा चित्र सं० ४ (कृष्णगढ़ नरेश के संग्रह में)।
४. आईने अकबरी, ब्लाकमैन, सन् १९३९, वाल्यूम १, पृ० ६८१।
५. मुन्तख़बुत्तवारीख़, बिब्लियोथिका इंडिका, पृ० २६५।

तानसेन के जीवनवृत्त के सम्बन्ध में केवल दो तथ्य तत्कालीन फ़ारसी ग्रन्थों में और मिलते हैं। एक यह कि उन्हें अकबर ने अपने राज्यकाल के सातवें वर्ष (सं० १६१९) में जलालुद्दीन कूरची को भेज कर राजाराम बघेले के यहाँ से अपने यहाँ बुला लिया[1] और दूसरा यह कि तानसेन की मृत्यु सं० १६४६ में हुई[2]।

तानसेन का जन्म कहाँ हुआ, उनके पिता कौन थे, वे प्रारंभ से ही मुसलमान थे या बाद में उन्होंने धर्म परिवर्तित कर लिया, उनके संगीत-गुरु कौन-कौन थे, इस सम्बन्ध में संगीत-प्रेमियों में अनेक किंवदंतियाँ प्रचलित हैं। कुछ लोगों का कहना है कि इनके पिता गौड़ ब्राह्मण मकरन्द पाण्डेय थे तथा इनका पूर्व नाम तन्ना मिश्र था[3]। किसी ने इनका पूर्व नाम त्रिलोचन मिश्र लिखा है[4]। कहते हैं कि इन्होंने मुहम्मद ग़ौस नामक ग्वालियर के प्रसिद्ध सूफ़ी संत से संगीत-विद्या सीखी। इन्हीं मुहम्मद ग़ौस की समाधि के पास तानसेन की समाधि बनी हुई है[5]। इसी समाधि पर तानसेन की स्मृति में प्रति वर्ष एक मेला लगता है[6]। ग्वालियर गज़ेटियर ने इन्हें ग्वालियर के राजा मानसिंह द्वारा स्थापित संगीत-विद्यालय का शिष्य भी बताया है[7]। एक अन्य फ़ारसी लेखक के अनुसार तानसेन ने मुहम्मद ग़ौस के मरने के बाद बक्सू नायक से संगीत सीखा[8]। राजा मानसिंह के दरबार के गायकों में 'बख़्शूनायक' का नाम आता है[9]। परन्तु मीराते आफ़ताबनुमा के लेखक के कथनानुसार ये 'बक्सू नायक' 'बख़्शू नायक' से भिन्न हैं। मीराते आफ़ताबनुमा के लेखक यह भी कहते हैं कि तानसेन ने ब्रज के बाबा रामदास से संगीत शिक्षा ली।

लहरी प्रेस काशी से प्रकाशित 'रागमाला' की भूमिका में लिखा गया है कि तानसेन पटना के रहने वाले थे। पहले हिन्दू थे तथा पीछे बादशाह के तंग करने के कारण मुसलमान हो गये[10]। श्री सुनीतिकुमार चटर्जी ने भी अपने पूर्वोल्लिखित लेख में अकबर द्वारा अपनी पुत्री का विवाह कर तानसेन को मुसलमान बना लेने की किंवदन्ती का उल्लेख किया है।[11]

तानसेन केवल अच्छे संगीतज्ञ ही नहीं थे। वे कुशल कवि भी थे। उन्होंने ब्रजभाषा में शताधिक पद लिखे हैं, जो आज भी ध्रुपद के गायकों द्वारा गाये जाते हैं। उनकी रचनाओं में 'संगीतसार' तथा 'रागमाला' नामक दो ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं[12]। 'बुन्देलवैभव' का

१. आईने अकबरी, ब्लाकमैन, द्वितीय संस्करण, पृ० ४४५।
२. सुनीतिकुमार चटर्जी, कविवर तानसेन, विश्ववाणी, नवम्बर १९४६, पृ० ३६५।
३. मध्ययुगीन चरित्र कोश (मराठी), पृ० ४२८।
४. बुंदेल वैभव, पृ० १८३-४।
५. ग्वालियर स्टेट गजेटियर, पृ० २२३।
६. वही, पृ० २६०-१।
७. वही, पृ० २२३।
८. नवाब अब्दुर्रहमान, मीराते आफ़ताबनुमा (रचनाकाल १८०३-४ ई०), अलीगढ़ विश्वविद्यालय के हस्तलिखित पुस्तक संग्रह में, पृ० ५२२।
९. मानसिंह और मानकुतूहल—सं० हरिहर निवास द्विवेदी, पृ० ५८।
१०. रागमाला—तानसेन, प्र० लहरी प्रेस, काशी, पृ० १।
११. सुनीतिकुमार चटर्जी—कविवर तानसेन, विश्ववाणी, नवम्बर १९४६, पृ० ३६७।
१२. एफ़० ई० की, हिन्दी लिटरेचर, पृ० ३३।

कथन है कि इन्होंने 'गणेश स्तोत्र' नामक एक ग्रन्थ और लिखा[1]।

सम्राट् अकबर : उपर्युक्त पंक्तियों में तानसेन के साथ सम्राट् अकबर द्वारा स्वामी जी के दर्शन करने का वर्णन हम कर चुके हैं। स्वामी जी के जन्म संवत् के विवेचन में हम लिख आये हैं कि कोई विद्वान अकबर का वृन्दावन आगमन सं० १६२७ में मानते हैं और कोई सं० १६३० में[2]।

बैजू बावरा : बैजू बावरा या बैजू नायक स्वामी हरिदास जी के संगीत शिष्य थे—ऐसा संगीत-प्रेमी परम्परा से मानते आये हैं। परन्तु इनके स्वामी जी के संपर्क में आने का कोई ऐतिह्य प्रमाण नहीं मिलता। संप्रदाय के दोनों वार्त्ताग्रन्थ 'निजमतसिद्धांत' तथा 'ललितप्रकाश' भी इस सम्बन्ध में मौन हैं। किन्तु संगीत-क्षेत्र में प्रचलित अनेक किंवदंतियों से इनके स्वामी जी के संपर्क में आने की संभावना को बल मिलता है। बैजू के जीवन के सम्बन्ध में जो बातें कही-सुनी जाती हैं, उनमें से अनेक परस्पर विरोधी हैं। श्री वृन्दावन-लाल वर्मा ने अपने 'मृगनयनी' नामक उपन्यास में इन्हें ग्वालियर के राजा मानसिंह का दरबारी गायक बताया है। 'मानकुतूहल' ग्रन्थ में इनका नाम तो आता है परन्तु इससे यह पता नहीं चलता कि ये मानसिंह के दरबारी गायक थे या नहीं।[3] लोक में एक किंवदंती प्रचलित है कि इनके पिता का तानसेन ने अपने भवन के पास गाने के अपराध में वध करा डाला था। ये उस समय बालक थे। तानसेन से बदला लेने के लिए इन्होंने स्वामी हरिदास जी की शरण में रह कर संगीत सीखा और भरे दरबार में तानसेन को संगीत-विद्या में परास्त कर उसका मान-मर्दन किया। इसके ठीक विपरीत 'रामरसिकावली' के कथनानुसार[4] तानसेन ने अकबर के दरबार में बैजू नायक को हराया। शोध-सामग्री के परिचय में हम इस कथा का उल्लेख कर चुके हैं[5]। 'बुंदेल वैभव' के कथनानुसार ये तानसेन के संगीत-गुरु थे।[6]

फ़ारसी इतिहास ग्रन्थों में इनका उल्लेख केवल मीराते सिकंदरी में मिलता है। इस ग्रन्थ में[7] लिखा है—"जब हुमायूं ने गुजरात के सुल्तान बहादुरशाह की सेना को हरा कर मांडू दुर्ग पर अधिकार किया तो उसने लाल पोशाक पहन एक दरबार का आयोजन किया और क़त्लेआम का हुक्म दे दिया। इसी मार-काट में एक मुग़ल सिपाही ने बैजू नामक संगीतज्ञ को पकड़ लिया और उसकी हत्या करनी चाही। बैजू ने उसे धन देने का लालच देकर उसे अपनी हत्या करने से रोका। मुग़ल ने बैजू के हाथ बाँध दिये और मार्ग के एक ओर बैठ गया। वहाँ से मुग़ल दरबार का एक हिन्दू राजा गुज़र रहा था। उसने बैजू को छुड़ाना चाहा परन्तु मुग़ल ने न छोड़ा। दोनों बैजू को लिए हुमायूं के दरबार में आये। मुग़ल सिपाही ने बहादुरशाह का साथी बता कर बैजू का क़त्ल करने की आज्ञा चाही। किन्तु ख़ुशहाल बेग़ कूरची नामक सरदार ने, जो पहले बहादुरशाह के दरबार में एक पैग़ाम लेकर आया था और बैजू के संगीत और उसके प्रभाव से परिचित था, हुमायूं से

१. बुंदेल वैभव, पृ० १८८।
२. देखिए, पृ० ११३।
३. मानसिंह और मानकुतूहल—सं० हरिहरनिवास द्विवेदी, पृ० ८४।
४. रघुराजसिंह जू देव—रामरसिकावली, पृ० ७७८।
५. देखिए पृ० ९५।
६. बुंदेल वैभव, पृ० १८७।
७. मीराते सिकंदरी, अंग्रेजी अनु० फ़ज़लुल्लाह लुत्फ़ुल्लाह फ़रीदी, पृ० १९२।

प्रार्थना की—'इसकी जान न लीजिये, यह संगीतज्ञों का सम्राट् है'। हुमायूं ने बैजू से गाने को कहा। बैजू फ़ारसी संगीत में भी बहुत निपुण था। उसका संगीत सुन हुमायूं का क्रोध शान्त हो गया। उसने क़त्लेआम बन्द करा दिया और बैजू का बहुत सम्मान किया। बैजू ने बहादुरशाह के अनेक दरबारियों को मुक्ति दिलाई और स्वयं अवसर पाकर बहादुरशाह के पास चला गया।

अनुवादक ने यहाँ 'बैजू' के स्थान पर 'मंझू' नाम लिखा है, किन्तु 'मीराते आफ़ताबनुमा' के लेखक ने मीराते सिकंदरी से उद्धरण देते हुए बैजू नाम का ही प्रयोग किया है। हम पहले भी स्पष्ट कर चुके हैं कि अनुवादक ने भूल से बैजू को मंझू पढ़ा है।[1]

बैजू तानसेन से आयु में काफ़ी बड़े थे और ऐतिहासिक तिथियों का विवेचन करें तो ये सं० १५७० के आसपास स्वामी जी के सम्पर्क में आये होंगे।[2]

राजाराम बघेले : ये रीवां के अन्तर्गत बांधव नामक स्थान के राजा थे। तानसेन बहुत समय तक इनके आश्रय में रहे और इन्हीं के यहाँ से सम्राट् अकबर ने उन्हें अपने दरबार में बुला लिया। निजमत सिद्धांत में इनकी कथा इस प्रकार वर्णित है[3] :

सम्राट् अकबर के दरबार में एक बार तानसेन ने कोई राग अद्भुत कौशलपूर्ण ढंग से गाया। प्रसन्न होकर अकबर ने कान के दो बहुमूल्य मोती इनाम में दिये। तानसेन ने घर जा कर वे अपने एक सेवक को दे दिये। अकबर अपने दिये पुरस्कार का यह निरादर सुन बहुत क्रोधित हुआ और तानसेन से वे मोती वापस मँगा भेजे। तानसेन तो उन्हें दे चुके थे। वापिस कहाँ से देते। अतः अकबर से आज्ञा ले वैसे ही मोती लाने राजधानी छोड़ कर चल दिये। वहाँ से वे राजाराम बघेले के पास आये। राजा ने उनकी विपत्ति-कथा सुनी और उन्हें अपने हाथ का पंखा दे डाला जिसमें अकबर के मोतियों से भी अधिक मूल्यवान तीन सौ मोती जड़े थे। राजाराम ने तानसेन को विदा किया और उनके द्वारा स्वामी हरिदास जी से प्रणाम कहलाया। तानसेन ने अकबर के दरबार में जाकर दो मोतियों के बदले वह पंखा दे दिया। अकबर चकित रह गया। तब तानसेन वृन्दावन आये और स्वामी जी से राजाराम का प्रणाम निवेदन किया। कुछ समय पीछे राजाराम भी स्वामी जी के दर्शनार्थ वृन्दावन आये। वे एक दिन स्वामी जी के पास बैठे थे। ठाकुरजी के भोग के लिए रसोई बन रही थी किन्तु बनाने वाले साधु मिट्टी के उन्हीं पात्रों तथा करुवों का प्रयोग कर रहे थे जिन्हें वे स्नानादि में उपयोग करते थे। राजाराम के हृदय में यह देख बड़ी ग्लानि हुई और वे स्वामी जी से बोले कि 'ठाकुर जी के पात्र तो धातु के होने चाहिएँ। मिट्टी के पात्र तो एक बार प्रयोग करते ही अशुद्ध हो जाते हैं।' स्वामी जी ने उन्हें रज के पात्रों की महिमा समझाते हुए कहा कि—"जिस वृन्दावन की दिव्य रज के लिए लक्ष्मी, शिव, सनकादिक भी ललचाते हैं किन्तु पाते नहीं, उसी सब तीर्थों से भी पवित्र रज से यह पात्र बने हैं। अतः कोई धातु इनके समान शुद्ध नहीं हो सकती।" स्वामी जी के प्रभाव से राजा को वे सारे पात्र रत्न-जटित स्वर्ण के दिखाई दिये और तब उन्होंने करुवे की महत्ता समझी और उनका भ्रम मिट गया।

१. देखिए पृ० ११४।
२. वही।
३. निजमतसिद्धांत, मध्य खंड, पृ० ९६-९।

ललित प्रकाश में अकबर के मोतियों की कथा का उल्लेख नहीं, केवल रजमय पात्रों वाली कथा ही इसी प्रकार दी गई है[1]।

राजा मधुकरशाह : ललितप्रकाशकार ने स्वामी जी से ओरछे के राजा मधुकरशाह की भेंट का उल्लेख इस प्रकार किया है[2] :

मधुकरशाह श्री हरिराम व्यास के कृपापात्र थे। जब व्यास जी ओरछा छोड़कर वृन्दावन चले आये तो मधुकरशाह उनके बिना बड़े दु:खी रहने लगे। व्यास जी को वापस ओरछा ले जाने के लिये मधुकरशाह वृन्दावन आये और उनसे लौट चलने की अनेक प्रकार से प्रार्थना की। व्यास जी को तो वृन्दावन छोड़ने की बात सुनकर भी दु:ख होता था। वे बड़े व्याकुल हो उठे। उन्होंने राजा के आग्रह के कारण कह तो दिया कि हम चलेंगे, किन्तु वृन्दावन के एक-एक वृक्ष-लता को सम्बोधित कर विलाप करने लगे। राजा ने तब उनके वृन्दावन-प्रेम की गुरुता पहचानी। वह बड़ी द्विविधा में पड़ गया। व्यास जी तब राजा को स्वामी हरिदास जी के पास ले गये। उनका मंतव्य यही था कि किसी प्रकार स्वामी जी राजा को समझा देंगे और मुझे वृन्दावन में ही रोक लेंगे। राजा स्वयं वृन्दावन की महिमा से इतना प्रभावित हो चुका था कि उसने राज-पाट छोड़ वृन्दावन में ही रहने की लालसा स्वामी जी के सम्मुख व्यक्त की। स्वामी जी ने उसे इस निश्चय से विमुख करने के लिए अपने दिव्य प्रभाव से यह दिखाया कि वृन्दावन तो विन्ध्याचल तक फैला हुआ है। अत: ओरछा में रहते हुए भी राजा वृन्दावन की भावना कर सकता है। तब मधुकरशाह सन्तुष्ट चित्त से ओरछा लौट आये और व्यास जी को भी वृन्दावन न छोड़ना पड़ा।

'भक्त कवि व्यास' के लेखक ने भी मधुकरशाह की व्यास जी को लौटा ले जाने के लिए की गई वृन्दावन-यात्रा का उल्लेख किया है।[3] व्यास जी की स्वामी जी के प्रति जो श्रद्धा थी उसे देखते हुए यह संभव है कि मधुकरशाह स्वामी जी (हरिदास जी) के दर्शनार्थ आये होंगे।

श्री हरिराम व्यास : व्यास जी की स्वामी जी के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा थी। उन्होंने अपने पुत्र किशोरदास को स्वामी जी का शिष्य कराया—यह प्रसंग हम पहले वर्णन कर चुके हैं।[4] राजा मधुकरशाह के प्रसंग से भी इसी कथन की पुष्टि होती है। व्यास जी ने अपनी वाणी में अनेक स्थानों पर स्वामी जी के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की है। स्वामी जी के देह त्याग के अवसर पर व्यास जी ने जो विरह का पद लिखा वह वैष्णवों में प्रसिद्ध ही है। व्यास जी की वाणी के इन स्थलों में से कुछ को हम उद्धृत कर चुके हैं।[5] निजमत सिद्धांत तथा ललित प्रकाश में भी स्वामी जी से उनके मिलने के उल्लेख यत्र-तत्र मिलते हैं।

श्री हितहरिवंश जी : व्यास जी ने अपनी वाणी में अनेक स्थलों पर श्री हित जी और स्वामी जी का नाम साथ ही लिया है, उदाहरणार्थ :—

१. ललित प्रकाश, पूर्वार्द्ध, पृ० ८८-९०।
२. वही, पृ० ४७-५४।
३. वासुदेव गोस्वामी—भक्त कवि व्यास जी, पृ० ८४।
४. देखिये पृ० १४०।
५. देखिये पृ० ९७-९९।

(अ) सखी सहेली कब मिलिहैं वे हरिवंशी हरिदासी ।[1]

(ब) अब न और कछु करनै रहनै है वृन्दावन ।

मिलिहैं हित ललितादिक दासी रास में गावत सुनि मन ।।[2]

('ललिता' उपनाम से स्वामी जी का ही बोध होता है ।)

पास ही रहने वाले हित जी से स्वामी जी का अवश्य ही स्नेह और सौहार्द रहा होगा । राधावल्लभीय संप्रदाय के कतिपय लेखकों ने अपने संप्रदाय प्रवर्तक का उत्कर्ष कथन करने के लिए स्वामी हरिदास जी को हित जी का कृपापात्र लिख डाला हैं ।[3] यह उनकी कोरी कपोल कल्पना है । एक वर्तमान शोधकर्ता भी बिना विचारे इसी प्रवाह में बह गये हैं और उन्होंने भी स्वामी हरिदास जी की उपासना पद्धति पर श्री हित हरिवंश जी का प्रभाव बताया है ।[4] किन्तु वास्तविक तथ्य यह है कि स्वामी हरिदास जी श्री हित जी से आयु में बाईस वर्ष बड़े थे । और हित जी के सं० १५९०-९१ में वृन्दावन आगमन से भी अट्ठाईस वर्ष पूर्व स्वामी आशुधीर जी से वैराग्य-दीक्षा ले चुके थे और हित जी के उपास्य ठाकुर श्री राधावल्लभ जी के सं० १५९२ में पाटोत्सव से पचीस वर्ष पूर्व अपने उपास्य श्री बांके बिहारी जी की सेवा-पूजा-पद्धति का प्रवर्तन कर चुके थे । अत: दोनों की उपासना पद्धति में साम्य देखकर कोई यह तो कह सकता है कि स्वामी हरिदास जी का प्रभाव श्री हित जी की उपासना-पद्धति पर पड़ा, किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि हित जी का प्रभाव स्वामी जी की उपासना-पद्धति पर पड़ा । हाँ, यह पूर्णतया संभव है कि ये दोनों महानुभाव प्राय: सप्रेम मिलते रहे होंगे ।

श्री चैतन्य महाप्रभु : निजमत सिद्धांत में श्री चैतन्य महाप्रभु के वृन्दावन आगमन के समय स्वामी हरिदास जी से मित्रवत् मिलने का कथन है ।[5] श्री चैतन्य महाप्रभु सं० १५७१ में वृन्दावन आये थे और यदि स्वामी हरिदास जी से मिले हों तो कोई आश्चर्य की बात नहीं, किन्तु निजमत सिद्धांत के अतिरिक्त और कहीं इस मिलन का उल्लेख नहीं मिलता ।

श्री गोपालभट्ट गोस्वामी : माध्वगौड़ीय सम्प्रदाय के आचार्य श्री गोपलभट्ट तो स्वामी जी के अत्यन्त निकट पड़ौसी ही थे । निधिवन के अत्यन्त निकट उनका निवास था । अत: उनसे तो स्वामी जी का प्राय: सत्संग रहता होगा ।

श्री सनातन गोस्वामी एवं श्री रूप गोस्वामी : ये दोनों महानुभाव स्वामी जी के समकालीन थे और वृन्दावन में रहने के कारण अवश्य ही स्वामी जी से इनका सम्पर्क रहता होगा ।

श्री वल्लभाचार्य : कृष्णदास के अपवाद-निवारण के प्रसंग में निजमत सिद्धांतकार ने स्वामी जी की श्री वल्लभाचार्य से भेंट का उल्लेख किया है । हम वहीं यह स्पष्ट कर चुके हैं कि यह घटना कल्पित ज्ञात होती है । यों श्री वल्लभाचार्य कई बार वृन्दावन आये और यदि

१. भक्त कवि व्यास जी, पृ० २५६, पद सं० २५६ ।
२. वही, पृ० २५६, पद सं० २५८ ।
३. उत्तमदास—रसिक अनन्यमाल, देखिये पृ० १०२ ।
४. विजयेन्द्र स्नातक—राधावल्लभ सम्प्रदाय, पृ० ४९३ एवं पृ० ५८५ ।
५. निजमत सिद्धांत, मध्य खंड, पृ० १०० एवं १०४ ।

उनकी स्वामी हरिदास जी से भेंट हुई हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। किंवदंती चली आती है कि स्वामी हरिदास जी ने श्री वल्लभाचार्य के साथ मिल कर मथुरा के विश्रान्त घाट पर सर्वप्रथम रासलीलानुकरण का प्रारंभ किया[1]। परन्तु हरिदासी सम्प्रदाय के वार्ता-ग्रन्थों में कहीं इस बात का उल्लेख नहीं मिलता।

श्री गोविन्द स्वामी : विज्ञानी क्षत्रिय के प्रसंग में[2] निजमत सिद्धांतकार ने अष्टछाप के भक्त कवि श्री गोविन्द स्वामी का स्वामी हरिदास जी के दर्शनार्थ आना लिखा है। इस अवसर पर वे आये हों या न आये हों किन्तु वह स्वामी जी से मिले अवश्य होंगे और वे स्वामी जी से प्रभावित थे यह तो उनके लिखे निम्नांकित छन्द से सिद्ध हो जाता है :—

जा पथ कौ पथ लेत महामुनि मूंदत नैन गहैं नित नाकौ।
जा पथ को पछितात हैं वेद लहैं नहिं भेद रहै जकि जाकौ॥
सो पथ श्री हरिदास लह्यौ रस रीति की प्रीति चलाय निशाँकौ।
बाज निशानन गाजत गोविन्द रसिक अनन्यन कौ पथ बाँकौ॥

यह पद हरिदासी-सम्प्रदाय की प्राय: सभी हस्तलिखित पोथियों में प्रशंसात्मक पदों के संकलन में पाया जाता है।

मीरांबाई : राजस्थान की सुप्रसिद्ध भक्त मीरांबाई वृन्दावन आकर स्वामी जी से मिलीं और स्वामी जी के उपास्य ठाकुर श्री बाँके विहारी जी को लक्ष्य कर उन्होंने एक पद भी लिखा। इसका उल्लेख हम अन्यत्र कर आये है।[3]

स्वामी जी का देहावसान

स्वामी जी के जन्म संवत् के प्रसंग में हम बता आये हैं कि उनके चरित्र के लिखने वालों में प्राय: सभी ने इनकी आयु ९५ वर्ष मानी है। हम सिद्ध कर चुके हैं कि इनका जन्म संवत् १५३७ ही था। अत: इनका मृत्यु संवत् १६३२ ही मानना चाहिये। इनके देहावसान की तिथि आश्विन शुक्ला पूर्णिमा मानी जाती है। श्री सहचरिशरण ने लिखा है :—

श्री स्वामी आश्विन सुदि पूनो ताको महल पधारे।
सोलह सै बत्तिस कौ संवत् समझ लेहु मन प्यारे॥ ४॥

(आचार्योत्सव सूचनिका)

ग्राउज़ के मथुरा मेम्वायर्स में उद्धृत 'भक्त सिंधु' के मतानुसार स्वामी जी का देहावसान सं० १५३७ में, स्वयं ग्राउज़ के मतानुसार लगभग सं० १६६५ में, तथा श्री चक्र लिखित केलिमाल की भूमिका के अनुसार सं० १६६४ में हुआ। जन्म संवत् के विवेचन के प्रसंग में हम स्पष्ट कर आये हैं कि इन लेखकों की स्वामी जी के जीवन के सन्-सम्वत्-सम्बन्धी धारणायें भ्रमात्मक हैं। अत: उन्हीं तर्कों को दुहरा कर इनके कहे मृत्यु संवतों का खंडन करने की हम आवश्यकता नहीं समझते।[4]

१. रामनारायण अग्रवाल—रासलीला का उदय और विकास—पौद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ८८०-१।
२. निजमत सिद्धांत, मध्य खंड, पृ० १०७।
३. देखिये पृ० ११४।
४. देखिये पृ० १११-११६।

सम्प्रदाय के अन्य प्रमुख आचार्य एवं वाणीकर्ता

स्वामी बीठलविपुल जी का चरित्र : स्वामी बीठलविपुल जी स्वामी हरिदास जी के प्रधान शिष्य थे और स्वामी जी के महल पधारने के बाद वे ही उनकी गद्दी पर बैठे। परंतु अपने गुरु के वियोग में वे इतने व्याकुल हो गये कि सात दिन बाद स्वयं भी देह त्याग कर महल पधारे। निधिवन में आपकी समाधि स्वामी हरिदास जी की समाधि के पास ही बनी हुई है। प्रति वर्ष मार्गशीर्ष शुक्ला पंचमी को विरक्त समुदाय द्वारा इनका प्राकट्योत्सव मनाया जाता है।

नाभा जी ने अपने भक्तमाल में इन्हें 'रस सागर' विशेषण से सम्बोधित किया है और कहा है कि इन्होंने वृन्दावन की माधुरी का आस्वादन किया है[1]। श्री प्रियादास जी ने अपनी रस-बोधिनी टीका में 'रस सागर' की व्याख्या करते हुए लिखा है—

स्वामी हरिदास जी के दास नाम विट्ठल हैं,
गुरु के वियोग दाह उपज्यो अपार है।
रास के समाज में विराज सब भक्तराज बोलि कै
पठाये आये आज्ञा बड़ो भार है॥
युगल स्वरूप अवलोकि नाना नृत्य भेद गान
तान कान सुनि रही न संभार है।
मिलि गये वाही ठौर भायो भाव तन और
कहे रस सागर सो ताको यों विचार है॥३७७॥

मुन्शी तुलसीरामकृत भक्तमाल की उर्दू टीका भक्तप्रदीपन[2] तथा राजा प्रतापसिंह-कृत टीका भक्त कल्पद्रुम[3] में भी गुरु वियोग में स्वामी बीठलविपुल जी द्वारा रास में देह त्याग की कथा का वर्णन है। श्री ध्रुवदास जी ने एक दोहा लिखकर स्वामी बीठलविपुल जी की भक्ति-परिपाटी की प्रशंसा की है। वे लिखते हैं :—

विट्ठल विपुल विनोद रस, गाई अद्भुत केलि।
विलसत लाड़िली लाल सुख, अंसन पर भुज मेलि॥
(भक्तनामावली लीला)

सिद्धांतकार ने लिखा है कि विट्ठलविपुल जी स्वामी हरिदास जी के मामा आयु में उनसे पाँच वर्ष बड़े थे।[4] जब स्वामी जी ने वैराग्य धारण किया

१. सर्वसु राधारमण भट्टगोपाल उजागर।
हृषीकेश भगवान विपुल विट्ठल रस सागर॥
\+ \+ \+
घमंडी युगलकिशोर भृत्य भूगर्भ जीव दृढ़व्रत लियो।
श्री वृन्दावन की माधुरी इनि मिलि आस्वादन कियो॥६४॥
(भक्तमाल, मुंबई वैभव प्रेस, सं० १९८०)।
२. (उर्दू) प्रदीपन भक्तमाल, नवल-किशोर प्रेस, सन् १९१० ई०, पृ० १९२।
३. भक्त कल्पद्रुम, नवलकिशोर प्रेस, सं० १९२६, पृ० १८०-१।
४. निजमत सिद्धांत, मध्य खंड, पृ० ४६।
५. वही, अवसान खंड, पृ० ४।

तब इन्होंने भी वैराग्य ले लिया और स्वामी जी से दीक्षा ली। इस प्रकार ये तीस वर्ष की आयुपर्यन्त घर में रहे। और फिर शेष जीवन-भर अनन्य निष्ठा से अपने गुरु की सेवा में लगे रहे।

स्वामी जी के महल पधारने के बाद ये उनके वियोग में आकुल हो गये और अनशन व्रत ले नेत्र मूंद मौन होकर बैठ गये। वृन्दावन के समस्त रसिक इनके अपार कष्ट को देखकर दुःखी होते थे। उन्होंने इनके मन को शान्त करने के लिए एक रासलीला का आयोजन किया और व्यास जी को इन्हें लेने भेजा। ये रासलीला में आ तो गये परन्तु किसी ओर देखते ही न थे। तब स्वामिनी जी का स्वरूप धारण करने वाले बालक ने इनकी बाँह पकड़ ली। ये उन्हें स्वयं श्री राधा समझ बोले—'जब बाँह पकड़ ली है तो अपने ही साथ रखिये'। ऐसा कह शरीर छोड़ दिया और नित्य विहार में लीन हो गये। इस प्रकार स्वामी हरिदास जी के महल पधारने के सात दिन बाद ही ये भी कार्तिक कृष्णा सप्तमी सं० १६३२ को महल पधारे।[1]

निजमत सिद्धांत के कथनानुसार इनके पिता का नाम गुरुजन था। ये सनाढ्य ब्राह्मण थे और वृन्दावन के पास राजपुर के निवासी थे।

इसके विपरीत विहारी जी के गोस्वामियों का कथन है कि स्वामी आशुधीर जी के तीन पुत्र थे—स्वामी हरिदास जी, स्वामी जगन्नाथ जी तथा स्वामी गोविन्द जी। गोविन्द

१. निजमत सिद्धांत, अवसान खंड, पृ० ३-५।

(यद्यपि निजमत सिद्धांत आदि सभी संप्रदाय के ग्रन्थों में स्पष्ट रीति से इनका देहावसान का संवत् १६३२, आयु १०० वर्ष, गृह में वास ३० वर्ष, और विरक्त जीवन ७० वर्ष लिखा है, किन्तु संवत् और संख्याएँ लिखने में अनेक भूलें दिखाई देती हैं :

मध्य खंड, पृ० १५६ में लिखा है—

'इक शत तीश वर्ष तनु धार्‌यो।'

अवसान खंड, पृ० ५ में लिखा है—

विपुल शिष्य स्वामी किये तब ते जन्म प्रकाश।
सम्वत् पन्द्रा सै अधिक, ता ऊपर पंचाश॥१६॥

स्वामी हरिदास जी ने सं० १५६२ में वैराग्य धारण किया और तभी अपने शिष्यों को दीक्षा दी होगी। अतः या तो यह संवत् गलत है या विट्ठल विपुल जी स्वामी हरिदास जी के विरक्त होने से पहले ही उनके शिष्य हो गये।

श्री भगवत रसिक की वाणी के साथ प्रकाशित आचार्योत्सव-सूचनिका (संस्करण सं० १९७१) में लिखा है—

बीठल अगहन सुदि पांचैं को कियो प्रकाश मही पर।
पंद्रह सै पचाश को संवत् रसिकन को आनंद भर॥४॥

संभव है यहाँ भी यह भूल निजमत सिद्धांत की बिना विचारे अनुकृति करने के कारण आ गई हो।

संवत् १९९५ में छपी भगवत रसिक की वाणी के साथ प्रकाशित आचार्योत्सव-सूचनिका में ये पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

बीठल अगहन सुदि पांचैं को कियो प्रकाश मही पर।
पंद्रह सै पचीश को संवत् रसिकन को आनंद भर॥

कह नहीं सकते, इन भूलों में कौन सी भूल प्रेस की है, कौन सी रचयिताओं के प्रमाद के कारण और किस कथन को स्वीकार करें और किसे अस्वीकार।)

जी के दो पुत्र थे—बड़े बीठलविपुल और छोटे कृष्णदास। बीठलविपुल विरक्त हो अलीगढ़ से वृन्दावन चले आये और कृष्णदास का वंश अलीगढ़ में अभी तक चला आता है। इस प्रकार बीठलविपुल जी स्वामी हरिदास जी के भतीजे थे, सारस्वत ब्राह्मण थे तथा अलीगढ़ के पास हरिदासपुर के निवासी थे। 'कुंजविहारी सर्वस्व' के लेखक के मतानुसार इनका जन्म सं० १६०९ में हुआ।

स्वामी हरिदास जी के चरित्र-विवेचन के अवसर पर हम दोनों पक्षों की सामग्री की परीक्षा कर यह स्पष्ट कर चुके हैं कि स्वामी जी के जन्म-स्थान, जाति तथा पिता-माता सम्बन्धी विवादों को सुलझाने के लिए पर्याप्त एवं पुष्ट प्रमाणों का अभाव है। अतः स्वामी बीठलविपुल जी के जीवन सम्बन्धी इन विवादों का भी हमें उल्लेख भर करके संतुष्ट होना पड़ेगा। किसी निश्चित मत पर पहुँचना अत्यन्त कठिन है।

स्वामी विहारिणिदास : स्वामी बीठलविपुल जी के दो शिष्य थे—१. श्री कृष्णदास तथा २. श्री विहारीदास या विहारिणिदास। कृष्णदास आयु में भी बड़े थे और बड़े गुरु-भाई भी थे परन्तु गुरु के देहावसान के पश्चात् स्वा० विहारिणिदास (या विहारिणिदेव) को ही गद्दी मिली।

स्वा० विहारिणिदास जी को संप्रदाय में 'गुरुदेव' कहा जाता है। श्री हरिदासी संप्रदाय में इन्हीं की वाणी संख्या और सौष्ठव में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। स्वामी हरिदास जी की वाणी की अपनी वाणी द्वारा विस्तृत व्याख्या करने के कारण तथा उनकी रसपरिपाटी को भक्तों के लिए सुगम बनाने के कारण स्वा० विहारिणिदेव जी का स्थान स्वा० हरिदास जी के पश्चात् सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। इनकी उपास्य रस में अनन्यता तथा स्वा० हरिदास जी के चरणों में निष्ठा इतनी उत्कट थी कि उसकी उपमा मिलना कठिन है। श्री हरिराम व्यास ने इनकी प्रशंसा में एक पद लिखा है :

सांची प्रीति श्री विहारिनदासैं।
कैं करुवा, कै कुंज-कामरी, कै धरु श्री स्वामी हरिदासैं॥
प्रतिबाधक सहि सकत न जिनकें, जानत नहीं कहा कहै त्रासैं।
महा माधुरी मत्त मुदित ह्वै गावत, रस जस जगत उदासैं॥
छिन ही छिन परतीत बढ़त, रस-रीतनि देखि बिबि बदन बिलासैं।
अँग-अँग नित्यविहार करत मिलि, इहै आस निजु बन बसि व्यासैं॥२०॥[1]

श्री ध्रुवदास जी ने भी दो दोहे लिखकर इनकी प्रशंसा की है :

विहारीदास निज एक रस, ज्यों स्वामी की रीति।
निर्वाही पाछे भली, तोरी सब सों प्रीति॥
मत्त भयो रस रंग में, करी न दूजी बात।
बिन बिहार निज एकरस, और न कछू सुहात॥[2]

श्री रसिकविहारी जी के मंदिर की समाज की पोथी में श्री ब्रजदास पुजारी कृत गुरुदेव जी की प्रशंसा का यह छप्पय हमें मिला :

१. भक्त कवि व्यास जी, पृ० १९५।
२. श्री बयालीस लीला, भक्त नामावलि लीला, पृ० ३०।

ऐंड़ौ ऐंड़ौ फिरै बिपुल बल रसकों पीयें ।
बांनी जाकी सुनत छुटें जे साधन हीयें ।
श्री कुंजविहारी वर विहार कुंजनि बसि गायो ।
इहि बल गरजत रह्यौ लरजि रसिकनि सिर नायो ।।
रसभूमि उपासिक रहसि को ऐसो को ह्वै है सुभट ।
सपूत पूत हरिदास को श्री विहारीदास अनन्यनि मुकट ।।

'नवभक्तमाल' के रचयिता श्री राधाशरण गोस्वामी ने भी श्री विहारिनिदेव जी की प्रशंसा में एक छप्पय लिखा है :

गुरु अनुशासन पाय गये जमुना जल लामन ।
त्रिविध समीर सुहाय प्रिया-प्रीतम की आमन ।।
भये भावना विवश तहीं पद वर्णन कीनो ।
देह गेह सुधि नहीं बढ़त हिय भाव नवीनो ।।
यह दशा देख गुरुवर कही सदा नित्य लीला सुमर ।
रसिक समाज शिरोमणी श्री विहारिनदास अनन्य वर ।।३३।।

यों तो परवर्ती वाणियों में स्वा० विहारिनिदेव जी की प्रशंसा में अनेक छंद लिखे हैं परन्तु इनके वैराग्य लेने से पूर्व के इतिहास के सम्बन्ध में कोई सूचना नहीं मिलती । टट्टा स्थान में इनका प्राकट्योत्सव श्रावण शुक्ला तृतीया को मनाया जाता है और इस अवसर पर चार दिन पर्यन्त समाज होता है ।

इनके विषय में प्रसिद्ध है कि यह श्री लाड़िलीलाल की मानसी सेवा में इतने लीन रहते और ऐसी तल्लीनता से स्वनिर्मित पद गायन करते रहते कि इन्हें ठाकुर जी की समय-समय की सेवा-पूजा का भी ध्यान न रहता । कहते हैं कि ये एक बार स्नान करने यमुना-तट पर पहुँचे । दाँतुन करते-करते यह पद गाने लगे :

राग स्याम कली

विहरत लाल विहारिनि दोऊ श्री यमुना के तीरें तीरें ।
अदभुत् अखंड मंडल भुव पर वर भामिनि भुज भीरें भीरें ।।
तामैं द्वै ससि श्रावत सुधा श्रमजलकन मुख छवि नीरें नीरें ।
उपजति किरन कपोल विमल हँसि लसि दसनावलि हीरें हीरें ।।
कुंज गगन घन अलक बदरिया चलत परसपर सीरें सीरें ।
लोचन चारु चकोर चितै हित पियत अधीरन धीरें धीरें ।।
उमगि मिलत अनुराग नवल वर कल कुंडल चल वीरें वीरें ।
श्री विहारिदासि सुरझत नहिं तनमन उरझि अरुन पट पीरें पीरें ।।२६।।

—रस के पद ।

इस प्रकार पद गाते-गाते सायंकाल हो गया । तब किसी ने इन्हें जाकर चेताया ।

स्वयं स्वा० विहारिणिदास जी की वाणी में भी इस घटना का उल्लेख मिलता है । आप लिखते हैं :

सरस रूप सुख मैं सन्यौ मन अटक्यौ गुन गानै ।
विहारीदास जानैं नहीं कित भोजन अस्नान ॥४६६॥
उठ बैठ्यौ हौं भोर ही एक तान गुन गान ।
आवत जात अथै गयौ तीन काल अस्नान ॥४६७॥

—रस के दोहा ।

इनके सम्बन्ध में एक कथा यह भी है कि एक बार यह आँख मूँदे मानसी ध्यान कर रहे थे । तब स्वयं भगवान् कृष्ण इनके पास आये और इन्हें संबोधित किया । परंतु इन्होंने आँखें न खोलीं और कह दिया—'हम उस हरि से सम्बन्ध रखते हैं जिन्हें स्वा० हरिदास जी हमें दिखावें ।' इस कथा से इनकी स्वा० हरिदास जी में अनन्य निष्ठा प्रकट होती है । इस किंवदंती का आधार इनका निम्नलिखित सवैया बताया जाता है :

चित्त हरो सब वित्त हरो नवनीत हर्‌यो ब्रज जानि जहाँ को ।
हरे हरि होइ रहे हो लता हौं तौ हेरि रह्यो हठि ही हठ हांको ॥
श्री विहारिनिदास अनन्य मिले रस पाय प्रियापिय अंक महा को ।
हौं तौ और सरूप पिछानौं नहीं श्री हरिदास बिना हरि को है कहाँ को ॥४॥

—सिद्धांत के सवैया ।

निजमतसिद्धांत के अनुसार इनका जन्म श्रावण शुक्ला तृतीया सं० १५६१ को हुआ। यह ३३ वर्ष घर में रहे और फिर वैराग्य ले ६५ वर्ष श्री वृन्दावन में । सं० १६५९ में मार्गशीर्ष शुक्ला तृतीया को इन्होंने देह त्याग कर निकुंज में प्रवेश किया ।[1]

निजमतसिद्धांतकार का कहना है कि इनका जन्म स्वामी हरिदास जी के आशीर्वाद-स्वरूप हुआ था और शिशु रूप में ही इन्होंने स्वामी जी का करुवा पकड़ अपनी भावी वैराग्य-साधना का परिचय दिया ।[2] किन्तु यह कथन युक्तिसंगत ज्ञात नहीं होता । स्वा० हरिदास जी ने सं० १५६२ में वैराग्य धारण किया। फिर उनके आशीर्वाद से जन्म ले उनके करुवे को पकड़ने की घटना सं० १५६१ में किस प्रकार संभव हो सकती थी ।

पुनः निजमतसिद्धांत में लिखा है कि ये अकबर के दीवान राजा मित्रसेन के पुत्र थे। ये खानखाना के साथ ब्रह्मपुत्र नद के उत्तर में बन्दरों के देश में युद्ध करने गये । वहाँ इनके प्रभाव से दोनों प्रबल पक्षों में संधि हो गई । परन्तु खानखाना ने छलपूर्वक बन्दरों के ब्राह्मण मंत्री कमलापति को मार डाला । तब विहारिनिदासजी ने संताप के कारण अपनी एक भुजा काट डाली और बादशाह की चाकरी छोड़ वृन्दावन में स्वामी हरिदास जी की शरण में आ गये । स्वामी जी की कृपा से उनकी कटी हुई बाँह पुनः पूर्ववत् हो गई और उधर कमलापति के भी प्राण लौट आये ।[3]

यह सारा वर्णन भी तर्क की कसौटी पर खरा नहीं उतरता । निजमतसिद्धांत के मत से सं० १५९४ में विहारिनिदास स्वा० हरिदास जी की शरण में आये, उससे भी पूर्व जन्म से ही उन पर अकबर की कृपादृष्टि रही। किन्तु ऐतिहासिक तथ्य यह है कि अकबर का जन्म

१. निजमतसिद्धांत, अवसान खंड, पृ० १०३ ।
२. वही, मध्य खंड, पृ० १३७-८ ।
३. वही, पृ० १२८-५६ ।

ही सं० १६०० में हुआ और वह सं० १६१२ में गद्दी पर बैठा। अतः यह कथा केवल अपने बड़ों का महत्त्व-कथन करने के लिए कल्पित की हुई ज्ञात होती है।

निजमतसिद्धांत के कथनानुसार स्वा० विहारिनिदेव जी ने ही गोस्वामियों के पूर्वज गोस्वामी जगन्नाथ को श्री बाँकेविहारी जी की पूजा सौंपी। विहारिनिदास जी तो सदा मानसी उपासना में लीन रहते थे अतः विहारी जी की सेवा-पूजा कभी होती, कभी न होती। तब इनका कृपापात्र एक मूलचन्द नामक ब्राह्मण इनसे माँग कर विहारी जी को अपने साथ माँट नामक निकटवर्ती गाँव में ले गया। कुछ दिन विहारी जी मूलचन्द के भाई के पास राल नामक गाँव में रहे। इन दोनों के देहान्त के बाद विहारी जी पुनः स्वामी विहारिनिदेव जी के पास वृन्दावन आ गये[1]। तभी पंजाब से आये हुए जगन्नाथ नामक ब्राह्मण की प्रार्थना पर आपने श्री बाँकेविहारी जी की सेवा-पूजा उन्हें दे दी। जगन्नाथ जी ने यह सेवा अपने तीन पुत्रों में बाँट दी। सेवा से पुजारियों को बड़ा आर्थिक लाभ होने लगा और सम्मान प्रतिष्ठा मिली। एक समय उन्होंने सोचा कि कहीं विहारिनिदास या उनके विरक्त शिष्य बाद में विहारी जी को वापस न माँग बैठें अतः विहारिनिदास को समाप्त ही न कर दिया जाय। उन्होंने धन देकर कुछ मेवों को स्वा० विहारिनिदेव को मारने भेजा। मेव उन्हें मार न सके, उल्टे उनके चमत्कारपूर्ण प्रभाव से अंधवत् हो त्राहि-त्राहि करने लगे। इधर पुजारियों ने देखा कि मन्दिर से विहारी जी ही अंतर्धान हो गये हैं तब ये स्वा० विहारिनिदास जी की शरण में आये और उन्होंने दयालुतावश उन्हें आश्वासन दिया कि हम या हमारी शिष्य परंपरा के कोई विरक्त तुम से विहारी जी की सेवा वापस नहीं मांगेंगे। पुजारी लौटे तो मन्दिर में श्री बाँकेविहारी पूर्ववत् विराजमान थे। तभी से विहारी जी की सेवा गोस्वामियों के पास चली आती है[2]।

स्वा० विहारिणिदेव जी की वाणी में भी किन्हीं गोस्वामियों के दुर्गुणों के प्रति वितृष्णा का भाव मिलता है :

सींग बड़े डाढ़ी बड़ी खर चर रहे मुटाइ।
गोसाईं घूरे खनैं राह्मत राख उड़ाइ ॥२४॥
गोसाईं गहि जोतिये नाकन मोटी नाथ।
आगै पगहा खैंचिये पाछै पैनी हाथ ॥२५॥

—सिद्धांत के दोहा।

कह नहीं सकते यह किन गोस्वामियों के लिये कहा गया है। उन्होंने अन्यत्र लिखा है :

श्री गुरु द्रोह मोह मद छाके किए कुमंत्र कपूत कुवादैं।
जिनकी कृपा पेट भर खायौ दीन पिता दालिद्री दादैं।
तिनसों सरवर करत अभागे चंद छिपै नहिं अंचल छादैं।
रह्यौ गँधाइ जगत में अपजस साधैं बैर गली में पादैं ॥९६॥

—सिद्धांत के सवैया।

कुछ लोगों का कहना है कि ये पंक्तियाँ भी विहारी जी के गोस्वामियों को लक्ष्य करके लिखी गई हैं। परन्तु हमारे मत में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है।

१. निजमतसिद्धांत, अवसान खंड, पृ० ७-१२।
२. वही, पृ० ९६-९८।

विहारी जी के गोस्वामियों के मत से श्री विहारी जी की सेवा स्वयं स्वा० हरिदास जी ने अपने छोटे भाई श्री जगन्नाथ जी को दी। कहा नहीं जा सकता कौन-सा पक्ष ठीक कहता है।

बलदेव कवि ने तो अपनी वंशावली में यह भी लिख दिया है कि स्वा० विहारिनिदेव जी गोस्वामी हरिराय के शिष्य थे और इन्हीं के समय से विरक्त शिष्यों की परंपरा चली। परन्तु जैसा हम इस वंशावली के परिचय में बता आये हैं[1] यह कथन नितांत निराधार है। स्वा० विहारिनिदेव जी ने अपनी वाणी में अनेक स्थानों पर अपने गुरु स्वामी बीठलविपुल जी तथा अपने गुरु के गुरु स्वा० हरिदास जी का स्पष्ट उल्लेख किया है।

गोस्वामी समाज में इनके संबंध में यह भी किंवदंती प्रचलित है कि इनके एक ही हाथ था। उसके संबंध में वे इनकी वाणी से निम्नलिखित दोहे उद्धृत करते हैं :—

काहू कै बल बाहु को काहू शिष्य पचास।
इकहथिया हरिदास को नाम विहारिनदास॥ ६३२॥
द्वै द्वै बाहु सिलह सजें साधारन संसार।
एकै हाथन गासनो एकै भजन विहार॥ ६३३॥

—रस के दोहा।

विरक्त साधु इन दोहों का यह अर्थ स्वीकार नहीं करते। उनके मत से 'एक हाथ' का अर्थ है 'अकेले, बिना किसी की सहायता के'। परन्तु संभव है स्वा० विहारिणिदास जी ने ये पंक्तियाँ अपने एक हाथ होने के कारण ही लिखी हों और इन्हीं के आधार पर निजमत सिद्धांतकार ने खानखाना के साथ युद्ध के प्रसंग में इनकी स्वयं एक बाँह काट देने की कल्पना कर डाली हो।

स्वा० नागरीदास एवं स्वा० सरसदास : स्वा० विहारिणिदास जी के दो शिष्य थे —नागरीदास एवं सरसदास। नागरीदास सरसदास जी के बड़े भाई थे और बड़े गुरु भाई भी, किंतु गद्दी पर सरसदास जी ही बैठे। निजमत सिद्धांत के मतानुसार ये गौड़ ब्राह्मण थे तथा विहारिणिदास जी के चरित्र में वर्णित वानर देश के सचिव कमलापति के पुत्र थे। अपने पिता की अनुमति से ये दोनों वृन्दावन में आकर स्वा० विहारिणिदास जी के विरक्त शिष्य हो गये।[2]

निजमतसिद्धांतकार ने लिखा है कि श्री नागरीदास ने अपने शिष्य नवलसखी (नवलदास) के शिष्यों हलधर तथा भूधर द्वारा प्रदत्त ३०,००० रुपयों से गो० रासदास की देखरेख में निधिवन का घेरा तथा वहीं विहारी जी का मन्दिर बनवाया।[3] इसी ग्रन्थ के अनुसार स्वा० नागरीदास जी का जन्म सं० १६०० की माघ शुक्ला पंचमी को हुआ। ये बाईस वर्ष घर में रहे तथा अड़तालीस वर्ष वृन्दावन में। सं० १६७० की वैशाख बदी नवमी को शरीर त्याग कर निकुंज में प्रविष्ट हुए।[4] स्वा० सरसदास जी का जन्म आश्विन शुक्ला पूर्णिमा को सं० १६११ में हुआ (ग्रंथ में भूल से इकदश के स्थान पर इकसठि छप गया

१. देखिए, पृ० ४४-४५।
२. निजमतसिद्धांत, अवसान खंड, पृ० १७-२१।
३. वही, पृ० ६४।
४. वही।

है।) ये ३० वर्ष घर में रहे तथा ४२ वर्ष वृन्दावन में। इन्होंने सं० १६८३ में शरीर त्याग किया।[1]

निजमत सिद्धांत के इन उल्लेखों का भी उसके पूर्वोल्लेखों से मेल नहीं बैठता। एक ओर तो वे कहते हैं कि ये दोनों एक साथ स्वा० विहारिणिदास जी के शिष्य हुए जब कि उपर्युक्त तिथियों के अनुसार नागरीदास जी ने सं० १६२२ में तथा सरसदास जी ने सं० १६४१ में वैराग्य लिया। पुनः स्वामी विहारिणिदास जी के चरित्र में इसी ग्रंथकार के अनुसार सं० १५९४ में उनका कमलापति के कपटपूर्ण वध पर शोक प्रकट करना और उसके पुत्रों को आश्वासन देना निश्चित होता है[2], जबकि यहाँ सं० १६०० तक दोनों में से किसी का जन्म भी नहीं हुआ था। अतः निजमत सिद्धांत के ये सभी उल्लेख भ्रमात्मक हैं। तथ्य के प्रकटीकरण के लिए अन्य प्रमाणों का एकदम अभाव है।

आज से लगभग १०० वर्ष पूर्व लिखी गई वृंदावनधामानुरागावली के अनुसार निधिवन में श्री नागरीदास तथा श्री सरसदास की समाधियाँ थीं[3]। किंतु आज उन समाधियों का कोई पता नहीं। संभवतः सांप्रदायिक विवाद में पड़े अधिकारीवर्ग ने उन्हें हटा दिया होगा।

स्वा० सरसदास और स्वा० नागरीदास का मधुर स्वभाव एवं उनकी भक्ति की परिपाटी अत्यंत प्रसिद्ध है। श्री ध्रुवदास जी ने इनके संबंध में लिखा है :—

कहा कहौं मृदुल सुभाव अति, सरस नागरी दास।
बिहारी बिहारिन कौ सुयश, गायो हरषि हुलास ॥[4]

स्वा० नरहरिदास : स्वा० सरसदास जी तक सभी महंत निधिवन में रहते थे। उनके शिष्य स्वा० नरहरि देव जी निधिवन छोड़ वर्तमान रसिकविहारी जी के मन्दिर के स्थान पर जा विराजे और पेड़ों के नीचे बैठ अपने उपास्य की आराधना करने लगे। इनके सेव्य ठाकुर श्री गोरीलाल जी आज रसिकविहारी जी के मंदिर के पास एक नवीन कुंज में विराजमान हैं। स्वा० नरहरिदेव जी के समय में ही औरंगज़ेब ने सं० १७२६ में वृन्दावन पर आक्रमण किया और अनेक मंदिरों को नष्ट-भ्रष्ट किया। संभवतः इसी उपद्रव की आशंका से एवं गोस्वामियों के विहारी जी की पूजा संबंधी विवाद के कारण यह निधिवन ही नहीं छोड़ गये, अपना अधिकांश समय बुंदेलखंड में भ्रमण करने में बिताते रहे।

इनके प्रधान शिष्य स्वा० रसिकदेव जी ने सं० १७५९ में एक गुरुमंगल की रचना की जो उनकी वाणी में सम्मिलित है। इस गुरुमंगल के अनुसार स्वा० नरहरिदेव जी का जन्म बुंदेलखंड में दशान(धसान) नदी के तीर पर गुढ़ा नामक गाँव में हुआ। इनके पितामह का नाम नन्द, पिता का नाम विष्णुदास तथा माता का नाम उत्तमा था। ये जाति के ब्राह्मण थे। इनका जन्म ज्येष्ठ कृष्णा द्वितीया को हुआ। इन्होंने बुंदेलखंड में भक्ति का प्रचार किया। बड़े निस्पृही थे, कभी किसी राजा की सेवा स्वीकार न की। श्री जगन्नाथपुरी में कुछ यात्री बुंदेलखंड से गये थे, उन्हें स्वयं जगन्नाथ जी ने आदेश दिया कि नरहरि-

१. निजमतसिद्धांत, अवसान खंड, पृ० १०५।
२. वही, पृ० १८।
३. वृन्दावनधामानुरागावली, पृ० १५१।
४. बयालीस लीला, भक्त नामावलि लीला, पृ० ३४।

देव जी मेरे ही स्वरूप हैं, उनकी शरण में जाओ। इन्होंने स्वामी सरसदास जी से वराग्य की दीक्षा ली[1]।

निजमतसिद्धांतकार ने भी इसी कथन को कुछ अधिक पल्लवित करके दुहराया है। उनका कहना है कि स्वा० सरसदास जी ने स्वयं बुंदेलखंड में आकर इन्हें अपना शिष्य बनाया[2]। इसके विपरीत ललितप्रकाशकार का कथन है कि ये स्वयं स्वा० सरसदास जी से दीक्षा लेने वृन्दावन आये[3]।

निजमत सिद्धांत के अनुसार इनका जन्म ज्येष्ठ बदी द्वितीया सं० १६४० को हुआ। यह ३५ वर्ष घर में रहे तथा ६६ वर्ष वृन्दावन में तथा १०१ वर्ष की पूर्णायु प्राप्त कर सं० १७४१ की पौष शुक्ला सप्तमी को देह त्याग निकुंज में प्रविष्ट हुए[4]।

स्वा० रसिकदास (रसिकदेव) : स्वा० नरहरिदेव जी के दो शिष्य कहे जाते हैं—बड़े श्री रसिकदास तथा छोटे श्री केशवदास। निजमत सिद्धांत में लिखा है कि स्वा० नरहरिदेव रसिकदेव जी की गुरुनिष्ठा की परीक्षा लेने के लिये उनसे प्रकटरूप से रुष्ट रहते और अपने पास न आने देते। उनकी कोई सेवा भी स्वीकार न करते। किन्तु रसिकदास उनकी सेवा में दूसरों के हाथ गुप्तरीति से, भिक्षाटन द्वारा संग्रह किया हुआ द्रव्य पहुँचाते रहते। कभी किसी कृपापात्र से मँगा गुरु के वस्त्र धोते और इसी प्रकार दूर रह कर भी गुरु-सेवा में सतत लगे रहते।

एक समय स्वा० नरहरिदेव जी के उष्ण दूध पीने से छाले पड़ गये। उधर उसी समय रसिकदेव जी दूसरे ग्राम में बैठे हुए भी 'हाय-हाय' करने लगे और शिष्यों से बोले कि हमारे गुरुदेव के उष्ण पय पीने से छाले पड़ गये हैं। पास बैठे कुछ लोग नरहरिदेव जी के पास पहुँचे तो पता चला कि बात ठीक थी। नरहरिदेव जी भी जान गये कि यह रसिकदेव जी के ही पास से आये हैं। मन में प्रसन्न होते हुए भी ऊपर से उन्होंने उन लोगों से यही कहा कि ज्ञात होता है रसिकदास तुम्हारे पास रह रहा है। मुझसे लगाव है तो उसे तुरंत निकाल दो।

इस प्रकार श्री रसिकदेव जी को गुरु ने अनेक बार परीक्षा की अग्नि में परखा और रसिकदेव जी सारे कष्ट सहकर भी गुरु की अनन्य भक्ति से विचलित न हुए। तब स्वयं श्री विहारी जी की आज्ञा पाकर नरहरिदेव जी ने उन्हें बुला कर अपनी शरण में रखा[5]।

स्वा० नरहरिदेव जी ने माघ मास में वसंत-पंचमी को एक भारी उत्सव कर इन्हें अधिकारी का पद दिया। गुरु के तिरोधान के बाद यह गद्दी पर बैठे। स्वा० रसिकदेव जी ने ही ठाकुर श्री रसिकविहारी जी को डूंगरपुर से मँगा कर एक मंदिर बनवा प्रतिष्ठित कराया।

कहा जाता है कि श्री रसिकविहारी सैकड़ों वर्ष पूर्व श्री ललितभानु देव नामक आचार्य के हेतु निधिवन में प्रकट हुए थे। वहाँ से वे द्वारका चले गये। वहाँ से चित्तौड़ और

१. स्वा० रसिकदेव जी की वाणी (गोरेलाल जी के मन्दिर की प्रति), पृ० २-६।
२. निजमतसिद्धांत, अवसान खंड, पृ० ११०।
३. ललितप्रकाश, उत्तरार्ध, पृ० २५।
४. निजमतसिद्धांत, अवसान खंड, पृ० १२०।
५. वही, पृ० ११४-६।

वहाँ से डूंगरपुर आये। स्वा० रसिकदेव जी को उन्होंने स्वप्न में अपनी स्थिति बता वृन्दावन आने की इच्छा व्यक्त की और तब रसिकदेव जी ने अपने शिष्य भेज उन्हें डूंगरपुर से मँगाया और जीवन पर्यंत अपूर्व निष्ठा से उनकी पूजा-सेवा की।[1]

निजमत सिद्धांत में लिखा है कि श्री हित संप्रदाय के दो वणिक् शिष्य श्री रसिक-देव में अत्यन्त श्रद्धा रखने लगे और अनेक प्रकार से सेवा और भेंट अर्पित करते। इससे तत्कालीन श्री हित-वंशी गो० रूपलाल जी को ईर्ष्या हुई और उन्होंने आगरे के हरजी नामक वैश्य से कह 'रसिकमाल' नामक ग्रन्थ बनवाया जिसमें स्वा० हरिदास जी की न्यूनता और श्री हित हरिवंश जी के सम्प्रदाय का उत्कर्ष कथन किया गया था। इस ग्रन्थ की अनेक प्रतियाँ कराकर बँटवा दी गईं। इस अपराध के फलस्वरूप हरजी के सारे शरीर में विस्फोटक हो गये। वह बहुत दुःखी हुआ और अन्त में स्वा० रसिकदेव जी की शरण में आ क्षमा माँगने पर उसका कष्ट दूर हुआ[2]।

श्री सहचरिशरण ने अपनी गुरु प्रणालिका में लिखा है कि ये बुंदेलखंड में एक सनाढ्य ब्राह्मण वंश में उत्पन्न हुए। वे लिखते हैं :—

रसिकदेव रसमीन सनावढ़ पीन प्रेम सों,
जन्म बुंदेला खंड विपिन पुनि भजन नेम सों।

अपनी आचार्योत्सव सूचनिका में सहचरिशरण जी ने लिखा है कि इनका जन्म माघ शुक्ला पंचमी को हुआ और सं० १७५८ की श्रावण कृष्णा दशमी को इन्होंने शरीर त्याग किया[3]। श्री अमोलकराम शास्त्री ने अपनी आचार्यस्तवमाला (संस्कृत) में लिखा है कि सं० १६९१ में इन्होंने वसंत पंचमी को दीक्षा ली[4] :—

रसिको रसिकोदेवश्चन्द्रांकरसभू १६९१ मिते।
वासन्त्यां तपसो लेभे दीक्षामिहतिथौ सुधीः॥ ३८६॥

स्वा० रसिकदेव जी के ५२ शिष्य कहे जाते हैं। इनमें से श्री गोविंददेव ने गुरु के देहावसान के पश्चात् श्री गोरीलाल (गोरेलाल) जी की सेवा सँभाली। श्री पीतांबरदेव जी स्वा० रसिकदेव जी की गद्दी पर बैठे और श्री रसिकविहारी की सेवा करते रहे। श्री ललितकिशोरी स्वा० हरिदास जी का परंपरा से पूजित करुवा और गूदरी ले यमुना पुलिन पर वृक्षों के नीचे आ विराजे और यहीं उनके शिष्य स्वा० ललितमोहिनी जी ने बाद में बाँस की टटिया का घेरा बनवाया, जिसके कारण इस स्थान का नाम टट्टी स्थान पड़ा। इन्हीं तीनों महानुभावों से वर्तमान तीन गद्दियों की परंपराओं का प्रारंभ हुआ।

स्वा० पीताम्बरदास (पीताम्बरशरणदेव) : स्वामी पीताम्बरदास जी श्री रसिकदेव जी के सबसे छोटे शिष्य थे और जब बड़े शिष्यों श्री गोविंददेव और श्री ललितकिशोरीदेव ने गद्दी पर बैठना स्वीकार न किया तो गुरु की आज्ञा से यह गद्दी पर बैठे।

निजमत सिद्धांत के अनुसार[5] इनका जन्म शाहजहाँपुर के पास नारनौल नामक ग्राम

१. निजमतसिद्धांत, अवसान खंड, पृ० १२१-८।
२. वही, पृ० १२९-३१।
३. आचार्योत्सव सूचनिका, छंद १२।
४. अमोलकराम शास्त्री, आचार्यस्तवमाला, पृ० ५९।
५. निजमतसिद्धांत, अवसान खंड, पृ० १४२-६६।

में चौबेलाल नामक गौड़ ब्राह्मण के घर हुआ। इनकी माता का नाम रामकुंवरि था। इनका जन्म भाद्रपद कृष्णा ८ को हुआ। इनके पिता शैव थे। इनका नाम प्रयागदास रखा गया। बड़े होने पर ये भी पिता की भाँति वाणिज्य करने लगे। एक वैष्णव वणिक् मनोहरदास से इन्हें वैष्णव भक्ति के महत्त्व का परिचय मिला और तब ये वृन्दावन में आ स्वा० रसिकदेव जी के शिष्य हो गये। इनके पिता इनको ढूंढ़ते-ढूंढ़ते वृन्दावन आये और अनेक प्रकार की भर्त्सना कर इन्हें लौटा ले गये। परंतु अंततोगत्वा वे जान गये कि प्रयागदास का मन वृन्दावन में अटका है। वे अब घर के किसी काम के नहीं। तब उन्होंने इन्हें चला जाने दिया। ये फिर स्वा० रसिकदेव जी की शरण में आ गये। इनका दीक्षा नाम पीताम्बरदास रखा गया।

स्वा० पीताम्बरदास जी की अनेक तीर्थ यात्राओं एवं चमत्कारपूर्ण कृत्यों का वर्णन इनके शिष्य किशोरदास जी ने अपने निजमतसिद्धांत में किया है। जब ये तीर्थ यात्रा में थे तभी स्वा० रसिकदेव जी ने अपना निकुंजगमन निकट जान इन्हें पत्र भेज कर बुलवाया और स्वयं इन्हें गद्दी सौंपी।

स्वामी ललितकिशोरीदेव : श्री ललितकिशोरीदेव जी से टट्टी स्थान की परम्परा का प्रारम्भ हुआ[1]। इन्होंने स्वामी हरिदास जी की बताई जिस उपासना पद्धति की स्वा० विहारिणिदेव जी ने व्याख्या की थी उसी का पुनः उन्नयन किया है और नित्य विहाररस की अनन्यता से स्थापना की है। इसी कारण स्वामी जी की रस-पद्धति पर दृढ़ता से चलने वालों में आपका स्थान बहुत ऊँचा है। इनके शिष्य श्री शीलसखी जी ने इनकी प्रशंसा में यह सवैया लिखा है :

श्री गुरुदेव की साहिबी में अमनेक अनन्य भयो अलबेला ।
एक ही रीति की प्रीति प्रतीति है बांकी लड़ैती सों कीनौं है मेला ॥
नेह के पुंज निकुंज मद्यौ हरिदास को पूत सपूत अकेला ।
दास किशोरी जू प्रेम समुद्र में कूदि पर्‌यौ निरसंक दै हेला[2] ॥

निजमतसिद्धांत के कथनानुसार ये भदावर के पास चंबल नदी के किनारे हथकाँति नामक गाँव में एक माथुर ब्राह्मण के घर जन्मे। इनका पूर्व नाम गंगाराम था। प्रारम्भ से ही इनका हृदय भक्ति-भावना से परिपूर्ण था। एक बार ये जगन्नाथपुरी की यात्रा को गये थे। वहाँ भक्तमाल की कथा में स्वामी हरिदास जी संबंधी छप्पय सुन अत्यन्त प्रभावित हुए और वृन्दावन आ स्वामी जी की परम्परा के विद्यमान महन्त स्वामी रसिकदेव जी से वैराग्य-दीक्षा ली। ये राधा बाग में रहते और पुष्पों की माला बना कर ठाकुर जी को पहनाया करते। कुछ दिन निधिवन में सेवा करने की इच्छा से रहे परन्तु वहाँ से अधिकारी गोस्वामियों ने इन्हें ईर्ष्यावश भगा दिया। तब यह यमुनापुलिन पर आ पीपल के तले रहने लगे।

ललितप्रकाश के कथनानुसार जब ये स्वामी रसिकदेव जी की शरण में आये तो स्वामी जी ने ब्रजरस का परिचय दिया परन्तु यह उससे सन्तुष्ट न हुए और स्वामी हरिदास जी द्वारा कहे गये नित्यविहार का रहस्य पूछने लगे। स्वामी रसिकदेव जी ने कहा—दोनों

१. निजमतसिद्धांत, अवसानखंड, पृ० १४२-६६।
२. सिद्धांतरत्नाकर में संकलित शीलसखीकृत आचार्य मंगल से।
३. निजमतसिद्धांत, अवसानखंड, पृ० १३८-४०।

एक ही हैं, परन्तु इन्हें सन्तोष न हुआ। तब एक अन्य साधु ने कहा—गुरुओं से इस प्रकार विवाद नहीं किया जाता। तब ये निराश हो पुलिन में चले आये और लताओं से लिपट-लिपट कर रोने और यह चौबोला पढ़ने लगे :

हममें कुंज कुंज में हम हैं।
कुंजविहारी सोई मम हैं॥
ललितप्रिये के रस में सम हैं।
अब काहू की रही न गम है।

स्वामी रसिकदेव जी ने एक साधु को इनके पीछे भेज दिया था। उसने जाकर ललितकिशोरी जी की अवस्था बताई तो रसिकदेव जी ने प्रसन्न हो उन्हें अपने पास बुला लिया। उन्हें स्वामी हरिदास जी का करुवा और गूदरी दिये और छः आचार्यों की वाणी, जो छुपा कर रखी थी, दी। तब ललितकिशोरीजी पुलिन में आ बैठे और अनन्यतापूर्वक स्वामी हरिदास जी की मूल पद्धति से रस की उपासना करने लगे[1]।

इनके अनेक शिष्य हुए जिनमें अनेक माथुर चतुर्वेदी ब्राह्मण एवं कायस्थ थे। इनके एक माथुर चतुर्वेदी शिष्य गोकुलचंद्र ने इनसे आज्ञा ले भाद्रपद शुक्ला अष्टमी को स्वामी हरिदास जी के जन्मोत्सव का मेला किया जो अद्यावधि प्रति वर्ष टट्टी स्थान में बड़ी धूम-धाम से मनाया जाता है[2]।

ललितप्रकाश में लिखा है कि दिल्ली के सम्राट् मुहम्मदशाह एक बार अपने पूर्वजों के समय के चित्रों को देख रहे थे। उनमें से एक में स्वामी हरिदास जी के सम्मुख तानसेन तथा सम्राट् अकबर को सादर उपस्थित देख उन्हें यह लालसा हुई कि जो संत वर्तमान समय में स्वामी जी की गद्दी पर विद्यमान हों उनके दर्शन करें। उन्होंने स्वामी ललितकिशोरी जी के पास एक दूत भेजा और उनसे दिल्ली आने या सम्राट् को वृन्दावन आ कर दर्शन करने की आज्ञा देने के लिये प्रार्थना की परन्तु स्वामी ललितकिशोरी जी ने राजा-महाराजाओं का सम्पर्क उचित न जान कहला भेजा कि यदि दर्शन करना ही हो तो चित्र बनवा लें। तब सम्राट् ने एक कुशल चित्रकार भेज स्वामी ललितकिशोरीदेव जी का चित्र बनवा मँगाया[3]।

ललितप्रकाश के अनुसार जब मथुरा पर यवनों ने आक्रमण किया तो स्वामी ललित-किशोरीदेव जी अपने शिष्यों के आग्रह करने पर वृन्दावन छोड़ भ्रमण के लिये चले गये। इस प्रवास में यह कुछ दिन बटेश्वर में रहे तथा कुछ दिन चंबल के किनारे पिनाहट में तथा उपद्रव की शान्ति होने पर पुनः वृन्दावन आ गये[4]। स्वामी ललितकिशोरी जी के इस प्रवास का कारण यवनों का कौन-सा आक्रमण था यह इस कथन से पता नहीं चलता। इनके समय में पहले सं० १७९६ में नादिरशाह ने मथुरा पर आक्रमण किया। उसके कुछ सैनिक वृन्दावन तक भी आये परन्तु वृन्दावन में कोई विशेष हानि नहीं हुई। दूसरा एक बहुत नृशंस आक्रमण सं० १८१४ में अहमदशाह अब्दाली का हुआ। इसमें वृन्दावन में भी बहुत मारकाट हुई। अनुमान से ज्ञात होता है कि स्वामी ललितकिशोरी जी का यह प्रवास नादिरशाह के

१. ललितप्रकाश, उत्तरार्द्ध, पृ० ७२-४।
२. वही, पृ० ८४-७।
३. वही, पृ० ९६-१००।
४. वही, पृ० ८९-९६।

आक्रमण के समय ही हुआ होगा क्योंकि इसमें मथुरा में ही मारकाट होने का उल्लेख किया गया है।

आचार्योत्सव सूचनिका के अनुसार इनका जन्म मार्गशीर्ष कृष्णा अष्टमी सं० १७३३ को हुआ। ये पचीस वर्ष घर में रहे तथा ६५ वर्ष वृन्दावन में। इनके गुरु स्वामी रसिकदेव जी का निधन सं० १७५८ में हुआ तब से इनकी स्वतन्त्र आचार्य पद पर स्थिति हुई। इन्होंने पौष कृष्णा षष्ठी सं० १८२३ को शरीर त्याग कर निकुंज में प्रवेश किया[1]।

स्वा० ललितमोहिनीदेव : ये स्वा० ललितकिशोरीदेव जी के शिष्य थे तथा उनके निकुंज गमन के बाद टट्टी स्थान की गद्दी पर बैठे। इनके समय में टट्टी स्थान के वैभव की बहुत वृद्धि हुई। दूर-दूर से लोग इनकी शरण में आते। अनेक राजा तथा राजपुरुष इनके कृपाकांक्षी थे। इनकी गुरु सेवा तथा साधु सेवा बहुत प्रसिद्ध है। सेवकों से बहुत-सा धन एवं सामग्री भेंट में आती और ये जो आता उसे उसी दिन साधु सेवा में लगा देते। इन्हीं के संबंध से टट्टी स्थान को मौनी (ललितमोहिनी) दास की टट्टी भी कहते हैं।

ललितप्रकाश में लिखा है[2] कि दीग में एक यवन को भूमि खोदते समय एक घड़े में एक सुन्दर युगल मूर्त्ति मिली। उसने उनसे स्वप्न में आदेश पा उन्हें वृन्दावन में स्वा० ललितमोहिनीदेव जी के पास पहुँचा दिया। ये ठाकुर श्री राधिकाविहारी नाम से विख्यात हुए। पहले तो स्वा० ललितमोहिनीदेव जू वृक्ष के तले टटिया बना उनकी सेवा करते रहे फिर बुन्देलखंड के सोनेजू पमार नामक एक धनिक ने आग्रह कर उनका सुन्दर पक्का मन्दिर निर्माण करा दिया। यह मन्दिर आजकल छतरपुर वाली कुंज कहलाता है।

इनके समय में विहारी जी के गोस्वामियों से बहुत दिन तक झगड़ा चलता रहा। कभी-कभी राजपुरुषों ने भी गोस्वामियों का साथ दे इन्हें त्रस्त करना चाहा। ये बड़े प्रभावशाली संत थे और किसी से भी भय न मानते थे परन्तु कुछ हितैषियों के आग्रह से यह वृन्दावन छोड़ कर चले गये और कुछ समय तक बुन्देलखंड में भ्रमण करते रहे। कुछ काल बीतने पर फिर वृन्दावन में आकर रहने लगे[3]।

इनका राजदरबारों में तथा दिल्ली के दरबार में कितना मान था, यह इनके समय में टट्टी स्थान को मिली भेंट की सनदों से ज्ञात होता है। इनमें से एक का उल्लेख हम शोध-सामग्री के परिचय में कर आये हैं[4]।

श्री सहचरिशरण ने 'आचार्य्योत्सवसूचनिका' में लिखा है[5] कि ये बेतवा नदी के तीर पर ओरछा में श्री हरिराम व्यास के वंश में उत्पन्न हुए थे। इनका जन्म सं० १७८० की आश्विन शुक्ला दशमी को हुआ। ये १८ वर्ष घर में रहे तथा ६० वर्ष विरक्त हो वृन्दावन में। ये माघ कृष्णा एकादशी को अपने गुरु के शरणागत हुए। गुरु के निधन के पश्चात् सं० १८२३ में गद्दी पर बैठे। सं० १८५८ की फाल्गुण कृष्णा नवमी को यह देह त्याग निकुंज में प्रविष्ट हुए।

१. आचार्योत्सव सूचनिका, छंद १३, १४।
२. ललितप्रकाश, उत्तरार्द्ध, पृ० १११-३।
३. वही, पृ० ११७-३४।
४. देखिये, पृ० १०४।
५. आचार्योत्सव सूचनिका, छंद १४, १५।

स्वा० गोवर्द्धनशरणदेव : ये स्वा० पीताम्बरशरणदेव जी के शिष्य थे और उनके बाद श्री रसिकविहारी मंदिर की गद्दी पर विराजे। ललितप्रकाश के अनुसार[1] ये पूर्व के रहने वाले थे। जिस समय श्री पीताम्बरदेव जी का तिरोधान हुआ, उस समय यह तीर्थाटन कर रहे थे। पत्र पाकर यह वृन्दावन आये और गद्दी पर बैठे। इनके समय में श्री रसिकविहारी जी की गद्दी के वैभव में बहुत वृद्धि हुई। इन्होंने स्वा० पीताम्बरदेव जी का मेला किया। इन्हीं के समय में 'सिहानौ' नामक गाँव भेंट में मिला। इन्होंने 'सिहानौ' में एक मन्दिर बनवा कर सनकादिक के विग्रहों की स्थापना कराई। नारदकुण्ड के तट पर नारद जी के विग्रह की स्थापना कराई। निम्ब ग्राम; जो श्री निम्बार्काचार्य की तपोभूमि कहा जाता है, में भी एक नया मन्दिर बनवाया। परन्तु सब से बड़ा निर्माण कार्य इन्होंने श्री रसिकविहारी जी का वर्तमान नया मन्दिर बनवा कर किया। जिस प्रकार टट्टी स्थान के अष्टाचार्यों में श्री ललितमोहिनी आठवें आचार्य माने जाते हैं, उसी प्रकार श्री रसिकविहारी गद्दी के अष्टाचार्यों में ये आठवें आचार्य हैं।

स्वा० गोवर्द्धनशरणदेव जी के दो शिष्यों विद्यानिधि एवं हरेकृष्णदास ने इनकी प्रशंसा में कुछ छंद लिखे हैं। उनसे यह सूचनाएँ हमें मिलती हैं :—

स्वा० गोवर्द्धनशरणदेव जी का जन्म आषाढ़ शुक्ला दशमी को हुआ। कार्तिक शुक्ला दशमी को यह गुरु के शरणागत हुए। सं० १८७१ में ज्येष्ठ कृष्णा द्वितीया शुक्रवार को इन्होंने अपने उपास्य श्री रसिकविहारी को नया मंदिर बनवा कर उसमें विराजमान कराया तथा वैशाख कृष्णा चतुर्दशी गुरुवार सं० १८९० को यह देह त्याग निकुंज में प्रविष्ट हुए। इनका उपासना क्षेत्र का उपनाम 'गौरांगी' था।

महंत किशोरदास : निजमतसिद्धांत आदि ग्रन्थों के रचयिता श्री किशोरदास स्वा० पीताम्बरशरणदेव के शिष्य थे। निजमतसिद्धांत के अन्त में इन्होंने स्वयं अपना चरित्र लिखा है[2]। इसके अधिकांश भाग में किशोरदास जी द्वारा की गई भारत के प्रमुख तीर्थों की यात्रा का वर्णन है। अपने जीवन के संबंध में इन्होंने केवल इतना ही लिखा है कि ये मत्स्य देश के ढुंढ़ाहर प्रदेश में आंबेर के निवासी थे। इनके पिता सारस्वत ब्राह्मण श्री घासीराम थे तथा इनकी माता का नाम खैमा था। पिता ने इन पर विवाह कर लेने के लिए जब ज़ोर डालना प्रारंभ किया तो यह घर छोड़ कर चल दिये और भ्रमण करते रहे। माता की मृत्यु के बाद यह वृन्दावन आये और स्वा० पीताम्बरदेव जी के शिष्य हो गये। पिता इनके पीछे वृन्दावन आये और पीताम्बरदेव जी से प्रार्थना कर इन्हें लौटा ले गये, परन्तु घर पहुँच कर भी जब इनकी वैराग्य-वृत्ति न बदली तब उन्होंने इन्हें वृन्दावन जाने की अनुमति दे दी।

ये कहते हैं कि सं० १७९१ में वैशाख शुक्ला तृतीया को इन्हें गुरु ने दीक्षा दी[3]।

श्री भगवतरसिक : ये स्वा० ललितमोहिनीदेव जी के शिष्य थे। इनकी वाणी का सम्प्रदाय में बड़ा मान है। इनके जीवनचरित्र के संबंध में कोई सूचनायें प्राप्त नहीं हैं। प्रयाग में इनका एक स्थान बताया जाता है, संभवत: वहाँ इनकी समाधि होगी। इनके शिष्य

१. ललितप्रकाश, उत्तरार्द्ध, पृ० ९१-८।
२. निजमतसिद्धांत, अवसान खंड, पृ० १९६-९३।
३. वही, पृ० १५८।

श्री विहारीवल्लभ ने अपनी रचना 'भगवतरसिक नाम प्रताप' में लिखा है :

तीरथराज प्रयाग में पंचीकृत तन तजि दियो ।
कहत देव जयजय सबद भगवत सम नहिं भव बियो ॥

इस कथन से ज्ञात होता है कि श्री भगवतरसिक ने प्रयाग में शरीर त्याग किया ।

श्री शीतलदास : ये टट्टी स्थान के महंत स्वा० ठाकुरदास जी (सं० १८५६-६८) के शिष्य थे । इनके जीवनचरित्र के संबंध में कोई सूचना नहीं मिलती । इनकी वाणी का सम्प्रदाय में तथा उससे भी अधिक संप्रदाय के बाहर साहित्य क्षेत्र में बड़ा मान है । एफ० ई० की के मतानुसार इनकी स्थिति सन् १७२३ (सं० १७८०) के लगभग थी[1] किन्तु इनके गुरु के काल के आधार पर इनका समय बहुत पीछे ज्ञात होता है ।

स्वा० सहचरिशरण : ये टट्टी स्थान के महंत स्वामी राधाशरणदेव जी के शिष्य थे तथा स्वयं भी गुरु के निकुंज गमन के उपरान्त सं० १८७८ से सं० १८९४ तक टट्टी स्थान की गद्दी पर विराजे । इनके जीवन वृत्त के संबंध में भी कोई सूचनायें प्राप्त नहीं हैं । केवल ललितप्रकाश के अन्त में इन्होंने यह लिखा है[2] कि जिस समय इनके गुरु का देहावसान हुआ तब यह वृन्दावन से बाहर प्रवास में थे । यह पत्र पाकर वृन्दावन आये और सन्त समाज ने आग्रह कर इन्हें आचार्य्य गद्दी पर प्रतिष्ठित किया ।

१. एफ़० ई० की, हिन्दी लिटरेचर, पृ० ७० ।
२. ललितप्रकाश, उत्तरार्द्ध, पृ० १४२ ।

चतुर्थ अध्याय

भक्ति-सिद्धान्त

दार्शनिक-मत : स्वामी हरिदास जी के सम्प्रदाय में रस भक्ति की प्रधानता है। श्री कुंजविहारी-विहारिणि के नित्य विहार की उपासना इस सम्प्रदाय में इतनी अनन्यता से की जाती है कि किसी आचार्य ने ब्रह्म और जीव के स्वरूप-निरूपण को अपनी वाणी में स्थान ही नहीं दिया। भक्ति के बाधक के रूप में 'माया' का नाम कई जगह मिल जायेगा, कहीं 'जगत के प्रपंच' का निर्देश भी कर दिया गया है, 'जीव' शब्द भी यदा-कदा देखने में आ सकता है, किन्तु 'ब्रह्म' और 'मुक्ति' की तो इस सम्प्रदाय के साहित्य में कोई सत्ता ही नहीं। कारण स्पष्ट है। जिस तत्त्व को हम लोक में 'ब्रह्म', 'ईश्वर', 'परमात्मा' आदि नामों से पुकारते हैं और जिसमें हम संसार के कर्त्ता, धर्त्ता, हर्त्ता, नियन्ता आदि विशेषणों का आरोप करते हैं, यह सम्प्रदाय उसकी प्रभुता को स्वीकार ही नहीं करता। एक आचार्य कहते हैं :

निर्गुण ब्रह्म जो वर्णत वेद। ताको सुनो जुदो इक भेद॥
सो नित्य विहारी की आभा आहि। निराकार पुनि वदत जो ताहि॥
ज्ञानी होइ तहाँ जाइ लीन। सो एक अंश जानो परवीन॥
नारायण आदि सकल औतार। सबको कारण नित्य विहार॥[1]

अतः जब ब्रह्म नित्यविहारी की आभामात्र है, एक अंश है, तब ये वाणीकार उसकी व्याख्या ही क्यों करते। और मुक्ति, इस सम्प्रदाय के साधकों का प्राप्य नहीं है। साधारण-जन मुक्ति को चरम पुरुषार्थ मानते हैं, परन्तु इस सम्प्रदाय के साधकों का परम काम्य नित्यविहार है। स्वामी ललितकिशोरीदेव ने कहा है :

नहिं चाहौं वैकुण्ठ न ब्रह्मानंद कौं।

केवल यदा-कदा ब्रह्म के सर्वशक्तिमत्ता आदि गुणों की स्थिति अपने उपास्य हरि, विहारी या नित्य विहारी में बतायी गयी है :

(अ) कहि श्री हरिदास कर्ता किया सो हुआ सुमेर अचल चला।[2]

१. स्वामी रसिकदेव, भक्ति सिद्धांतमणि, पृ० ८७-८।
२. स्वामी हरिदास, अष्टादश सिद्धांत के पद, पृ० ६।

(आ) झूठो बात साँची करि दिखावत हौ हरि नागर ।
निशिदिन बुनत उधेरत जात प्रपंच को सागर ।।
ठाठ बनाय धरौ मिहरी को है पुरुष ते आगर ।
सुन श्री हरिदास यहै जिय जानो सपने को सो जागर ।।[1]

(इ) कह श्री हरिदास जानैं ठाकुर विहारी तकत वोट पाट ।[2]

जो हरि अचल सुमेरु को चला सकते हैं, जो निरन्तर जगत्प्रपंच को बना और बिगाड़ रहे हैं, जिन्होंने माया 'मिहरी' को ऐसा मोहक रूप दिया है, और जो सारे संसार को पर्दे के पीछे से देखते हैं, वे हरि कैसे हैं, उनका जीव से क्या सम्बन्ध है, इसे विस्तार से कहीं नहीं बताया गया है। केवल एकाध स्थान पर संकेतमात्र मिलता है :

(अ) मेरे नित्य किशोर अजन्मा ।[3]

(आ) इच्छा एक अनेक है पुनि अनेक है एक ।
विहारीदास संसय नसै ताको नाम विवेक ।।[4]

(इ) प्रभु जू हौं तेरा तू मेरा ।
राजी षसम कहा करै काजी लोग बको बहुतेरा ।।
हौं तू एक अनेक गनै गुन दोस न किसहू केरा ।
जल तरंग लौं सहज समागम निर्मल साँझ सवेरा ।।[5]

उस अजन्मा नित्यकिशोर का जीव से सम्बन्ध एकत्व और अनेकत्व (द्वैताद्वैत) का है। यह जीव तो हरि के वश में इस प्रकार पड़ा हुआ है जैसे एक तृण आँधी के वश में :

तिनुका बयार के बस ।
ज्यौं भावै त्यौं उड़ाय लै जाय अपने रस ।[6]

हरि की माया बड़ी मोहक है, सारे संसार में उसका प्रसार है। उसके वश में मुनि तक आ गये हैं फिर करोड़ों मनुष्यों की तो क्या गिनती :

तुम्हारी माया बाजी पसारी विचित्र मोहे मुनि सुनि काके भूले कोड़ ।[7]

संसार, यह जगत्प्रपंच, जो हरि की मायावश झूठा होते हुए भी सच्चा जैसा दिखाई देता है, समुद्र के समान है। मनुष्य इसमें मीनवत् हैं तथा अन्य जीव मकर नक्र आदि के तुल्य। लोभी मन मोती निकालने वाले गोताखोर (मरजिया) के समान इसमें बार-बार डुबकी लगाता है परन्तु हाथ में आते हैं चार पदार्थों के एकाध खंड। इस समुद्र से पार वही हुआ जिसने नंद के आनंद श्री विहारी जी की चरण शरण ली :

संसार समुद्र मनुष्य मीन नक्र मगर और जीव बहु बंदसि ।
मन बयार प्रेरे सनेह फंद फंदसि ।।

१. स्वा० हरिदास, अष्टादश सिद्धान्त के पद, पृ० १४।
२. वही, पृ० १८।
३. स्वामी विहारिणिदास, सिद्धान्त के दोहा, चौबोला, पृ० १४४।
४. वही, सिद्धान्त के दोहा, पृ० ५८८।
५. वही, सिद्धान्त के पद, पृ० ३५।
६. स्वा० हरिदास, अष्टादश सिद्धान्त के पद, पृ० ८।
७. वही, पृ० ५।

लोभ पंजर लोभी मरजिया पदारथ चार खंड खंडसि ।
कह श्री हरिदास तेई जीव पार भये जे गहि रहे चरन आनंदनंदसि[1] ।।

संसार का रूप मृगतृष्णा के समान है, जहाँ न बीज है न बेल, फिर भी तरह-तरह की गुलकारी दिखाई देती है। धन, यौवन या राज्य के मद टिकने वाले नहीं; कालचक्र में पड़ ऐसे उड़ जायेंगे जैसे ढेला मारने से पक्षी। इस जगत् के सम्बन्ध ऐसे हैं, जैसे तीर्थ-यात्रियों की भेंट; आज साथ हैं, कल अलग-अलग :

हरि को ऐसो ही सब खेल ।
मृगतृष्णा जग व्याप रह्यो है कहूं बिजोरो न बेल ।।
धनमद जोवन-मद राजमद ज्यों पंछीन में डेल ।
कह श्री हरिदास यही जिय जानो तीरथ को सो मेल ।।[2]

स्वामी हरिदास जी कहते हैं—हमने संसार से प्रीति करके देख ली, किसी की प्रीति में तत्त्व नहीं। छत्रपति से रंक तक सबकी प्रकृति विरोधी है, किसी की किसी से बनती नहीं, जन्म जन्मान्तर में मनुष्य भटकता रहता है। हमें तो श्री विहारी ही एक सच्चे मित्र मिले। ऐसे मित्र सब किसी को मिलें :

जगत प्रीति कर देखी नाहिं गटी को कोऊ ।
छत्रपति रंकलौं देखे प्रकृति विरुद्ध बन्यो न कोऊ ।।
दिन जो गये बहौत जन-मन के ऐसे जाउ जिन कोऊ ।
सुन श्री हरिदास मीत भले पाये विहारी ऐसे पावो सब कोऊ ।।[3]

स्वामी हरिदास जी की यही कामना है, सब मनुष्यों को मानों यही एक आशीर्वाद कि ऐसे विहारी जी की भक्ति सब को मिले।

भक्ति का स्वरूप : श्री नित्य विहारी से हित करना ही भक्ति का स्वरूप है[4]। उनसे प्रेम करने पर संसार के प्रेम से मन विमुख हो जाता है[5]। संसार का रंग कच्चा है और इस प्रेमाभक्ति का रंग पक्का। अतः इस भक्ति से ही अपना सर्वोत्कृष्ट निर्वाह हो सकेगा ऐसा जानना चाहिए :

हित तो कीजै कमलनैन सों,
जा हित के आगै और हित लागै सब फीको ।
कै हित कीजै साधु संगति सों,
ज्यों कल्मष जाय जीको ।
हरि को हित ऐसो जैसो रंग मजीठ ।
संसार हित रंग कसूंभ दिन दुती को ।

१. स्वा० हरिदास, अष्टादश सिद्धान्त के पद, पृ० ६।
२. वही, पृ० १३।
३. वही, पृ० १५।
४. सात्वस्मिन् परमप्रेमरूपा
—नारदभक्ति-सूत्र, पृ० २।
५. यत्प्राप्य न किंचिद्वांछति न शोचति न द्वेष्टि न रमते नोत्साहीभवति।
—नारदभक्ति-सूत्र, पृ० ५।

कह श्री हरिदास हित कीजै विहारी सौं ।
ओर निवाहु जान जीकौ[1] ।।

इस भक्ति के आलंबन हैं श्री नित्य विहारी, हरि या श्री श्यामा कुंजविहारी । यह भक्ति प्रेमरूपा है :

प्रेम बनिजनैं हौं चली आगैं मिलियौ प्रेम ।
प्रेम प्रीति गति पाइ सखि मोहि प्रेम कौ नेम ।।८९।।
प्रेम डसौनां वोड़ना अचवन भोजन प्रेम ।
प्रेम प्रेम कौ पाहुनौ प्रेम प्रेम कौ नेम ।।९०।।[2]

भक्त के चारों ओर प्रेम छाया हुआ है । यहाँ प्रेम ही साधन है, प्रेम ही साध्य । प्रेम ही झूठे और सच्चे की पहिचान कराता है :

प्रेम प्रेम ही पाइयै तौ करै प्रेम को अंग ।
प्रेमहिं प्रेम पिछान लै झूठौ साँचौ संग ।।८६।।[3]

यह प्रेमाभक्ति ज्ञान से बहुत ऊँची है । भक्ति यदि सिद्धि है तो ज्ञान और विवेक साधन हैं :

भक्ति बिना नहिं सिद्धि है साधन ज्ञान विचार ।
तुस कूटे छाले परैं छूटै नहिं संसार ।।[4]

ज्ञान के मार्ग में परिश्रम व्यर्थ है। इसी प्रकार कर्म का मार्ग भी भक्ति-पथ से बहुत नीचा है । कर्म की योजना तो मानो कच्ची मति वालों के समझाने के लिए की गयी है । जिसे ढूंढ़ते-ढूंढ़ते भक्ति रूपी तत्त्व मिल गया, वह कर्म जैसी नीरस वस्तु का क्या करेगा :

कर्म धर्म खर बहुत पियारा; काचेन कौं जंजार पसारा ।।
फटकत फटकत जब कन पाया; कन पाये कौनैं खर खाया ।।[5]

नारद-भक्ति-सूत्र में भी यही कहा गया है :

सातु कर्मज्ञानयोगेभ्योप्यधिकतरा ।।२५।।

सच्ची भक्ति सकाम नहीं होती[6] । भक्त को चाह केवल यही होनी चाहिए कि किसी प्रकार हरि को प्रसन्न करूँ । हरि के प्रसन्न होने से ही सुख मिलता है । अपने लिए कोई कामना करना ही दुःख का मूल है :

जाही में हरि प्रसन्न होइ सोई कीजै बात ।
अपनी चाह न ऊपजै ताही मैं कुसरात ।।१८१।।
हरि प्रसन्न भए सुख भयौ चाह भयैं भयौ दुष ।
एक चाह हरि मिलन की लियैं रहत नित रुष ।।१८२।।[7]

१. स्वा० हरिदास, अष्टादश सिद्धान्त के पद, पृ० ७ ।
२. स्वा० विहारिणिदास, सिद्धान्त के दोहा ।
३. वही ।
४. स्वा० ललितकिशोरीदेव, सिद्धान्त के दोहा ।
५. स्वा० विहारिणिदास, शुद्ध सरूप को निरूपन, चौबोला, पृ० १३ ।
६. सा न कामयमाना निरोधरूपत्वात् ।।७।।
—नारद-भक्ति-सूत्र ।
७. स्वा० ललितकिशोरीदेव, सिद्धान्त की साखी ।

इस प्रकार की यह निष्काम भक्ति, जो ज्ञान और कर्म से भी ऊपर है, जो सब प्रकार से सुखद और जीवन का परम धर्म है, मिलती कैसे है ? उत्तर केवल यही है—हरि की कृपा से। न साधन से कुछ होता है, न उद्यम करने से। श्री हरि-गुरु की जब कृपा होती है तब नित्यविहार की प्राप्ति सहज ही हो जाती है :

साधन श्रम कछु ना कियो ना कछु करिवे योग।
कृपा विहारिणिदास की सहज सँयोगी भोग ॥१५०॥
ऐसी स्वामिनि साहिबिन रसिक अनन्य उदार।
विहारिणिदासि प्रसन्न ह्वै दियो अहार विहार ॥१५१॥[1]

भक्ति भाव में रहती है और भावुक भक्तों में ही भगवान रहते हैं :

भक्ति समानी भाइ मैं भक्तन मैं भगवान।
श्री विहारीदास सांची कहैं श्री भागवत प्रमान ॥५६९॥[2]

जैसे भूखे को अन्न की भूख होती है, वैसे ही भक्त को भक्ति की भूख होनी चाहिए तब श्री विहारी का प्रसाद (कृपा) अनायास ही प्राप्त होता है :

जैसौ भोजन भूष मैं अति आदर करि लेइ।
श्री विहारीदास प्रसन्न मन वह प्रसाद सुख देइ ॥५८१॥[3]

जब विहारीजी से प्रेम करने की भूख जागती है तब भक्त अनायास ही प्रेम के नित नये सोपान चढ़ता हुआ अपने उपास्य से बड़ा मधुर सम्बन्ध बना लेता है :

गुन सुन भई दरस की आशा दरसे परसौ भावै।
जब परसौ तब बोल्यौ चाहै बोलेहू हँसि आवै।
तब हँसि मिलै मनोरथ मन सों मदन मोद उपजावै ॥[4]

जब हरि मन के ऐसे मीत बन जाते हैं तब उन से नित्यप्रति नवीन ढंग से प्रेम प्रकट करने का, उनकी प्रकृति को समझ उन्हें हर प्रकार से प्रसन्न करने का दिन दूना उत्साह, नित नयी उमंग भक्त के हृदय में पैदा होती रहती है। वह एकटक कोटि कामदेव के लावण्य से युक्त श्री विहारी के विचित्र मुख को अहर्निश देखना चाहता है :

कोटि काम लावण्य विहारी ताके मुहाचुही सुख लिये रहत रुख।
श्री हरिदास के स्वामी श्यामा कुंजविहारी
कौ दिन देखत रहौं विचित्र मुख ॥[5]

यह भक्ति साधन-भक्ति से ऊँची है। जहाँ प्रेम ही साधन है, प्रेम ही साध्य, वहाँ नवधा भक्ति के साधनों की क्या आवश्यकता। सजातीय, सम स्वभाव वाले सन्तों के साथ मिल कर अपने लाड़िलीलाड़ को लाड़ लड़ावें या साधनों में फँस कर व्यर्थ श्रम करें ? :

सिद्ध वस्तु घर ही सहज साधन सुनौ न जाइ।
सोउ साधन संतन तज्यौ श्रम कर को पछताइ ॥२२७॥

१. स्वा० विहारिणिदास, रस के दोहा।
२. वही।
३. वही, सिद्धान्त के दोहा।
४. वही, सिद्धान्त के पद, पृ० १४७।
५. स्वा० हरिदास, अष्टादश सिद्धान्त के पद, पृ० ३।

जो न सजाती सँग मिलै साधन कियो न जाइ ।
श्री विहारीदास हरिदास को जस कहत सुनत समुझाइ ।।२२८।।[1]

यह प्रेमाभक्ति अन्य अनेक प्रकार की भक्ति से ऊँची है । अन्य भक्तों में कोई दास्य की उपासना करते हैं । उनमें से भी कोई प्रार्थना करते हैं, कोई फरियाद । कोई सख्य की उपासना करते हैं और ठाकुर के सामने मचल-मचल जाते हैं । कोई सकाम भक्ति कर धन चाहते हैं, कोई जिज्ञासा रखने वाले ज्ञानी हैं । कोई इसी भाव से भक्ति करते हैं कि कहीं भक्ति न करने से भगवान् हमें कोई दण्ड न दे दें । ये सभी नित्य विहारी से दूर हैं । कोई महल के द्वार पर खड़े हैं, कोई पिछवाड़े । कोई पौर तक जाकर रुक गये हैं । परन्तु नित्य विहार का अनन्य रसिक भक्त तो सदा महल के अन्तरंग में श्री विहारी विहारिणि के पास रह कर उनको सुख पहुँचा स्वयं सुखी होता है ।

अरदासी द्वारैं षरे फरियादी पिछवार ।
मचला पौढ़े पौरि में एते भक्त अपार ।।४२८।।
इक आरत अर्थार्थी इक ज्ञानी जग्यास ।
एक भयानक जगत में नाना भाँति उपास ।।४२९।।
दफतर वारे दफतरी द्वार षरे परदार ।
गैर महल महली कहूँ सेवै नित्यविहार ।।४३०।।

प्रेमाभक्ति के अन्य उपासक श्रीकृष्ण भगवान् के द्वारका, मथुरा या ब्रज में लीला करने वाले रूपों को भजते हैं, किन्तु इस सम्प्रदाय के उपासक तो नित्य विहारी के केवल उस स्वरूप को भजते हैं जो अजन्मा है, जो नित्य निरंतर निकुंज में नित्य विहारिणि के साथ विहार करता रहा है, कर रहा है और आगे भी करता रहेगा । श्रीकृष्ण का अवतार नैमित्तिक है, उनकी लीलाएँ भी किसी निमित्त को लेकर हुई हैं । धर्म संस्थापन और दुष्टों के दमन के लिए उन्होंने अवतार लिया । ब्रज में मैया यशोदा, गोप-ग्वालों और गोपियों को वात्सल्य, सख्य और प्रेम का सुख कुछ समय तक दिया तो सही परन्तु अंततः तो उन्हें भूभार हरण के लिये मथुरा और द्वारका की कर्मभूमि में पहुँचना था । स्वा० हरिदास जी के उपास्य श्री श्यामा कुंजविहारी किसी निमित्त से विहार नहीं करते और न इस विहार का कोई आदि, मध्य या अवसान ही है । इसीलिये उनके सम्प्रदाय का भक्त नित्यविहार का उपासक है, वह नैमित्तिक लीलाओं के कर्त्ता श्रीकृष्ण से भी कोई संबंध नहीं रखता :

नित्य उपासिक नित नए नित्य किशोर उपास ।
नातो नहीं निमित्त सौं नित्य विहारिनिदास ।।५५०।।
छाब छबीले बचन कहि दीनो दुहुन निवाह ।
नित्य निमित्तहि अंतरो समझ करो उत्साह ।।५५१।।[2]

नित्य और निमित्त की मिलावट भी उसे सहन नहीं । यह नहीं हो सकता कि नित्यविहार का भजन भी करें और समय पड़ने पर लोक की देखादेखी नैमित्तिक स्वरूप की भी उपासना करने लगें । प्रेमाभक्ति भी हो और उसमें साधन भक्ति भी सम्मिलित कर दें, तो सारा अनुराग घट जाता है :

१. स्वा० विहारिणिदास, सिद्धान्त के दोहा ।
२. वही ।

जो करै भजन में अंतरौ तासों कर वैराग ।
समिलित साधन श्रम बढ़ै घट जाइ सबै अनुराग ॥५५४॥[1]

इस प्रकार की अनन्य उपासना अनेक रूढ़ियों, अनेक मर्यादाओं को तोड़ कर ही संभव हो सकती है । अतः नित्य विहार के अनन्य उपासक 'मेंड़' तोड़ने में ही यश मानते हैं और इस बात का उन्हें गर्व है :

(अ) कहत विहारीदास मेंड़ मीड़े ही साकौ ।
रसिक अनन्य कहाय कहै न सभा यश जाकौ ॥[2]

(आ) जायौ भोंड़ी भेंड को कीयौ चाहै ऐंड़ ।
ऐंड़ अनन्यन ही बनै जिन मिलि मेटी मेंड़ ॥[3]

इन रसिक अनन्यों ने जब मेंड़ को मिटाया तब कोई बन्धन छोड़ा ही नहीं, न लोक का न वेद का । न इनके लिये आर्षवचन प्रमाण है, न बड़े-बड़े ग्रन्थ-विधि-निषेध से इन्हें कोई संबंध नहीं । जप, तप, संयम, नियम से इन्हें क्या वास्ता ? जब रसिक अनन्यता की टेक पकड़ी तो पूजा-सेवा के विधान, वर्णाश्रम की मर्यादायें, तीर्थ, व्रत, एकादशी, श्राद्ध, तर्पण और गायत्री सब अनायास छूट गये । नारद-भक्ति-सूत्र का कथन है कि प्रेमाभक्ति कामना युक्त नहीं है क्योंकि वह निरोधस्वरूपा है । निरोध का अर्थ है लौकिक और वैदिक समस्त कर्मों का त्याग :

सा न कामयमाना निरोधरूपत्वात् ॥७॥
निरोधस्तु लोकवेदपारन्यासः ॥८८॥

आगे वहीं कहा गया है कि जो उपासक कर्म का त्याग कर देता है, वेदों को भी छोड़ देता है वह अपना ही नहीं लोक का भी उद्धार करता है :

यः कर्मफलं त्यजति, कर्माणि संन्यस्यति, ततो निर्द्वन्द्वो भवति ॥४८॥
वेदानपि संन्यस्यति, केवलमविच्छिन्नानुरागं लभते ॥४९॥
स तरति स तरति स लोकांस्तारयति ॥५०॥

स्वा० रसिकदेवजी कहते हैं :

वेद के थापे जे हैं धर्म । ते सब कहियै बंधनकर्म ॥१४॥
वेद कही हरिबानी फूली । तामै जीव रहे सब भूली ॥
बिना विवेक न समझी जाई । कामी करम रहै उरझाई ॥१५॥
सुर्ग भोग सौं जे हैं रांचे । हरि के वचन न मानत सांचे ॥
वेद के कहे कर्म जे करत । छीन पुन्न फिर भू पर गिरत ॥१६॥

(भक्ति सिद्धांत मणि)

इसका अर्थ यह नहीं कि यह रसिक वेद के विरोधी हैं । इनका आशय तो केवल यह है कि जैसा उपास्य है उसी के अनुकूल उपासना होनी चाहिये । वेद के बताये कर्मों को करके कोई नित्य विहारी की सेवा में प्रवेश नहीं पा सकता । पहले प्रिय की प्रकृति को समझो तो प्रिय स्वयं ही वश में हो जायेंगे । स्वा० विहारिणिदास जी ने अपने सिद्धांत के दोहों में

१. स्वा० विहारिणिदास, सिद्धान्त के दोहा ।
२. वही, कुंडलिया (सवैया संग्रह में), पृ० ९० ।
३. वही, रस के दोहा, पृ० ५६५ ।

कहा है :

जप तप संयम नेम ब्रत ध्वंध जपै सब लोइ ।
एक प्रकृति जो साधियै तो पीय आपु बस होइ ॥३९८॥

जो आचार या निष्ठा के फन्दे में पड़े हैं, विधि-निषेध को मान कर चलते हैं, उन्हें नित्य विहार का आनंद नहीं मिल सकता :

निष्ठा गर बंधन भयै मझरैड़ैं आचार ।
विधि निषेध नषसिष भरे तिन तैं दुरौ विहार ॥३७१॥

पूजा सेवा में भी बँधी हुई परिपाटी का कोरा पालन स्वा० विहारिणिदास को ग्राह्य नहीं । वे कहते हैं कि आरती आग जलाने से नहीं होती । सब सांसारिक दुःख को भूल नित्य विहार की प्राप्ति के लिये आर्त्त होकर पुकारो, वही आरती है :

आरति करत विहार की सब आरति बिसराइ ।
आगि बार आरति करैं सेवत षसम षिजाइ ॥३६७॥

आर्षवचन या पंडितों और पोथियों का ज्ञान भी इन भक्तों के लिये कोई महत्त्व नहीं रखता :

कह आरष कह पौरिषै कहत बात बेमूल ।
पैंड़ौ मार्‌यौ भजन कौ भक्ति करैं निरमूल ॥३३६॥
पंडित पढ़ पढ़ पच मरे पढ्‌यौ न अक्षर एक ।
बोझ धरैं सिर वाद ही उपज्यौ नहीं विवेक ॥३१८॥
पोथी पोथी सब परी सिर कौन उठावै भार ।
श्री विहारी विहारिनिदास उर लिष लीनौं अक्षर सार ॥३२३॥

श्री विहारी की शरण में जो भक्त आ गये वे सब सजातीय हैं, अच्युत गोत्रीय हैं, चाहे वे किसी भी वर्ण या जाति में उत्पन्न हुए हों । अतः रसिक जन वर्णाश्रम की व्यवस्था भी नहीं मानते :

अच्युत गोत्र बषानियैं भक्ति भक्त की जाति ।
पूँछनहारे नारकी भक्तहि पूछैं जाति ॥१९८॥
बरनाश्रम पैं पति बड़ी पति ही मैं पति जात ।
श्री विहारीदास कैसै मिलैं जहां भक्ति में भाँति ॥६०९॥

जिस प्रकार रसिक भक्त वर्णाश्रम में विश्वास नहीं करते, उसी प्रकार उनके लिये न तीर्थयात्रा ग्राह्य है न एकादशी का व्रत । सदा अनन्यता से जो एक दशा में रहते हैं वे एकादशी क्यों करेंगे :

एक दसा एकादसी एक इष्ट ब्रत एक ।
श्री विहारीदास हरिदास कैं भजन अनन्य विवेक ॥६३०॥

इसी प्रकार गायत्री, संध्या, तर्पण कुछ भी भक्त को ग्राह्य नहीं । स्वामी विहारिणिदेव जी का कथन है :

गायत्री संध्या तर्पण तजि भज सत्संग सजाति ।
श्री विहारीदास को सुख सर्वोपरि वेद विदित विख्यात ॥[1]

१. स्वा० विहारिणिदास, सिद्धान्त के पद, पृ० १११ ।

स्वामी हरिदास जी ने भी अपने अष्टादश सिद्धांत के पदों में कहा है कि यज्ञ, देवता, पितृ आदि में श्रद्धा करना हरि से विमुख होना है :

श्याम कहत ते जीव मोसों विमुख भये जिन दूसरी कर डारी ।
कह श्री हरिदास यज्ञ देवता पितृन श्रद्धा भारी ॥१६॥

लोक वेद की मेंड़-मर्यादा तोड़ने वाले इन भक्तों ने केवल पहले से चली आती रीतियों का खंडन ही नहीं किया। उनके स्थान पर प्रेमा भक्ति के अनुकूल आचरण की व्यवस्था भी की। नित्य विहार की प्राप्ति के लिये कैसे, क्या करना चाहिये, अपने प्रिय श्री विहारी विहारिणि को रिझाने के क्या उपाय हैं—उनका विस्तार से वर्णन किया गया। स्वा० हरिदास जी ने कहा :

मन लगाय प्रीति कीजै कर करवा सों ब्रज बीथिन दीजै सोहनी ।
वृन्दावन सों वन उपवन सों वन गुंजमाल हाथ पोहनी ॥
गो गोसुतन सों मृगी मृग सुतन सों और तन नैंक न जोहनी ।
श्री हरिदास के स्वामी श्यामाकुंजविहारी सों चित्त ज्यों सिर पर दोहनी ॥[1]

मिट्टी के करुवे से प्रीति करने का अर्थ था वैराग्य और लोक में प्रचलित आचार विचार का खंडन । ब्रज की रज का बुहारना, वृन्दावन के वृक्षों से पुष्प और गुंजा चुन कर प्रिय के लिये माला बनाना यही सेवा है। प्रिया प्रियतम की विहार भूमि भी उनके समान ही उपास्य है अतः वहाँ की रज से प्रेम, वृक्षों से प्रेम, गौओं से प्रेम, मृगों से प्रेम ये सब नित्यविहारी से ही प्रेम करने के समान हैं। और सब से ऊपर है अनन्यता—श्री श्यामाकुंज-विहारी में इस प्रकार मन को लगाना जैसे ग्वालिन अपने सिर पर रखी हुई दूध की मटकी का हर समय ध्यान रखती है। वह पैरों से चलती है, मुँह से बात करती है, आँखों से देखती है और कानों से सुनती है, परन्तु चित्त हर समय मटकी में रहता है। जरा भी ध्यान हटा तो मटकी गिर न जायेगी ? ऐसी अनन्य भक्ति से ही हरि मिलते हैं। इसी अनन्यता का उपदेश देते हुए स्वामी हरिदास जी ने अपने पथ के पथिकों से कहा :

लोग तौ भूलें भलैं भूलें तुम जिनि भूलौ मालाधारी ।
अपनौ पति छाँड़ि औरन सों रति ज्यों दारन में दारी ॥
श्याम कहत ते जीव मोंसों विमुख भये जिन दूसरी कर डारी ॥
कह श्री हरिदास यज्ञ देवता पितृन श्रद्धा भारी ॥[2]

नित्यविहार छोड़ अन्य किसी देवता या आचार व्यवहार में रति रखना व्यभिचारिणी स्त्री के कर्म के समान बताया गया। स्वा० विहारिणिदास जी ने कहा कि अनन्य भक्त का स्वरूप तो ऐसा है जैसे सती का। जैसे सती के हाथ में 'सिधौरा' है वैसे भक्त के हाथ में करवा, जैसे सती के माथे पर सिन्दूर है वैसे भक्त के माथे पर तिलक। सती के समान अनन्य भक्त का जीवन भी प्रिय के अर्पण है :

श्री विहारीदास सँवारि सरु लियो सिधौरा हाथ ।
सन्मुष सती सराहिये जो जरै षसम के साथ ॥४७८॥

१. स्वा० हरिदास, अष्टादश सिद्धान्त के पद, पृ० १२।
२. वही, पृ० १६।

हाथ करुवरा सिघौरा माथें तिलक सिंदूर ।
श्री विहारीदास सतु जानियें जरत जुरत रनसूर ।।४७९।।[1]

अनन्य भक्त का अंग-अंग अपने प्रियतम की प्रीति के अनुरूप कर्मों में लगा रहता है :

श्रवन सुजस रस रम रह्यौ इनहिं न और सुहाय ।
परम नरम रसरीतिपद प्रीतिह ताहि बताइ ।।६२३।।
गौर श्याम अंजन अँजो अँखियाँ आनंदरूप ।
पलकन में झलकत रहैं ए दोउ सुषद सरूप ।।६२४।।
नासा सौरभ सुषी नित अँग सँग को उदगार ।
याहि यहै याही यहै याको यहै अहार ।।६२५।।
रसना रस परसाद बस हरि जस प्रेम प्रवीन ।
स्वाद वादि नीरस किये रसिक किए आधीन ।।६२६।।
भूल तुचा परसै नहीं जाकै देह न ग्रेह ।
श्री विहारीदास हरिदास सों हीयें सहज सनेह ।।६२७।।
पांच दुगुन दस वस करै मन सु विहारिनिदास ।
मिल अनन्य सतसंग सौं भजन बढ़ै विस्वास ।।६२८।।[2]

यह भक्ति स्वयं ही फलरूपा है[3] । स्वा० रसिकदेव जी ने अपने ग्रंथ 'भक्ति सिद्धान्त मणि' में कहा है :

भक्ति को साधन भक्ति जु आइ ।
आगैं भेद जु कहौ बनाइ ।।६०।।

भक्ति ही साधन है, भक्ति ही साध्य। अतः इस प्रेमा भक्ति का फल भी प्रेम ही है। जैसे सच्चा प्रेमी प्रेम के फलस्वरूप अनायास ही प्रेम प्राप्त करता है, उसे याचना नहीं करनी पड़ती, ऐसे ही हरि के भजन करने वाले भक्त को हरि जो देना चाहते हैं वह 'अनमाँगे' ही दे देते हैं । स्वामी हरिदास जी ने अपने 'अष्टादश सिद्धान्त के पदों' में कहा है :

हरि भज हरि भज छाँड़ि मान नर तन कों ।
मत वंछै मत वंछै रे तिल तिल घन कों ।
अनमाँग्यो आगें आवेगो ज्यों पल लागै पलकों ।
कहि श्री हरिदास मीच ज्यों आवै त्यों धन है आपन कों ।।४।।

जिस प्रकार पलक से पलक अपने आप स्वभावतः ही लग जाते हैं, उसी प्रकार श्री विहारी की कृपा भक्त को अनायास ही मिलती है । किन्तु लोग इस रहस्य को समझते नहीं । वे व्यर्थ अपना जन्म नष्ट करते हैं और अन्त में यम के बन्धन में पड़ते हैं । वे नहीं सोचते कि कुंजविहारी का भजन करने वाले आवागमन से छूट चिरजीवन लाभ करते हैं :

१. स्वा० विहारिणिदास, सिद्धान्त के दोहा ।
२. वही ।
३. सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योप्यधिकतरा ।।२५।।
फलरूपत्वात् ।।२६।। —नारद भक्ति-सूत्र

देखो इन लोगन की लावनि ।
बूझत नहिं हरिचरण कमल कों मिथ्या जन्म गँवावनि ।।
जब यमदूत आन घेरत हैं करत आप मन भावनि ।
कह श्री हरिदास तबहिं चिरजीवो कुंजविहारी चितावनि ।।[1]

अतः मनुष्य का कर्त्तव्य है कि श्री श्यामाश्याम का भजन करे। यह दुर्लभ मनुष्य देह तभी सार्थक है जब आवागमन से मुक्त होने का प्रयास किया जाय। जो इस अवसर को खो देते हैं और भक्ति से दूर रहते हैं उनका जन्म व्यर्थ ही जायेगा :

श्री विहारीदास दुर्लभ लह्यो तन पुरवै सब काम ।
नातर जैहै राइगां भज लै श्यामाश्याम ।।६८।।[2]

उपास्य का स्वरूप

इस प्रेमाभक्ति के उपास्य भी तदनुरूप ही हैं। वे "कोटि काम लावण्य विहारी हैं", अतः भक्त सदा उनके दर्शन करते रहने के लिए लालायित रहता है। वे सब सुखों के दाता, अपने जन का दोष न देख उस पर कृपा करने वाले, परम कारुणिक और पतितों के उद्धार-कर्त्ता हैं। जैसे दास स्वामी के सामने डरता है और सदा सतर्क रहता है कि कोई चूक न हो जाय, ऐसे इन कुंजविहारी के भक्त को डरना नहीं पड़ता। जो इनका हो गया उसे तो इतना भी अधिकार है कि दावे के साथ कह दे कि "मैं बदी नहीं छोड़ता। आपको नेकी करनी है तो कर लीजिए। आपकी नेकी और मेरी बदी की आज होड़ है। देखें कौन जीतता है ?" इतना कहने का साहस भक्त को तभी तो होता है जब वह जानता है कि मेरे अनेक अपराध करने पर भी श्री विहारी मुझ से स्नेह का नाता नहीं तोड़ेंगे।

हे हरि मोसौ न बिगारन कों तोसौ न
सम्हारन कों मोहि तोहि परी होड़ ।
कौन धों जीतै कौन धों हारै पर बदी न छोड़ ।।
तुम्हारी माया बाजी पसारी विचित्र ।
मोहे मुनि सुनि काके भूले कोड़ ।
कह श्री हरिदास हम जीते हारे तुम तउ न तोड़ ।।[3]

श्री कुंजविहारी भक्त को इसीलिए तो अच्छे लगते हैं कि कितनी ही भूल करो, वे फिर भी सहायता करेंगे। कुमार्ग में जाने पर भी वे अपनापन नहीं छोड़ते। जो इनसे प्रेम करता है उसका अपने आप सुधार हो जाता है। वे स्वयं उसे प्रेमपूर्वक आश्रय देते हैं :

या तें मोहि कुंजविहारी भाए ।
सब दिन करत सहाउ सुने मैं शुक नारद मुनि गाए ।।
भूल परो अपनो घर तब उझकत फिर्‌यो पराए ।
ए गुन सुमिर लिए सुषदुष के पैंड़े सबै बताए ।।

१. स्वामी हरिदास, अष्टादश सिद्धान्त के पद, पृ० ११।
२. स्वामी विहारिणिदास, सिद्धान्त के दोहा।
३. स्वामी हरिदास, अष्टादश सिद्धान्त के पद, पृ० ५।

जिनको प्यार तुमही तन चितवत ते न जात बौराए ।
श्री विहारीदास किये तैं हित करि अपने संग बसाए ।।९७।।[1]

प्रभु का स्वरूप ही ऐसा है कि सदा एक रस से भक्तों को सुख देते हैं। श्री श्यामा-कुंजविहारी दोनों नित नये स्नेह से भक्त को पोषित करते हैं। उससे सदा मन की बात कहते हैं। विमुख जन इन से दूर रहते हैं। ये रँगीले ठाकुर सदा भक्त के रंग में रँगे हैं। जैसे माता-पिता बालक के अनेक प्रकार के अपराध करने पर भी उसे लाड़-प्यार से रखते हैं उसी प्रकार श्री विहारी भी अपने भक्त का लालन करते हैं :

ऐसो है सबही को साईं ।
आदि मध्य अवसान एक रस संतत सुषद गुसांईं ।।
नए नेह नित राखत ज्यौं दूलहं दुलहिनि दुलराई ।
गुप्त मते की बात मनोहर कहत रहत सुषदाई ।।
सौति विमुख दुरत जरत ज्वर मानत न कही कहाई ।
मेरेई रँग रहत रँगीलो वेस काम बहकाई ।।
ज्यौं अर्भक हित मात पिता नित राषत लाड़ लड़ाई ।
षेलत षात न षैंटत मैंटत हठ कर कोटि बुराई ।।
और कहाँ लौं कहौं श्याम की करत सबै मन भाई ।
श्री विहारीदास प्रभु की सब सांची सो मन माहं समाई ।।८६।।[2]

भक्त के प्रति उनका वात्सल्य इतना अधिक है कि जहाँ उस पर कोई आपत्ति आती है, तुरन्त उसका निवारण करते हैं, अपराधी होने पर भी उसे क्षमा कर कृपा-कटाक्ष से निहाल करते हैं :

हरि मोहि यों अपनाय लियो
जहाँ-जहाँ विघ्न जान्यौं अपनैं कौं तहँ तहँ जतन कियो,
हुतौ पतित अपराधी अतिसय कृपा कटाक्ष जियो ।
श्री विहारीदास प्रभु अति करुनामय प्रगट प्रसाद दियो ।।११८।।[3]

गौर श्याम मनोहर वेश में श्री श्यामाश्याम सहज सुन्दर हैं, अति सुकुमार हैं, परम उदार हैं। यह भक्त का निरन्तर निर्वाह करते हैं। माता-पिता, बंधु, पुत्र के प्रेम में स्वार्थ का मिश्रण होता है परन्तु श्री विहारीविहारिणी अपने भक्त पर निरपेक्ष कृपा करते हैं। इन्हें छोड़ भक्त को और कौन सुख दे सकता है :

तुम तजि कौन सुषन कौ दाता ।
सबै स्वारथी सहाइ न कोऊ बंधु पिता सुत माता ।।
तुम निरपेक्ष निबाहत सब दिन पूरन त्रिभुवन ताता ।
तुम से प्रभु तजि अनत करत रति ते पशु प्रान निघाता ।।
तुम उदार सुकुमार सहज सुंदर वर मुरि मुसकाता ।
श्री विहारीदास छवि निरष मनोहर गौरश्याम रँग राता ।।११९।।[4]

१. स्वामी विहारिणिदास, सिद्धान्त के ५८ ।
२. वही ।
३. वही ।
४. वही ।

वे अतिशय कृपालु और परम कारुणिक हैं परन्तु वे यह भी जानते हैं कि किसकी भक्ति निष्काम है और किसकी स्वार्थ से भरी; वे अन्तर्यामी हैं। जो लोग भक्ति को व्यापार बना उसके बदले में कुछ चाहते हैं, ऐसे लोभी भक्तों से वे सम्बन्ध नहीं रखते। किन्तु जो निष्काम भक्त हैं उनकी तो सचमुच भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं :

श्याम सबही के जिय की जानत हैं।
करत भक्ति व्योपार लोभ लगि ताहि कहा कछु मानत हैं॥
अंतरजामी सब के स्वामी सहज प्रीति पहिचानत हैं।
श्री विहारीदास निहकामिनि की रति श्रीमुष बरनि बषानत हैं॥१०७॥[1]

हरि जब भक्त को अपना बनाते हैं तो उसे भी अपने समान ही कर लेते हैं। भक्त और भगवान के तन-मन-प्राण एक हो जाते हैं। भक्त के प्राण-प्यारे हरि और हरि के प्राण-प्यारे भक्त, रसिक जन इस रहस्य को भली भाँति जानते हैं। तभी तो उन्हें हरि से तन तो क्या मन का भी एक पल का वियोग सहन नहीं होता :

हरि हमरे हम हरि के प्रान।
हरि हम दोऊ एक समान॥
तन मन बिछुरन की है आन।
जानै कोई रसिक सुजान॥[2]

भक्ति में गुरु का स्थान

भक्ति गुरु की कृपा से ही प्राप्त होती है। हरि की कृपा से गुरु मिलते हैं और गुरु की कृपा से हरि। जैसे हरि हैं, वैसे ही गुरु हैं। अतः इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक स्वामी हरिदास जी हरि के समान ही नहीं, उनसे भी अधिक महत्त्व रखते हैं। भक्त हरिदास जी के बिना घर आये भगवान से भी पूछ बैठता है कि तुम कौन हो, कहाँ के हरि हो ? बिना गुरु से दीक्षा लिये, बिना गले में कंठी बाँधे 'नित्य विहार' के परिकर में प्रवेश नहीं होता, जो 'निगुरा' है उसे कभी पंथ नहीं मिलता :

ज्यौं गुरु त्यौं गोविन्द, बिन गुरु गोविन्द किन लह्यौ।
ज्यौं मावस्या इन्दु, त्यौं निगुरा पंथ न पावहीं॥[3]

गुरु की सेवा करने ही से गोविन्द मिलते हैं। तत्वतः गुरु ही गोविन्द हैं :

गुरु सेवत गोविन्द मिल्यौ गुरु गोविन्दै आहि।
श्री विहारीदास हरिदास को जीवत है मुष चाहि॥[4]

जो जन गुरु को छोड़ केवल हरि की सेवा करते हैं, उन्हें न गुरु मिलेंगे न हरि, क्योंकि गुरु के बिना हरि का भेद बतायेगा कौन ? अतः गुरु की सेवा ही हरि की सेवा है :

१. स्वामी विहारिणिदास, सिद्धान्त के पद।
२. स्वा० ललितकिशोरीदेव, चौबोला, ३००।
३. स्वा० विहारिणिदास, (सिद्धान्त के दोहों में), सोरठा, २।
४. वही, सिद्धान्त के दोहा, ३।

गुरु सेयें हरि सेइयै हरि सेये गुरु नाहिं ।
गुरु छांड़ै हरि को भजै तिनते दोऊ जाहिं ।।[1]

सद्गुरु एक वैद्य के समान हैं । वैद्य नाड़ी देख, रोग का निदान कर, तब औषधि देता है और तब कहीं रोग के नाश होने का अवसर आता है; किन्तु सद्गुरु के तो दर्शनमात्र से तृष्णा और कामरूपी रोगों का नाश हो जाता है। श्री गुरु ऐसे उदार हैं, जिन्होंने मृतप्राय जनों को भी प्राणदान दिया । यही उनका विरुद है :

सतगुरु गोविंद वैद विहारी ।
दीनो मधु मथ प्रेम सुवोषध उपाधि यहै उपचारी ।।
नैकु वरन दरसै सुष जानत बिनु परसैं कर नारी ।
काम कुरोग ग्रसत संश्रत मन तृस्ना हरी हमारी ।।
अति निरपेछ उदार कहावत संतत सब सुषकारी ।
श्री विहारीदास सौं हुती मृतक की प्रगट प्रतिज्ञा पारी ।।[2]

श्री गुरु सा सहायक कौन होगा । उनकी कृपा से भ्रम-तम का नाश होता है, साधन सिद्धि में बदल जाते हैं, उन्हीं की कृपा से श्री वृन्दावन में नित्य विहार करने वाले लाड़िली-लाल की रस-सम्पत्ति का विमल रहस्य हस्तामलकवत् प्रकाशित हो जाता है :

श्री गुरु सेवत सबै सहाई ।
ज्यौं जल मूल दियें फल फूलन उमग चलत अरुनाई ।।
साधन सिद्ध होत ताही छन भ्रमतम श्रम नस जाई ।
तिनसों प्रीति प्रतीति बढ़त छिन छिन ही सहज सवाई ।।
श्री वृन्दावन धन निकुंज नव दंपति संपति सुषदाई ।
श्री विहारीदास हरिदास कृपा तैं हस्तामल विमलाई ।।[3]

गुरु का यश सुननेमात्र से अविद्या का नाश हो जाता है । फिर उनके दर्शन और सदुपदेश की महिमा का तो कहना ही क्या ?

स्यानो सुनि चुप कर रहै चोर रहै अरगाइ ।
श्री विहारीदास हरिदास जस सुनै अविद्या जाइ ।।[4]

जो भक्त श्री हरिदास की चरण-रज की मन, कर्म एवं वचन से सेवा करते हैं उनके पाप, ताप और अवगुणों का नाश होता है और अविलम्ब प्रेमाभक्ति प्राप्त होती है :

जे जन मन क्रम वचन चरन रज सेवत हित नित श्री हरिदासै ।
प्रेम भक्ति उपजत ताही छिन पाप ताप अवगुण गति नासै ।।
कंचन जिमि बपु धात परसि रस पलट रूप मिलवत सुषरासै ।
जैसै दियो है प्रसाद प्रगट करुनाकर कुंजविहारिनि दासै ।।[5]

१. स्वामी ललितकिशोरीदेव, सिद्धान्त के दोहा, २१२ ।
२. स्वा० विहारिणिदास, सिद्धान्त के पद, १५२ ।
३. वही, ६० ।
४. वही, सिद्धान्त के दोहा, २३२ ।
५. वही, सिद्धान्त के पद, ७८ ।

इस सम्प्रदाय में गुरु का इतना महत्त्व सकारण है। इस सम्प्रदाय की भक्ति धर्म पुस्तक या शास्त्र के आधार पर नहीं चलती। अनुभव और अनुभूति ही उसके क्षेत्र में प्रमाण हैं। अतः साधक को पग-पग पर मार्ग-दर्शन कराने की आवश्यकता होती है। इस सम्प्रदाय में नित्य विहार के योग्य स्वरूप तक पहुँचने के लिए साधक को क्रम-क्रम से अधिकारी बनना पड़ता है, अतः उसे किस समय किस प्रकार उपासना करनी है, यह बात गुरु के बिना कौन बतायेगा ? सम्प्रदाय की वाणियों में भक्ति के अनेक अंगों का वर्णन है। उसमें गोप्य तत्त्व के अनुभव-प्राप्त ज्ञान के अनेक संकेत भी हैं। परन्तु वाणियाँ शास्त्र नहीं हैं। न तो उनमें भक्ति के अंगों का क्रमपूर्वक वर्णन है और न उनका अर्थ ही केवल शब्दों को देख कर पकड़ में आ सकता है। सभी वाणियाँ भी साधक को उपलब्ध नहीं होतीं। वे उसे क्रम-क्रम से अधिकारी बनने पर दी जाती हैं। अतः साधक कौन सी वाणी का मनन करे और उनका रहस्य अर्थ क्या है यह गुरु ही बता सकते हैं। इस सम्प्रदाय की उपासना मानसी है, वह ऊपरी पूजा-सेवा के विधि-विधान में बँधी हुई नहीं है, अतः गुरु के द्वारा दिशा-निर्देश की अपेक्षा रखती है। सखीभाव की उपासना में सखी को प्रिया-प्रियतम की प्रकृति पहिचान समय-समय पर उनके मनोनुकूल सेवा करनी है, जिससे वे सुखी हों। प्रिया-प्रियतम की प्रकृति को उनके अन्तरंग की सहचरी ही समझा सकती है। अतः गुरु के बिना साधक इस मार्ग में एक पग भी नहीं बढ़ सकता।

पुनः श्री कुंजविहारी की भक्त-वत्सलता, अपने जन के प्रति आत्मीयता आदि गुणों को प्रकट करने के लिए उनके और भक्त के बीच कोई माध्यस होना चाहिये, इन अमूर्त गुणों को भक्त तक पहुँचाने के लिए गुरु ही एक शरीरी माध्यम है। गुरु ही उपास्य के दया-दाक्षिण्य और प्रेम का वाहक है और उनके स्वरूप का व्याख्याता। यही कारण है कि इस सम्प्रदाय में गुरु का इतना महत्त्वपूर्ण स्थान है।

गुरु का स्वरूप

यों तो जितने गुणों का वर्णन उपास्य के स्वरूप-कथन में किया गया, लगभग उन सभी गुणों का आरोप सद्गुरु में किया जा सकता है, किन्तु उसका मुख्य काम है शिष्य को संसार से विमुख कर उसे हरि के सम्मुख करना, उसके भ्रम-तम का निवारण कर उसे तत्त्व का प्रकाश दिखाना। गुरु निस्पृह हो और उपकारी। गुरु का प्रधान गुण है अपने शिष्य के प्रति वात्सल्य। जिस प्रकार बच्चे के पुकारते ही गौ के थनों में दूध भर आता है उसी प्रकार शिष्य के प्रति गुरु का वात्सल्य सहज ही उमड़ पड़ता है :

निस्प्रेही उपकार गुरु शिष्य शुद्ध श्रद्धाल।
रांभत ही थन च्वै चलैं ज्यों गउ बच्छा प्रतिपाल ॥[1]

गुरु वही है जो शिष्य को वृन्दावन वास करावे, उसे साधुसेवा में प्रवृत्त करे, उसे हरि के सम्मुख करे :

गुरु सोई जो विपुन बसावै।
गुरु सोई जो साधु सिवावै ॥

१. स्वा० विहारिणिदास, सिद्धान्त के दोहा, ११।

गुरु सोई जो हरिहि मिलावै ।
या करनी बिन गुरु न कहावै ।।[1]

स्वा० रसिकदेव जी ने कहा है कि गुरु चार प्रकार के होते हैं—जन्मगुरु, विद्यागुरु, कुलगुरु और सद्गुरु । इनमें तीन गुरुओं से परमार्थ की प्राप्ति नहीं होती । केवल चौथे सद्गुरु की कृपा से ही भक्ति की निधि प्राप्त होती है, वे ही शिष्य को संसार से छुड़ाने में समर्थ हैं :

चारि भांति के गुरु कहे जैसे ।
तिनके भेद सुनो पुनि तैसे ।।
जन्म गुरु विद्या गुरु कहिये ।
कुल गुरु तजि सतगुरु पुनि लहिये ।।
तीनि गुरु संसार न छूटै ।
सतगुरु कृपा भक्ति निधि लूटै ।।
चेला अंधा गुरु जो अंध ।
कैसे करि सूझैं गोविन्द ।।
सतगुरु सो संसार छुड़ावै ।
मन के भ्रम ते सबै गँवावै ।।[2]

ऐसे गुरु यों ही नहीं मिल जाते । बहुत सोच-समझ कर गुरु बनाना चाहिए, तभी भक्ति मिलती है :

जद्यपि गाढ़े गुरु बसैं बहुत जतन रस होइ ।
छान ताइ गुरु कीजिये तौ भक्ति देइ भ्रम खोइ ।।[3]

अच्छे गुरु भाग्य से ही मिलते हैं । बुरे गुरु अनेक मिल जायेंगे । वे तो स्वयं ही डूब रहे हैं फिर शिष्य को कैसे उबारेंगे ? बुरे गुरु के अनेक लक्षण बताये गये हैं । जो भक्ति का व्यापार बना लेते हैं, ऐसे गुरुओं की बार-बार निंदा की गई है । जो गुरु द्रव्य का भूखा है, जिसे शिष्य के धन या भेंट की आशा लगी है, वह उपहास के योग्य है । जो अर्थ का भूखा है वह परमार्थ क्या देगा :

(अ) पैसन के भूखे फिरैं परमारथ के दानि ।
श्री विहारीदास धन धर्म बिन ते गुरु दालिद्री जानि ।।[4]

(आ) जो गुरु करै शिष्य की आस ।
तौ स्याम भजन तैं भयौ उदास ।।
स्वान समान जगत उपहास ।
ऐसी कही विहारिनिदास ।।[5]

१. स्वा० ललितकिशोरी देव, (सिद्धान्त के दोहों में), चौबोला, २४७ ।
२. स्वा० रसिकदेव, पूजाविलास, ४-५ ।
३. स्वा० विहारिणिदास, सिद्धान्त के दोहा, ५ ।
४. वही, १० ।
५. वही, चौबोला, १४ ।

जो गुरु जीविका के हेतु देश-विदेश में भटकते फिरते हैं उनकी भी निंदा की गई है :

जाको गुरु भटकत फिरै शिष्य बधूरो बाय ।
धूर उड़ावै देश की घर बाहिर पर खाय ।।[1]

केवल विद्वत्ता या पांडित्य के बल पर भी कोई सद्गुरु नहीं हो सकता । नित्यविहार के रस को अनुभवी ही जानता है, कोरे पंडित तो बस घास छीलते हैं :

अब के गुरु आमिल भये हुन्नर बहुत हबूब ।
भई गई समझैं नहीं मापत बंजर दूब ।।[2]

बहुत से लोगों में अपने पिता, भाई या चाचा-ताऊ से ही दीक्षा लेने की प्रथा है । संतों ने उसकी भी निंदा की है । जैसे गुड़ बनाने के लिए भूमि जोतनी पड़ती है, ईख बोनी पड़ती है और बड़े परिश्रम के बाद रस मिलता है जिस से गुड़ बने । इसी प्रकार गुरु की प्राप्ति के लिए भी बड़ा प्रयास करना पड़ता है । घर में बैठे-बैठे गुड़ नहीं बन सकता, बना भी तो उसमें मिठास न होगी । इसी प्रकार घर के व्यक्तियों को ही गुरु बनाने से माधुर्य भक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती :

जोति बाहि पचि ईष बै इतौ श्रम सहि रस होइ ।
जो गुरु करियै ये नहीं तौ गुरु करै न कोइ ।।
घर ही मैं गुरु घोरियै मुष नैक मिठाई नाहिं ।
पासंग चढ़ै न लाट कै ताहि चैंटा माषी षाहिं ।।[3]

इसीलिए साधक का कर्त्तव्य है कि देख-भाल कर श्रेष्ठ गुरु की शरण में जाय और फिर अनन्य हो उनकी सेवा करे । गुरु-सेवा से बड़ा भजन और नहीं है :

गुरु गोविन्द कहत हैं विवेकी पाइ पषार पियौ ।
श्री विहारीदास श्री गुरु सेवन बिन नाहिन भजन बियो ।।[4]

इस सम्प्रदाय में अपने गुरु और उनसे पूर्व की सारी गुरु परम्परा समान रूप से पूज्य है और सर्वोपरि है । स्वा० हरिदास जी ने इस नित्यविहार-रस-भक्ति का उदय किया । अतः स्वामी हरिदास जी की शिष्यपरम्परा के सभी वाणी-कर्ताओं ने स्वामी जी का अत्यन्त श्रद्धा से यश गाया है और उन्हीं को एकमात्र आश्रय और शरण्य बताया है । स्वामी विहारिणिदास जी लिखते हैं :

श्री हरिदास गाऊँ ।
श्री हरिदास गाइ गाइ विपुल प्रेम पाऊँ ।
श्री हरिदास नाम गुन रूप तन राऊँ ।
श्री हरिदास प्रानन को प्रान ही जिवाऊँ ।।
श्री हरिदास लैना । श्री हरिदास दैना ।
श्री हरिदास भजै भैया कछू भै ना ।।

१. स्वा० विहारिणिदास, चौबोला, १६ ।
२. वही, सिद्धान्त के दोहा, २३ ।
३. वही, ६-७ ।
४. वही सिद्धान्त के पद, ५८ ।

श्री हरिदास द्योसो । श्री हरिदास रात्यो ।
श्री हरिदास व्योहार श्री हरिदास बातो ।।
श्री हरिदास बल बुद्धि कुल जाति पांति ।
श्री हरिदास भेंटत सीतल भई छाती ।।
श्री हरिदास अंग बिनु संग तजि सातो ।
श्री हरिदास हिलग बिन हेत करि हांतो ।।
श्री हरिदास नाम रुचि । श्री हरिदास नाम सुचि ।
श्री हरिदास नाम लियें जाहि दुष दोष मुचि ।।
श्री हरिदास कर्मे । श्री हरिदास धर्मे ।
श्री हरिदास नाम निधि बेधि लै मन मर्मे ।।
श्री हरिदास ज्ञानै । श्री हरिदास ध्यानै ।।
श्री हरिदास नाम कर कोटि अस्नानै ।।
श्री हरिदास दाम नाम मेरे मंत्र माला ।
श्री हरिदास नाम मुद्रा तिलक भाला ।।
श्री हरिदास सेवा । श्री हरिदास पूजा ।
श्री हरिदास भजन बिन भाव नहीं दूजा ।।
श्री हरिदास भक्ति रति । श्री हरिदास परम गति ।
श्री हरिदास जस गावत भई सुदृढ़ मति ।।
श्री हरिदास ब्रज रीति । श्री हरिदास रस रीति ।
श्री हरिदास नाम लियें सकल साधन जीति ।।
श्री हरिदास निज दरस । श्री हरिदास रस परस ।।
श्री हरिदास सुष देत । श्री हरिदास हित हेत ।

अनन्य नृपति श्री स्वामी हरिदास ।
श्री वरविहारिनिदास विलसत विलास ।।४६।।

—स्वा० विहारिणिदास, सिद्धान्त के पद।

शिष्य का स्वरूप

संतों ने कहा है कि शिष्य वही है जो गुरु को सर्वस्व अर्पण कर उनकी आज्ञा मे चले, जो गुरु के बिना हरि से भी कोई सम्बन्ध न रखे। गुरु को सुखी करने में ही सदा लगा रहे। ऐसे शिष्य से हरि तथा गुरु दोनों प्रेम करते हैं और ऐसा शिष्य जगत का उद्धार करता है :

सिष्य सोई जो अज्ञा पारै । गुरु वचननि हिये में धारै ।।
तन मन धन सब गुरु कौ मानै । गुरु बिन हरि हू कौं नहिं जानै ।।२४८।।
गुरु ही के सुष में नित रहै । गुरु बिन हरि हू कौं नहिं चहै ।।
ताकौं हरि गुरु नाहिं विसारैं । ऐसौ सिष्य जगत कौं तारैं ।।२४९।।[1]

१. स्वा० ललितकिशोरीदेव, (सिद्धान्त के दोहों में), चौबोला।

स्वामी रसिकदेव जी ने कहा है कि शिष्य तीन प्रकार के होते हैं—उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ। कनिष्ठ शिष्य तो केवल शास्त्र के डर से गुरु-सेवा करते हैं। उसका भेद नहीं जानते। मध्यम कोटि के वे हैं जिन्होंने गुरु को सर्वस्व अर्पण कर दिया है किन्तु गुरु की प्रकृति को नहीं पहचानते, अपने मन में जैसी आती है वैसी गुरु-सेवा करते हैं। परन्तु उत्तम शिष्य वही है जो पहले अपने स्वभाव पर विजय पाता है, अपनी इच्छाओं और वासनाओं को जिसने जीत लिया है और तब गुरु के स्वभाव को पहचान कर इस प्रकार सेवा करता है कि गुरु की प्रकृति और उसकी प्रकृति में भेद नहीं रहता :—

सिष्य सुनौं अब तीन प्रकार। कनिष्ठ मधिम उत्तिम निरधार ॥९॥
सास्तर डरपि करै गुरु सेवा। कनिष्ट न जानें हित कौ भेवा ॥
मधिम सिष्य कहावै तौन। गुरु सुभाव न जानै जौन ॥१०॥
अपनैं भाइ करै गुरु पूजा। तन मन धन करि रषै न दूजा ॥
उत्तिम सिष्य को यहै जो रीति। प्रथम सुभाइ अपनौ लइ जीति ॥११॥
गुरु सेवा मैं तदगत होई। मन की जानि गुरु सेवै सोई ॥
गुरु सुभाव सदा लै चलई। आप मुरादी कछू न करई ॥१२॥[1]

शिष्य को गुरु का अनन्य भक्त होना चाहिए। वह गुरु को छोड़ किसी से कोई आशा न करे। किसी ऐसे से आशा लगाने से क्या लाभ जो स्वयं ही दूसरों से आशा लगाये बैठा है। केवल गुरु ही निस्पृह और सब आशाओं से दूर आत्माराम हैं :

जाकौ दास कहाइयै ताही की कर आस।
जाके द्वारैं जाइगौ ताकैं आस पचास ॥[2]

गुरु के कहे धर्म में अनन्य अनुरक्ति ही कर्त्तव्य है। जो अपने गुरु के धर्म को छोड़ अपनी मनमानी रीति चलाते हैं संत उससे कोई सम्बन्ध नहीं रखते :

श्री गुरुधर्महिं छांड़ि कै मन की कहै बनाइ।
श्री विहारीदास संग परिहरौ देखौ ठोंक बजाइ ॥[3]

गुरु और शिष्य का सम्बन्ध

इस सम्प्रदाय में गुरु और शिष्य का नाता बड़ा मधुर है। दोनों एक-दूसरे से बड़ा प्रेम करते हैं। गुरु को शिष्य पर अमित वात्सल्य होता है, शिष्य को कठोर परीक्षाओं में डालना, उससे कड़ी साधनाएँ कराना गुरु नहीं पसन्द करते। उसे वे बालक के समान पोषते हैं। स्नेह के रस से उसे पालते हैं। शिष्य गुरु का पुत्र है। उचित अवसर आने पर उसे वे अपनी अमूल्य से अमूल्य गुप्त निधि—रसोपासना का रहस्य तत्त्व प्रदान करते हैं।

शिष्य पिता से अधिक उनसे स्नेह करता है। भगवान से अधिक उनमें श्रद्धा रखता है। माता से अधिक उन्हें अपना हितैषी समझता है। गुरु के प्यार के बल पर वह लाड़ले-

१. स्वा० रसिकदेव, भक्ति-सिद्धान्तमणि।
२. स्वा० विहारिणिदास, सिद्धान्त के दोहा, ३५०।
३. वही, ६६२।

हठीले पुत्र की तरह संसार भर से 'ऐंड़' करता है। किसी को कुछ नहीं गिनता। गुरु उसके उपास्य भी हैं। निरन्तर उनका रुख देखता हुआ वह गुरु की सेवा में रत रहता है। अपनी सारी चिन्ताएँ, सारी समस्याएँ वह गुरु पर छोड़ निश्चिन्त हो जाता है। गुरु के वचन उसके लिए अटल नियम हैं। गुरु के अंग की सेवा, उनके वस्त्र धोना, उनका आसन स्वच्छ करना आदि को वह अपना परम सौभाग्य और अधिकार मानता है। गुरु का उच्छिष्ट हरि के प्रसाद से भी अधिक पवित्र मानता है। उसे लिए बिना वह भोजन नहीं ग्रहण करता। गुरु से दूर रह कर उसे वियोग की असह्य पीड़ा होती है। गुरु के चरणों में सदा स्थान मिले यही उसकी परम कामना है। रसिक समाज में गुरु-शिष्य की यही परिपाटी है।

सत्संग की महिमा

भक्ति-पथ में साधु-संगति का बड़ा महत्त्व है। श्रीमद्भागवत में कहा है कि यदि हरि की कीर्ति का गायन करने वाले महात्माओं का समागम न किया तो जन्म लेना व्यर्थ है।[1] संतों का जहाँ समागम होता है वहीं भगवान की रसमयी कथा कही-सुनी जाती है और उसी से श्रद्धा, रति और भक्ति का उदय होता है।[2] स्वा० हरिदास जी कहते हैं कि साधु-संगति से मन का कल्मष दूर होता है :

हित तौ कीजै कमलनयन सौं,
जा हित के आगै और हित लागै सब फीकौ।
कै हित कीजै साधु-संगति सौं,
ज्यौं कल्मष जाय जी कौ॥[3]

सद्गुरु की प्राप्ति के लिए भी सत्संग पहली सीढ़ी है। सजातीय (प्रेमाभक्ति और नित्यविहार रस के उपासक) संतों से वार्तालाप करोगे तो उस रस के आस्वादन के लिए मन में ललक उत्पन्न होगी। उस पद्धति का पूरा भेद जानने के लिए जिज्ञासा जागेगी और तब संतों के संकेत से और अपनी चढ़ी हुई चाह से गुरु सहज ही मिल जायेंगे :

जो चाहै गुरु संधि कौं सोधि सजाती संग।
तिन सों बांध अनन्यपन तब लागै रस रंग॥[4]

और लोगों के मिलने पर दुनिया भर की बातें होती हैं, अपनों-परायों की कुशल-क्षेम पूछी जाती है; किन्तु जब रसिक अनन्यों से भेंट होती है तो श्री श्यामा कुंजविहारी की रसमयी लीलाओं और नामों का स्मरण किया जाता है। यही रसिकों के वार्तालाप का विषय है और यही कुशलक्षेम :

१. अहो नृजन्माखिलजन्म-शोभनं किं जन्मभिस्त्वपरैरप्यमुष्मिन्।
न यद्हृषीकेशयशः कृतात्मनां महात्मनां वः प्रचुरः समागमः॥

(श्रीमद्भागवत, ३-१३-२१)

२. संता प्रसंगान्मम वीर्य-संविदो भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि श्रद्धारतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति॥

(श्रीमद्भागवत, ३-२५-२५)

३. स्वा० हरिदास, अष्टादश सिद्धान्त के पद, ७।

४. स्वा० विहारिणिदास, सिद्धान्त के दोहा, ६७०।

रसिक अनन्यन सौं मिलै कहि सुनिबे की बात ।
श्री कुंजविहारिन को भजन यहै षेम कुसरात ।।[1]

संतों की कृपा से गुरु मिलते हैं और गुरु की कृपा से हरि। इसी से भक्त उनको हरि और गुरु के समकक्ष रख कर सेवा करता है। साधुओं की प्रशंसा करते हुए भगवान ने कहा है :

साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयंत्वहम् ।
मदन्यत्ते न जानन्ति नान्यं तेभ्यो मनागपि ।।

(श्रीमद्भागवत, ९-४-६८)

सन्तोनपेक्षा मच्चित्ताः प्रशान्ताः समदर्शिनः ।
निर्ममा निरहंकारा निर्द्वन्द्वा निष्परिग्रहाः ।।

(श्रीमद्भागवत, १० उत्तरार्ध—५१-२७)

संतों के सुख के लिए भक्त अनेक यत्न करता है। यदि एक बार किसी संत को कष्ट पहुँचा दिया तो समझ लीजिए कि करोड़ों भजन, एकादशी और तीर्थस्नान का फल नष्ट हो गया।

कोटि भजन एकादशी कोटि तीर्थ अस्नान ।
दुषवैं काहू संत कौं तौ हरि नहिं करैं प्रमान ।।[2]

नारद भक्तिसूत्र में कहा गया है :

महत्संगस्तु दुर्लभोगम्योमोघश्च ।।३९।।
लभ्यतेपि तत्कृपयैव ।।४०।।
तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात् ।।४१।।
तदेव साध्यतां, तदेव साध्यताम् ।।४२।।
दुःसंगः सर्वथैव त्याज्यः ।।४३।।

इस सम्प्रदाय के संतों ने भी सत्संग-सेवन और दुःसंग त्याग का भूयोभूयः विधान किया है। सत्संग से उनका तात्पर्य है—सजातियों का संग—ऐसे संतों का संग जो स्वयं भी प्रिया प्रियतम की रसमयी लीलाओं में रमे हैं। तभी तो उनसे ऐसी चर्चा चल सकती है जो सबको प्रिय और हितकारी हो। दुःसंग में सबसे पहले नाम लिया जाता है शाक्तों का और कर्मठों का। वैष्णवों की दृष्टि में शाक्तों के विचार और आचरण निंदनीय हैं। रसिकों को कर्मठों की परिपाटी नहीं सुहाती। वे कर्म करके परलोक सुधारने में विश्वास करते हैं, श्राद्ध-तर्पण आदि के जाल में फँसे हैं। उधर भक्त का एकमात्र कर्म ही भगवान को रिझाना है। वहाँ प्रेम ही साधन है, प्रेम ही साध्य। यही कारण है कि संतों ने उपदेश दिया है कि भक्त शाक्त और कर्मठों के सम्पर्क में कदापि न आये :

साकत संग न जाइयै जो सोने को होइ ।
साधक सिद्धन को गनै किते गए मथ षोइ ।।५०।।

१. स्वामी विहारिणिदास, सिद्धान्त के दोहा, २१८।
२. स्वा० ललितकिशोरीदेव, सिद्धान्त के दोहा, २६६।

साकत संग न जाइयै जोर बड़ो विद्वांस ।
सींचत अंड करैंडुवा होइ न भाल गवास ।।५१।।
साकत के घर पाहुनो भूल भक्त जिन जाहु ।
श्री विहारीदास विपतो भली बरु मास स्वान को षाहु ।।५२।।
साकत को घर परहरै भवत भक्त कैं जाइ ।
लोभी डिंभी जानियै जो श्रद्धा हू न अघाइ ।।५३।।
भक्त भक्त को पाहुनो भक्त भक्त कैं जाइ ।
आदर करि रुचि सौं मिलै सुष संतोष अघाइ ।।५४।।[1]

भक्त भक्ति के बल पर बड़ा बनता है किन्तु शाक्त धनादि पार्थिव उपादानों को प्राप्त कर अपने को बड़ा मानता है। भक्त भक्ति में नित्य नवीन रीति से मन लगाता है। शाक्त प्राकृत विषयों में फँसा रहता है :

भक्त भक्ति के बल बढ़ो साकत वित इतराइ ।
यह बढ़ै भजन दिन नित नयो वह निघट गयै विललाइ ।।४०।।
भक्त भक्ति कर नित नयो साकत प्राकृत लीन ।
यह रातो मातो चकचको वह दुषी दलिद्री दीन ।।४१।।[2]

भक्त सदा आनन्दित रहता है, शाक्त सदा दुःखी और आशंकित रहता है।

इन वाणियों में शाक्त किसे कहा गया है यह स्पष्ट नहीं किया गया परन्तु वर्णन की कोटि से ज्ञात होता है कि जो भक्ति में विश्वास नहीं रखते और वैष्णव नहीं हैं वे शायद सभी इस कोटि में आ जाते हैं। कर्मठ का अर्थ है कर्मवाद में विश्वास करने वाला। अमुक कर्म करने से अमुक फल मिलता है, पिछले जन्म के कर्मों का फल आज भोग रहे हैं, आज के किये कर्म अगले जन्म में साथ देंगे, ऐसा विचार कर चलने वाला कर्मठ है। उसे भगवान की भक्त-वत्सलता में विश्वास नहीं है। वह यम के दण्ड से डर यज्ञादि कर्म करता है। परलोक के भय से सदा भयभीत है। यहाँ भक्त ने भगवान से प्रेम कर अपनी सारी चिन्ताएँ छोड़ दी हैं। वह उनके प्रेम में मस्त है और वे भक्त के प्रेम में। वह जीवन में ही स्वर्ग से अधिक सुख और शान्ति भोगता है और परलोक-भय उसे छूता भी नहीं। शाक्त और कर्मठ के लिए मुक्ति परम पुरुषार्थ है। भक्त के विचार से मुक्ति भक्ति की चेरी है। अतः भक्त कर्मठों की संगति में दुःख ही मानता है। और कर्मठ के लिए तो भक्तों की सभा में कोई स्थान ही नहीं :

रसिक अनन्यन की सभा कर्मठ कुपन षिसाइं ।
आवत नित्य विहार में षिसिल बाहिरे जाइं ।।२१२।।
श्री विहारीदास हरिदास को धर्मी डरै न सूर ।
तिनकी सभा न टिक सकै कर्मठ कुपन मजूर ।।२१३।।
श्री विहारीदास हरिदास को संतत सुषद विहार ।
कर्मठ फाटे चीथरा गाँठ बाँधि अंगार ।।२१४।।[3]

१. स्वा० विहारिणिदास, सिद्धान्त के दोहा।
२. वही।
३. वही।

भक्त से कर्मठ की प्रकृति नहीं मिलती। कर्मठ भी भक्त से मिल ऊपर से भले प्रसन्न हो, मन में बुरा ही मानेगा। भक्त को भी ऐसे लोगों से मिलना अच्छा नहीं लगता जो भगवान का नाम लेते में प्रेम से हर्षित न हो उठें। अतः भक्त का कर्त्तव्य है कि केवल संतों का संग करे। विजातियों से, जो प्रेमी और भक्त नहीं, मिलने से दुःख ही नहीं होता, मन के विचलित होने की भी आशंका रहती है :

नाम लियें फूलै न मन दरसें को न सवाद।
श्री विहारीदास तित बच चलो परसें होत विषाद। ९१॥
करमठ उठि सन्मुष मिलै मन पछिमनो पराइ।
श्री विहारीदास मिलै कहा बिन अनन्य न हिताइ ॥१०२॥
श्री विहारीदास सतसंग कर धरमी हिये हिताहि।
बात विजातिन की सुनें मन मनसा बिचलाहि ॥१०७॥[1]

भक्त का आचरण : वैष्णव भक्ति केवल आध्यात्मिक क्षेत्र की ही वस्तु नहीं, यह जीवन के प्रति भी एक विशेष दृष्टिकोण प्रदान करती है। भक्ति के विधान भक्त और भगवान के पारस्परिक सम्बन्धों पर ही लागू नहीं होते, वे भक्त को अपने-पराये, जड़-चेतन, संसार के सब प्राणियों के प्रति उचित व्यवहार की शिक्षा देते हैं। भक्तिशास्त्र का सामाजिक पक्ष बड़ा प्रबल है। एक ओर यह भक्त को उत्कट वैराग्य, ऐकान्तिकता और संसार के बन्धनों के त्याग की शिक्षा देता है। दूसरी ओर उसे यह भी बताता है कि घर में रहे चाहे वन में, उसे जीवन किस तरह बिताना है। सबसे मैत्री, स्वभाव में करुणा, जीव-दया, सुख-दुःख में समभाव, और अपरिग्रह भक्त के प्रधान गुण हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है :

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः, समदुःखसुखः क्षमी ॥१३॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढ़निश्चयः।
मय्यर्पितमनो-बुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१४॥
यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥१५॥
अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१६॥
यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥१७॥
समः शत्रौच मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संग-विवर्जितः ॥१८॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन-केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥१९॥[2]

इतने थोड़े से शब्दों में भक्त के आचरण की इससे सुन्दर परिभाषा नहीं की जा सकती थी। स्वा० हरिदास जी के सम्प्रदाय के संतों ने भी इन्हीं गुणों का अपनी वाणी में

१. स्वा० विहारिणिदास, सिद्धान्त के दोहा।
२. श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय १२।

अनेकशः निर्देश किया है। वे लिखते हैं :

बिन संतोषै सुष नहीं भक्ति भाइ बिन प्रेम।
श्री विहारीदास विश्वास बिनु सब घट निष्ठा नेम ॥१९५॥
श्रम थोरौ सुष आगरौ पैयत पूरन काम।
श्रीविहारीदास विश्वास ते जे भजिहैं निहकाम ॥१८६॥
भक्ति करौ भगवान की समुझ सबै परभाव।
सबही सौं निरवैरता यों भज अपनौ भाव ॥२२२॥[1]

संतोष, विश्वास, निष्काम भक्ति तथा निर्वैर का उपदेश दे स्वा० विहारिणिदास जी आगे कहते हैं कि संसार से उदासीनता भक्त का प्रमुख लक्षण है। संसार में रहते हुए भी भक्त उसके प्रभाव से मुक्त रह सकता है। घर में रहते हुए भी उसे घर वन जैसा लगता है :

घर ही में घर वन भयौ कुंजपुलिन बिच रास।
श्री विहारीदास हरिदास कौ संसार तैं उदास ॥२२५॥[2]

परोपकार भक्त का स्वभाव है। वह अपनी हानि सह कर भी दूसरे का भला करता है। परोपकार परमार्थ सिद्धि का साधन है :

काज परायौ कीजियै अपनौ आलस खोइ।
श्री विहारीदास दुर्लभ लहैं भलौ आपनौ होइ ॥४६०॥[3]

भक्त सबसे दीन होकर संभाषण करता है, सद्भाव से रहता है, दूसरे के गुण को ग्रहण करता है और दोषों पर ध्यान नहीं देता :

बड़ेन कौ लच्छन यहै दीन वचन सत भाइ।
आपु सहैं सब कौ भलौ गुन गह तजैं कुभाइ ॥५४३॥[4]

जिसे भक्ति का रंग लगा उसी ने सांसारिक वस्तुओं का मोह और कपटियों का संग छोड़ दिया :

पटी बाँधि छाँड़ी गटी अरु कपटिन कौ संग।
श्री विहारीदास हरिदास कौ जिनकैं लाग्यौ रंग ॥५४४॥[5]

जिन्हें अनुराग का रंग लगा है वे सब जीवों से प्रीति करते हैं, किसी को दुःखी नहीं देख सकते :

जे अनुरागी संत हैं तिनकी यहै सुरीति।
दुषी न काहू लहि सकैं सब जीवनि सौं प्रीति ॥१७६॥[6]

१. श्री विहारिणिदास, सिद्धान्त के दोहा।
२. वही।
३. वही।
४. वही।
५. वही।
६. स्वा० ललितकिशोरीदेव, सिद्धान्त के दोहा।

ऐसे संतों के लिए स्तुति और निंदा समान हैं और जो इनसे परे हैं वही सुखी हैं :

स्तुति निंदा सम कर दोऊ ।
ताके परैं समझ सुष सोऊ ।।[1]

किन्तु साधक को सब से अधिक अपने मन को वश में करना चाहिए क्योंकि मन को वश में किये बिना न वैराग्य लेने से कोई लाभ है, न वेदपाठ से और न बहुत लम्बी आयु से । अतः स्वामी विहारिणिदास अपनी स्वाभाविक मस्ती की रौ में कहते हैं कि इस आठ पंसेरी के (मन) को पहले बाँधो :

कहा मुड़ायैं मूँड़ कमंडल काठ को ।
कहा कियैं अभ्यास वेद बहु पाठ को ।
कहा जियैं चिरकाल बरस सौ साठ को ।
जौ नहिं आयौ हाथ पसेरी आठ को ।।२७०।।[2]

भक्त के सदाचार को सूत्ररूप में स्वा० हरिदास जी ने कह दिया है :

बन्दे अखत्यार भला, चित न डुला ।
आव समाधि भीतर न हो अगला ।।
फिर न दर दर पिदर दर न होउ अँधला ।
कहि श्री हरिदास कर्ता किया सो हुआ सुमेर अचल चला ।।[3]

यहाँ तक सामान्य रूप से भक्तों के सदाचार का वर्णन किया गया है । यह गृहस्थ और विरक्त दोनों प्रकार के भक्तों के लिए समान रूप से कर्त्तव्य है । सत्सग से मनुष्य गुरु की ओर उन्मुख होता है । अनेक भक्त गुरु से वैराग्य-दीक्षा ले लेते हैं और घर-बार छोड़ गुरु की शरण में आ वृन्दावन-वास करते हैं । ऐसे विरक्त भक्तों के लिए भी आचार सम्बन्धी उपदेश वाणियों में दिये गये हैं । इनमें से भी अनेक बातें गृहस्थ भक्तों के लिए समान रूप से ग्राह्य हैं, किन्तु विरक्तों के लिए यह सभी आचरण अत्यन्त आवश्यक हैं । विरक्त के आचरण की सबसे पहली आवश्यकता है—स्वा० हरिदास जी की चरण-शरण और श्री वृन्दावन का वास :

(अ) श्री हरिदास चरन सरन अरु वृन्दावन वास ।
मनसा वाचा कर्मना सुषी विहारिनदास ।।२१९।।[4]

(आ) श्री वृन्दावन कीजै वास । सकल जगत सौं रहै उदास ।।
तजै कुटंब अरु लोक बड़ाई । विरकत है हरि भजियै भाई ।।७५।।[5]

विरक्त होकर जब उपासक वृन्दावन में वास करता है तब गुरु उसे जिस सेवा के योग्य समझते हैं वैसी सेवा उसे सौंपते हैं । प्रथम से ही कोई नित्य विहारीविहारिणी की मानसी उपासना नहीं कर सकता। मन का चांचल्य, अन्य विषयों में अनुरक्ति, ऐकान्तिक

१. स्वा० विहारिणिदास, सिद्धान्त के पद, २ ।
२ वही, (सिद्धान्त के दोहों में), चौबोला ।
३. स्वा० हरिदास, अष्टादश सिद्धान्त के पद, ६ ।
४ स्वा० विहारिणिदास, सिद्धान्त के दोहा ।
५. स्वा० रसिकदेव, भक्ति-सिद्धान्तमणि ।

प्रेम में न्यूनता, रस की झीनी "गाँसों" को समझने में अक्षमता आदि ऐसी कमियाँ हैं जो प्रारम्भ में प्रायः सभी साधकों में होंगी। इन्हें दूर करने के लिए साधक गुरु के बताये मार्ग पर चल कर सतत प्रयत्न करता रहता है। निरन्तर साधना से वह संसार के मायाजाल से अधिकाधिक मुक्त होता जाता है और नित्य-विहार की ओर उन्मुख। पूर्ण अधिकारी होने पर ही वह गुरु की कृपा से सखीरूप प्राप्त कर निकुंज की मानसी उपासना में प्रवेश करता है। इस कोटि तक पहुँचने में किसी को कम समय लगता है, किसी को अधिक। गुरु पहले शिष्य से महल की सेवा कराते हैं, फिर अंग की। महल की सेवा में भी कोटियाँ हैं। पहले रज की सेवा करनी होती है। श्री वृन्दावन की रज को बुहारना, उसे परम प्रेय समझना, उसे अपने अंग में लगाना यही रज की सेवा है। रज की सेवा से रजोगुण का नाश होता है और इस प्रकार साधक अपने पथ पर आगे बढ़ता है :

रज छाँड़ै रज पाइयै रज राषै रज जाइ।
रज सौं रजहिं पिछान लै रज सौं रसिक कहाइ ॥३२८॥[1]

श्री वृन्दावन के वृक्ष भी रज के समान ही सेवनीय हैं। वृन्दावन प्रिया-प्रियतम के समान ही उपासनीय है, अतः उसके वृक्ष भक्त के लिए अत्यन्त प्रिय, हितैषी और प्रेय हैं। वन के लतागुल्म की एक पत्ती भी तोड़ना साधक की दृष्टि में अक्षम्य अपराध है। वह उनका प्राणों के समान लालन और रक्षा करता है। वह जानता है कि बिना वृन्दावन की रज और वृक्षों की सेवा किये प्रेम पदार्थ की प्राप्ति कठिन है :

माँगत भीष जनम गयो गई न भीष की ऊष।
प्रेम पदारथ दूर है बिन सेयैं रज रूष॥
बिन सेयैं रज रूष दुष सहि लेत घनेरे।
कहा कियैं अहंकार विपति आपदा गहि घेरे॥
होत न सकुच गलानि मनहु धर्मैं लघु लागत।
कहत विहारीदास भीष भक्ता क्यों माँगत ॥९२॥[2]

वैरागी का वेश भी निराला है। दो कोपीन हों, एक गूदरी, और मिट्टी का करुवा। उसका काम इतने से ही चल जाता है। यदि गूदरी फट गई है या करुवा टूटा है तो उसे चिन्ता नहीं। उसे संसार के सामने सुन्दर वेश-भूषा का या एकत्रित की हुई सम्पत्ति का दिखावा करने का चाव थोड़े ही है, वह तो जब नित्यविहार की मानसी उपासना में प्रविष्ट होता है तो स्वतः ही उसका स्वरूप अनिंद्य सुन्दरी, षोडश शृंगारयुक्त सखी का हो जाता है। अपनी टहलनी को लाड़ली स्वयं सब प्रकार सुसज्जित रखती हैं। फिर उसे बाहरी वेश-भूषा से क्या लेना देना ? इसलिए वह संग्रह से दूर रहता है और कम से कम सामग्री पास रहने देता है :

(अ) संग्रह करियै गूदरी।
खाइयै माँग मधूकरी।
सेइयै नितप्रति सुंदरी। रहियौ पूता दुरादुरी ॥४५॥

१. स्वा० विहारिणिदास, सिद्धान्त के दोहा।
२. वही (सिद्धान्त के पदों में), कुंडलियां।

दूधाधारी पर धर चित्त । नागो लकरी चाहै नित्त ।
मौनी करै मीत की आस । गूदरिया भलौ रहै निरास ।।४६।।
द्वै कोपीन गूदरी करुवौ । श्री विहारीदास इतनेंई सरुवौ ।
श्याम सुजस रस गावत गरुवौ । लागत जग त्रनहू ते हरुवौ ।।४७।।[1]

(आ) काँध कमरिया फाटरी हाथ करुवरा फूट ।
श्री विहारीदास निर्भय भयौ सुष ज्यौं भावै त्यों लूट ।।४७२।।[2]

बहुत से लोग विरक्तों के हाथ के मिट्टी के करुवे को हेय दृष्टि से देखते हैं। उनके विचार से एक बार प्रयोग करने के बाद मिट्टी का पात्र अपवित्र हो जाता है। फिर उसी पात्र से बार-बार स्नानादि नित्यकृत्य, आचमन और पूजा-सेवा कैसे सध सकती है। परन्तु विरक्तों की दृष्टि में करुवा अत्यन्त पवित्र है। वह ब्रज रज से बना है। अतः अशुचि तो उसे स्पर्श भी नहीं कर सकती। करुवा संतों के लिए अत्यन्त प्रिय है :

करुवौ लाग्यौ जगत कौं मीठौ लाग्यौ मोहि ।
श्री विहारीदास हरिदास बल कर गहि गाऊँ तोहि ।।४७३।।
मीठे सौं करुवा कहैं यौं भूलौ संसार ।
करुवे तैं मीठौ भयौ जब कीनौ विमल विचार ।।४७४।।
ब्रज रज कौ करुवौ गज्यौ संतत सुषद प्रसाद ।
श्री विहारीदास रस परस बिन को जानै सुष स्वाद ।।४७५।।
चौरे मुंह सकरे गरे सुवन एँटनी सूल ।
तन हरुवौ गरुवौ सजल करुवौ मीठौ मूल ।।४७६।।[3]

अपने भोजन के लिए भक्त चूल्हे-चौके और ईंधन-लकड़ी के फेर में नहीं पड़ता। न अन्न संग्रह करके रखना उसे रुचता है। मधुकरी वृत्ति ही उसे ग्राह्य है। रोटी का टुकड़ा, चना-चबैना जो उसे ब्रजवासियों के घर से मिल गया उसे खा यमुना-जल पी लिया। यदि स्वयं रसोई बनाने के चक्कर में पड़ेगा तो उतने समय की भजन की हानि न होगी ?

(अ) श्री विहारीदास ब्रज यौं बसै करुवौ कामरि ष्यात ।
जथा लाभ संतोष गहि ब्रजवासिन कौ भात ।।४७७।।[4]

(आ) करुवा कामरि सौं रतिमति कब ह्वै हौं यह गति जोग ।
जमुना कूल कदंब कुंज ग्रह वसि वन मैंटौं सोग ।।
चना चबैना छाछ जमुन जल पत्र पुहुप फल भोग ।
तिनके आगै ऐसैं सुनियत षटरस फीके फोग ।।
अटल निहाल करौ जिनि ऐसैं ज्यों डहकायौ लोग ।
विषै बासना हरौ सासना बहुत जन्म कौ रोग ।।

१. स्वा० विहारिणिदास, (सिद्धान्त के दोहा में), चौबोला ।
२. वही, सिद्धान्त के दोहा ।
३. वही।
४. वही।

पर्‌यौ रहौं द्वारे दुलराऊँ गाऊँ प्रेम प्रयोग ।
श्री विहारीदास प्रभु अब अवसर बन्यौ है सरन संजोग ॥१२५॥[1]

(इ) निंदा अस्तुति करै जु कोइ । हरष विषाद न मानै सोइ ॥
ब्रजवासिन के पावै टूक । माँगि षाइ तब लगै जु भूष ॥७८॥[2]

ब्रजवासियों के प्रति संत बड़ी श्रद्धा रखते हैं । ब्रज के लोग ब्रजराज के निज जन हैं । अतः भक्त के लिये वे पूज्य हैं । इसी से संत ब्रजवासियों के द्वार से मिले रूखे-सूखे टुकड़ों को अमृत तुल्य हितकारी मानता है । वह जिस किसी का अन्न-जल ग्रहण नहीं करता । वैष्णव का अन्न ही उसे ग्राह्य है । वह विषयी का अन्न-जल ग्रहण नहीं करता क्योंकि उससे काम-क्रोध की वृद्धि होती और भक्ति बिगड़ती है :

विसयिन कौ जल अन्न लै षायें विषई होइ ।
काम क्रोध धरि भरि रहै भाजत भक्ति बिगोइ ॥४८६॥[3]

भक्त केवल प्रभु का ही प्रसाद ग्रहण करता है । प्रसाद के प्रति उसे असीम श्रद्धा होती है । प्रसाद को आदर से देना और आदर से लेना चाहिये । जो प्रसाद का महत्त्व न समझ कर उसकी हँसी उड़ाते हैं उन्हें भक्ति भी स्पर्श नहीं करती :

लेत देत दोऊ पतित आदर बिनु परसाद ।
ताहि भक्ति परसै नहीं बिहँसै हँसै प्रमाद ॥५३०॥[4]

प्रसाद लेते में भी वह लालचवश बहुत नहीं खाता :

श्री विहारीदास प्रसाद बिन और न उदर समाइ ।
ताहू मैं घट कौर द्वै को अजमाइन षाइ ॥३०२॥[5]

गुरु और संतों के भुक्त शेष प्रसाद को 'सीत' प्रसाद[6] कहा जाता है । शिष्य जहाँ तक सम्भव हो गुरु का 'सीत' ग्रहण किये बिना कुछ खाता नहीं । गुरु के 'सीत' को उच्छिष्ट नहीं कहते, उसे परम आदर की दृष्टि से देखते हैं । गुरु का और उसी प्रकार संतों का सीत एवं चरणोदक ग्रहण करने से भक्ति दृढ़ होती है :

सेवै साधु दया अति करै । सीथु चरनोदिकु लै उर धरै ॥
ऐसैं गुरु कौ सरन जु गहियैं । जातैं भक्ति स्याम की लहियै ॥८॥[7]

संक्षेप में वृन्दावन की रज एवं वृक्षों की सेवा, प्राणीमात्र से निर्वैर, गुरु की सेवा, संतों की सेवा, यह भक्ति की प्राप्ति के लिए प्रधान सोपान हैं । इन्हें करते रहने पर ही भक्त इस योग्य होता है कि गुरु उसे नित्य विहार में श्री प्रियाप्रियतम की लीला का रहस्य समझायें तथा लाड़िलीलाल की अंग-सेवा का उसे अधिकार दें ।

१. स्वा० विहारिणिदास, सिद्धान्त के पद ।
२. स्वा० रसिकदेव, भक्ति सिद्धांत मणि ।
३. स्वा० विहारिणिदास, सिद्धांत के दोहा ।
४. वही ।
५. वही ।
६. सीत=टुकड़ा ।
७. स्वा० रसिकदेव, पूजाविलास ।

भक्त के सदाचार का हम पहले विस्तार से वर्णन कर आये हैं। संत के लिये परम आवश्यक है कि वह जो सोचे, वही कहे और करे। मुख से सुन्दर उपदेश और आचरण में विरुद्धता भक्ति में बाधक है। साधक की 'कहनी' और 'रहनी' एक होनी चाहिये। कहने का इतना महत्त्व नहीं, जितना उसे कर दिखाने का है :

(अ) कहनी तैं करनी बड़ी जो ह्वै आवै साँच।
श्री विहारीदास ब्योरो घनौं जैसैं कंचन काँच ॥६७४॥
कहौ सुनौ सब कोन हू करत न देष्यौ कोइ।
श्री विहारीदास निधरक भयौ करता करै सु होइ ॥६७५॥[1]

(आ) रहनी कहनी एक सी ज्यौं की त्यौं जो होइ।
सोई वस्तैं पाइहै जग्यौ रहै कै सोइ ॥२७६॥[2]

इस प्रकार भक्ति की प्राप्ति कोई सरल काम नहीं। भक्त को अनेक प्रकार की साधनायें करनी पड़ती हैं। तब कहीं अनुराग का रंग लगता है और रंग लगने पर ही भक्ति की सार्थकता है। जैसे काठ को पहले काटते हैं, फिर बसूले से छीलते हैं, फिर खराद पर चढ़ाते हैं, परन्तु इतने सब कष्ट सहने के बाद भी काठ को कोई पूछता नहीं। जब उस पर रंग चढ़ जाता है तभी उसका मोल लगता है :

उषटौ काठ कुठार सौं बहुरि बसूला छोल।
बहुरि षराद चढ़ाइयै रँग लागै तब मोल ॥६६८॥[3]

प्रेम का रंग लगने पर भक्त को देह की 'सुधि-बुधि' भूल जाती है। प्रेमासव पिये वह हरदम उन्मत्त रहता है। वह जिस अनिर्वचनीय सुख का भोग कर रहा है, उसे किसी से कह नहीं सकता। गूंगे के गुड़ के समान उसका स्वाद लेता रहता है :

गूँगौ गुरु मुँह मूँदै षाइ। जानै सो जिहि जीभ मिठाइ ॥
गूँगे की सैन गूँगौ ही जानै। गूँगूँगौ गे ही पहिचानै ॥
जानि बूझि गूँगो ह्वै रहै। गूँगे को मरम न कोऊ लहै ॥

× × ×

गूँगो करि छाँड़ो संसार। गूँगो गावै नित्यविहार।
श्री विहारीदास हरिदास हितानौं। विपुल विनोदनि देष लुभानौं ॥१५॥[4]

ऐसे तन्मय भक्तों की बड़ी महिमा है। जो अनन्यता से इस प्रकार भक्ति करते हैं वे ही भक्तों में श्रेष्ठ हैं। ऐसे भक्त प्रेम से गद्‌गद हो रोमांचयुक्त शरीर और प्रेमाश्रुपूर्ण नेत्रों से शोभित होते हैं। परस्पर हरिलीलाओं को कहते हुए वे पृथ्वी को पवित्र करते हैं। उनके संसर्ग से तीर्थ वास्तव में तीर्थ, कर्म सुकर्म और शास्त्र तत्त्वतः सच्छास्त्र बन जाते हैं :

१. स्वा० विहारिणिदास, सिद्धान्त के दोहा।
२. स्वा० ललितकिशोरीदेव, सिद्धान्त के दोहा।
३. स्वा० विहारिणिदास, सिद्धान्त के दोहा।
४. वही, सिद्धांत के पद।

भक्ता एकान्तिनो मुख्याः ॥६७॥
कण्ठावरोधरोमांचाश्रुभिः परस्परं लपमानाः पावयन्ति कुलानि पृथिवीं च ॥६८॥
तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि सुकर्मीकुर्वन्ति कर्माणि सच्छास्त्रीकुर्वन्ति शास्त्राणि ॥६९॥
तन्मयाः ॥७०॥
मोदन्ते पितरो नृत्यन्ति देवताः सनाथा चेयं भूर्भवति ॥७१॥[1]

भक्ति में बाधक

इस संप्रदाय के संतों ने भक्ति के अनेक बाधकों के नाम गिनाये हैं। प्रथम बाधक हैं —काम, क्रोध, मद, लोभ और मोह। स्वा० हरिदास जी कहते हैं कि हरि-भजन के अतिरिक्त और सब बातें व्यर्थ हैं। चार दिन के जीवन को 'मैं, मेरी' करते-करते बिता दोगे, कुछ साथ लाद कर न ले जाओगे। मनुष्य धन, यौवन, राज्य आदि के मद में डूबा है। दुनिया के झगड़े उसने अपने पीछे लगा रखे हैं। लोभ ने तो उसे ऐसा बरबाद कर दिया है कि फ़रियाद करने लायक भी न छोड़ा :

जौ लौं जीवै तौलौं हरि भज रे मन और बात सब वाद।
द्यौस चार के हला भला में तू कहा लेइगो लाद॥
धन मद जोवनमद राजमद भूले नगरविवाद।
कह श्री हरिदास लोभ चरपट भयो काहे की लगै फिराद॥[2]

स्वा० विहारिणिदास जी कहते हैं कि जिस प्रकार 'खरतुआ'[3] उग आने से खेत बिगड़ जाता है, सूम के कारण सभा की शोभा नहीं रहती। ऐसे ही लालची लोगों से धर्म का नाश होता है :

षेत बिगार्‌यौ षरतुवा सभा बिगारी सूम।
धर्म बिगार्‌यौ लालची ज्यौं केसर मिलै कसूम॥४९४॥[4]

मद की कोटि में धन, यौवन, या राज्य के मद ही नहीं आते; जाति का मद, पाण्डित्य का मद भी उतने ही निन्दनीय हैं। ब्राह्मण अपने ब्राह्मणत्व के मद में रह जाता है, उसे भक्ति नहीं मिलती। उसकी अपेक्षा शूद्र को भक्ति सहज ही मिलेगी क्योंकि उसे जाति का मद नहीं :

सूद्र सुषारे हरि भजैं ब्राह्मन भक्त न होइ।
ब्रह्मतेज ऐंड़ौ फिरै भक्ति कहां ते होइ ॥६५८॥[5]

ब्राह्मणत्व के समान पाण्डित्य का अभिमान भी भक्ति में बाधक है। संस्कृत और फारसी पढ़ के लोग अपने को विद्वान् और दूसरों से ऊँचा मानने लगते हैं किन्तु वे भक्ति से बहुत दूर हैं, क्योंकि मन का भ्रम तो संतों की वाणियों के पढ़ने से जाता है, जो सर्वसाधारण

१. नारद-भक्ति-सूत्र।
२. स्वा० हरिदास, अष्टादश सिद्धान्त के पद, १७।
३. खरतुआ=एक प्रकार की जंगली घास।
४. स्वा० विहारिणिदास, सिद्धान्त के दोहा।
५. वही।

की भाषा में लिखी हैं। अतः ब्रज में संस्कृत और फारसी का अभिमान भी भक्ति में बाधक बन जाता है :

उतै रोह की पारसी इत पंडित को पाठ।
भाषा ही संसो मिटै संसकृत्य तैं नाठ ॥५०८॥
जाति बिगारी भक्ति लग कर्म बिगारयो ज्ञान।
बृज में भली न पारसी संसकृत्त अभिमान ॥५०९॥
संसकृत्त जिनके वचन ते चावैं वृजधूर।
वृज वसि बोलैं पारसी बँधे जाहिंगे दूर ॥५१०॥[1]

संतों ने ऐसे मनुष्यों की निन्दा की है जिन्होंने वैराग्य तो ले लिया किन्तु वैर और आग (क्रोध) जिनके हृदय में बसे हुए हैं। ऐसे लोग प्रेमाभक्ति को नहीं पा सकते :

वैरागी भूषे फिरैं रूषे निपट निरास।
अनुरागै पावैं नहीं बिन भयैं बिहारीदास ॥२७१॥
रूठे से रिस में फिरैं लियैं वैरु अरु आगि।
आपुन ही जर जर मरैं बिन वैराग अभागि ॥२७२॥[2]

जिन्होंने घर-बार छोड़ कर साधु-वेश तो ले लिया किंतु जिह्वा के स्वाद को नहीं छोड़ सके, वे भी भक्ति से दूर हैं :

घर छांड्यो हो भजन कौं सालन कौं पछिताइ।
चुपरी पायैं हँसि मिलै रूषी देष रिसाइ ॥२६८॥[3]

स्त्री-संग तो भक्ति में बहुत ही बाधक बताया गया है। जो संसार के दिखाने को हरि की सेवा-पूजा करते हैं किन्तु भीतर ही भीतर स्त्री-संग में अनुरक्त हैं, वे तो ऐसे हैं जिनने अपना सर्वस्व धन तो बाजार में पटक दिया और राख के भण्डार की रखवाली कर रहे हैं :

हरि मंदिर द्वारैं कियो मिहरिनि को परदार।
सर्वस धन धर चौहटैं सैंतत छार भण्डार ॥७४॥[4]

जो कर्म इष्ट के प्रति भक्त की अनन्यता में बाधा डालते हैं वे सभी भक्ति में बाधक हैं। जिन्हें अपने हरि की कृपालुता में विश्वास नहीं, वे ही कर्मठ और ज्ञानियों की शरण में जाते हैं, देवी-देवता, शीतला आदि का पूजन करते हैं, जन्म और मरण के अवसर पर आशौच मानते हैं, पितरों के लिये तर्पण और श्राद्ध करते हैं, तीर्थ और व्रत करते हैं। ऐसे लोगों को भक्ति नहीं मिलती। यदि वे सच्ची भक्ति करते तो कर्म के बन्धन, देवी-देवता या पितरों से डर कर ऐसा क्यों करते ?

(अ) कर्मठ पै भागवत सुनै सठ ज्ञानी गुरु पै लीनी दिछ्या।
आपुन रसिक अनन्य कहावत सफल होइ क्यों सिछ्या "

१. स्वा० विहारिनिदास, सिद्धांत के दोहा।
२. वही।
३. वही।
४. वही।

मिहरी कै स्यौराति सीतला पूतहि पितर उदछ्या ।
बारह बाट अठारह पैंड़े क्यों पूजै मन इछ्या ॥
अठबढ़ गोत कनावड़ सबकौ कौन कर सकै रछ्या ।
श्री विहारीदास हरिदास भजैं सुष यह निजु प्रेम परिछ्या ॥[1]

(आ) पूजै देवी-देवता छाँड़े हरि गुरु संत ।
तन मन रांचे झूंठ सौं तिनके दुषहि न अंत ॥१८९॥[2]

(इ) जापा स्यापा मानियै संसार को सुभाव ।
इत सीठनौ उत पीठनौ उपजै भक्ति न भाव ॥२०२॥[3]

भक्त होते हुए भी जो बहुत आचार-विचार करते हैं, छूत-छात, स्पर्श्यास्पर्श्य आदि का जिन्हें आग्रह है, भगवान् उन्हें पास नहीं आने देते । जहाँ प्रीति है वहाँ छूत-छात कैसी :

आचारी सौं ठाकुर डरैं ढिग नहिं आवन देहिं ।
प्रेमी साधु कौं उमगि कैं रीझि अंक भरि लेहिं ॥२९८॥[4]

सबसे बड़ा बाधक है—हरिगुरु में विश्वास का अभाव । जिन्होंने साधु-वेश ले लिया है, फिर भी जिनके मन में विश्वास नहीं आया, उन्हें भक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती :

(अ) श्री विहारीदास विश्वास न आयो ।
तैं काहे कौं मूंड़ मुड़ायो ।
गुरु प्रतीति बिन भयो न भायो ।
तौ रह्यौ बीच ही पार न पायो ॥१९२॥[5]

(आ) सेवा करत निकट रहत मन में दुरी दुरास ।
श्री विहारीदास क्यों ऊपजै भक्ति बिना विश्वास ॥३६५॥[6]

अपने गुरु और सम्प्रदाय की पद्धति के अतिरिक्त अन्य पद्धतियों में समान भाव से श्रद्धा रखना भी भक्ति में बाधक है। वह तो ऐसा है जैसे नारी का पतिव्रत छोड़ अन्य पुरुषों में प्रीति करना । सम्प्रदाय सभी अच्छे हो सकते हैं किन्तु अपना लगाव तो केवल एक से ही होना चाहिए । संसार में पुरुष तो और भी अनेक, एक से एक गुणवान्, रूपवान् आदि मिल जायेंगे किन्तु पतिव्रता तो जिस एक को वरण करती है, उसी से जीवन-भर प्रेम करती है । अत: ठीक सोचने-विचारने के उपरान्त जिस सत्संप्रदाय का पल्ला पकड़ा है, जिन गुरु की शरण ली है, उन्हीं में अनन्य निष्ठा रखनी चाहिये :

श्री विहारिनदास पतिव्रत षिसै वह सबहिन की जोइ ।
सबके पाइन सिर घिसै अपनी कहै न कोइ ॥१७८॥[7]

१. स्वा० विहारिणिदास, सिद्धांत के पद ।
२. स्वा० ललितकिशोरीदेव, सिद्धांत के दोहा ।
३. स्वा० विहारिणिदास, सिद्धांत के दोहा ।
४. स्वा० ललितकिशोरीदेव, सिद्धांत के दोहा ।
५. स्वा० विहारिणिदास (सिद्धांत के दोहों में), चौबोला ।
६. स्वा० विहारिणिदास, सिद्धांत के दोहा ।
७. वही ।

जो सब में निष्ठा रखेगा उसे अपना कौन कहेगा ? अतः अनन्यता ही सदा सर्वथा ग्राह्य है।

रस-भूमिका में प्रवेश

इस अध्याय में जो कुछ भी कहा गया है वह इस संप्रदाय की उपासना का बाह्य स्वरूप है। वास्तव में साधक को जहाँ पहुँचना है वह है श्री कंज-विहारी-विहारिणि का निरवधि नित्यविहार। भक्ति के ये अंग भक्त को केवल इस बात का अधिकारी बनाते हैं कि गुरु उसे नित्यविहार में प्रवेश करने का मार्ग दिखायें। यह भक्ति निकुंज के द्वार तक पहुँचने का साधन है, चरम उपासना तो इसके बाद प्रारम्भ होती है। पाँचों भक्ति रसों में माधुर्य की भक्ति को सर्वश्रेष्ठ माना गया है। उस माधुर्य में भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्व का प्रकटीकरण है—स्वा० हरिदास जी द्वारा उद्धृत नित्यविहार। वही रस की उपासना का मूल तत्त्व है। भक्ति के अनेक आवरणों का भेद कर भक्त जब केन्द्र में पहुँचता है तब उस नित्यविहार रस की प्राप्ति होती है। कमल पुष्प की पंखुड़ियों को छोड़ जैसे भ्रमर कर्णिका में पहुँच मधुपान करे, उसी प्रकार भक्त भी भक्ति के अनेक उपादानों को छोड़ गुह्यातिगुह्य नित्य-विहार रस का गुरु की कृपा से आस्वादन करता है। अगले अध्याय में हम उसी नित्यविहार रस का सांगोपांग विवेचन करेंगे।

पंचम अध्याय

उपासनीय-रस

भक्ति के क्षेत्र में पाँच रसों के नाम लिये जाते हैं : शान्त, दास्य, वात्सल्य, सख्य और शृंगार। यों तो जो जिस रस के उपासक हैं वे उसी को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं, किन्तु रसिकों की दृष्टि में उत्तरोत्तर रस एक-दूसरे से श्रेष्ठ हैं। अतः शृंगार ही सर्वश्रेष्ठ रस है। रसिकों की दृष्टि में उपास्य के स्वरूप में जितना ऐश्वर्य होगा उतनी ही उपास्य और उपासक के बीच में दूरी रहेगी। शान्त रस का उपासक तो उपास्य को ब्रह्म मानता ही है। दास्य का उपासक उपास्य से स्वामी और सेवक का सम्बन्ध रखता है; जितना ऐश्वर्य भगवान के स्वरूप में होगा उतनी ही भक्त की श्रद्धा उनके प्रति बढ़ेगी। वात्सल्य में पिता-पुत्र या माता-पुत्र का सा सम्बन्ध उपासक और उपास्य में माना जाता है। यहाँ ऐश्वर्य की दूरी नहीं रहती। आत्मीयता आ जाती है। नंद बाबा के समान कन्हैया को लाड़ लड़ाना, यशोदा मैया के समान प्यार करना—कैसा नेह-भरा नाता है। इनमें भी माँ का वात्सल्य पिता के वात्सल्य से श्रेष्ठ है क्योंकि माँ पुत्र के अधिक निकट होती है। सख्य की कोटि वात्सल्य से भी ऊँची है। बालक जब बड़ा हो जाता है तो माँ का प्रेम तो पाता है किन्तु उससे वह सब बातें तो नहीं कह सकता जो सखाओं से कह सकता है। सखा परस्पर मिल कर खेलते हैं, एक-दूसरे के साथ मिल-बाँट कर खाते-पीते और एक-दूसरे की सहायता करते हैं। एक-दूसरे से मन की बात कहते हैं। अतः सख्य में वात्सल्य से भी अधिक निकटता आ जाती है किन्तु सख्य से भी बड़ा है शृंगार। अनुराग का बन्धन मैत्री से भी बड़ा है। जहाँ श्री राधा या गोपियों के साथ श्रीकृष्ण विहार करते हैं वहाँ तो श्रीदामा आदि सखा भी प्रवेश नहीं पा सकते। अतः शृंगार में सख्य से भी अधिक निकटता है क्योंकि इस लीला में उपासक का प्रवेश लाड़िली की सखी के रूप में होता है जिसे विहार की भूमि में जाने का अधिकार है।

शृंगार की उपासना के भी अनेक भेद बन गये हैं। उपास्य श्री राधा-कृष्ण के पारस्परिक सम्बन्ध की अलग-अलग सम्प्रदायों में अलग-अलग रूप से कल्पना की गई है। कहीं राधा को परकीया माना गया है। कहीं यह भी कल्पना की गई है कि उनका विवाह एक अन्य गोप से हो गया था। जो उन्हें परकीया मानते हैं वे श्री राधाकृष्ण की मध्याह्न-लीला (दिन में संकेत-स्थल पर छप कर मिलने की लीला) एवं विरह का ध्यान करते

हैं ।[1] इस प्रकार के उपासकों के मतानुसार परकीया भाव में प्रेम का अधिक उल्लास होता है तथा विरह में संयोग से अधिक तन्मयता एवं प्रीति का उत्कर्ष । कोई श्री राधा को स्वकीया मानते हैं, किसी-किसी ने श्री राधा और कृष्ण के विवाह का भी वर्णन किया है ।[2] स्वकीया भाव के उपासकों के मतानुसार स्वकीया भाव परकीया भाव से श्रेष्ठ है, क्योंकि परकीया भाव में प्रिया-प्रियतम के मिलन में अनेक बाधाएँ रहती हैं । अतः यदा-कदा ही दोनों की एकत्र लीलाओं की भावना की जा सकती है । स्वकीया में सदा मिलन की भावना है ।

स्वामी हरिदास जी के सम्प्रदाय के उपासना-रस का नाम है—निरवधि नित्यविहार । इनकी ठकुराइन कुंजबिहारिणी राधा स्वकीया तो हैं, किन्तु वे वृषभानु गोप के घर जन्म नहीं लेतीं और न इनके ठाकुर कुंजविहारी ही नन्द बाबा के घर प्रकट हुए । ये युगल अजन्मा हैं और सदा एकरस होकर एक वयस में स्थित, सदा से वृन्दावन में विहार करते चले आये हैं, कर रहे हैं और करते रहेंगे । इस सम्प्रदाय के उपासकों के मत से उनका रस ही सर्वश्रेष्ठ है । क्योंकि अन्य सम्प्रदायों की स्वकीया में भी युगल का अबाधित निरन्तर मिलन नहीं होता । जहाँ जन्म और माता-पिता की उपाधियाँ लगी हैं, वहाँ प्रियाजू को मायके भी जाना होगा, नन्द भवन में भी सास-ससुर और कुटुम्बियों के सामने दिन में प्रियतम से मिलन संभव नहीं हो सकता । अतः रात्रि में ही भेंट हो सकती है । स्वा० हरिदास जी के नित्य किशोर-किशोरी अजन्मा हैं । अतः उनके विहार में अन्तर पड़ने का कोई कारण ही नहीं ।

कहीं-कहीं श्रीकृष्ण की श्री राधा के अतिरिक्त अन्य प्रेमिकाओं की कल्पना की गयी है ।[3] किन्तु इस बहुवल्लभत्व से रस की अनन्यता में बाधा आती है । युगल की प्रीति की समानता में अन्तर पड़ता है । श्री राधा तो यह कह सकती हैं कि "तुम्हें छोड़ मैं और किसी से प्रेम नहीं करती", परन्तु प्रियतम तो ऐसा नहीं कह सकते । अतः दोनों में से एक के प्रेम में न्यूनता आ जाती है । स्वा० हरिदास जी के युगल एक-दूसरे के अनन्य प्रेमी हैं ।

कई सम्प्रदायों में विहार की निकुंज में प्रिया-प्रियतम की केलि की सहायक हैं—ललिता-विशाखादि अष्ट सखियाँ ।[4] कहीं इन आठों की भी आठ-आठ और उनमें से भी प्रत्येक की आठ-आठ, ऐसे सहस्रों सखियों के साथ रहने की कल्पना की गयी है ।[5] इतनी सखियों का निकुंज की रहःकेलि में उपस्थित रहना विहार की एकरसता में बाधक ही होगा । स्वा० हरिदास जी की निकुंज-लीला में तो केवल मनभावती सहचरी का ही प्रवेश है, जो लाल और लाड़िली के मन को इस तरह पहचानती है जितना वे स्वयं भी न जानते होंगे । उसी सहचरी के बल पर वे निरन्तर विहार करते हैं । इस प्रकार स्वा० हरिदास जी का नित्यविहार, उनकी निकुंज, उनके प्रिया-प्रियतम अन्य सम्प्रदायों से बिल्कुल भिन्न और विलक्षण हैं ।

१. उदाहरण—श्री माध्वगौड़ेश्वर सम्प्रदाय की उपासना ।
२. श्री राधावल्लभ सम्प्रदाय में चाचा हित वृन्दावनदास के 'लाड़सागर' में ।
३. उदाहरण—श्री जयदेवकृत 'गीतगोविन्द' ।
४. श्री राधावल्लभ सम्प्रदाय ।
५. श्री निम्बार्क सम्प्रदाय, श्री हरिव्यासदेवाचार्यकृत 'महावाणी' ।

प्रत्येक सम्प्रदाय में जैसा जिसका रस होता है उसी के अनुरूप उपास्य के नाम, रूप, लीला और धाम की कल्पना की जाती है। स्वा० हरिदास जी के उपास्य हैं श्री कुंजविहारी विहारिणि। अब हम उनके स्वरूप का निरूपण करेंगे।

उपास्य युगल

संप्रदाय में उपास्य युगल को श्यामा-कुंजविहारी, विहारी-विहारिणि, प्रिया-प्रियतम, लाड़िली-लाल, श्यामा-श्याम, बाँकेविहारी-स्वामिनी जू, छबीलौ-छबीली, प्यारे एवं प्यारीजू आदि इसी प्रकार के स्नेह भरे नामों से पुकारा जाता है। राधा नाम तो अनेक स्थानों पर मिल जाएगा किन्तु कृष्ण नाम एकाध जगह ही आया होगा। नंद-नंदन, वृषभानु-नंदिनी नाम शायद ही कहीं भूल से आ गये हों। गोपीवल्लभ, कंसनिकंदन, गिरिधारी, गोपाल, गोपेश्वर आदि नाम तो कहीं लिये ही नहीं गये हैं। फिर रुक्मिणीरमण, पार्थसारथी आदि नामों के आने की तो कोई संभावना ही नहीं थी। पतितपावन, अधम-उधारन आदि नाम भी नहीं लिए जाते। कारण स्पष्ट है कि उपासक उपास्य से जो नाता मानता है, उसके जैसे स्वरूप की कल्पना करता है, वैसे ही नाम से उन्हें पुकारता है। स्वा० विहारिणिदास जी कहते हैं—विहार से सम्बन्ध द्योतित करने वाले नामों के अतिरिक्त और सब नाम व्यर्थ हैं। हमारे ठाकुर तन-मन से विहार में मग्न हैं। अतः उनका नाम क्या है, वे कौन हैं—यह जानना है तो विहार में ढूंढ़ लो :

नाम न कछू विहार बिन ठाली नाम निहार।
नामी नाम सुहावनौ जब देख्यौ करत विहार ॥१३४॥
कहा नाम नामी कहा सषी सुष पूछौं तोहि।
तन मन मगन विहार में तहाँ ढूंढ़ लै मोहि ॥१३५॥[1]

प्रिया-प्रियतम के स्वरूप भी निरवधि नित्यविहार के ही अनुरूप हैं। वे न तो विष्णु और लक्ष्मी के अवतार हैं, न ब्रह्म और उसकी माया हैं। यहाँ तक कि वे नंद के पुत्र और वृषभानु की पुत्री भी नहीं हैं। यह सुंदर गौर-श्याम जोड़ी तो सहज ही प्रकट हुई है। समवयस् है, पहले भी थी, अब भी है और आगे भी सदा इसी प्रकार रहेगी। स्वा० हरिदास जी की केलिमाल के पदों में सर्वप्रथम पद ही इस रहस्य को इस प्रकार प्रकट करता है :

माई री सहज जोरी प्रकट भई रंग की गौर श्याम घन दामिनी जैसैं।
प्रथम हू हुती अबहूँ आगैं हूँ रहिहै न टरिहै तैसैं॥
अंग-अंग की उजराई सुघराई चतुराई सुंदरता ऐसैं।
श्री हरिदास के स्वामी स्यामा कुंजविहारी सम वैस वैसैं ॥१॥

और अनादिकाल से ही ये युगल अपनी रुचि के वश परस्पर विहार कर रहे हैं :

रुचि के प्रकास परसपर खेलन लागे।
राग रागिनी अलौकिक उपजत, नृत्य संगीत अलग लाग लागे।
राग ही में रंग रह्यौ रंग के समुद्र में ये दोऊ जागे।
श्री हरिदास के स्वामी स्यामा कुंजविहारी पै रंग रह्यौ रस ही में पागे ॥२॥[2]

१. स्वा० विहारिणिदास, सिद्धांत के दोहा।
२. स्वा० हरिदास, केलिमाल।

स्वामी ललितकिशोरीदेव जी ने कहा है कि ये युगल यद्यपि वेद से भी अगोचर हैं परंतु प्रेम-सहचरी के भाव के कारण इनका रूप प्रकट हुआ है :

निगम अगोचर अलख है क्यौं हू लख्यौ न जाय ।
प्रेम सहचरी भाव सौं युगल रूप दरसाय ॥[1]

यहाँ प्रेम-सहचरी का अर्थ है—स्वा० हरिदास जी। दोनों अलग-अलग होते हुए भी एक हैं। जिस प्रकार पृथ्वी में गन्ध है परन्तु दिखाई नहीं देती, इसी प्रकार श्याम रूप में गौर रूप मिला हुआ है :

ज्यौं पृथ्वी में गन्ध है सूछम धरैं स्वरूप ।
यौं गौर श्याम में मिल रह्यौ भिन्न न कहिये रूप ॥[2]

यहाँ युगल के अभिन्नत्व के अतिरिक्त यह भी संकेत किया गया है कि श्री बाँके-विहारी की प्रतिमा में दोनों की भावना की जाती है। हम पहले बता आये हैं कि श्री बाँके-विहारी के विग्रह के साथ श्री राधा का विग्रह नहीं है। उनकी केवल नामांकित गद्दी की पूजा होती है। गौर-श्याम के मिले रहने का अर्थ यह भी है कि वे निरन्तर विहार में रत, एक-दूसरे से इतने गाढ़ालिंगन में बद्ध हैं कि एक हो रहे हैं। क्षण भर के लिए भी आलिंगन से अलग होना इन्हें व्याकुल कर देता है। जिस प्रकार चना एक है परन्तु छिलके के भीतर उसकी दोनों दाल अलग-अलग हैं, फिर भी एक-दूसरे से सटी हैं। यही गति इन विहारी-विहारिणि की है :

बहुत भाँति इन को कहैं श्री विहारिनिदास विचार ।
विकल बिना आलिंगनै एक चना द्वै दार ॥११६॥[3]

कामना पूर्ण करने वाले ये कामिनीकंत सदा निकुंज में नृत्य करते रहते हैं :

चारि चरन नृत्तत सदा तहाँ न आनँद अंत ।
सबै कामना पूर हैं मेरे कामिनि कंत ॥३३१॥[4]

विहार के तो ये दोनों इतने लोभी हैं कि विहार के बिना जो क्षण जाते हैं वे विरह के समान व्याकुल करने वाले होते हैं, अंग शिथिल हो जाता है और आतुर हो श्वास गिनने लगते हैं :

व्याकुल विरह बिहार बिन नषसिष लोभी लीन ।
श्री विहारिनिदासि अँग सिथलई स्वासन गनत अधीन ॥१३७॥[5]

विहार के हेतु लाल की तरल तृष्णा ज्यों-ज्यों बढ़ती है, त्यों-त्यों लाड़िली के प्रेम की बेलि प्रस्फुटित होती है। इनका यह विहार मैथुन नहीं है, न उसमें किसी प्रकार की मलिनता है। ये तो दिव्य देह से वन में विहार करते हैं। प्रेम के वश में हुए लाल सदा अधीन और लटपटाये रहते हैं, सुध-बुध भूले रहते हैं; किन्तु सहचरी एवं स्वामिनी सदा

१. स्वा० ललितकिशोरीदेव, सिद्धांत के दोहा ।
२. वही ।
३. स्वा० विहारिणिदास, सिद्धांत के दोहा ।
४. वही ।
५. वही ।

सावधान रहती हैं। वे दोनों बड़ी चतुर-शिरोमणि हैं।

तृष्णा तरल तमाल लाल कैं। बाढ़त नव नव बेलि बाल कैं॥
कुसमित ईषद हास परसपर। अँगुरी दल फल परस उरज कर॥१०॥
इनकैं मल मैथुन कछु नाहीं। ए दिव्य देह विहरत वन माहीं॥
काम प्रेम रस विवस विहारी। सावधान सहचरि सुकुमारी॥११॥
विपुल विनोद मोद मन हारी। बिन ब्रीड़ा क्रीड़ा विस्तारी॥
विहरत भूमि मच्यौ उजियारी। इन बिन विश्व अमावस कारी॥१२॥[1]

साधक सखी-रूप में निकुंज-महल में प्रवेश पाता है। परन्तु सेवा कैसे करें यह जानने के लिए उसे उपास्य की प्रकृति पहचाननी पड़ती है। गुरु-सहचरी की कृपा से जिस सखी को महल की टहल मिल गई है उसे चाहिये कि अपनी एक-एक क्रिया—बोलना, चलना, फिरना आदि में मनमानी न करे। प्रिय की प्रकृति को इतना जान लेना चाहिये कि उनके श्वास की गति से उनकी इच्छा को पहिचान कर उचित बात कहे, नेत्रों की भंगिमा से ही उनकी रुचि को समझ तदनुकूल कार्य करे। प्रिया-प्रियतम को भोजन अर्पित करने, उन्हें शृंगार धारण कराने से पहले यह समझ ले कि वे केवल विहार के भूखे हैं। विहार में थोड़ा-सा भी अंतराय उन्हें सहन नहीं होता। अतः न उन्हें खान-पान सुहाता है, न शृंगार। शिष्टाचार और आदर उन्हें प्रहार जैसे बुरे लगते हैं। उनकी ऐसी प्रकृति को पहचान कर ही सखी को महल की सेवा में प्रवृत्त होना चाहिये :

यों बोलियै न डोलियै टहल महल की पाइ।
श्री विहारीदास अँग संगनी कहत सषी समुझाइ॥१०५॥
स्वाँस समझि सुर बोलियै डोलि नैन की कोर।
मैनन चैन न पावहीं विहरैं जुगलकिशोर॥१०६॥
यह रस प्रान विवस भये तिनहिं न रुचै सिँगार।
भूष प्यास मैं चप नहीं आदर बड़ौ प्रहार॥१०७॥
बुरौ सिँगार विहार मैं भूषन दूषन जानि।
श्री विहारिनिदास सेवत सुषै मन कौ मरम पिछान॥१०८॥[2]

यह है स्वा० हरिदास जी के उपास्य दम्पती का स्वरूप। यह परम सुकुमार सम-वयस्क किशोर-किशोरी सदा विहार में लीन हैं, प्रेमातुर हैं, सुध-बुध भूले हुए हैं। न यह सृष्टि के निर्माण, स्थिति और प्रलय का भार लिये हैं और न दुष्टों के विनाश की ज़िम्मेदारी। न यह प्राणियों को उनके पूर्वकृत कर्मों का फल दे रहे हैं और न इन्हें याजकों के मंत्र और ऋचाएँ सुनने की फ़ुर्सत है। और तो और इन्हें भोजन और शृंगार का भी समय नहीं। अंगसंगिनी सहचरी (स्वा० हरिदास जी) ने यह निगूढ़ रहस्य महल की टहल में लगी सखियों (शिष्यों, उपासकों) को समझा दिया है।

इन दोनों में प्रधान कौन है, यह विचारणीय है। क्या दोनों समान कोटि से उपासनीय हैं? भक्त की भक्ति का आलंबन कौन है? रस-क्षेत्र में रति का आलम्बन कौन है?

१. स्वा० विहारिनिदास, रस के चौबोला।
२. स्वा० विहारिनिदास, रस के दोहा।

विहारी तथा विहारिणी के स्वरूप का पृथक्-पृथक् विवेचन करने पर ही इन प्रश्नों का उत्तर दिया जा सकता है।

नित्य-विहारिणी श्री राधा का स्वरूप

इस संप्रदाय की राधा वह राधा नहीं जो ब्रज में बरसाने में रहती हैं, न यह वही हैं जो कृष्ण के मुरली बजाने पर उनके साथ रास के हेतु वंशीवट के तट पर आईं। यह उनसे विलक्षण और ही राधा हैं जो निकुंज में नित्य विहार कर रही हैं और स्वा० हरिदास जी जिन्हें सहचरी रूप से दुलराते हैं। न इनका जन्म होता है, न इनकी आयु में परिवर्तन। ये सदा एकरस हो विहार में मग्न हैं :

एक राधा ब्रज में बसैं एक राधा रास विलास।
तीजी राधा कुंज में दुलरावैं हरिदास॥
राधा नाम विभाग करि समुझो रसिक सुजान।
जनम कर्म जाको नहीं इकरस वैस समान।
भावै तो राधा कहो भावै कुंजविहारिनि नाम।
नाम वस्तु अभेद है लीला भेद परिणाम॥[1]

श्री राधा सब सुख की सार हैं। अतुलित रूपगुणवती स्वामिनी के सम्मुख लाल सदा अधीन रहते हैं। सखियों के लिये तो उन्हें छोड़ दूसरा आश्रय ही नहीं :

सुष को सार समूह किशोरी।
रूपनिधान रंग को सागर परम विचित्र महा अति भोरी।
छिन-छिन लाल करत आधीनी सदाई प्रसन्न रहो तुम गोरी॥
श्री कुंजविहारिनि ललित लाड़िली तुम बिन और कहो मेरैं को री॥[2]

स्वयं लाल जिनकी कृपा चाहते हैं, उन लाड़िली जी की महिमा का क्या कहना। वे इनके रूप के सागर में डूबे हैं। इनके प्रेम-रस की भँवर में पड़े हैं :

विहारिनि संग निरंतर मेरैं।
जाकी कृपा लाल रहैं वंछित जीवत याही हेरैं॥
निकसि न सकत रूप सागर तैं परे प्रेम रस फेरैं।
ऐसी ललितकिशोरी प्रीतम कहा जगत के डेरैं॥[3]

श्री विहारी इनके प्रेम में इतने विवश हो रहे हैं कि इस शंका से भी डरते हैं कि कहीं लाड़िली कृपा करने में कभी कमी न कर दें, कहीं उनके प्रेम में भेद न आ जाय। वे बड़े विनीत होकर प्यारी से कहते हैं कि मैं इस प्रकार तुम्हारी कृपा से पोषित हो रहा हूँ जैसे जल से कमलिनी :

प्यारी जू एक बात को मोहिं डरु आवत है री
मति कबहूँ कुमया करि जांति।
पलु-पलु हित वंछतु हों री मति परै भांति॥

१. स्वा० ललितकिशोरीदेव, सिद्धान्त की साखी।
२. वही, रस के पद, २०।
३. वही, सिद्धान्त के पद, ३५।

यह सब ऐसें ही रहो री जिनि टरौ तेरी घांति ।
श्री हरिदास के स्वामी स्यामा कहत यों बाढों
ज्यौं पुरइनि जल की रीति तोही लौं सांति ।।[1]

लाल सदा लाड़िली का रुख देखते रहते हैं और लाड़िली कृपा कर उन्हें स्नेह से पोषित करती रहती हैं :

कूंजविहारिनि लाड़िली छिन-छिन पोषत भाव ।
लियें सुभाव सदा रहैं रसिकसिरोमनि राव ।।२८९।।

कूंजविहारिनि लाड़िली परम उदार कृपाल ।
पोषत तोषत लाल कौं रसिक सिरोमनि बाल ।।१५२।।[2]

परम सुकुमार किशोर याचक हैं और विहारिणि कृपा कर उन्हें रति का दान देती हैं । वे लालन को लाड़ लड़ाती हैं :

प्रिया पिय सौं मन बांटत नाटत नाउं निहोर निहारिन की ।
सुष सौं रतियां छवि सौं छतियां मधुरी बतियां मनुहारिनि की ।।
हौं तौ रस रीझि रही रस भींज विहारिनिदास तिहारिनि की ।
मेरी लाड़ली लाल लड़ावत हैं हौं बलि जाउँ विहारीविहारिनि की ।।१२०।।[3]

प्रीति की रीति लड़ैती ही जानती हैं । लाल सुकुमार हैं । प्रीति का सागर अथाह है । प्रीति को झेलना भी सहज काम नहीं । अत: लाल के स्वभाव, अवस्था और तत्कालीन परिस्थिति को देखते हुए प्रेम-रस का कितना पान कराना उचित होगा इस मात्रा का निर्धारण वे स्वयं ही करती हैं । एक ओर प्रेम न मिले तो लाल व्याकुल हो जाते हैं, दूसरी ओर इतने सुकुमार हैं कि अथाह रस सागर में डुबकी लगाते हैं तो अत्यन्त विह्वल हो जाते हैं । लेने के देने पड़ जाते हैं । अत: परम चतुर, विदग्ध प्रिया उन्हें समय-समय पर उचित परिमाण में ही रस-पान कराती हैं ।

सहचरी भी इन दोनों की प्रकृति से परिचित हैं । अत: सदा लाड़िली से प्रार्थना करती हैं कि आप लाल पर कृपा करें । वे आप के प्रेम के बिना एक क्षण भी नहीं रह सकते :

श्री हरिदास के लाड़िले नित कूंजविहारी ।
रंग केलि विहरत रहैं हित आनन्दकारी ।।
कृपा कीजिए लाल पै हे प्रानपियारी ।
दासि विहारिनि सुष लहै यह प्रीति तिहारी ।।५।।[4]

इस प्रकार श्री नित्यविहारिणि ही इस रस में प्रधान हैं, वे आलम्बन हैं और विहारी जी आश्रय :

भोगी स्याम भोग हैं प्यारो । पोषत प्राण लाल हितकारी ।
स्वामिनि सब सुष पूरण दानि । पिय की जीवन रसिक निधानि ।।[5]

१. स्वा० हरिदास, केलिमाल, ७८ ।
२. स्वा० ललितकिशोरीदेव, सिद्धान्त के दोहा ।
३. स्वा० विहारिणिदास, सिद्धान्त के सवैया ।
४. स्वा० ललितकिशोरीदेव, रस के पद ।
५. वही, रस की साखियों में, चौपाई ।

स्वयं कुंजविहारी भी सदा उनके ध्यान में मग्न रहते हैं। जिस समय क्षण भर के लिए भी उनका साहचर्य सुख नहीं पाते, वे अत्यन्त व्याकुल हो जाते हैं। जैसे ही फिर वे कृपा कर सामने आती हैं तो अत्यन्त हर्षित होते हैं। सदा प्रिया की मनुहार करते रहते हैं :

नील लाल गौर के ध्यान बैठे कुंजविहारी।
ज्यों-ज्यों सुख पावत नाहिं, त्यों-त्यों दुख भयौ भारी॥
अरबराऐं प्रगट भई जू सुख भयौ बहुत हियारी।
श्री हरिदास के स्वामी स्यामा कुंजविहारी करि मनुहारी॥२८॥[1]

स्वामी हरिदास जी ने तो यहाँ तक कहा है कि प्रिया की छाया के स्पर्श से ही, उनकी शरण में आने के कारण ही, विहारी जी में यह 'सुघराई' आयी है। जो कुछ उनमें गुण हैं, चतुराई है, सब लाड़िली का हाथ पकड़ने के कारण। यों तो वे सब से बड़े थे, परन्तु प्रिया जी के सामने उनका बड़प्पन कुछ नहीं। इसलिए वह सदा प्रीति-सहित लाड़िली के मुख की ओर निहारा करते हैं :

सुघर भये विहारी याही छांह ते।
जे जे गटी सुघर वर जानपने की ते ते याही बांह ते॥
हुते तौ बड़े अधिक सब ही ते पै इनकी कस न खटात याह ते।
श्री हरिदास के स्वामी श्यामा कुंजविहारी जकि रहे चाहते॥२४॥[2]

इस प्रकार स्वामिनी ही सब की उपास्य हैं। सब के ठाकुर हैं नित्यविहारी और उनकी ठाकुर हैं, ठकुरायन---श्री राधा। कुंजविहारी भी जिनके चरणों में गिर कर अपने जीवन को धन्य मानते हैं, वे स्वामिनी ही वास्तव में उपास्य हैं :

मान दान दै प्रानप्रिया पति रति जाचत परताप दुरायन।
निजु रस रीति प्रतीति प्रगट करि धन्य जन्म मानत पर पायन॥
कर कंकन दर्पन देखहु न श्री विहारीदास लहै मन भायन।
सब ठाकुर को ठाकुर हरि ता ठाकुर को ठाकुर ठकुरायन॥११६॥[3]

स्वा० विहारिणिदास जी का कथन है कि स्वा० हरिदास जी ने स्वयं निर्णय कर दिया है कि सब जनों से ही नहीं ब्रजराज से भी ऊपर कुंजविहारिनि रानी का स्थान है। रस की घनघोर घटा जब उमड़ कर बरसती है तो कूल-किनारे बह जाते हैं। उस रस की बाढ़ में एक लाड़ली ही सावधान रहती हैं। अत: वे ही सर्वोपरि हैं :

अम्बर संमर वासव सैं घुमड़ी घनघोर घटा वहरानी।
जद्यपि कूल करारनि ढाहत आनि बहै पुलुही तर पानी॥
श्री विहारिनिदास उपासत यौं निर्नै करि हरिदास बषानी।
सबै परजा वृजराज हू लौं सर्वोपर कुंजविहारिनि रानी॥११०॥[4]

इस प्रकार लाड़िली जी प्रधान उपास्य हैं। जिस निकुंज में युगल की क्रीड़ा चल रही है, उसे उन्हीं का महल कहा जाता है। स्वामी ललितकिशोरीदेव लिखते हैं :

१. स्वा० हरिदास, केलिमाल।
२. वही।
३. स्वा० विहारिणिदास, सवैया।
४. वही।

लड़ैती जू को महल महा सुखरासी ।
जिहि विधि चाहै प्रिया आपकौं तैसीयै केलि विलासी ।।
छिन छिन केलि नई-नई बरषत तन मन होत हुलासी ।
श्री ललितकिशोरी रंग बढ़ावत सदा सर्वदा पासी ।।९९।।[1]

कहीं भूल से भी कोई यह नहीं कहता कि यह महल विहारी जी का है। जो सखियाँ नित्य विहार में प्रवेश पाती हैं, महल की टहल का जिन्हें सौभाग्य मिला है, वे सभी स्वामिनी की ही सखियाँ कहलाती हैं। लाल की सखी एक भी नहीं है। इस प्रकार नवल लाड़िली श्री राधा ही भक्तों की उपास्य हैं। वही विहारी जी की रति की आलम्बन हैं। वे निकुंज-मंदिर की स्वामिनी हैं। नित्यविहार में सुख की दाता हैं तथा लाल एवं सखियों का स्नेह के रस से पोषण करने वाली हैं। स्वामी हरिदास जी से लेकर आज पर्यन्त सभी महानुभावों की वाणियों में यही तथ्य बार-बार प्रकट किया गया है। यों श्यामा-श्याम दोनों ही भक्तों के उपास्य हैं किन्तु रस के क्षेत्र में प्रधान उपास्य निकुंजविहारिणि श्री राधा ही हैं।

श्री कुंजविहारी का स्वरूप

रस के क्षेत्र में श्री कुंजविहारी आश्रय हैं। ये नित्य किशोर अजन्मा हैं। ये और श्री राधा एक प्राण और दो देह हैं। ये सदा निकुंज में लाड़िली के साथ विहार करते रहते हैं। इन्होंने किसी निमित्त से (भू-भार उतारने, दुष्टों को मारने या यशोदा माता को वात्सल्य-सुख देने के लिये) अवतार नहीं लिया हैं। ये तो नित्य हैं। निकुंज महल में सखियाँ इनकी सेवा करती हैं, क्योंकि ये लाड़िली के प्राणप्यारे हैं। ये परम सुकुमार हैं। प्रेम की उत्तेजना में यह बेसुध हो लटपटाने लगते हैं। तब लाड़िली इन्हें प्रीतिरस-पान करा तुष्ट करती हैं। विहार में एक क्षण का भी व्यवधान इन्हें व्याकुल कर देता है। प्रिया के सामने ये सदा याचक हैं, विनीत और अधीन हैं। इनकी इस प्रकृति को समझ जो रस भूमिका में इनका ध्यान करते हैं, वही इनके प्यारे जन हैं। जो इन्हें परमेश्वर समझते हैं, वे बड़ी भूल करते हैं। ये चतुर्भुज या षड्भुज नहीं हैं, ये ब्रजराज कृष्ण भी नहीं हैं। ये तो केवल दो भुजा वाले नित्यकिशोर कुंजविहारी हैं। रसिकों से सुन कर तथा गुरु के बताने पर ही यह रस-तत्त्व समझ में आता है :

जब रसिकन पै रस सुनि पायो । रसै समझि रसिकन मैं आयो ।।
रसं स्वादी रस स्वाद बतायो । स्वाद पाइ रस गाइ गवायो ।।१५।।
चतुर्भुज छभुज भए ब्रजभूप । कुंजविहारी दुभुज अनूप ।।
सेवत सेवक सुद्ध सरूप । ज्ञान ध्यान मानो मृगधूप ।।१६।।
यह आसंका कर धृक जीया । यह ठाकुर परमेश्वर कीया ।।
अद्भुत प्रकृति विनोदी बानो । कृत्य कहा कर तैं पहिचानो ।।१७।।[2]

इन परम सुकुमार ठाकुर का स्वरूप निरूपण करने में जो लोग इनका माहात्म्य दिखाने के लिये इन्हें परमेश्वर कहते हैं, वे भ्रम उत्पन्न कर रहे हैं। अनेक पंडित ग्रन्थों में

१. स्वा० ललितकिशोरीदेव, सिद्धान्त के पद।
२. स्वा० विहारिणिदास, रस के चौबोला।

लिख-लिख कर इनके सुकुमार रसमय स्वरूप में माहात्म्य का पुट मिला देते हैं। इन्हें परमेश्वर या सृष्टि का उत्पत्ति-स्थिति-लयकर्त्ता आदि कह देते हैं। वे सच्चे भक्त नहीं। वे अपने व्यवसाय के लिए ऐसा करते हैं :

कागद मसि लिष लीक लिवारी। बहु सतरत पंडित पटवारी॥
महात्तम मिश्रत ते रुजिगारी। जना जाति वंचित जंजारी॥१३॥[1]

जिसका जैसा भाव है वह उपास्य को वैसा ही देखता है। इस सम्प्रदाय के रसिकों के लिये तो मोहन अति मधुर कोमल वेश वाले हैं। अन्य जन, जो साधन-भक्ति के उपासक हैं, वे इस प्रकार ध्यान करते हैं कि ये ब्रज में उत्पन्न हुए थे। किसी को इनकी चीर-हरण, मुरली-वादन, या गोपियों के साथ रास की लीला अच्छी लगती है। किन्तु स्वा० हरिदास जी के घर के रसिकों के मत में तो यह विहारी विहारिणी के साथ वृन्दावन में सदा नित्य विहार कर रहे हैं :

जिहि जैसा तिहि तैसा देखा। रसिकन कौं मोहन मृदु वेषा॥
विधि-निषेद तजि भक्ति कर निदरि। दुविधा गयें हियें आवें हरि॥२०॥
इक मन साधन कर वृज जाई। इक चित चीर हरन सुषदाई॥
मुरली रव रस रसिक रमाई। ते वनिता सत जूथ कहाई॥२१॥
श्री वृन्दावन निधि सब सुषदाई। निरषत केलि रसिक मन भाई॥
श्री विहारी विहारिनिदास लड़ाई। श्री विहारी विहारिनि की बलि जाई॥२२॥[2]

इस सबका अर्थ यह नहीं कि इस सम्प्रदाय में कुंजविहारी को परमेश्वर से छोटा माना जाता है या श्री राम, कृष्ण या अन्य किसी अवतार से किसी प्रकार से न्यून। इनके मत में वे लक्ष्मीपति और ब्रजराज से भी बड़े हैं। ईश्वर के भी ईश्वर हैं। और सब तो अवतार हैं, किन्तु ये तो स्वयं अवतारी हैं :

(अ) *इच्छा विग्रह धर लीला वपु सब अवतारन पर अवतारी।*
लक्ष्मीपति बृजपति कौं दुरलभ इनतें कौन बड़ो अधिकारी॥
नित्यकिशोर निरंतर विहरत सेवत श्री हरिदास दुलारी।
ऐंड़े ऐंड़ायल अरुण कमल बाँके विरदनि विदित विहारी॥[3]

(आ) *सकल ईश के ईश हैं अंश कला अवतार।*
श्री कुंजविहारी मुकुट मणि अवतारी भरतार॥[4]

शंका की जा सकती है कि एक ओर तो इन कुंजविहारी को अवतारी कहा गया और दूसरी ओर उन्हें परमेश्वर या कृष्ण मानना भी सह्य नहीं। अतः ये दोनों बातें परस्पर विरोधी ज्ञात होती हैं, किन्तु वास्तव में इन दोनों कथनों में विरोध नहीं है। रसिकों की दृष्टि में कुंजविहारी सब से बड़े, परमेश्वर से भी बड़े तो हैं ही, किन्तु वे उसके गुण-कर्म से भी परे हैं। वे न तो सृष्टि के स्थिति-लय आदि के पचड़े में पड़ते हैं, न प्रभुता धारण कर कर्मों का फल देते या जनों की फ़रियाद सुनते हैं। वे स्वयं अवतारी हैं। अतः अन्य

१. स्वा० विहारिणिदास, रस के चौबोला।
२. वही।
३. स्वा० विहारिणिदास, सवैया, १२-६।
४. स्वा० ललितकिशोरीदेव, सिद्धान्त की साखी।

अंशकलावतारों की भाँति जन्म-मरण, दुष्ट-दमन, आर्त्त-त्राण आदि के बंधन में नहीं आते। ये सब कर्म उन्होंने परमेश्वर या अवतारों के लिए छोड़ रखे हैं। वे स्वयं तो अति सुकुमार हैं, सदा विहार में रत हैं। अपने को ठाकुर भी नहीं समझते। निकुंज में लाड़िली की जूठन पाने को ललचाते हैं। सखियों से अनुनय करते हैं कि श्री लाड़िली के साथ विहार का अवसर मुझे प्रदान करती रहो। विहार ही उनका आहार है। ठकुराई उन्हें अच्छी नहीं लगती। वैभव या प्रताप भी उन्हें नहीं सुहाता, यदि कोई उनसे 'ठाकुर' कह कर बोल उठता है, तो संकोच से दब जाते हैं :

अति टौंड़क अति चिकनियाँ अधिक चतुर इतराइ।
कितै विभौ कित ठकुरई जूठन कौं ललचाइ ॥१४०॥
जाँचै जूठन पाइयै पाँ पर हा हा षाइ।
जो ठाकुर कहि बोलियै सकुच तनक ह्वै जाइ ॥१४१॥
ताहि सुहाइ न ठकुरई बड़ प्रताप विस्तार।
जाँचत दै दिन जीवका सषी मोहि अहार विहार ॥१४२॥
प्रान पलित पाँइन परै परसैं होत निहाल।
यहै दसा सेवत सषी दूलह दुलहिनि लाल ॥१४३॥[1]

ऐसा है स्वा० हरिदास के नित्यनिकुंजविहारी का स्वरूप। जो उपासक उनकी प्रकृति को पहचान कर सेवा करते हैं, वे ही उनकी पूर्ण कृपा प्राप्त करते हैं।

सहचरी (स्वा० हरिदास) का स्वरूप और उसका कर्म

स्वा० हरिदास जी ने अपने शृंगार के पदों (केलिमाल) में ऐसे अनेक संकेत दिये हैं जिनसे उनकी रस की उपासना की पद्धति का पता चलता है। वे किस प्रकार सहचरी के रूप में प्रिया-प्रियतम को विहार कराते हैं, लाल और लाड़िली के वे कैसे अन्तरंग हैं, किस प्रकार उन्हें सुखी कर स्वयं सुखी होते हैं, यह सूत्ररूप में, किन्तु स्पष्ट शब्दों में उनके पदों में कह दिया गया है। वे नित्यविहारी-विहारिणि के निकुंजविहार को हर समय एकचित्त हो देखते रहना चाहते हैं, और मानते हैं कि इसी में जन्म का साफल्य है :

ऐसैं ही देखत रहौं जनम सुफल करि मानौं।
प्यारे की भाँवती भाँवती के प्यारे जुगलकिसोरैं जानौं ॥
छिनु न टरौं पलु होउँ न इत-उत रहौं एकहि तानौ।
श्री हरिदास के स्वामी स्यामा कुंजविहारी मन रानौ ॥३॥[2]

वे निरन्तर लाड़िलीलाल का परस्पर हंसना-खेलना, बोलना, मिलना, परस्पर ताम्बूल खिलाना देख नेत्रों को सुखी करते हैं। स्वयं मधुर स्वर से उनके सामने गाते हैं और प्रिया-प्रियतम को 'सुरत' कराते हैं। यही उनकी मानसी उपासना का क्रम है। यही निकुंजविहार में उनकी स्थिति है :

हँसत खेलत बोलत मिलत देखौं मेरी आँखिन सुख।
बीरी परसपर लेत खवावत ज्यों दामिनि घन चमचमात शोभा बहु भाँतिन सुख।

१. स्वा० विहारिणिदास, रस के दोहा।
२. स्वा० हरिदास, केलिमाल।

श्रुति घुरि राग केदारौ जम्यौ अधरात निसा रोरौं सुख,
श्री हरिदास के स्वामी स्यामा कुंजविहारी कौं,
गावत सुरत देत मोर भयौ परम सुख ॥३२॥[1]

लाल और लाड़िली दोनों विहार के बिना एक क्षण भी नहीं रह सकते। किन्तु लाड़िली मानिनी हैं, गर्वीली हैं। अतः कभी यदि विहार में क्षण भर का भी व्यवधान आ जाता है तो दोनों की प्रकृति को समझने वाली सहचरी (हरिदासी) लाड़िली को बुलाने जाती हैं और उन्हें मना कर लाती हैं। इस प्रकार वे विहार के क्रम को टूटने नहीं देतीं :

चलियै छबीली छबीलौ बोलत।
आजु की बानक पर ज्ञनु टूटत है कही न जाय कछू स्याम तोहि रति।
सखी लै चली मनाइ ज्यौं हित की आहि घत।
श्री हरिदास के स्वामी स्यामा बीच ही आइ मिले,
तिनको सुवास सकल भ्रँवर मत ॥६९॥[2]

सहचरी स्वामिनी को लाल की ओर से प्रसन्न करने की चेष्टा करती है। लाड़िली भी जानती हैं कि यह मेरी हितैषिणी है। सहचरी को भी अपने ऊपर प्रिया के विश्वास का बल है। अतः वह जोर देकर उन्हें याचक कुंजविहारी को रसदान देने के लिए मनाती हैं :

जो कछू कहत लाड़िलौ लाड़ली जू सुनियै कान दै।
जो जिय उपजत तिहारे हित की कहत आन दै॥
जो मोइ पत्याइ तौ छाती टकटोरि देखौ पान दै।
श्री हरिदास के स्वामी स्यामा कुंजविहारी जाचकै दान दै॥[3]

इस प्रकार अनेक बार सहचरी लाड़िली को मनाने में और इस प्रकार विहार का अनवरत क्रम अटूट रख कर प्रिया-प्रियतम को सुख पहुँचाने में सफल होती है। सहचरी की विहार में इतनी महत्त्वपूर्ण स्थिति बन गई है कि विहार उसी के बल से चलता है :

प्यारी अब क्योंहू क्योंहू आई है।
तुम इत बहुत श्रमित मनमोहन मैं क्योंहू समुझाई है।
उत हठ करत बहुत नव नागरि तैसोयै नई ठकुराई है।
श्री हरिदास के स्वामी स्यामा कुंजविहारी कर जोर।
मोन ह्वै दूबरे की रांधी खीर कहो कौनैं खाई है ॥५१॥[4]

लाल भी जानते हैं कि लाड़िली को अपनी सखी हरिदासी पर अटूट विश्वास है। अतः वे भी जब आवश्यकता पड़ती है तो हरिदासी की ही दुहाई देते हैं :

राधा रसिक कुंजविहारी कहत जू हौं,
न कहूँ गयो सुनि सुनि राधे तेरी सौं॥

१. स्वा० हरिदास, केलिमाल।
२. वही।
३. वही।
४. वही।

मोहि न पत्याहु तौ संग हरिदासी हुती ।
पूछि देखि भटू कहि धौं कहा भयौ मेरी सौं ।।
प्यारी तोहि गठोंदन प्रतीति छाँड़ि,
छीया जानि दै इतनीव एरी सौं ।
गहि लटपटाइ रहे दोऊ छैल छाती सौं ।
छाती लगाय फेरा फेरी सौं ।।२५।।[1]

हरिदासी जू की स्वामिनी भी अपनी सहचरी के इन गुणों की भूरि-भूरि प्रशंसा करती हैं। वे जब सखी से मन की बात कहने बैठती हैं तो स्पष्ट कह देती हैं कि तेरे गुणों का वर्णन मैं नहीं कर सकती। मैं अकेली भला क्या तेरे गुण वर्णन करूँगी ? यदि सूर्य, चन्द्र और अनेक अन्य युवतियाँ भी उन गुणों को कहना चाहें तो पार न पायें। मेरे प्राणों का आहार है प्रेम-रस और तू ही उसे निरन्तर पिला कर इनकी रक्षा कर रही है :

रोंम रोंम जो रसना होती तौऊ तेरे गुन न बखाने जात ।
कहा कहौं एक जीव सखी री बात की बात बात ।।
भान श्रमित और शशि हू श्रमित भइ और जुवति जात ।
श्री हरिदास के स्वामी स्यामा कहत री प्यारी तू राखत प्रान जात ।।४०।।[2]

स्वामी हरिदास जी ने इस प्रकार अन्तरंग सहचरी रूप से प्रिया-प्रियतम को लड़ाया। उनके द्वारा वर्णित सहचरी का स्वरूप ऐसा था जिसमें लाड़िली के साथ अत्यन्त आत्मीयता थी। सहचरी लाड़िली और उनके 'मनभावते' लाल की प्रकृति को ऐसा पहचानती हैं, जैसा वे स्वयं भी नहीं जानते। स्वामी जी की शिष्य-परम्परा ने उनके इस सहचरी रूप को और भी अधिक प्रस्फुटित और पल्लवित कर अपनी उपासना में स्थान दिया। उन्होंने सहचरी (स्वा० हरिदास जी) को लाड़िलीलाल के समान ही उपास्य की कोटि में रखा। उन्हें अनेक स्थानों पर प्रेमसहेली, सखी, अंगसंगिनी, सहचरी या हरिदासी इन नामों से पुकारा गया है। नित्यविहार के निकुंजमहल में सहचरी की सर्वोच्च सत्ता है। अन्य उपासक 'सखी' हैं। सखियों को महल की टहल का अवसर, निकुंज में प्रवेश, नित्यविहार के देखने का नयनसुख तभी मिलता है जब सहचरी की कृपा हो। जैसे सखियों को सहचरी प्यारी हैं, वैसे ही सहचरी को अपनी अनुगत ये सखियाँ। सभी वाणीकारों ने 'नित्यविहार' के रहस्य की प्राप्ति स्वा० हरिदास जी तथा अपने गुरु के द्वारा बताई है। मानसी ध्यान करते समय प्रत्येक उपासक अपनी समस्त गुरु-परम्परा, जिसके शीर्ष पर स्वामी हरिदास हैं, का स्मरण करता है। सहचरी श्री हरिदासी उपासक सखी की प्राणजीवन हैं :

श्री हरिदासि सहज मेरी जीवनि ।
अति उन्मत्त महासुषरासी कुंज केलि रस पीवनि ।
हरषि-हरषि अनुरागहि वरषत अवधि प्रेम की सीवनि ।
दास विहारिनि प्रान छबीलो जैसे पन्नग की मनि ।।८१।।[3]

१. स्वा० हरिदास, केलिमाल ।
२. वही ।
३. स्वा० ललितकिशोरीदेव, सिद्धांत के पद ।

श्री कुंजविहारी सहचरी के लाड़िले हैं। सहचरी स्वामिनी से सदा लाल पर कृपा करने की प्रार्थना करती रहती हैं :

श्री हरिदासि के लाड़िले नित कुंजविहारी।
रंग केलि विहरत रहैं हित आनंदकारी॥
कृपा कीजिए लाल पै हे प्रानपियारी।
दासविहारिनि सुष लहै यह प्रीति तिहारी॥५॥[1]

श्री हरिदासी प्रिया-प्रियतम के सुख में ही सुखी हैं। वे विहार के लिए सदा व्याकुल, आतुर, रसिकनिधान युगल के प्राणों की इस प्रकार यत्न से रक्षा करती हैं, जैसे तंबोली पानों को उलट-पलट कर उन्हें बचाए रहता है :

प्राणन को पलटत सखी ज्यों चोली के पान।
व्याकुल विकल विहार बिन आतुर रसिक निधान॥८५६॥[2]

प्रिया-प्रियतम सहचरी के सहारे ही केलि कर पाते हैं। उपासक मानसी ध्यान में यह भावना करता है कि दोनों अति सुकुमार प्रिया-प्रियतम श्री हरिदासी के अंक में सुख-पूर्वक शयन करते और सुरत सुख लेते हैं :

लाड़ै श्री श्यामाश्याम सैन पौढे सहचरि अंक ऐंन।
अंग-अंग कसैं मुष लसैं ललित हँसैं निरष-निरष नेह नैंन॥
उपजत मौज मनोज मत्तमन मधुर-मधुर बोलत मृदु बैंन।
श्री नागरीदास नवरंग विहारी विहारनि सुरत सुष दैंन॥४३॥[3]

श्री हरिदासी कामकेलि के रस से श्यामाश्याम को लड़ाती हैं, अतः प्रिया-प्रियतम के प्राणों का आधार हरिदासी ही हैं :

गौर श्याम के प्राण श्री हरिदासी में बसैं।
अति जाननि में जान काम केलि रस लाड़हीं॥३७१॥[4]

जैसे खेल खिलाड़ी के वश में रहता है, वैसे ही सहचरी के वश में प्रिया-प्रियतम हैं। उनका निरवधि नित्यविहार सहचरी के चलाये ही चलता रहता है :

खिलारी श्री हरिदास हैं खेल लाड़िलीलाल।
राखत अद्भुत रंग में जानि महा निज हाल॥७७३॥
खेल खिलारी वश रहैं ऐसैं युगलकिशोर।
श्री हरिदासी लाड़ सौं नहिं जानैं निशिभोर॥८४१॥[5]

विहार के तरंगायित इस सागर में लाड़िली-लाल सहचरी की बाँह के सहारे ही तैर पाते हैं। सहचरी ही उन्हें श्रमित जान उनका श्रम निवारण करती है। कभी बाँह का सहारा देती, कभी तीर पर ले आती है। जब प्रेम-विवश युगल अधीर हो जाते हैं, तब वही उन्हें धीरज धराती है :

१. स्वा० ललितकिशोरीदेव, रस के पद।
२. वही, सिद्धान्त की साखी।
३. स्वा० नागरीदास, रस के पद।
४. स्वा० ललितकिशोरीदेव (सिद्धान्त की साखी में), सोरठा।
५. वही, सिद्धांत की साखी।

तरुन तरंगिनि मैं परे उरझे वार सिवार ।
पैरहिं साहस सषी के अति आवर्त्त विहार ॥१२९॥
श्रमहिं निवारत कर धरत कबहूँ लावत तीर ।
श्री विहारिनिदासि हुलास मन देत अधीरन धीर ॥१३०॥[1]

इस प्रकार नित्यविहार पूर्ण रीति से सहचरी श्री हरिदासी के अधीन है। स्वयं लाड़िलीलाल भी उनकी कृपा के बिना यथेच्छ रसकेलि नहीं कर सकते। इसीलिए स्वामी विहारिणिदेव जी ने कहा है कि स्वामी जी वृक्ष के मूल के समान हैं और समवयस् वाले दोनों विहारी-विहारिणी वृक्ष के दो स्कंधों के समान। अतः सखियाँ स्वामी जी को प्रधान जानकर ही समयानुसार सेवा करती हैं :

एक मूल स्थूल लौं द्वै स्कंध समवैस ।
सेवत सषी सघन सबै जान समौ जो जैस ॥११३॥[2]

अतः उपासक उन्हें प्रिया-प्रियतम के साथ एक ही कोटि में रखते हैं। स्वामी विहारिणिदास जी कहते हैं कि प्रिया, प्रियतम और स्वामी हरिदास तीनों भिन्न होते हुए भी एक हैं। जैसे छिलके के अन्दर तीन चने हों, ऐसे ही ये तीनों भी निकुंजमंदिर में समान रूप से स्थित हैं :

तीन चना इक छोलका ऐसैं अर्थ विचार ।
श्री विहारी विहारिनिदासि उर अंचल बीच विहार ॥११५॥[3]

तीनों ही विहार के सुख के भोक्ता हैं। युगल तन से सुख भोगते हैं तो स्वामी जी मन से। गौर-श्याम रति-सुख से सुखी होते हैं, तो स्वामी जी उनके सुख से सुखी होते हैं। इनका यह 'तत्सुख' भी श्यामाश्याम के 'तत्सुख' का विलास है :

कहिवे कौं तौ तीन हैं सुख मिल विलसें एक ।
तनु मन विलसें दोइ मिल मनकरि विलसें एक ॥९०३॥
ततसुख विलसें मनमई सो सुख तनहि विलास ।
गौर-श्याम तनु सुख सुखी ततसुख श्री हरिदास ॥९०४॥[4]

उपासक तो यह भी कल्पना करता है मानो स्वामी हरिदास जी के लिए ही यह नित्यविहार हो रहा है :

रसमत्त विहारिनि प्यारी है ।
नैकु लषैं वस भए विहारी अद्भुत रूप उज्यारी है ।
उमग्यौ रंग सरोवर हिय तैं मृदु मुसकनि कछु न्यारी है ।
श्री हरिदासी के हित विहरत जीवन प्रान हमारी है ॥४१॥[5]

स्वामी विहारिणिदास जी ने बार-बार कहा है कि इस नित्यविहार के प्रकट करने

१. स्वा० विहारिणिदास, सिद्धांत के दोहा।
२. वही।
३. वही।
४. स्वा० ललितकिशोरीदेव, सिद्धान्त की साखी।
५. वही, रस के पद।

वाले स्वामी हरिदास जी हैं। वे प्रकट न होते तो अनन्य रीति से इष्ट की उपासना का मार्ग कौन बताता ? विहार के उपासकों के वंश की स्थापना कौन करता :

राख्यौ वंश विहार को भू प्रगटे श्री हरिदास ।
इन बिनु को उपदेसतौ इष्ट अनन्य उपास ॥२७॥[1]

वे कहते हैं कि स्वामी हरिदास जी से पहले यह नित्यविहार-रूप सूक्ष्म धर्म महल में छुपा था। चारों ओर अधर्म का राज्य था। अर्थात् नित्यविहार रस के अतिरिक्त अन्य अनेक रस, अनेक प्रकार की साधन भक्ति आदि चारों ओर फैली थीं। लोग इस महामधुर रस-सार नित्यविहार को जानते ही न थे। जब यह धर्म स्वयं बाहर आने को अकुला उठा तब स्वामी हरिदास जी ने इसे प्रकट किया :

सूक्षम धर्म दुर्‌यौ महल रहे अधर्मी छाइ ।
श्री विहारिनिदास प्रगट कियौ जब उठ्‌यौ धर्म अकुलाइ ॥१४८॥[2]

जैसे गाय के रोम-रोम में दूध है, परन्तु थन से ही दूध मिलता है। इसी प्रकार सारे संसार में भक्ति छाई हुई है, किन्तु नित्यविहार की प्राप्ति स्वामी हरिदास जी की बताई हुई पद्धति बिना नहीं होती :

रोम रोम पय सुरभि कै यौं भक्ति भर्‌यौ संसार ।
बिन थन दूध न पाइयै यौं बिन श्री हरिदास विहार ॥५१७॥
कुंजी नित्य विहार की श्री हरिदासी हाथ ।
सेवत साधक सिद्ध सब जाचत नावत माथ ॥५२१॥[3]

साधक को नित्यविहार की प्राप्ति सहचरी श्री हरिदासी की कृपा बिना नहीं हो सकती :

सब आवेसन मैं यहै श्यामाश्याम आवेश ।
श्री विहारीदास हरिदास की कृपा होइ लवलेश ॥५९६॥[4]

इनकी शरण में जो आते हैं उन्हें कुंजविहारिणी अपने जन जानकर निकट बैठाती हैं। वे आनन्दित हो नित्यविहार का दर्शन करते हैं। जब स्वामी जी की कृपा होती है तभी कुंजमहल में प्रवेश मिलता है और विहारिणीजू की भी कृपा प्राप्त होती है :

श्री हरिदास चरन जे आये ।
श्री कुंजविहारिनि ललित लाड़िली अपने जानि निकट बैठाये ॥
कुंज केलि निरषैं निसिवासर अति आनंद हिये मैं छाये ।
दास विहारिनि सब सुषरासी प्रानप्रिये हँसि कंठ लगाये ॥२७॥[5]

इसी से इस सम्प्रदाय के रसिकों ने स्वामी हरिदास जी को प्रिया-प्रियतम के समान ही नहीं, उनसे भी बढ़कर उपास्य माना है। वे कहते हैं कि स्वामी हरिदास जी का भजन

१. स्वा० विहारिणिदास (सिद्धांत के सवैयों में), कुंडलियाँ ।
२. वही, सिद्धांत के दोहा।
३. वही ।
४. वही ।
५. स्वा० ललितकिशोरीदेव, सिद्धान्त के पद ।

करने से ही नित्यविहार की प्राप्ति होती है और प्रिया-प्रियतम की प्रीति मिलती है। उन्होंने यहाँ तक कह दिया है कि लाख बार 'हरि-हरि' जपने से लाड़िली उतनी प्रसन्न नहीं होतीं, जितनी एक बार 'हरिदास' नाम उच्चारण करने से प्रसन्न होती हैं। जो हरिदास जी का भजन करते हैं, उन्हें वे स्वयं वृन्दावन का वास प्रदान करती हैं :

श्री स्वामी हरिदास भजे भली भली सब होइ।
नित्यविहारै पाइहै परमप्रीति निजु सोइ ॥२१॥
लाष बार हरि हरि कहै एक बार हरिदास।
अति प्रसन्न श्री लाड़िली सदा विपुन को वास ॥३११॥[1]

रसभूमि वृन्दावन

सुनहु रसिक श्री वृन्दावन को जस।
कूंज केलि मानिनो मनोहर परवस भए नाहिं अपनें वस ॥
यह वन नित्य नवीन जुगल वर द्रुम दल दिव्य श्रवत सलिता लस।
श्री वीठल विपुल विनोद विहारी को पान कियो चाहत रसना रस[2] *॥१२॥*

रसमय भूमि वृन्दावन, जहाँ प्रिया-प्रियतम निरन्तर नित्य नवीन विहार कर रहे हैं, उपासक के लिए युगल एवं सहचरी के समान ही उपास्य है। प्रिया-प्रियतम का निजधाम यह वृन्दावन कहीं आकाश में या उपासकों के मानस में ही स्थित नहीं है। यहीं, इसी भूमि पर है। जो वृन्दावन आँखों से दिखाई देता है, वही रसिकों का उपास्य है :

वन राज हमारे प्यारे हैं।
नित्य सदा भूतल पर राजत महा प्रेमरस भारे हैं।
जो कछु रुचै करैं ए सोई तन मन अति हितकारे हैं।
श्री कुंजविहारिनि की निजु जीवन छिन हू होत न न्यारे हैं ॥२४॥[3]

लाड़िलीलाल की केलि के सहायक, सखियों के प्यारे, यह वनराज जड़ नहीं, जंगम हैं। युगल को जो कुछ 'रुचता है', ये वही करते हैं। ये सदा प्रिया-प्रियतम के विहार में उनकी सेवा में उपस्थित हैं। रसिक साधक अपने मानसी ध्यान में इस भूमि को दिव्य रूप में देखते हैं। उन्हें यहाँ की भूमि मणिमय दिखाई देती है और यहाँ बहने वाली यमुना में तो मानो सुख बहता है :

अवनी रची श्याम सुधा व सषी जु बही सलिता सुष पुंजन की।
मृदु मणिभूमि लता रही झूंम सु केलिकला सुष दुंजन की।
सित नील अरुन सुमीत प्रसून कहाँ लौं कहौं अलि गुंजन की।
श्री विहारीविहारिनिदास कहै चित तैं न टरै छवि कुंजन की[4] *॥११३॥*

यहाँ नीम, इमली, अररू, रैंमजा, पापरी, अरनी, छोंकर और करील के सुन्दर वृक्ष एक-दूसरे से प्रेम से गले मिले खड़े हैं। माधुरी आदि लताएँ उनमें लिपटी हुई हैं। इन

१. स्वा० ललितकिशोरीदेव, सिद्धान्त की साखी।
२. स्वा० वीठलविपुल जी, रस के पद।
३. स्वा० ललितकिशोरीदेव, सिद्धांत के पद।
४. स्वा० विहारिणिदास, सवैया।

वृक्षों और लताओं में से प्रत्येक उपासक के लिए अत्यन्त प्रिय और इष्ट है :

सुन्दर अंग सजाति सब वृन्दाविपिन समीति।
नींवहि लपटी माधुरी श्री विहारिनिदास प्रतीति ॥४९८॥
अमिली सौं अररू मिल्यौ रँभज राषै पीठ।
प्रेमै पोषै पापरी अरनी मेरी ईठ ॥४९९॥
छौंकर की छैयां भली कोमल कुंज करील।
अरुन हरित दल फल भरे ढरै मिलै मन मील ॥५००॥[1]

यहाँ के सुन्दर पक्षी भी विहार में सहायक हैं। मोरों के साथ श्याम नृत्य करते हैं। कोकिला आलाप लेती हैं, पपीहा सुर देता है। मेघ और दामिनी भी विहार की 'टहल' में लगे हैं :

नाचत मोरनि संग स्याम मुदित स्यामाहि रिझावत।
तैसीऐ कोकिला अलापत पपीहा देत सुर,
तैसोई मेघ गरजि मृदंग बजावत॥
तैसीऐ स्याम घटा निसिकारी
तैसीऐ दामिनी कौंधि दीप दिखावत।
श्री हरिदास के स्वामी स्यामा कुंजविहारी,
रीझि राधे हँसि कंठ लगावत ॥९६॥[2]

वृन्दावन में सभी ऋतुएँ बड़ी सुहावनी होती हैं, जिनमें वर्षा की शोभा का तो क्या कहना। स्वामी हरिदास जी चाहते हैं कि यह ऋतु सदा ऐसे ही रहे :

ऐसी रितु सदा सर्वदा जो रहै बोलति मोरनि।
नीके बादर नीकी धनुष चहूँ दिशि
नीकौ श्री वृन्दावन आछी नीकी मेघन की रोरनि॥
आछी नीकी भूमि हरी हरी
आछी नीकी बूढ़नि की रँगनि काम की घोरनि।
श्री हरिदास के स्वामी स्यामा के मिल गावत,
जम्यौ राग मलार किशोर किशोरनि ॥८९॥[3]

वास्तव में वर्षा है भी वृन्दावन की सब से सुन्दर ऋतु। स्वामी बीठलविपुल जी भी वर्षा की शोभा का वर्णन करते हैं :

जमुना तट स्याम घटान की पाँति।
हरित भूमि वन हरित शिषंडी बोलत अति रसमाँति॥
सुरँग चूनरी की छबि दुलहिनि अभरन नाना भाँति।
श्री बीठलविपुल विहारी सौं मिल नित विलसत किलकाँति ॥२६॥[4]

१. स्वा० विहारिणिदास, सिद्धांत के दोहा।
२. स्वा० हरिदास, केलिमाल,।
३. वही।
४. स्वा० बीठलविपुल, रस के पद।

यों तो प्रत्येक ऋतु ही सुन्दर है। वसंत, शरद्, शिशिर सबका विलक्षण नित्य नया सौंदर्य है। प्रत्येक ऋतु प्रिया-प्रियतम को नित्यविहार के नये अवसर प्रदान करती है। कभी वे वर्षा में कुंजों के तले आँचल की ओट में भीगते हुए रस लूटते हैं, मोरों के साथ नाचते हैं, कभी शरद् में स्वच्छ चाँदनी में सुख पाते हैं। कभी डोल झूलने का समय है, तो कभी फाग का। इसी प्रकार श्री वृन्दावन समय-समय पर नये-नये रूप बदलते हुए प्रिया-प्रियतम के विहार में सहायता करते हैं। इसीलिए रसिक श्री वृन्दावन की उपासना करते हैं और यहाँ से एक पल के लिए भी अलग होना नहीं चाहते :

सहज सनेही स्याम के वन वस अनत न जाहिं।
जे राचे सब देश सौं जहाँ तहाँ ललचाहिं ॥२९४॥[1]

अन्य स्थानों में तो क्या तीर्थों में जाना भी रसिकों को ग्राह्य नहीं। उन्होंने रसिकों के प्रिय रस-क्षेत्र वृन्दावन को छोड़ कुरुक्षेत्र जैसे तीर्थ में स्नान के लिए जाना भी अधम कार्य माना है :

साधन आन कोटि तप तीरथ कहा भयौ भजन उदै बिनु भान।
पंडित पढ़ पढ़ाइ सब बूड़े ज्यौं भड़िहा भटकत निसि स्वान ॥
श्री विहारिनिदास बिन बनिक बनजई फूलत कृपन ग्रहन दै दान।
रसिकन को रस हेत खेत तजि कूर गये कुरखेत अन्हान ॥६२॥[2]

कोई तीर्थ, कोई धाम वृन्दावन की समता नहीं कर सकता। संसार के सब तीर्थों से तथा वैकुंठ से भी श्रेष्ठ है मथुरा, जहाँ श्री कृष्ण ने जन्म लिया। उससे अधिक महत्त्व है ब्रज का, जहाँ नंद-नंदन ने यशोदा मैया को वात्सल्य-सुख दिया, गोपों को सख्य रस से तुष्ट किया तथा गोपियों को दधि-दान आदि लीलाओं एवं अनेक प्रकार के संयोग-वियोग की लीलाओं के रस में निमज्जित किया। किन्तु रसिकों के लिए तो वृन्दावन की वह कुंजें ही सेवनीय हैं, जहाँ राधारमण नित्य विहार करते हैं। और स्थलों में थोड़ा-बहुत रस रहता है किन्तु वृन्दावन तो रस की खान है :

तीरथ सकल लोक वैकुंठतैं मधुपुरी अधिक संदेह नसानौं।
तातैं अधिक निकट ब्रज वैभव ब्रह्मा वेदन प्रगट प्रमानौं ॥
श्री विहारिनिदास निकुंजन सेवत जामैं राधारमन रमानौ।
विद्यमान हरि मंदिर राजत श्री वृन्दाबन रसषान षदानौ ॥६०॥[3]

इस लोक में वही धन्य है, वही भाग्यशाली है, जिसे वृन्दावन का वास मिला है। जब तक इस रज का सेवन प्राप्त न हो, जीव को जन्म-जन्मान्तर में भटकना पड़ता है। वृन्दावन में उपासक ने पैर रखा कि मानो अपने परिवार में आ मिला। यहाँ निकुंज की टहल में लगी सखियाँ हैं। उनके समाज में आते ही शोक-संताप दूर हो गये। लाड़िली और लाल की कृपा प्राप्त हुई। रसिकों के लिए श्री वृन्दावन ही एकमात्र गति है :

भाग बड़ो वृन्दावन पायो।
जा रज कौं सुर नर मुनि वंछति विधि शंकर सिर नायो ॥

१. स्वा० विहारिणिदास, सिद्धांत के दोहा।
२. वही, सवैया।
३. वही।

बहुतक दिन या रज बिन बीते जन्म-जन्म डहकायो ।
सो रज अब किरपा कर दीनी अभय निसान बजायो ।।
आय मिलो परिवार आपनों हरि हँसि कंठ लगायो ।
स्यामास्याम जु विहरत दोऊ सषी समाज मिलायो ।।
सोक संताप करौ मति कोई दाउ भलो बनि आयो ।
श्री रसिक विहारी की गति पाई धन-धन लोक कहायो ।।१।।[1]

सखी (उपासक) का स्वरूप और कार्य

गुरु शिष्य को भली भाँति परख कर, अधिकारी होने पर ही, उसे निकुंज में प्रिया-प्रियतम की अंग-सेवा का अवसर प्रदान करते हैं। निकुंज में उपासक सखी-रूप से ही प्रवेश कर सकता है। और सखी-रूप तभी संभव होता है जब मन से 'मैं पुरुष हूँ' ऐसी भावना भी निकाल दी जाय। पुरुष-भाव छोड़ने के लिए आवश्यक है कि मन से स्त्रीसंग की इच्छा को पूर्ण रीति से हटा दिया जाय। तब स्वयं को लाड़िली जी की सखी मान विहारी जी से प्रीति करने पर निकुंज-महल की खवासी और नित्यविहार के दर्शन का सुख मिलता है :

उलट लगै मन स्याम सौं प्रिया भाव ह्वै जाइ ।
सषी भाव तब जानियै पुरस भाव मिट जाइ ।।१३।।
पुरस भाव छूटौ नहीं मन में बसि रही जोइ ।
सषी भाव तब जानियै निर्विकार तन होइ ।।१४।।[2]

सखी भाव प्राप्त होने पर उपासक लाड़िली जी से भी प्रीति करता है और विहारी जी से भी। किन्तु सखी के मन में विहारी जी के प्रति भोगेच्छा नहीं होती। शरीर के सुख की आकांक्षिणी केवल प्रिया जी ही हैं। सखी की वृत्ति तत्सुखी की है। प्रियालाल को विहार में सुखी देख स्वयं सुखी होना ही सखी का प्राप्य है। सखी लाड़िली से पूछती है :

मो मन मोहै साँवरो मेरैं नहीं विकार ।
हौं तोहि पूछौं लाड़िली ताकौ कहा विचार ।।५।।

गोपियों को भी श्रीकृष्ण से प्रेम था। वहाँ तो वह शरीर-सुख की भोगेच्छा लिये था। फिर लाल को प्रेम करने पर भी सखी के हृदय में विकार क्यों नहीं उत्पन्न होता ? प्रिया जू उत्तर देती हैं :

तब हँसि बोली राधिका सषि कत पूछत मोहि ।
जो मेरे मन में बसै सो मोहत है तोहि ।।६।।[3]

जो प्रिया के मन को प्रिय है वही सखी को प्रिय लगता है, अतः सखी प्रिया के प्राणप्यारे विहारी को भी प्राण-जीवन मानती है। किन्तु उसकी इच्छा यही होती है कि

१. स्वा० रसिकदेव, सिद्धांत के पद।
२. वही, सिद्धांत के दोहा।
३. वही।

प्रिया-प्रियतम दोनों को शरीर-सुख प्राप्त हो, अतः स्वयं उसके हृदय में विकार उत्पन्न नहीं होता।

निकुंज की सेवा में लगी सखी का स्वरूप अत्यन्त मनमोहक है। वह नखशिख से सुन्दर है। प्रेम के रस में सदा डूबी रहती है; आनन्दाश्रु सदा नयनों से गिरते रहते हैं। मन रस में डूबा है और तन श्यामाश्याम के आवेश में :

आनंद आँसू उर पर ढरैं प्रेम न हियैं समाइ।
रूप भरी नषसिष सषी छलकति छवि रही छाइ ॥११८॥
नषसिष में रसमगन मन तन कृत तिहि आवेस।
श्री विहारिनिदास लोचन ढरैं सोहत सहज सुदेस ॥११९॥[1]

ऐसी सर्वाङ्ग सुन्दर, प्रेमावेशमयी सखी निकुंज-महल में युगल को लाड़ लड़ाती है। वह उनकी प्रकृति को भली भाँति पहचानती है। उनके श्वास की गति से, नयनों की कोर से, वह उनके मन के भाव को समझ तुरन्त उचित सेवा करती है। सेवा का अर्थ उन्हें भोजन कराना, शृंगार कराना आदि नहीं है। वे युगल तो विहार में इतने डूबे हुए हैं कि उन्हें आहार, निद्रा, शृंगार आदि विहार में व्यवधान जैसे लगते हैं। सखी की सेवा यही है कि उनके मन के अनुकूल उन्हें विहार कराये। वह उनकी प्रकृति को इतना पहचानती है, इसीलिए वह प्रिया की अंतरंग है। लाड़िली अपनी सखी से भरपूर प्रेम करती हैं। वह उसे बार-बार हृदय से लगाती हैं :

तन को मन को वचन की करी अविद्या दूर।
कुंजविहारिनि लाड़िली भरी प्रेम भरपूर ॥३००॥
प्रिया हमारे अंतर है हम प्रिया के अंतर।
अंग संग निरखैं केलि सुख सहाई रहैं निरंतर ॥३०१॥
प्रिया आसिक मासूक हम छिन छिन आनंद देति।
कुंजविहारिनि लाड़िली अंकौ भरि भरि लेत ॥३०२॥[2]

सखी लाड़िली जी का इतना प्रेम पाकर गर्व से फूली रहती है। वह सब से गर्व-भरा व्यवहार करती है, किन्तु कोई उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकता। वह प्रिया जी की निज सखी जो है :

हमारैं महल को नातो साँचो।
ताही के बल गरजत सब सौं आवत नाहीं आँचो।
श्री कुंजविहारिनि ललित लाड़िली इनहि हिये में खाँचो।
श्री हरिदासी रसिक सिरोमनि मन मिलि पोषत पाँचो ॥४५॥[3]

विहारिणी की यह बेपरवाह सखियाँ औरों से ही नहीं, स्वयं श्री कुंजविहारी से भी अकड़ के चलती हैं :

श्री हरिदास के गर्व भरे अमनैंक अनन्य तिहारिन के।
महामधुर रसपान करैं औसान षता सिलहारिन के ॥

१. स्वा० विहारिनिदास, रस के दोहा।
२. स्वा० ललितकिशोरीदेव, रस के दोहा।
३. वही, रस के पद।

दियो नहिं लैहि ते मांगैं क्यों बरनैं गुण कौन तिहारिन के ।
कियें रहैं ऐंड़ विहारी सों हम बेपरवाह विहारिनि के ॥१११॥[1]

किन्तु विहारी-विहारिणी इनके रस-गर्वीले व्यवहार से अप्रसन्न नहीं होते, उलटे प्रसन्न होते हैं। वे जानते हैं कि यह गर्व लाड़िली के प्रेम की अतिशयता का द्योतक है।

सखी महल की सेवा किस प्रकार करती हैं, इसका एक उदाहरण देखि स्वा० रसिकदेव अपने गुरु-मंगल में अपने गुरु की निकुंज-सेवा का वर्णन करते हैं :

कबहुँक जस प्यारी को गावैं । सुनि-सुनि स्याम बहुत सुष पावैं ॥
कबहुँक अंग अंग करैं सिंगार । पहिरावैं फूलनि के हार ॥
कबहुँक मुष में बीरी षबावैं । कबहुँक चौर लै सीस ढुरावैं ॥३७॥
कबहुँक रास मंडल में षेलैं । बाहु जोरि कुंजनि में डोलैं ॥
कबहुँक देषैं बाग फुलवारी । श्री नरहरिदास संग पियप्यारी ॥३८॥
कबहुँक कुसुमनि सेज बनावैं । लाल लाड़िली अति सुष पावैं ॥
कबहुँक हित की बात सिषावैं । मन के भेद दुहुँन के पावैं ॥३९॥
कबहुँक रस की बातैं सुनैं । जाके काज वेद सिर धुनैं ॥
कबहुँक चरननि जावक भरैं । आनंद आँसू उमगि उर ढरैं ॥४०॥
गौर-स्याम सेवा मनमानी । मुकति च्यारि जे तुस करि जानी ॥[2]

इस सेवा से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है युगल की प्रकृति को समझ उन्हें सुख पहुँचाना। इसमें बड़ी सतर्कता, बड़ी चतुराई, रस की झीनी परख और ऐकान्तिक प्रेम की आवश्यकता है। तभी सखी इस सेवा में सफल हो सकती है। सखी सदा युगलकिशोर के पास रहती है, उनका रुख देख उन्हें रस से पोषित कर सुख पहुँचाती है। वे सखी से कुछ कहते नहीं, उसकी ओर देखते भी नहीं। फिर भी वह उनके परस्पर नेत्रों के विलास से पहचान जाती है कि इस समय उन्हें किस प्रकार के विहार का सुख दिया जाय। युगल दम्पति के विहार से सुखी होकर सखी अपने गुणों को पोषित करती है :

समैं असमैं रस पोषन कौं सुष दै रुष लै न कहूँ चलिहौं ।
चितै चितवैं न रहैं बिन वैंन सुनैंन सौं नैंन की सैंन लहौं ॥
नित्यविहार अधार हृदै धरि आपनैं प्रानन यौं पलहौं ।
रवनीहि रमैं सुष देत हमैं श्री विहारी विहारिनि की बलि हौं ॥११९॥[3]

जब लाड़िली मान करती हैं तो सखी उन्हें मनाकर प्रियतम से मिलाती है। इस प्रकार विहार में तनिक देर का भी व्यवधान नहीं आने देती :

मान न कीजै रसीली स्याम सौं ।
तुम तौ हौ लालन की अँषियाँ बँधे हैं तिहारे दाम सौं ॥
बिन आगस जिय दोस धरति हौं निरष आप सी वाम सौं ।
श्री रसिकविहारिनि जान अपुनपौ बिहँसि मिली पिय धाम सौं ॥१४॥[4]

१. स्वा० विहारिणिदास, सवैया ।
२. स्वा० रसिकदेव, गुरुमंगल ।
३. स्वा० विहारिणिदास, सवैया ।
४. स्वा० रसिकदेव, रस के पद ।

सखी इस प्रकार विहारी युगल की सेवा में उपस्थित रहती है। निकुंज में नित नये विहार की योजना होती रहती है। बड़भागी सखी उसका निरन्तर दर्शन कर सुख-सिंधु में गोते लगाती है। फागुन के विहार की एक सरस झाँकी देखिये, जिसमें युगल के विहार, सहचरी श्री हरिदासी के विहार कराने और सखियों के दर्शन-सुख का सुन्दर चित्रण है :

चल सखि देषन जाहिं कौतिक आज भलो री।
अपनी-अपनी सौंज साजि सब बेगि चलौ री॥
सुषद तरनिजा कूल फूल फूले कमल कली री।
सारस हंस चकोर मोर झूमैं आनि अली री॥
फूलीं ललितलता द्रुमवेली सोभा अमित बड़ी री।
कूजत कोकिल कीर कंज अट्टान चढ़ी री॥
अलिकुल कुसुम समूह सरस वितान तनै री।
तहाँ षेलत नवल नवेलि केलि कल हरत मनैं री॥
बाजे बाजत रंग संच सुर तान बनै री।
वर किन्नरि कठतार बीन डफ़ सरस घने री॥
गावत फाग सुहाग राग रस रंग पनै री।
सहेलिनि को अनुराग भाग कवि कौन गनै री॥
मुदित प्रिया पिय अंग अनंग विनोद करैं री।
सौंधे सुरंग अबीर अरगजा निसंक भरैं री॥
गौर-श्याम अभिराम वसन सुरंग बनै री।
सारी सरस सुवास पीतपट लसत तनै री॥
दोऊ राजत अमित अपार सुसार विहार करैं री।
उदित मदन मद मोह भुजा हँस अंस धरैं री॥
रतिदान अधररसपान विलसत अंक भरैं री।
विवि विधु वदन निहारि नैंन रस रंग ढुरैं री॥
बाढ़ौ रंग अपार हार मुक्तालर टूटी।
कंचुकी कुसुम सुदेस कुसुम अलकावलि छूटी॥
अति माधुर्य सनेह परसपर विवस भए री।
दोऊ श्रमित सुरति अति जान सहचरी अंक लए री॥
सेवत सुष रुष जान नए शृंगार ठए री।
बलि बलि नागरीदास की स्वामिनी नेह नए री॥
यह फागुन औ अनुराग सुहाग कह्यौ न परै री।
श्री वृन्दाविपिन विनोद कौन सुष सिंधु तरै री॥६१॥

—स्वा० नागरीदास, रस के पद।

सखियाँ सदा युगल की टहल में रहती हैं। अतः उनके विहार की प्रत्येक लीला की रसीली झाँकी देखने का सौभाग्य उन्हें प्राप्त होता है। कहीं तो वे स्वयं ही केलि में सहायक

होती हैं। कहीं लाड़िलीलाल सखी के वक्षस्थल पर ही सुख-शयन करते हैं और कहीं वह उनकी सुरत-क्रीड़ा कुंज-भवन के रंध्रों से झाँक कर देखती है और सुख लूटती है :

विलसत केलि महा सुषदाई । गौर-श्याम के मन की भाई ॥
यह आनंद कह्यौ नहिं जाई । फूले अंगन अंग न माई ॥
निरष सषी रंध्रन सुष पाई । यह सुष सदा रहै मन माई ॥
मिले मिलन की चाह बढ़ाई । और कछू न इन्हैं सुहाई ॥
उर सौं उर कसि कसि अकुलाई । जैसें मीन नीर जिय ज्याई ॥
ऐसैं लाल रहे लपटाई । भूषन वसन दिए गमाई ॥
इतनौ अंतर सह्यौ न जाई । ललित किशोरी कंठ लगाई ॥३०॥[1]

सखी इस नित्यविहार के सुख को अपना अमूल्य धन मानती है। उसे छुपा कर रखती है। इस सम्बन्ध में किसी से चर्चा नहीं करती। यह बात केवल समान भावनावाली सखियों से ही कही जाती है। दूसरे व्यक्ति यदि विहार का रहस्य पूछते भी हैं तो वह उत्तर नहीं देती, मौन होकर रह जाती है, क्योंकि वह जानती है कि इस रस के स्वाद को न जानने वालों को इस रस का पान कराने में अपनी ही रसना की हानि है। ऐसी चतुर सखी को श्यामाश्याम भी शाबाशी देते हैं कि तूने हमारे मन के प्रिय अनन्यतारूप धन की भली भाँति रक्षा की है :

कहियै बात हितू अपने सौं मन मानैं जो जी को।
अपनी सुहाइ स्वारथ की जेती तेती तिनकौं तैसीयै नीको ॥
तिन सौं मौन ह्वै रहियै पूछै हू न कहियै कछु कहा स्वाद
वाद कहत रसना होत फीकी।
श्री विहारिनिदासि कौं स्यावासि देत रीझि मुकुटमणि कहत
श्री श्यामाश्याम हमारे मनमानी अनन्य गटी नीको ॥[2]

नित्यविहार का स्वरूप

निरवधि-नित्यविहार—स्वा० हरिदास जी की केलिमाल के प्रथम दो-तीन पदों से ही नित्यविहार की स्पष्ट परिभाषा प्राप्त हो जाती है। उसके अनुसार ये किशोरी-किशोर सहज ही प्रकट हुए हैं। ये अत्यन्त सुन्दर, चतुर और 'सुघर' हैं। दोनों की समान अवस्था है। प्रेम के समुद्र में डूबे हैं, रस में पगे हैं तथा परस्पर विहार कर रहे हैं। इनका यह विहार करता हुआ स्वरूप सदा से था, अब भी है, और आगे भी अटल रहेगा।[3] यह निरवधि नित्यविहार इस प्रकार चल रहा है कि प्रिया-प्रियतम रात-दिन इसी में डूबे हैं। आधे निमिष के लिए शयन तक नहीं करते। प्रति क्षण इसका रंग बढ़ता ही रहता है। युगल को न भोजन का अवकाश है, न स्नान या शृंगार का। इस नित्यविहारी युगल का विहार ही भोजन है। शृंगार तो उन्हें भार-सा लगता है :

१. स्वा० ललितकिशोरीदेव, रस के पद।
२. स्वा० विहारिनिदास, सवैया, १५६।
३. स्वा० हरिदास, केलिमाल, १-२।

(अ) अंग संग नवलकिशोर किशोरी एक वैस रस सिंधु अगाधा
जागत अनुरागत निस वासर लगत न नैंन निमेष न आधा ।।[1]

(आ) सेज भाव निसिदिन रहै काम केलि रस भोय ।
भोजन भाव निरस जहां तनु मन प्राण समोय ।।८४८।।
कित शृंगार अस्नान है नहिं जागै नहिं सोय ।
मनसिज रँगे विहार सौं अंगनि अंग समोय ।।८४९।।[2]

(इ) श्री विहारिनिदास सौं कहत सुषसार विहार मैं सिंगार भार काहे को सिंगारियै ।[3]

शंका की जा सकती है कि जब यह विहार सदा इसी प्रकार चलता रहता है तो युगल को इससे विरक्ति का अनुभव नहीं होता ? परकीया-प्रेम में वियोग से संयोग की उत्सुकता बढ़ जाती है, स्वकीया में भी गृहकार्य या गुरुजनों की उपस्थिति से क्षणिक वियोग चाह बढ़ाने वाला हो सकता है, किन्तु इस निरवधि नित्यविहार में तो वह भी संभव नहीं। अत: लाल लाड़िली का मन ऊब जाना चाहिये ? किन्तु इस सम्प्रदाय के रसिकों की भावना के अनुसार ऐसा होना संभव नहीं। स्वा० हरिदास जी के युगल सदा सर्वदा इस प्रकार केलि करते हैं जैसे प्रथम समागम की रात्रि को वर-वधू। उनकी उद्दाम कामनायें सदा बढ़ती ही रहती हैं, घटती नहीं :

प्रथम समागम रैन दिन अंगन अंग समाहिं ।
समर रूप बाढ़त रहैं निरखत नैन सिहाहिं ।।९७३।।[4]

यह विहार इतना एकरस है कि सदा अत्यन्त उद्दाम गति से चलता रहता है। इसके बढ़ने-घटने की विशेष ऋतु, पर्व या समय नहीं है। इसीलिए भावुक उपासक युगल के लिए विशेष अवसरों पर उत्सवों के आयोजन की आवश्यकता नहीं समझते। उनकी भावना है कि निकुंज में नित्य शरत् पूर्णिमा है, नित्य अक्षय तृतीया, नित्य होली है और नित्य वसंतपंचमी :

नित्य शरद नित तीज है नित होरी सु वसंत ।
नित्य केलि क्षण क्षण नई जाके सुखहि न अंत ।।[5]

प्रेम और काम—स्वा० ललितकिशोरीदेव ने शुद्ध प्रेम की परिभाषा करते हुए कहा है कि जिसमें विरह और बिछुड़ना न हो, वरन् मिलन में और अधिक मिलन की इच्छा हो, वही शुद्ध प्रेम है और इस प्रकार के प्रेम की अवधि हैं लाड़िलीलाल :

बिछुरन मिलन जहां रहैं शुद्ध प्रेम नहिं होइ ।
मिलत मिलत मैं चाह अति शुद्ध प्रेम है सोइ ।।३०३।।

१. स्वा० विहारिणिदास, सिद्धान्त के पद, १४६ ।
२. स्वा० ललितकिशोरीदेव, साखी ।
३. स्वा० विहारिणिदास, सवैया, १२६ ।
४. स्वा० ललितकिशोरीदेव, साखी ।
५. वही ।

अवधि प्रेम की लाड़िली अवधि प्रेम की लाल ।
अवधि प्रेम की ललित जू छिन छिन करत निहाल ।।३०४।।[1]

स्वा० विहारिणिदास जी कहते हैं कि इस रस में किसी कारण से क्षण भर को भी प्रिया-प्रियतम का वियोग नहीं होता । इनकी लीला में अन्य अवतारों के समान न मरना है, न बिछुड़ना है, न रूठना है, न कहीं अन्यत्र जाना है :

जामैं मरैं न बीछुरैं रूठैं ना कहुँ जाइँ ।
श्री विहारीदास भयो लाड़िलो ता लाड़िली लड़ाइ ।।३७४।।[2]

श्री कुंजविहारी लाड़िली से यही याचना करते हैं कि सदा हृदय से हृदय मिले रहें, तन से तन, नयन से नयन । लाल को भ्रूक्षेप भी सहन नहीं :

ऐसी जीय होत जो जीय सौं जीय मिलैं ।
तन सौं तन समाइ ल्यौं तौ देखौं कहा हो प्यारी ।
तोही सौंहि लग आँखिनि सौं आँखें,
मिली रहें जीवत कौ यहै लहा हो प्यारी ।।
मोकौं इतौ साज कहाँ री प्यारी हौं अति दीन
तुववस भुवछेप जाय न सहा हो प्यारी ।
श्री हरिदास के स्वामी स्यामा कहत राखिलै
बाँह बल हौं बपुरा काम कहा हो प्यारी ।।३५।।[3]

यहाँ जिस विरह, मान या बिछुड़ने को प्रेम में बाधक माना गया है, वे स्थूल विरह और मान हैं । सूक्ष्म विरह अर्थात् मिलन में भी विरह की व्याकुलता तथा कपट मान इस प्रेम के सहायक हैं, इस रस के संचारी हैं । उनका वर्णन हम आगे करेंगे ।

विरह-शून्य इस प्रेम में काम सदा मिला हुआ है । श्यामाश्याम काम और प्रेम की संधि में ही विलास करते हैं :

जहाँ काम तहँ प्रेम है, जहाँ प्रेम तहँ काम ।
इन दोउन की संधि में विलसत स्यामास्याम ।।८६९।।[4]

प्रेम और काम में भेद क्या है ? प्रिया-प्रियतम सदा मिले रहते हैं । नेत्रों और अंग में होड़ लगी रहती है । जब नयन से नयन मिलाये देखते रहते हैं तो स्पर्श की, आलिंगन की चाह होती है । जब प्रगाढ़ आलिंगन में बद्ध हो जाते हैं, तो पुनः दर्शन को अधीर हो उठते हैं । तन-मन से मिले हुए हैं फिर भी मिलन की चाह बढ़ती जाती है, यही इस विहार की विलक्षणता है । स्वा० ललितकिशोरीदेव कहते हैं कि नेत्रों द्वारा आसक्ति प्रदर्शन ही प्रेम है, और अंग-अंग में व्याप्त आलिंगन की उत्कट इच्छा है काम । काम दोनों को प्रगाढ़ मिलन के लिए प्रेरित करता है । आलिंगन में बद्ध हो जाने पर पुनः एक-दूसरे का रूप पान करने की इच्छा होती है और आलिंगन-मुक्त हो दोनों दर्शन का सुख लाभ करते हैं । इस प्रकार

१. स्वा० ललितकिशोरी देव, साखी ।
२. स्वा० विहारिणिदास, सिद्धान्त के दोहा ।
३. स्वा० हरिदास, केलिमाल ।
४. स्वा० ललितकिशोरीदेव, साखी ।

प्रेम आलिंगन से बिछुड़ने को प्रेरित करता है। काम और प्रम की सन्धि में युगल की जा रति-क्रीड़ा चलती रहती है उसी का नाम विहार है।

जब दरसैं तब परसन चाह। जब परसैं तब दरसन चाह॥
तनु मन मिले मिलन की आस। अंग-अंग शिथिल मंद घन श्वास॥६७८॥
दरश सु कहियै प्रेमरस। परस केलि सुख काम।
गौर-श्याम आसक्ति अति रोम रोम अभिराम॥७५७॥
बिछुरन देत सु प्रेम है अंगनि उमगि सुकाम।
रस सागर विलसत रसिक रोम रोम अभिराम॥८७०॥
समर प्रेम रसमय भये तनु मन प्राणाधार।
क्रीड़त कामिनि कंत ये ताकौं कहत विहार॥७५९॥[1]

नेत्रों और वचनों द्वारा प्रेम प्रकट होता है। प्रेम से काम उत्पन्न होता है और काम की परिणति रतिसुख में होती है। पुनः प्रेम और पुनः काम, यही क्रम निरंतर चलता रहता है।

प्रिया और प्रियतम के प्रेम में भेद है। प्रियतम का प्रेम अधीर है, प्रिया का धीर। लाल के नेत्र, वचन तथा कर सदा चंचल रहते हैं। लाल प्रेमातुर रहते हैं। वे स्पर्श के लिए सदा घात लगाये रहते हैं। उनकी दृष्टि, उनके वचन सब उनकी प्रेमातुर अवस्था की सूचना देते हैं। तब स्वामिनी उन्हें आलिंगन प्रदान करती हैं। इस प्रकार लाल का प्रेम दो प्रकार का है—एक अन्तरंग प्रेम, जो मन में भरा है। दूसरा प्रकट प्रेम, जो उनकी आतुर चेष्टाओं से व्यक्त होता है। यह प्रकट प्रेम वास्तव में अन्तरंग प्रेम की ही झलक है।

प्रिया का प्रेम अंतरंग है, वह आतुरता के रूप में प्रकट नहीं होता। धीर प्रेम का यही लक्षण है कि ऊपर से लज्जा है, मन में प्रीति है। प्रिया का प्रेम आतुर चेष्टाओं में प्रकट न होकर केवल नेत्रों में इस प्रकार शोभित होता है जैसे पुष्प में सौरभ :

नैन बैन चंचल कर करै। विह्वल प्रेमातुर ह्वै ढरै।
चंचल प्रेम को यही स्वभाव। क्षण-क्षण अतनु उठत चित चाव॥६८६॥
छल बल तकै परस के हेत। मुख छवि दरसै अंग संकेत॥
बातनि मदन मोद उपजावै। घातनि दुगनि कटाक्ष लगावै॥६८७॥
छलबल देखि स्वामिनी हँसी। मानहुँ कोटि दामिनी लसी॥
कछु यक लाल सकुच मन गये। प्रिय हिय हुलसि भुजनि भरि लये॥६८८॥
नायक वचन रटैं अति आतुर। रति उपजावन कौं हैं चातुर॥
प्रगट प्रेम रँग बाहिर धर्‌यो। ढक्यो प्रेम रँग भीतर भर्‌यो॥६८९॥
सीसी रंग भर्‌यो है माहीं। भीतर रह बाहर झलकाहीं॥
कुन्दन बीच लाल रँग झलकै। ऐसैं तिय हिय प्रेमहि ललकै॥६९०॥
प्यारी प्रेम धरि उर माहीं। अंतर है पै प्रगटै नाहीं॥
धीरज प्रेम की यही सुरीति। ऊपर लज्जत अन्तर प्रीति॥६९१॥
ज्यों फूलन मैं सौरभ बसै। प्यारी प्रेम नैन मैं लसै॥[2]

१. स्वा० ललितकिशोरीदेव, साखी।
२. वही, रस की चौपाई।

मिलन में मिलन की चाह—इस नित्यविहार में एक विलक्षण बात यह है कि युगल किशोर तन-मन-प्राण से सदा मिले हैं, फिर भी मिलन की उत्कट इच्छा बनी है। साधारण शृंगार में मिलन न होने तक मिलन की इच्छा होती है और वही मिलन के लिए प्रेरित करती है। मिलन होते ही उत्सुकता समाप्त हो जाती है, किन्तु स्वामी हरिदास जी के कुंजविहारी का स्वरूप ऐसा है कि वे मिलन के समय भी मिलन के लिए आतुर रहते हैं, "हा हा खाते" रहते हैं। यही आतुरता निरवधि नित्यविहार की एकरसता को अटूट रखती है, परितुष्टि की भावना कभी आने नहीं देती। यह उत्सुकता या आतुरता ही इस नित्यविहार का मूल मंत्र है। स्वा० हरिदास जी ने अपने पदों में कई स्थानों पर इस आतुरता को प्रकट किया है। उदाहरण देखिये :

(अ) *झूलत डोल श्री कुंजविहारी।*
दूसरी ओर रसिक राधावर नागर नवल दुलारी॥
राखे न रहत हँसत कहि कहि बिलबिलात पिय भारी।
श्री हरिदास के स्वामी स्यामा कहत अबकैं राखि हा हा री॥१०८॥

(आ) *दृष्टि चैंप वर फंदा मन पिँजरा रख्यो लै पंछी विहारी।*
चुनौ स्वभाव प्रेमजल अंग श्रवत, पीवत न अघात रहे मुख निहारी॥
प्यारी प्यारी रटत रहत छिन छिन याके और न कछू हियरी।
सुनि हरिदास पंछी नाना रंग, देखत ही देखत प्यारी जू न हारी॥९॥[1]

स्वा० विहारिणिदेव जी ने भी इसी भाव को इस प्रकार व्यक्त किया है :

जद्यपि हुती न न्यारी कहत हा हा री प्यारी
विचित्र विहारी बाहुबंद सौं कसत री।
प्रान प्राननि सौं सीर बाढ़त होत अधीर
एक ही सुर स्वास विश्वास है हँसत री॥
श्री दिहारनिदास रोम रोमनि कहा लौं ब्यौरो
ताफता की मोज प्रति ताहू तैं लसत री।
चोली सी अमोली पीत ऐसैं सुष में समात
श्याम तन मन गोरे गात में गसत री॥१४३॥[2]

स्वा० ललितकिशोरीदेव ने मिलन में मिलन की इस आतुरता को स्पष्ट कर दिया है :

मिलत मिलत मैं चाह अति लालित रँगीली प्रीति।
कुंजबिहारी लाल की यह तो अद्भुत रीति॥८११॥
कहा कहूँ या मिलन कौं जो मिलिबो जिय होय।
तनु मन सौं प्रीतम मिलौ तऊ मिलन की षोय॥८१२॥
परम नेह की बात यह मोपै कही न जाय।
तनु मन सौं प्यारी मिली तऊ लाल अकुलाय॥८१३॥

१. स्वा० हरिदास, केलिमाल।
२. स्वा० विहारिणिदास, (सवैयों में) कवित्त।

मिलैं तु जिय व्याकुल रहैं बिछुरैं नहीं सुहाय।
जहाँ अपनपौ भूलई ता सुख रहे समाय ॥८१४॥[1]

इस विलक्षण आतुरता का क्या कारण है ? इसकी व्याख्या तो नहीं की गई है, किन्तु स्वा० ललितकिशोरीदेव जी एक स्थान पर कहते हैं कि लाल यह सोचते हैं कि जो विलक्षण मिलन-सुख हमें मिल रहा है वह स्वप्न है या सत्य ? इसीलिए वह यह चाहते रहते हैं कि यह अद्भुत सुख सदा ऐसे ही मिलता रहे :

मिलत मिलत में चाह अति मिलैं मिलैं अकुलाहिं।
स्वप्न किधौं सतभाव यह सोचत हैं मन माँहि ॥८४३॥[2]

स्वा० हरिदास जी की केलिमाल का अनुशीलन करने पर इस चाह के दो कारण और ज्ञात होते हैं—एक तो यह कि स्वामिनी का रूप क्षण-क्षण में नवीन सौन्दर्य, नयी कान्ति धारण करता रहता है। कभी लाल को ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे इस रूप को तो पहले देखा ही नहीं है। यही कारण है कि वे इस क्षण-क्षण में नवीन होते रूप के पान और भोग के लिए आतुर रहते हैं :

(अ) *प्यारी जू जब जब देखौं तेरो मुख तब तब नयो नयो लागति।*
ऐसो भ्रम होत मैं कबहूँ देखी न री।
दुति कौं दुति लेखन कागति।
कोटि चंद तें कहाँ दुराये री नये नये रागति।
श्री हरिदास के स्वामी स्यामा कुंजविहारी।
कहत काम की सांति होइ न होइ।
व्रपित रहौं निस दिन जागति ॥३४॥[3]

(आ) *यह कौन बात जु अबहिं और अबहिं भोर अबहिं औरै।*
देव नारि नाग नारि औरो नारि
ते न होहिं और की औरै॥
पाछैं न सुनी ऐसी अबहूँ आगैं हूँ न ह्वै है
यह गति रूप की अद्भुत भोर की औरै॥
श्री हरिदास के स्वामी श्यामा कुंजविहारी।
या रस ही बस भये यह भई और की औरै ॥५४॥[4]

दूसरा कारण यह ज्ञात होता है कि लाल सदा लाड़िली के मान की आशंकामात्र से व्याकुल रहते हैं :

प्यारी जू एक बात कौ मोहि डरु आवत है री
मति कबहूँ कुमया करि जाति।
पलु पलु हित वंछतु हौं री मति परै भाँति ॥[5]

१. स्वा० ललितकिशोरीदेव, साखी।
२. वही।
३. स्वा० हरिदास जी, केलिमाल।
४. वही।
५. वही।

परन्तु वास्तविक तत्त्व तो यह है कि नवलकिशोर और नवलकिशोरी सदा प्रथम समागम की रात्रि के मिलन के समान क्रीड़ा करते रहते हैं और क्षण-क्षण में नये उत्साह और चाह से इस प्रकार मिलते हैं मानो पहले कभी मिले ही न हों। मिलन के समय भी मिलन की चाह नित्यविहार की एक विलक्षण अवस्था है।

सूक्ष्म विरह—इस विरह में स्थूल विहार का कोई स्थान नहीं। न युगल में से कोई एक कहीं दूसरी जगह जाते हैं, न क्षण-भर के लिए भी वियोग की कोई सम्भावना है, अतः जिसे साधारण शृंगार में विरह कहते हैं, वह यहाँ नहीं हो सकता। किन्तु विरह में पुनः मिलने की जो आतुरता, उत्कंठा और छटपटाना आदि रहते हैं और जिनसे रस का उत्कर्ष होता है, वे यहाँ एक विशिष्ट सूक्ष्म विरह के रूप में मिलते हैं। एकत्र होते हुए भी जिस क्षण सुरति में व्यवधान पड़ता है वही क्षण लाल के लिये उत्कट विरह का दुःख उपस्थित कर देता है। अनुकूल उद्दीपनों के कारण कामोद्रेक होता ही रहता है। तब सामने बैठे हुए भी, प्रगाढ़ मिलन में जितने क्षणों की देर होती है वे ही क्षण गम्भीर विरह-वेदना की सृष्टि करते हैं। किसी भी समय प्रिया का लज्जा या कपट से 'न' कह देना विरह का दुःसह दुःख उत्पन्न कर देता है। इस प्रकार अनवरत मिलन में भी लाल विरह की तीव्र वेदना का अनुभव करते रहते हैं और प्रिया के साथ गाढ़ आलिंगन में बद्ध होते हुए भी 'हा प्रिये, हा प्रिये' की रट लगाये रहते हैं :

(अ) *नील लाल गौर के ध्यान बैठे कुंजविहारी।*
ज्यौं ज्यौं सुख पावत नाहिं, त्यौं त्यौं दुःख भयो भारी ॥[1]

(आ) *दरस परस सुष सिंधु सत बिन परसैं दुष दंद।*
ए द्वै कहे न सह परैं सषी आनंद किधौं द्रढ़ फंद ॥१३६॥
व्याकुल विरह विहार बिनु नषसिष लोभी लीन।
श्री विहारिनिदास अंग सिथलई स्वासन गनत अधीन ॥१३७॥[2]

(इ) *तान तरंगन मन भर्यो व्याकुल विकल अधीर।*
उमड्यो सागर विरह को रोम रोम झर नीर ॥८५८॥[3]

(ई) *पिया कुटिल तुम बहुत हो भोगत ही नट जात।*
सकल भोगता राव हो तृपति नहीं तुव गात ॥९९०॥
जे सुनियत हैं भोगता इकरस रहत भोग।
तुम तनु मन प्राणन मिले क्षण क्षण रटत वियोग ॥९९१॥[4]

मिलन में भी यह अतृप्तिबोध, उत्कंठा और आतुरता रस को उत्कर्ष प्रदान करते हैं। इस प्रकार का यह सूक्ष्म विरह संयोग-शृंगार का सहायक बन जाता है।

छद्म मान—जिस प्रकार नित्य विहार में स्थूल विरह नहीं होता, उसी प्रकार वहाँ स्थूल मान भी नहीं होता। साधारण शृंगार में नायिका द्वारा मान करने का कारण होता है—नायक की अन्य नायिका या सपत्नी में रति, संकेत-स्थल पर निश्चित समय पर न

१. स्वा० हरिदास, केलिमाल, २८।
२. स्वा० विहारिनिदास, रस के दोहा।
३. स्वा० ललितकिशोरीदेव, साखी।
४. वही।

पहुँचना, अनुपस्थिति आदि। किन्तु यहाँ तो प्रिया-प्रियतम सदा एक-दूसरे के पास हैं। अतः क्षण भर के लिए ऐसी परिस्थिति उत्पन्न नहीं होती जो स्थूल मान का कारण बन सके। किन्तु मान में मनाने का जो सुख है, रूठने में जो रस है, उससे रस की जो वृद्धि होती है उसका उपभोग प्रिया-प्रियतम इस नित्यविहार में पूर्ण रीति से करते हैं।

गर्वीली लाड़िली क्षण-क्षण में रूठती हैं और लाल क्षण-क्षण में मनाते हैं। तब स्वामिनी पुनः प्रसन्न हो लाल को जो संयोग सुख देती हैं, उसका स्वाद चौगुना बढ़ जाता है। किन्तु यह मान वास्तविक मान नहीं होता। रस का उत्कर्ष करने के लिए लाड़िली की यह एक लीलामात्र है। लाल सुकुमार हैं और इस मान को भी वे सहन नहीं कर सकते। जब वे व्याकुल हो उठते हैं तब सहचरी लाल की ओर से लाड़िली को मनाती हैं। प्रिया जी भी जब यह देखती हैं कि लाल को अब बहुत कष्ट हो रहा है, मान त्याग कर उन्हें अंक में भर लेती हैं। इसी प्रकार 'मान-मनौवल' की यह मधुर लीला चलती रहती है।

कुछ उदाहरण देखिये। सहचरी लाल की ओर से प्रिया को बुलाने आई है। प्रिया ने छद्म मान किया है। सखी समझाती है कि हृदय को इतना कठोर क्यों करती हो? लाल तो तुम्हारे ही अंश हैं, उनसे यह छद्म क्यों कर रही हो? मुझे बड़ा डर लगता है कि तुरन्त मिलन बिना लाल बड़ी विषम अवस्था में पड़ जायेंगे :

तोकौं पीय बोलत हैं री लाल ठाड़े कदम तर।
अबकैं ऐसो ज्यो कीये कहा होतु है री मार रही कुसम पर॥
कुंजविहारी अपनों अंश तासौं क्यों कीजियै छदम वर।
श्री हरिदास के स्वामी स्यामा ढूंढ़त वन मैं पाई क्रम क्रम
करि विषम डर॥६८॥[1]

इस कपट मान का एक सुन्दर वर्णन स्वा० ललितकिशोरीदेव जी ने किया है। उन्होंने इस मान को 'लाड़ मान' बताया है।

अति प्रवीन है लाड़िली रति पति चाह बढ़ाय।
लाड़ मान रूखो भई कपट प्रगट मुसकाय॥९१४॥
पिय आतुर धीरज गहैं देख मन्द मुसक्यानि।
कनल वचन चितवनि सखी बरषस रस की खानि॥९१५॥
सखी सीख सैनन दई छांड़ि कपट कौ मान।
चतुर कहौं भोरी कहौं पिय के जीवन प्रान॥९१६॥
बिन मानिनि व्याकुल रहैं मिलतहि मिलत अधीर।
कपट मान क्यौं कीजियै समुझ पिया की पीर॥९१७॥
पिय अधीर धीरज नहीं चंचल करैं सुभाव।
मान नहीं तहँ मान कहि इनकौं को समुझाव॥९१८॥
तुम तो परम कृपालु हो पिय की जीवन मूरि।
औगुण पर तुम गुण करो लपटि रहो भरिपूरि॥९१९॥

१. स्वा० हरिदास, केलिमाल।

मन्द मन्द मुसक्याय कैं पिय उर लिये लगाय ।
मानौं दामिनि भवन मैं घन तनु रह्यौ समाय ॥९२०॥[1]

स्वा० विहारिणिदास जी कहते हैं कि केलि-कला-गुरु प्रिया आतुर प्रियतम का निरंतर अनंगरंग से लड़ाती हैं। रूठना और फिर प्रसन्न हो जाना इसी में वे रस पाती हैं। उन्हें 'तूठने' (प्रसन्न होने) से रूठना ही अधिक प्रिय लगता है :

प्रेम प्रवीन प्रिया पिय आतुर चातुर केलिकला गुरु गावैं ।
नाहिं करै तब पाइं परै हँस आसल यौं मन मोद बढ़ावै ॥
श्री विहारीदास कैं प्रेम अभंग सुरंग मैं रंग अनंग लड़ावैं ।
रूठनौ तूठनौ यौं रस वूठनौ तूठनैं तैं अति रूठनौ भावै ॥१४५॥[2]

नित्यविहार का फल

उपासक की सम्पूर्ण साधना का फल है नित्यविहार का दर्शन। जब गुरु की कृपा से उपासक सखी-रूप से निकुंज में प्रवेश करता है तब उसे और किसी फल की आवश्यकता नहीं रह जाती। लाड़िली-लाल के निरवधि नित्य विहार का दर्शन ही उसका परम प्राप्य है। इस दर्शन का एक लाभ उपासक को यह मिलता है कि वह गमनागमन के, जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त हो जाता है :

कुंजविहारिनि हित कियौ राषी आवनि जानि ।
हम तुम दोऊ एक हैं रहैं ललित रस सानि ॥३३॥
कुंजविहारिनि हित कियो अब नहिं आवैं जाइं ।
ललित केलि अँग संग सदा निरषैं नैंन सिराइं ॥३४॥[3]

इस प्रकार आवागमन से मुक्त होने का अर्थ वह मोक्ष नहीं जिसे साधारण जन चरम पुरुषार्थ मानते हैं। इसका अर्थ न ब्रह्म में मिलना है न स्वर्गादि में पहुँचना। इसका अर्थ है विहार की निकुंज में नित्य स्थिति। जब तक शरीर है तब तक सखी मानसी ध्यान में प्रिया की कृपा-पात्र होकर युगल के नित्यविहार का दर्शन करती रहती है। जब शरीर छूट जाता है, तब भी सखी सूक्ष्म रूप से, सदा-सर्वदा के लिए, लाड़िली के साथ रहकर महल की टहल करती और नित्यविहार के दर्शन का सुख प्राप्त करती है :

हाथ हमारे सब कछू दियौ विहारिनि बाल ।
अँग सँग निरषैं केलिसुष अद्भुत प्रेम विलास ॥३२२॥
जौ तन रहै तौ प्रिया भजैं तन छूटैं प्रिया संग ।
दोऊ विधि आनंद अति निरषैं केलि अभंग ॥३२३॥[4]

इस प्रकार जिस दिन उपासक को गुरु-सहचरी की कृपा से सखी रूप मिलता है, महल की टहल और प्रिया का ममत्व प्राप्त होता है, उसी दिन उसे अपना परम प्राप्य मिल जाता है। फिर न उसे इस जीवन में कोई प्राप्य रह जाता है, न मरण के बाद।

१. स्वा० ललितकिशोरीदेव, साखी ।
२. स्वा० विहारिणिदेव, सवैया ।
३. स्वा० ललितकिशोरीदेव, साखी ।
४. वही ।

अन्य उपासना मार्गों से भेद

अपने सम्प्रदाय के नित्यविहार का अन्यों से पृथकत्व बताने के लिए वाणीकर्ताओं ने बहुत कुछ लिखा है । इन स्थलों का अध्ययन करने से इस नित्यविहार को दूसरों के समान समझने या उनमें सम्मिलित कर देने की आशंका नहीं रह जाती । ज्ञान, कर्म और भक्ति में भक्ति ही सर्वोपरि है । भक्ति भगवान के चौबीस अवतारों में से किसी एक की तथा उनकी शक्ति की होती है । अवतारों में भी भेद करके श्रीकृष्ण को पूर्ण कलावतार ठहराया गया है । उनकी भी अनेक लीलाएँ हैं । परन्तु इन सब उपासनाओं का सार है नित्यविहार :

कर्म ज्ञान को सार कही निज भक्ति है ।
नारायण चौबीस धरैं इक शक्ति है ॥
ताहू मैं कछु भेद कियो सो सार है ।
इन सबहिन को सार लह्यो सुविहार है ॥४९५॥[1]

इस नित्यविहार की उपासना निर्गुण-सगुण दोनों की उपासनाओं से परे है । वेद इसका भेद नहीं पाते ।

साधो ऐसो महल हमारो ।
निर्गुन सर्गुन वारि हैं जाकी कहै न वेद विचारो ॥
अद्भुत प्रेम रंग रस अद्भुत अद्भुत नित्य विहारो ।
श्री ललितप्रिये सुषरासि रसिकवर करि राख्यो उर हारो ॥३२॥[2]

इस विहार में केवल नित्यविहारी की उपासना है । उसमें अन्य देवताओं की उपासना सम्मिलित नहीं की जा सकती । लक्ष्मीपति विष्णु इस विहार में प्रवेश पाने को ललचाते हैं । अन्य देवों की तो बात ही क्या, यहाँ पूर्ण-पुरुषोत्तम रामचन्द्र और ब्रजेश्वर कृष्ण का भी प्रवेश नहीं है :

श्री विहारिनिदास विहार कौं लक्ष्मीपति ललचाहिं ।
ए देव पितर लीनैं फिरैं ह्यां रामकृष्ण न समाहिं ॥२३५॥[3]

इस उपासना के उपास्य श्री कुंजविहारी का विहार केवल वृन्दावन में होता है । वृन्दावन के बाहर ब्रज में भी नहीं । यह विहारी भगवान कृष्ण आदि की तरह जन्म नहीं लेते, न कर्म में बँधे हैं । और अवतार अंशकलावतार हैं, तो यह अवतारी । श्रीकृष्ण की तीन प्रकार की लीलाएँ बताई गई हैं—ब्रज की लीला, मथुरा की लीला और द्वारिका की लीला । इन तीनों में ब्रज की लीला श्रेष्ठ है । गोपी, गोप, गौएं उसके परिकर हैं । परन्तु यह नित्यविहार उस ब्रज से भी परे है :

श्री कुंजविहारी सर्वस सार ।
श्री स्वामी हरिदास उद्धरे रसिक अनन्यन के आधार ॥
नित्य प्रगट गावत नहिं पावत सब श्रुति तत्व विचार ।
यह निजु नाम धाम वृन्दावन निर्नय नित्य विहार ॥

१. स्वा० ललितकिशोरीदेव, चौबोला ।
२. वही, सिद्धान्त के पद ।
३. स्वा० विहारिणिदास, सिद्धान्त के दोहा ।

कामकेलि रस और न परसत प्रेम समुद्र अपार।
नित नव जोवन जोर किशोर किशोरी कंठ सिंगार ॥
मत्त मुदित सहचरि सेवत नित लता ललित आगार।
जानत सबै जगत ज्यौं जुवती छुवत न भूप भंडार ॥
जन्म कर्म पूरन प्रभु के सब आसपास परिवार।
अंसकला सब अवतारिनि कौ अवतारी भरतार ॥
श्रीकृष्ण चरित्र त्रिधा त्रिभुवन बहु भक्ति मंद विस्तार।
जहँ जो रस तहाँ तिही वैस सुष देत सबन उदार ॥
गाइ ग्वाल गोप गोपी जन न्यारौ बृज व्यौहार।
सबतैं दूर दुर्‌यौ दुर्लभ क्यौं सुलभ होत सुकुमार ॥
जो चाहै चित दैन महल के अंग संग अनुसार।
श्री विहारीदास जे यह मत सेवत तिनकौ वार न द्वार ॥१४१॥[1]

यह उपासना राधा-कृष्ण की उपासना से भी परे है। राधा-कृष्ण ब्रज में रहते हैं परन्तु इस नित्यविहार के लिए तरसते हैं। परकीया रूप में राधा की कृष्ण से क्षणिक भेंट ही होती है। स्वकीया रूप में सास-ससुर आदि का संकोच और गृह-कार्य मिलने से रोकता है, किन्तु स्वामी हरिदास के नित्यविहारी युगल सदा एकरस अखंडित विहार करते हैं :

(अ) जद्यपि राधा कृष्ण बसत वृज बिन विहार विललात।
बिन श्री हरिदास विहारै सेवत दरस परस नहिं तात ॥१४२॥[2]

(आ) सर्वोपरि नित्यविहार सो न्यारौ।
बरस मास और पच्ज पहर पल काहे कौं गन दिन धारौ ॥
साधारन राधा आराधत साधत कृष्ण पियारौ।
जन्म कर्म वृषभानसुता नँदनंदन श्रेष्टाचारौ ॥
कर सतसंग सजातिन सौं मिल संसै सबै निवारौ।
सेवत महामधुरी रसिक अनन्यन कौ वृत भारौ ॥
मायाकाल रहित त्रिगुनन तैं यह मत हेत हमारौ।
नित्य निमित्त संधि समझे बिनु सोदन स्वाद बिगारौ ॥
औरै काम प्रेम औरै रस औरै वैस विचारौ।
उपदेस्यौ श्री हरिदास विपुल श्री विहारिनिदास दुलारौ ॥१४५॥[3]

स्वा० हरिदास के नित्यविहार और ब्रज-रस में भेद है। कोई-कोई ब्रज की लीला को ही नित्यविहार मानते हैं, वे भूल करते हैं। वास्तव में नित्यविहार रस का समुद्र है और उस समुद्र से रस की एक बूँद छलक कर ब्रज में पड़ गई, उसी से ब्रज में चारों ओर आनन्द ही आनन्द हो गया :

१. स्वा० विहारिणिदास, सिद्धान्त के पद।
२. वही।
३. वही।

हमारौ महल महासुषदाई ।
प्रियालाल कौ रंग बढ़ावत छिन छिन प्रीति सवाई ।।
छलकत छींट परी आनंद की ब्रज में नाहिं समाई ।
गुप्त रीति श्री हरिदास प्रगट करी रसिकन के मन भाई ।।७।।[1]

स्वा० विहारिणिदास ने कहा है कि नित्य-विहार-रस की छींट भी जहाँ पड़ जाती है, वहीं प्रेम का उद्‌गार होने लगता है । किन्तु उस रस को नित्य-विहार-रस नहीं समझना चाहिए । श्रीकृष्ण की ब्रज और द्वारका लीलाओं से तुलना करते हुए वे कहते हैं कि ब्रज की स्वकीया राधा या द्वारका की रुक्मिणी, सत्यभामा आदि भी नित्यविहार की प्रिया जू की समानता नहीं कर सकतीं । स्वकीया राधा नन्दगाँव में गोबर पाथना आदि गृहकार्य करती रहती हैं । अत: प्रिय से मिलन समय से ही होता है । रुक्मिणी पति के चरण धोती हैं । उनके प्रेम में किंकरी का भाव अधिक है । इधर नित्यविहार की लाड़िली सदा प्रियतम के पास ही नहीं रहतीं, प्रियतम सदा उनके इतने अधीन हैं कि वे बोलने में भी अलसाती हैं और लाल उनकी चाटुकारी करते हैं । नित्यकिशोर की प्रकृति को समझकर जिस रस का प्रवर्त्तन स्वामी हरिदास जी ने किया है, वही रस सबसे सूक्ष्म है । शिष्टाचारयुक्त राधा-कृष्ण या रुक्मिणीरमण इन नित्यविहारी-विहारिणी को नहीं पा सकते :

छलकत छींट जहाँ परी तहाँ प्रेम उद्‌गार ।
गावत नृत्तत हँसत सब हरि हित हरष उदार ।।१४५।।
कोऊ गोबरपाथनी कोऊ धोवै पाइं ।
कोऊ सुहागिनि लाड़िती बोलत हू अलसाइ ।।१४६।।
मिलै न प्रकृति किशोर की कीनैं श्रष्टाचार ।
बहुत विचच्छन वैस रस पावै कहा विहार ।।१४७।।
सूक्ष्म धर्म दुर्‌यो महल रहे अधर्मी छाइ ।
श्री विहारिनिदास प्रगट कियो जब उठ्‌यो धर्म अकुलाइ ।।१४८।।
बहुत लड़ाई लाड़िली सुष दै दुष निरवारि ।
श्री विहारिनिदास अलक लड़ो बड़ो ममत्व विचार ।।१४९।।[2]

श्रीमद्‌भागवत में कथित या गीतगोविन्द में कथित गोपी जनों के साथ हुई रास क्रीड़ा भी इस नित्यविहार की तुलना नहीं करती । उस रास-लीला में बहुनायिकात्व है, जो अनन्यता में बाधक है । जहाँ एक नायक अनेकों से प्रेम करे, वहाँ एकरस विहार नहीं हो सकता । एक चकोर हो और अनेक चन्द्रमा, तो चकोर किस-किस की ओर देखेगा ? स्वा० हरिदास जी के विहार में एक लाल ही चकोर हैं, एक लाड़िली ही चन्द्रमा ? दोनों का सम्बन्ध दृढ़ पातिव्रत से जुड़ा है । अत: यहाँ सदा एकरस विहार चलता रहता है । यही वास्तविक शृंगार रस है :

कवि शृंगार रस जे कहैं छन्द कवित्त की गीत ।
स्वामी नाम अक्षर नहीं रस शृंगार न मीत ।।६९८।।

१. स्वा० ललितकिशोरीदेव, सिद्धान्त के पद।
२. स्वा० विहारिणिदास, सिद्धान्त के दोहा ।

षोडश विधि शृंगार की कवि सो वरणत ताहि ।
ब्रजसुन्दर गोपिन रमैं किधौं बखानत आहि ॥६९९॥
इक नायक बहु प्रीति जहँ इक शृंगाररस नाहिं ।
इक चकोर चंदा बहुत निरख सकै कहि काहि ॥७००॥
कुंजविहारिणि बदन विधु अगनित चन्द प्रकास ।
वरषत सुधा समूह रस पिय चकोर बहु प्यास ॥७०१॥
एकहि चन्द चकोर इक दृढ़ पतिवृत्त विचारि ।
कुंजविहारी एक रस कुंजविहारिणि यारि ॥७०२॥
रस शृंगार कहि एक रस दूजो दरशै नाहिं ।
तनु मन माणनि एकता हम सुमिरत हैं ताहि ॥७०३॥[1]

इस प्रकार अनेक धर्मों, भक्तिमार्गों और माधुर्य की उपासनाओं से नित्यविहार की श्रेष्ठता दिखाते हुए ये रसिक वृन्दावन की रस-भक्ति तक पहुँचते हैं, किन्तु वहाँ भी रस के अनेक भेद हैं। प्रत्येक निकुंज के श्यामाश्याम, उनके परिकर, उनकी लीला का स्वरूप अलग है। वृन्दावनीय रस के उपासक सभी सम्प्रदाय नित्य वृन्दावन में विराजे नित्य प्रिया-प्रियतम का मानसी ध्यान सखी-भाव से करते हैं, किन्तु सबके विहार के अंगों में थोड़ा-थोड़ा भेद है। स्वा० हरिदास जी की वाणी के सर्वप्रथम एवं प्रमुख व्याख्याता स्वा० विहारिणिदास जी ने वृन्दावन के इन विभिन्न रसों की ओर संकेत कर अपने अनुगतों को आदेश दिया है कि उनमें से वास्तविक नित्यविहार को कसौटी पर कसकर अलग करें और उसी का भजन करें। वे कहते हैं कि रस-भूमि वृन्दावन में पग-पग पर रस का भेद मिलता है। जैसे यहाँ के कुओं में कहीं जल खारा है, कहीं मीठा, कहीं 'मरमरा'। ऐसे ही यहाँ की अनेक निकुंजों के रस में भी भेद हैं। प्रत्येक सम्प्रदाय की निकुंज का स्वरूप अलग है :

श्री वृन्दावन रस भूमि सब पैंड़ पैंड़ पर भेद ।
कहुँ पारो मीठो मरमरो यहै समझ भ्रम छेद ॥४९३॥[2]

वे आगे कहते हैं कि दूध तो सभी को कहते हैं, चाहे वह आक के पौधे से निकले, वट वृक्ष से, सेमल से, या भेड़ के थन से। किन्तु ये सारे दूध गौ के दूध की समता तो नहीं कर सकते। लोग सफेद देखकर सबको दूध कह देते हैं, परन्तु वास्तविक दूध को तो स्वाद जाननेवाला ही पहचान सकता है। इसी प्रकार सभी निकुंजों का रस उज्ज्वल रस कह दिया जाता है परन्तु वास्तव में वृन्दावन का नित्य-निकुंज-रस कौन-सा है यह मर्मज्ञ ही जान सकते हैं :

रोम रोम पय सुरभि यों भक्ति भर्यो संसार ।
बिन थन दूध न पाइयै यों बिन हरिदास विहार ॥५१७॥
दुहियत ऊबर आक बर सुरभी सेंहुड़ भेड़ ।
नाम वरन में सब मगन को पूछै फल पेड़ ॥५१८॥
दूध नाम सब कोई कहै उज्जल बरन पिछान ।
श्री विहारीदास व्यौरो कियो स्वादी मर्मी जान ॥५१९॥[3]

१. स्वा० ललितकिशोरीदेव, साखी ।
२. स्वा० विहारिणिदास, सिद्धान्त के दोहा ।
३. वही ।

इस वास्तविक नित्यविहार की परख अत्यन्त सूक्ष्म बुद्धि से ही हो सकती है। जैसे नख में लगी फाँस, चिहुँटी या चिमटे से पकड़ में नहीं आती, इसी प्रकार स्वा० हरिदास के विहार-तत्त्व को पकड़ना भी सहज काम नहीं :

श्री विहारीदास हरिदास को भजन कोनहू गाँस।
गहहि न चिहुँटी चीमटा ज्यौं नुह मैं की फाँस ॥५०६॥[1]

जिससे इस सर्वश्रेष्ठ रस को पहचाना जाय, वह कसौटी है अनन्यता। जहाँ युगल में से दोनों एक-दूसरे को छोड़ किसी को जानते तक नहीं, प्रेम में इतने मत्त हैं कि युग-युगान्तर से उनकी केलि में एक क्षण का भी व्यवधान नहीं पड़ा, जहाँ ऐश्वर्य तो दूर ब्रज की लीला की भी तनिक मिलावट नहीं है, वही शुद्ध नित्य-विहार-रस है। अन्य निकुंजों में कहीं परकीया भाव है, कहीं स्वकीया भाव। कहीं नित्यविहार होते हुए भी प्रिया-प्रियतम को ब्रज में लीला करने के लिए अवतार धारण करने की इच्छा होती है। किन्तु स्वा० हरिदास जी के नित्य-विहार-रस में अनन्यता की पराकाष्ठा है। यहाँ एक रस निरवधि नित्यविहार का राज्य है। अतः यही रस इस मत के रसिकों की दृष्टि में सर्वश्रेष्ठ है :

(अ) *बहु विधि सखी समूह रस नाना कुंजन केलि।*
गौर-श्याम तब ही सुखी जब क्रीड़त भुज मेलि ॥७०९॥
इकरस क्रीड़त युगल वर हरिदासी इक भाव।
करजावलि ग्रीवा गहैं अंग सँग प्राण समाव ॥७१०॥
यह रस विलसत प्राण द्वै नव यौवन रति जोर।
काम प्रेम रस मय रसिक पइयै ओर न छोर ॥७११॥[2]

(आ) *श्री विहारीदास सन्तोष गहि बैठ्यो शिखर सुमेर।*
सूझे श्री हरिदास तें सब ऊँचे नीचे ढेर ॥२१५॥[3]

वाणी ही प्रमाण

इस रस की या वृन्दावन के अन्य उपासनीय रसों की समीक्षा करते समय परम्परागत शास्त्रों या ग्रन्थों का सहारा नहीं लिया जा सकता। उपासना के क्षेत्र में यह रस मर्यादाओं को तोड़कर बहुत आगे बढ़ गये हैं। भक्ति के परम-पूज्य ग्रन्थ श्रीमद्भागवत को सर्वत्र प्रमाण माना जाता है। किन्तु भक्ति के क्षेत्र से आगे जब रस का क्षेत्र प्रारम्भ होता है, तब भागवत भी पीछे छूट जाती है। श्रीमद्भगवत की रचना के समय तक श्री राधा का नाम भी सामने नहीं आया था। श्रीमद्भागवद्गीता का भक्ति-योग भी एक विशेष कोटि तक पहुँच कर रुक गया है। नारदीय भक्ति-सूत्र में प्रेमाभक्ति का सांगोपांग विवेचन यद्यपि अत्यन्त संक्षिप्त है, किन्तु इस मार्ग में अन्य भक्ति-ग्रन्थों से वह बहुत आगे बढ़ जाता है।

रस की उपासना का स्फुट स्वरूप पहले-पहल तन्त्र, संहिताओं, और पांचरात्र में देखने में आता है। सनत्कुमार संहिता, गौतमीय तन्त्र तथा नारद पांचरात्र इसी प्रकार के

१. स्वा० विहारिणिदास, सिद्धान्त के दोहा।
२. स्वा० ललितकिशोरीदेव, साखी।
३. स्वा० विहारिणिदास, सिद्धान्त के दोहा।

ग्रन्थ हैं, किन्तु इन ग्रन्थों का रस यंत्र-मंत्र और आचार-अभिचार के नीचे इतना दबा हुआ है कि वहाँ हृद्गत प्रेम को उभरने का अवसर ही नहीं मिलता। ये सभी ग्रन्थ विधि-विधान में शाक्त तन्त्रों की होड़ करते हैं।

वृन्दावनीय रस के रूप में मधुर-रस की उपासना चरम विकास को प्राप्त हुई है। ऐकान्तिक उपासना करने वाले रसिकों ने इस रस के जो झीने स्वरूप खड़े किये हैं, वे इस उपासना को प्रेमाभक्ति के शिखर पर स्थापित कर देते हैं। रस के अनुरूप ही इसकी व्याख्या भी सभी सम्प्रदाय के महानुभावों ने सरस काव्य में की है। रसिकों का यह काव्य उनकी वाणी कहलाता है। अपने-अपने सम्प्रदाय के रस का प्रमाण यही वाणियाँ हैं। वाणी ही इनकी भक्ति-पद्धति का शास्त्र है। वाणियों को प्रमाणित करने के लिए पूर्व प्रमाण न गीता में मिलेंगे, न भागवत में। वाणी का प्रमाण वाणी ही है।

उपासनीय रस की मीमांसा करते समय कुछ विद्वान कभी-कभी श्री रूप गोस्वामी कृत दो ग्रन्थों, हरि-भक्ति-रसामृत-सिंधु तथा उज्ज्वल-नीलमणि, से प्रमाण देते हैं। किन्तु यह ग्रन्थ भी किसी विशेष साम्प्रदायिक रस के प्रमाण नहीं जुटाते। यद्यपि यह माध्व-गौड़ेश्वर सम्प्रदाय के एक प्रमुख आचार्य द्वारा लिखे गये थे, किन्तु स्वयं अपने सम्प्रदाय की रसोपासना का स्पष्ट परिचय भी इनमें नहीं मिलता। इन ग्रन्थों के लिखने का प्रधान उद्देश्य था भक्ति को पूर्ण-रस के रूप में प्रतिष्ठित करना—उसे रस-शास्त्रियों द्वारा वह स्थान दिलाना जो उसका प्राप्य था। अतः इनमें भक्ति के तथा मधुर-रस के सभी सम्भव उपादानों की परिचयात्मक व्याख्या मिलती है। किसी सम्प्रदाय के रस का विवेचन करते समय इनका भी सहारा नहीं लिया जा सकता।

स्वा० हरिदास जी के सम्प्रदाय की रसोपासना का प्रमाण भी उसके आचार्यों की वाणियाँ ही हैं। उनकी सिद्धान्त की वाणी उनकी उपासना का शास्त्र है और उनकी रस की वाणी नित्यविहार का दर्शन कराती है। इस सम्प्रदाय के रस-तत्त्व का विवेचन करने में सबसे प्रथम प्रमाण है—स्वा० हरिदास जी के 'सिद्धान्त के अष्टादश पद' और उनके शृंगार के पद जिन्हें 'केलिमाल' कहते हैं। स्वा० हरिदास जी के पद बड़े गूढ़ हैं और उनका अर्थ समझना आसान नहीं। उनके प्रशिष्य स्वा० विहारिणिदेव ने उनके रस की विस्तृत व्याख्या की है। स्वा० विहारिणिदेव को इसी लिए सम्प्रदाय में गुरुदेव कहा जाता है। स्वा० विहारिणिदेव जी स्वामी जी के जीवनकाल में भी अनेक वर्षों तक उनके साथ रहे थे, अतः नित्यविहार की जो व्याख्या वह मानते हैं वही स्वामी जी की व्याख्या होगी, यह निस्सन्देह है। स्वामी विहारिणिदास जी ने स्वामी हरिदास जी को भी निकुंज के परिकर में उपास्य की कोटि में प्रतिष्ठित किया। यह उनकी सम्प्रदाय को निजी देन थी। उनकी यह भावना सम्प्रदाय में आज तक ज्यों की त्यों चली आती है।

स्वा० विहारिणिदेव जी के बाद स्वा० रसिकदेव जी की वाणी में भक्ति तथा रस की समीक्षा विस्तृत रूप से मिलती है। परन्तु उनकी वाणी में गुरुदेव जी की वाणी से बहुत भेद है। स्वा० रसिकदेव जी ने अपने सम्प्रदाय के मूल रस के अतिरिक्त भी बहुत-सी बातों को समेट लिया। उन्होंने राधा और कृष्ण की बाललीला भी लिख डाली और भाषा में वाराह-संहिता भी। मानसी उपासना की पद्धति में भी कुछ विधियों का निर्देश हुआ। नवधा भक्ति को उन्होंने अंगरूप में ग्रहण किया। ऐसा ज्ञात होता है कि उनका उद्देश्य इस सम्प्रदाय की उपासना का लोक में प्रचलित उपासना-पद्धति से समन्वय करना था। किन्तु

यह बातें स्वा० विहारिणिदेव द्वारा प्रतिष्ठित अनन्यता की कसौटी पर खरी नहीं उतरती थीं। यदि यह प्रवृत्ति आगे भी बनी रहती, तो सम्भव है स्वा० हरिदास की अनन्य उपासना का वह स्वरूप आज न रह पाता। किन्तु स्वा० रसिकदेव के शिष्य स्वा० ललितकिशोरीदेव ने पुनः उपासना का वही आदर्श खड़ा किया, जो स्वा० विहारिणिदेव का अभिप्रेत था। ज्ञात होता है इसीलिए वे स्वा० रसिकदेव जी की गद्दी पर नहीं बैठे और स्वा० हरिदास जी का करुवा और गूदरी गुरु से माँग यमुना किनारे वृक्षों के तले आ बैठे और वहीं अनन्योपासना करने लगे। स्वा० ललितकिशोरीदेव से टट्टी-स्थान की शाखा का प्रारम्भ हुआ जिसके शिष्य आज तक उसी पद्धति से उपासना करते चले आये हैं।

इस प्रकार इस सम्प्रदाय के उपासना-सिद्धान्त के प्रधान प्रमाण हैं—स्वा० हरिदास जी, स्वा० विहारिणिदेव जी तथा स्वा० ललितकिशोरीदेव जी की वाणियाँ। यही इस सम्प्रदाय का शास्त्र हैं। यों भी स्वा० विहारिणिदेव तथा स्वा० ललितकिशोरीदेव ने रस का ऐसा सुन्दर और सूक्ष्म विवेचन किया है कि उनकी व्याख्या शास्त्र की पूर्णता प्राप्त कर लेती है।

स्वभावतः ही, इन वाणियों के अध्ययन में हमारा दृष्टिकोण जो कुछ जैसा है, उसे वैसा ही देखने का रहा है। हमने न उन्हें परम्परा-प्राप्त शास्त्र से प्रमाणित करने की चेष्टा की है, न अपने मतानुसार उन्हें लोकानुगत शिष्ट-आचरण और सदसद्-बुद्धि के अनुकूल बनाने की। हमारी समझ से इन सन्तों की वाणी में वर्णित पद्धति स्वयंपूर्ण है और अपना आदर्श आप है।

वाणियों का अर्थ करने में हमने वाणी के शब्दों का ही आश्रय लिया है। कभी-कभी रस की वाणी की ऐसी व्याख्या भी देखने को मिलती है, जो शब्दों से इतना सम्बन्ध नहीं रखती जितना उपासक की भावना से। वहाँ डोल झूलना भी शैया की क्रीड़ा बन जाता है। रास में संगीत का वाद्य मृदंग नितम्ब का वाचक हो जाता है। श्याम का अर्थ हो जाता है उरजाग्र। यह व्याख्याएँ भी सब की एक-सी नहीं, भिन्न-भिन्न हैं। हमने इन व्याख्याओं की ओर ध्यान न देकर शब्दों के लोक-प्रसिद्ध अर्थ पर ही विशेष बल दिया है।

षष्ठ अध्याय

काव्य-समीक्षा

इस सम्प्रदाय के सम्पूर्ण उपलब्ध साहित्य की सूची हम शोध-सामग्री के प्रसंग में दे चुके हैं।[1] प्रायः प्रत्येक आचार्य ने काव्य-रचना की है। आचार्यों के अतिरिक्त अन्य विरक्त महानुभावों की भी महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हैं। सभी कवियों और उनकी रचनाओं की संख्या इतनी अधिक है कि उनमें से प्रत्येक की समीक्षा करना इस सीमित प्रबन्ध में सम्भव नहीं। अतः हम केवल प्रमुख-प्रमुख वाणीकर्ताओं के काव्य की ही समीक्षा करेंगे। चुनाव करने में हमारी दृष्टि रचना-सौष्ठव की ओर भी उतनी ही रहेगी जितनी रचना के परिमाण की ओर। इन कवियों में भी हम स्वामी हरिदास जी के काव्य की समीक्षा विस्तार से करेंगे तथा अन्य कवियों की प्रमुख विशेषताओं का निर्देश-भर कर सकेंगे।

रचनाओं की सूची देखने से पता चलेगा कि दो-एक को छोड़ शेष सभी रचनाएँ मुक्तक हैं। प्रायः सभी ब्रजभाषा में हैं। छन्दों में पद तथा दोहों का बाहुल्य है। यों सोरठा, कुण्डलिया, अरिल्ल, चौबोला, चौपाई, चौपई सवैया आदि छन्द भी मिलेंगे। अधिकांश रचनाओं के दो विभाग हैं—सिद्धान्त और रस। सिद्धान्त की रचनाओं के विषय हैं—भक्ति के साधारण-सिद्धान्त, सदाचार के उपदेश, गुरुमहिमा आदि। रस की रचनाओं में प्रिया-प्रियतम की निकुंज-केलि का वर्णन है।

स्वामी हरिदास जी का काव्य

स्वामी हरिदास जी ने केवल १८ पद सिद्धान्त के तथा ११० पद शृंगार के लिखे। उनके शृंगार के पदों का संकलन 'केलिमाल' कहा जाता है। सिद्धान्त के पदों से यह न समझना चाहिए कि इनमें सम्प्रदाय के विशिष्ट दार्शनिक, भक्ति-सम्बन्धी, या रस-सम्बन्धी सिद्धान्त बताये गये हैं। इनमें केवल हरि की सर्वशक्तिमत्ता, जीव की अधीनता, जगत् की निस्सारता, हरिभजन का माहात्म्य, भक्तों का सदाचार और अनन्यता

१. देखिये पृ० २०६-२१८।

की महिमा जैसे भक्ति-सम्बन्धी सामान्य विषयों पर उपदेशात्मक उक्तियाँ हैं। इस प्रकार की रचनाओं को रस की रचनाओं से भिन्न बताने के लिए इस सम्प्रदाय में उन्हें सिद्धान्त की रचना कहने की रूढ़ि हो गई है।

स्वा० हरिदास जी ने इन अष्टादश पदों के सीधे-सादे शब्दों में मार्मिक उक्तियाँ भर दी हैं, रचना जितनी सरस है उतनी ही प्रभावोत्पादक भी। शब्द थोड़े हैं, किन्तु उनका भाव गम्भीर है। ये शक्तिमान् पद एक द्रष्टा की सर्वदर्शी पहुँच और अधिकारपूर्ण अभिव्यक्ति के नमूने हैं। एक उदाहरण देखिये :

हरि को एसोई सब खेल।
मृगतृष्णा जग व्यापि रह्यो है कहूँ बिजोरो न बेल॥
धनमद जोवनमद राजमद ज्यौं पंछिन मैं डेल।
कहि श्री हरिदास यहै जिय जानो तीरथ को सो मेल॥१३॥

अपने अनुगतों को आचरण की शिक्षा देते हुए उन्होंने केवल एक पद में अपनी उपासना के मूलतत्त्व, माधुर्य की भक्ति के साधन और इष्ट के प्रति अनन्यता जैसी गम्भीर वस्तुओं को कितनी सरस और मोहक शैली में बाँध दिया है, इस पद में देखिये :

मन लगाय प्रीति कीजै कर करवा सौं ब्रज वीथिन दीजै सोहनी।
वृन्दावन सौं वन उपवन सौं वन गुंजमाल हाथ पोहनी।
गो गोसुतन सौं मृगीमृगसुतन सौं और तन नैंक न जोहनी।
श्री हरिदास के स्वामी श्यामा कुंजविहारी सौं चित्त ज्यौं सिर पर दोहनी॥१२॥

उपर्युक्त पद एक अद्भुत वातावरण की सृष्टि करता है। एक कोरा उपदेश न रह कर, यह उपदेष्टा के मन के सारे मार्दव को, उनकी भाव-भरी गहन अनुभूति को, शब्दों के माध्यम से पाठक और श्रोता के मन में उतार कर उसे हृष्ट और विभोर कर देता है, उसे रस से सिक्त कर देता है।

सिद्धान्त के पदों को रस के पदों से जोड़ने वाली कड़ी है—उनका अष्टादशम पद। यह पद मानो 'केलिमाल' की भूमिका है। निकुंजविहारी-विहारिणि के रूपरस से भरे अथाह प्रेमसागर की अतलस्पर्शी गहराइयों का जैसा संवेदनात्मक रहस्य-संकेत यह पद देता है, वह मननीय है :

प्रेमसमुद्र रूपरस गहरे कैसैं लागै घाट।
बेकारो दै जान कहावत जानपन्यौं की कहा परी वाट॥
काहू को शर सुधो न परै मारत गाल गली गली हाट।
कह श्री हरिदास जानै ठाकुर विहारी तकत वोट पाट॥१८॥

केलिमाल के पदों का विषय है प्रिया-प्रियतम का निकुंज-विहार। इनमें लाड़िली-लाल का स्वरूप-वर्णन, उनका शृंगार, उनके नृत्य-गीत, उनकी परस्पर प्रीति और सुरति, श्री वृन्दावन का ऋतु-सौन्दर्य और विभिन्न ऋतुओं में युगल की केलि, मान, और सहचरी द्वारा लाड़िली जी को मनाना जैसे शृंगार-रस के विषय वर्णित हैं।

नाभा जी ने अपनी भक्तमाल में स्वा० जी के सम्बन्ध में लिखा है—"अवलोकत रहैं केलि सखी सुख के अधिकारी।" स्वा० जी के रस के पदों से यही ज्ञात होता है, जैसे यह सब आँखों देखा वर्णन है। स्वा० जी उसे आँखों से ही नहीं देखते, स्वयं सहचरी रूप से उस केलि में विद्यमान हैं और विहार में पड़ी उलझनों को सुलझाकर नित्यविहार के

नरन्तर्य को बनाये रखते हैं। रास का एक उदाहरण देखिये :

नाचत मोरनि संग स्याम मुदित स्यामहिं रिझावत ।
तैसीयै कोकिला अलापत पपीहा देत सुर तैसेई मेघ गरजि मृदंग बजावत ॥
तैसीयै स्याम घटा निशि सी कारी तैसीयै दामिनी कौंधे दीप दिखावत ।
श्री हरिदास के स्वामी स्यामा कुंजविहारी रीझि राधे हँसि कंठ कहावत ॥९६॥

श्याम के मोरों के संग नाचने का यह सुन्दर शब्द-चित्र रचयिता के प्रकृति-पर्यवेक्षण और आसपास की प्रकृति के साथ तादात्म्य का परिचय देता है। चित्र जितना आलंकारिक है उतना ही मनोमोहक। वर्ण्य-विषय के चुनाव तथा वर्णन-शैली में अनूठी सूझ स्वा० हरिदास जी की अपनी विशेषता है। प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत दोनों की योजना में उनकी यह विशेषता लक्षित होती है। ऐसा ही एक और उदाहरण देखिये—लाल की आँखें लाड़िली के मुख पर लगी ही रहती हैं। एक क्षण के लिए भी हटती नहीं। इसी तथ्य को कैसी चमत्कारपूर्ण अनूठी उक्ति द्वारा कहा गया है :

प्यारी तेरो बदन अमृत की पंक तामैं बींधे नैन द्वै।
चित चल्यो काढ़न कौं विकच सन्धि संपुट रहो भ्वै ॥
बहुत उपाइ आहि री प्यारी पै न करत स्वै।
श्री हरिदास के स्वामी स्यामा कुंजविहारी ऐसे ही रह्यो ह्वै ॥७॥

प्रकृति के बदलते हुए रूप तथा मानव-व्यापार दोनों का ही अत्यन्त सूक्ष्म पर्यवेक्षण हमें स्वा० जी के काव्य में मिलता है। वर्षा ऋतु में हरी-हरी भूमि पर लाल-लाल वीर-बहूटियों का रेंगना[1] जैसा सुन्दर और रंगीन चित्र उपस्थित करता है, वैसे ही शृंगारशैया पर प्रियाजू का आँचल को बायीं ओर मोड़कर उरसना।[2]

भाषा और भाव की सुकुमारता उनके काव्य का विशिष्ट गुण है। जैसा सूक्ष्म उनका वर्ण्य विषय है, जैसे सुकुमार उनके नायक और नायिका हैं, वैसा ही सुकुमार है उनका उस सूक्ष्म नित्यविहार को वर्णन करने का माध्यम। कुछ उदाहरण देखिये :

(अ) *प्यारी जू जैसैं तेरी आँखिन मैं हौं अपनपौ देखत हौं,*
तैसैं तुम देखत हो किधौं नाहीं।[3]

(आ) *भूलैं भूलैं हू मान न करि री प्यारी,*
तेरी भ्रूँहैं मैली देखत प्रान न रहत तन।[4]

(इ) *जहाँ जहाँ चरन परत प्यारी जू तेरे तहाँ तहाँ,*
मन मेरो करत फिरत परछाहीं।[5]

इस प्रकार के अनेक उदाहरण केलिमाल में भरे पड़े हैं। प्रेम-व्यापार के झीने मर्म को पहचान कर स्वामी जी ने जो सूक्ष्म दृश्य चित्रित किये हैं, वे अद्वितीय हैं।

अपने वर्ण्य-विषय के साथ तादात्म्य स्वामी जी की संवेदनशील रचना का रहस्य

१. आछो नीकी भूमि हरी-हरी आछी नीकी बूढनिकी रेंगनि काम की रोरनि—केलिमाल, ८६।
२. एक मरगजी सारी तन ते कंचुकी न्यारी अरु अँचरा की बाईं गति मोर उरसन फेरी।—केलिमाल २०।
३. वही, ६।
४. वही, १०।
५. वही, ५३।

है। उन्होंने काव्य-रचना के उद्देश्य से ये पद नहीं लिखे थे। प्रिया-प्रियतम की निकुंज-सेवा में उनका एक प्रमुख काम था—संगीत द्वारा उन्हें रिझाना। उसी संगीत की शब्दयोजना के के लिए उन्होंने जो कुछ लिखा वह हमें उनकी वाणी के रूप में प्राप्त हुआ है।

शब्दों की मितव्ययिता स्वामी जी की रचना में विशेष रीति से देखने को मिलती है। वे जितना कहते हैं, उससे अधिक पाठक या श्रोता की कल्पना के लिए छोड़ देते हैं। प्रत्येक पद में वाच्यार्थ से अधिक व्यंग्यार्थ ही मिलता है। भावों की भीड़ लगी रहती है, जो शब्दों के सीमित माध्यम के द्वारा मानो व्यक्त होना चाहती है। अतः अनेक स्थलों पर कुछ संकेतों से ही व्यापक वर्ण्य वस्तु का परिचय देकर स्वामी जी आगे बढ़ गये हैं। इन संकेतों को समझना उसी के लिए सम्भव हो सकता है जो उनकी विचारसरणि और उनके वर्ण्य नित्यविहार की प्रकृति को भली भाँति जानता है। यही कारण है कि प्रथम-प्रथम पढ़ने वालों को उनके पद कुछ अटपटे से लगते हैं और प्रायः लोग उनका ठीक अर्थ समझने में असमर्थ रहते हैं।

भाषा—स्वा० हरिदास जी की सम्पूर्ण रचना यद्यपि केवल १२८ पदों में सीमित है किन्तु उनका शब्द-भण्डार बड़ा व्यापक है। उनकी रचना ब्रजभाषा में है, किन्तु संस्कृत के तत्सम शब्द भी प्रचुर मात्रा में प्रयुक्त हुए हैं। कहीं-कहीं तो सम्पूर्ण पद ही, एक-दो शब्दों को छोड़, संस्कृत की रचना ज्ञात होता है। उदाहरण देखिये :

नदित मन मृदङ्गो रास भूमि सुकांत, अमिनै सुनव गति त्रिभंगी।
धापि राधा नटति ललिता रसवती, नागरी गाइतेग्रनाभि तान तुंगी॥
रसद विहारी बंदे वल्लभा राधिका निशिदिन रंग रंगी।
श्री हरिदास के स्वामी स्यामा कुंजविहारी संगीत संगी॥९४॥

इस पद में संस्कृत के केवल तत्सम शब्दों का ही प्रयोग नहीं हुआ है, धातुओं के रूप भी संस्कृत के समान हैं। और तो और, संस्कृत के ही समान 'गायते' और 'अग्रनाभि' की संधि भी कर दी गई है। अनेक पदों में पंक्तियाँ की पंक्तियाँ संस्कृत के तत्सम शब्दों से भरी हैं। संस्कृत जैसी समास-योजना भी देखने को मिलती है। 'कोटिकामलावण्यविहारी' जैसे समस्त पद कई जगह मिल जायेंगे। उदाहरण के लिए हम उनकी वाणी में प्रयुक्त संस्कृत के कुछ तत्सम शब्द यहाँ देते हैं :

मिथ्या-प्रपंच, वश, हित, सुमेरु, अचल, समाधि, किल्विष, संसार-समुद्र, मनुष्य, मीन, नक्र, मकर, जीव, मृगतृष्णा, निशिदिन, जागर, आगर, पुरुष, प्रकृतिविरुद्ध, छत्रपति, रंक, जगत्, प्रीति, मालाधारी, घन, दामिनी, अलौकिक, नृत्य, संगीत, रुचि, प्रकाश, अमृत, पंक, विकच-संधि-संपुट, दृष्टि, प्रेमजल, श्रम, सर्वोपरि, केलि, ललित, त्रिभंगी, तत्त्व, शुद्ध, विज्ञ, असित, पीतांबर, नीलनिचोल, कुंदन, रसिक-कोटि-कवि, शशि, रवि, कनक, सुदाह, अद्भुत, गति, विथकित, रतिपति, दशन, कुच, कच, प्रीति, द्रव्य, व्याज, कोकनद, संग्रह।

संस्कृत के तद्भव शब्द भी प्रचुरता से मिलते हैं। तद्भव शब्दों के कुछ उदाहरण देखिए :

हारिनि, सुखकारिनि, आधारिनि, दुती, निवाहु, सनेह, सर, चरन-कमल, बीथिन, न्याव, मवास, निहचल, मूंकी, पन, अस्तविस्त, जूंथ, अँचरा, जोन्ह, सरूप, परमान, भुवंगम, त्रन, परसपर, पानि, सिज्या, कोइल, दूबरे, मैंन, घुजा, मनवचक्रम।

बोलियों के शब्दों की तो भरमार है, जिन में ब्रज की बोली के शब्द अधिकता से मिलते हैं, उदाहरणार्थ :

घत, मुंहाचुही, कसूम, बयार, आंधैं, लावनि, करवा, दोहनी, डेल, बिजौरौ, मिहरी, गटी, दारी, भावती, रानौ, दाव, पेंड़, दूपर, बलैयां, नीके, चिहारी, दिहारी, गहरु, रिस, चौपहलू, मरगजी, ढरारे, मखतूली, लाही, अतरौटा, नकफूल, भटू, गठोंद, छीया, बाँफिन, अनष, बासे, अटपटी, टाटी, चूनरी, सिलसिलौ, लहँगा, चूरी, अँगिया, झगा, बसीठ, डहडहाट, कीच, नरीच, ऊज, आरनि, पुरइन, रूसनौ, पोट, ओली, गड़ुवा, बूका, रावती, छबीलौ।

अरबी-फ़ारसी के तत्सम तथा तद्भव शब्दों का भी प्रयोग कहीं-कहीं किया गया है। उदाहरण के लिए देखिये :

बंदे, अखत्यार, दर दर, पिदर, सुमार, निसार, सदके, सतरंज, पियादे, फरजी, साह, गस।

कारकों के चिन्ह लगभग सभी ब्रजभाषा के हैं किन्तु निम्नलिखित उदाहरण इसके अपवाद हैं :

"कहि श्री हरिदास तेई जीव पार भये जे गहि रहे चरन आनंद नंदसि"

यहाँ नंदसि (नंदस्य) में संस्कृत की षष्ठी विभक्ति के अपभ्रंश का प्रयोग किया गया है। तथा :

"बंदे अखत्यार भला"

यहाँ 'भला' का रूप खड़ी बोली का है।

अपभ्रंश काव्य में पाये जाने वाले शब्दों के रूप भी इनके काव्य में मिलते हैं। जैसे—एह (यही), वेह (वही), जेव (जैसा)।

धातुओं के रूपों में भी उपर्युक्त सभी प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। अनेक स्थानों पर क्रियाओं की विभक्तियाँ संस्कृत की धातुओं की अनुकृति करती हैं। कुछ उदाहरण देखिये :

श्रावत, वंदसि, खंडसि, नृत्तत, वंछतु।

धातुओं में से अनेक बोलियों से ली गयी हैं। उदाहरण के लिए :

अरबराइ, उरसन, सरकन, रोरौं, ढरि, सोइल, झागे, पत्याहु, टकटोर, राँधी।

एक-दो जगह जहाँ उर्दू-फ़ारसी के शब्दों का प्रयोग हुआ है, धातुओं का रूप खड़ी बोली का है। जैसे सिद्धांत के इस पद में :

बंदे अख़त्यार भला चित न भुला।
आव समाधि भीतर न होहु अगला।
न फिर दर दर पिदर दर न होहु अंधला।
कहि श्री हरिदास करता किया सो हुआ सुमेरु अचल चला ॥६॥

धातुओं के रूप कहीं-कहीं छंद और तुक की सुविधा के लिए स्वेच्छा से परिवर्तित भी कर दिये गये हैं। निम्नलिखित पदों में रेखांकित धातु-रूपों को देखिये :

(अ) राधे चलि री हरि बोलत कोकिला अलापत
सुर देत पंछी राग बन्यौ।
जहाँ मोर काछ बाँधे नृत्य करत
मेघ मृदंग बजावत बंधान गन्यौ ॥

प्रकृति की कोऊ नाहीं याते सुरति के
अनुमान गहि हौं आई मैं जन्यौ ।
श्री हरिदास के स्वामी श्यामा कुंजविहारी की
अटपटी बान औरैं कहत कछू औरैं भन्यौ ॥१४॥

(आ) प्यारी अब सोइ गई ।
ज्यौं-ज्यौं जगावत त्यौं-त्यौं नहीं जागत
प्रेम रस पान करि भोइ गई ।
जागत होइ तौ जगाऊँ प्यारी तातेव
परम सच रस ही रसिक रस बोइ गई ।

(इ) श्री हरिदास के स्वामी स्यामा कुंजविहारी
उठ गरैं लगाई प्रेम प्रीति सों नोइ गई ॥४७॥

छंद-सौंदर्य्य के लिए शब्दों के रूप भी कई स्थानों पर परिवर्तित कर दिये गये हैं। उदाहरणार्थ निम्नलिखित पदों में स्थूल छपे शब्दों को देखिये :

(अ) सोई तौ वचन मोसौं मान तैं मेरौ लाल मोह्यौ री सांवरौ ।
नवनिकुंज सुखपुंज महल मैं सुवस बसौ यह गाँवरौ ।
नव नव लाड़ लड़ाइ लाड़िली नाहीं नाहीं इहि ब्रज जावरौ ।
श्री हरिदास के स्वामी स्यामा कुंजविहारी पै वारौं मालती भांवरौ ॥४४॥

(आ) काहे कौं मान करत मोहिव कत दुख देति ।
वासे की सी दृष्टि लिये रहौं तेरी जीवन तोहि समेति ।
अब कछू ऐसी करौ भौंहिन टाटी जिन देहु कहत इतनेति ।
श्री हरिदास के स्वामी स्यामा कुंजविहारी छलु कैं गरैं लगाई
भई रमेति ॥३९॥

(इ) डोल झूलत दुलहिनी दूलहु ।
उड़त अबीर कुमकुमा छिरकत खेल परसपर सूलह ।
बाजत ताल रवाब और बहुत तरनि तनया कूलह ।
श्री हरिदास के स्वामी स्यामा कुंजविहारी को अनत नाहिंनै फूलह ॥४८॥

अनेक स्थानों पर शब्दों में ऐसी स्वर-संधियाँ मिलती हैं, जिनमें अपभ्रंश काव्य की परम्परा दृष्टिगोचर होती है। उदाहरणार्थ :

यातेंब	=	यातें अब
चितावनि	=	चित आवनि
मोहिब	=	मोहि अब
इतनेति	=	इतनौ इति (इतना ही)

स्वा० हरिदास जी की काव्य-रचना अनेक स्थानों पर अत्यन्त क्लिष्ट और जटिल है, जिसके कारण अर्थ समझने में बड़ी कठिनाई होती है। प्राय: ऐसा देखने में आता है कि पद की स्थायी वाली पंक्ति (प्रथम पंक्ति) तो अत्यन्त सरल, सरस और मार्मिक है और

बाद की पंक्तियाँ अपेक्षाकृत जटिल और क्लिष्ट। सम्भवतः इस का कारण यह रहा हो कि संगीत में गाते समय स्थायी की ही अनेक बार पुनरावृत्ति होती है। अतः उसी पर विशेष बल दिया गया है।

शब्दों में ऐसे अनेक शब्द मिलते हैं जिनका अन्यत्र प्रयोग नहीं मिलता। जैसे—अचरचे, गठोंद, छीया, मरजीया (मोती निकालनेवाला ग़ोताख़ोर), चनख, नरीच आदि। भाषा-शास्त्रियों के लिए इनका काव्यशोध का एक सुन्दर अवसर प्रस्तुत करता है।

शब्द-शक्ति—स्वा० हरिदास जी ने अपने भावगंभीर पदों में लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ का पूरा-पूरा आश्रय लिया है। वास्तव में उन्हें प्रत्येक पद में इतना कुछ कहने को रहता है कि बिना लक्षणा या व्यंजना का सहारा लिये उसे कहना संभव भी नहीं। स्वामी जी के शब्दों में ये शक्तियाँ अप्रयास आती हैं। व्यंजना के कुछ सुन्दर उदाहरण ये हैं :

(अ) **तिनका बयार के बस।**
ज्यों भावै त्यों उड़ाय लै जाय अपने रस।

यहाँ प्रथम पंक्ति से 'जीव का सब प्रकार से ईश्वर के वशवर्त्ती होना' व्यंजित होता है।

(आ) धनमद जोवनमद राजमद ज्यों **पंछीनु में डेल।**
कहि श्री हरिदास यही जिय जानो **तीरथ को सौ मेल।**

'पंछीनु में डेल' से धनादि के मद के 'लुप्त हो जाने, नष्ट हो जाने' की व्यंजना की गई है। इसी प्रकार 'तीरथ को सौ मेल' में जगत् के सम्बन्धों का 'क्षणिक होना' व्यंग्य है।

(इ) झूठी बात साँची करि दिखावत हो हरि नागर।
निशिदिन बुनत उधेरत जात प्रपंच को सागर।
ठाठ बनाय धरो मिहरी को है पुरुष ते आगर।
सुन श्री हरिदास यहै जिय जानो **सपने को सौ जागर॥**

यहाँ 'सपने को सौ जागर' में जगत्प्रपंच के मिथ्या, क्षणिक, नाशवान् आदि होने की व्यंजना है। इसी पद में 'बुनत उधेरत जात' में लक्षणा से जगत्प्रपंच का 'बनाना और बिगाड़ना' अर्थ ग्रहण होते हैं। 'ठाठ बनाय धरो मिहरी को' इस वाक्यांश के 'मिहरी' शब्द का लक्ष्यार्थ 'माया' और 'ठाठ बनाय' का लक्ष्यार्थ 'सुन्दर उपादान प्रदान करना' है। लक्षणा के अनेक उदाहरण स्वामी जी के पदों में मिल जायेंगे। उदाहरणार्थ :

(अ) और तो अचरचे **पाँइ धरौं** *सो तो कहो कौन के* **पैंड़ भरि।**

यहाँ 'पाँइ धरौं' का लक्ष्यार्थ 'कुछ करना' तथा 'पैंड़ भरि' का लक्ष्यार्थ 'बल पर' है।

(आ) हरि के नाम को आलस कत करत है काल **फिरत सर साँधें।**
बेर कुबेर *कछू नहिं जानत* **चढ़यो फिरत नित काँधें।**

यहाँ 'फिरत सर साँधें' में 'मारने के लिए प्रस्तुत' अर्थ लक्ष्य है तथा 'चढ़यो फिरत नित काँधें' में काल का 'सदा निकट ही होना' लक्ष्यार्थ है।

(इ) हरि को ऐसोई सब खेल ।
मृगतृष्णा जग व्यापि रह्यो है कहूँ बिजौरो न बेल ।

इन पंक्तियों में खेल का लक्ष्यार्थ 'सृष्टि' है, 'मृगतृष्णा' का 'मिथ्यात्व', 'बिजौरो' का 'स्थूल कारण' तथा 'बेल' का 'आधार' है ।

(ई) लोग तो भूलैं भलैं भूलैं तुम जिन भूलो मालाधारी ।

यहाँ 'मालाधारी' का लक्ष्यार्थ 'विरक्त' है ।

(उ) श्याम कहत ते जीव मोसौं विमुख भये जिन दूसरी करि डारी ।

यहाँ 'दूसरी' का लक्ष्यार्थ 'अन्य देव की उपासना' है ।

(ऊ) आजु ब्रन टूटत है री ललित त्रिभंगी पर ।

यहाँ 'व्रन टूटत है' में 'अति सुन्दरता' लक्ष्यार्थ है ।

(ए) कोटि चंद तें कहाँ दुराये री नये नये रागति ।

यहाँ 'कोटि चंद' द्वारा 'क्षण-क्षण में नवीन शोभा' अर्थ लक्षित होता है ।

मुहाविरों की तो स्वामी जी की रचना में भरमार है । उपर्युक्त उदाहरणों में कई मुहाविरे आ चुके हैं । और कुछ उदाहरण देखिये :

"कहि श्री हरिदास पिंजरा के जनावर लौं तरफराइ रह्यौ उड़िबे कौं कितो करि" ।
"कोटिकामलावण्यविहारी ताके मुहाचुही सुष लिये रहत रुष ।"
"हुते तौ बड़े अधिक सब ही ते पै इन की कस न खटात याहि ते" ।
"अब कछू ऐसी करो भौंहिन टाटी जिन देहु ।'
"जौ मोइ पत्यावतौ छाती टकटोर देखौ पान दै ।"
"आवत जात भारौ परै पीतौ मरि जात ।"

एक कहावत का प्रयोग भी कितना उपयुक्त हुआ है, देखिये :

"उत हठ करत बहुत नवनागरि तैसीयै नई ठकुराई है ।
श्री हरिदास के स्वामी स्यामा कुंजविहारी कर जोर
मौन ह्वै डूबरे की रांधी खीर कहौ कौनें खाई है ।"

वर्ण्य वस्तु से संबद्ध संख्याओं के लाक्षणिक प्रयोग द्वारा एक दृष्टकूट भी स्वामी जी ने लिखा है :

प्यारी तेरी महिमा बरनी न जाय, जिहि आलस काम बस कीन ।
ताकौ दंड हमैं लागत है री भये आधीन ।
साढ़े ग्यारह ज्यौं औटि दूजै, नवसत साज सहज ही तामैं
जवाद करपूर कस्तूरी कुंकुम के रंग भीन ।
श्री हरिदास के स्वामी स्यामा कुंजविहारी रस वस कर लीन ॥२६॥

यहाँ 'साढ़े ग्यारह' का अर्थ है सोने की मोहर (जिसमें एक तोले में साढ़े ग्यारह माशा शुद्ध सोना होता है ।) मोहर को दो बार औटा कर (तपा कर) कंचन बनता है । 'कंचन' का लक्ष्यार्थ है 'देह' ।

'नव सत' का अर्थ है 'सोलह' और उसका लक्ष्यार्थ है 'शृंगार' ।

इस प्रकार स्वा० हरिदास जी की भाषा को जिस दृष्टि से भी हम देखें, वह बड़ी सबल और अर्थगंभीर है। शब्द-भंडार का विस्तार, शब्द-शक्तियों का योग, मुहाविरों का युक्तियुक्त प्रयोग, ये सब मिल कर उनकी भाषा को अत्यन्त शक्तिमती बना देते हैं।

वर्ण-विन्यास—स्वामी जी के सिद्धांत के पदों में शांत रस है तथा उनकी केलिमाल के पद शृंगार रस के हैं। इन रसों के उपयुक्त वर्ण-लालित्य स्वामी जी की रचनाओं में सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। शांत रस का एक अति सुन्दर उदाहरण देखिए :

मन लगाय प्रीति कीजै कर करवा सौं ब्रजवीथिन दीजै सोहनी।
वृन्दावन सौं वन उपवन सौं वन गूंजमाल हाथ पोहनी॥
गो गोसुतन सौं मृगी मृगसुतन सौं और तन नैंकु न जोहनी।
श्री हरिदास के स्वामी श्यामा कुंजविहारी सौं चित्त ज्यौं सिर पर दोहनी।

इस पद में टवर्ण कहीं नाम को भी नहीं है। छोटे-छोटे शब्दों में कोई बड़ा समास भी नहीं है। अधिकांश अक्षर असंयुक्त हैं। इस प्रकार माधुर्यगुणपरक काव्य का यह पद एक अद्भुत उदाहरण है। किन्तु इस पद का रचना-सौन्दर्य माधुर्य की परिभाषा में वर्णित नियमों में ही सीमित नहीं। भाव के मार्दव के साथ मिल कर वर्णों का लालित्य इस पद के पढ़ने वाले के हृदय में एक विलक्षण आनन्द की सृष्टि करता है। यह पद ऐसा सर्वांग सुन्दर है कि इसे बार-बार उदाहरण के रूप में रखने को बाध्य होना पड़ता है।

वर्णों की कोमल योजना ने शृंगार रस के पदों को कई गुना सरस बना दिया है। वसंत-विहार का यह पद लीजिए :

कुंजविहारी को वसंत चलहु न देखन जाहिं।
नव वन नव निकुंज नव पल्लव नव जुवातिनि मिलि माहिं।
वंसी सरस मधुर धुनि सुनियत फूली अंग न माहिं।
सुनि हरिदास प्रेम सौं प्रेमहि छिरकत छैल छुवाहिं॥९९॥

इस पद में भी टवर्ण-शून्य छोटे-छोटे कोमल शब्दों की योजना अत्यन्त मनमोहक है। संगीत में निबद्ध होने पर तो इस पद में रस बरसाने की सामर्थ्य है। रास का एक पद हम उदाहरण स्वरूप और प्रस्तुत करते हैं :

अद्भुत गति उपजत अति नृत्तत, दोउ मंडल कुंवर किशोरी।
सकल सुधंग अंग भरि भोरी पीय नृत्तत
मुसकन मुख मोरी परिरंभन रस रोरी॥
ताल धरै वनिता मृदंग चंद्रागति घात बजै थोरी थोरी।
समय पाय भाषा विचित्र ललिता गायन चित चोरी॥
श्री वृन्दावन फूलन फूल्यौ पूरन शशि त्रिविध पवन बहै थोरी थोरी॥
गति विलास रस हास परसपर भूतल अद्भुत जोरी।
श्री जमुना जल विथकित पुहपनि वरषा रतिपति डारत तन तोरी।
श्री हरिदास के स्वामी स्यामा कुंजविहारी कौ रस रसना कहै को री॥३३॥

इतने लंबे पद में भी वर्ण-विन्यास का वही कोमल स्वरूप आदि से अन्त तक निभाया गया है। मृदंग की चाल पर आधारित इस पद की संगीतात्मक लय यों पढ़ने से समझ में नहीं आती। इस के प्रवाह का आनन्द संगीत-प्रेमी ही ले सकते हैं।

अलंकार योजना—स्वा० हरिदास जी की वाणी में अनेक प्रकार के अलंकार स्वभावत: आते चले गये हैं। एक स्थान पर भी ऐसा ज्ञात नहीं होता कि उन्हें प्रयासपूर्वक रखा गया है, फिर भी प्रत्येक पद में उनकी छटा देखने को मिलेगी। स्वामी जी के काव्य में अलंकारों ने आभूषणों का काम ही नहीं किया है, प्रत्युत ऐसे आभूषणों का काम किया है जो शरीर के साथ उत्पन्न हुए हों।

शब्दालंकारों में छेकानुप्रास और वृत्त्यनुप्रास तो एक-एक पंक्ति में दीख पड़ते हैं। हम केवल थोड़े से उदाहरण यहाँ देते हैं।

छेकानुप्रास—

"ज्यौंही ज्यौंही तुम राखत हो त्यौंही त्यौंही रहियत हो हरि।"
"हरि के नाम को आलस कत करत है रे काल फिरत सर सांधें।
बेर कुबेर कछू नहिं जानत चढ़यो रहतु है कांधें॥"
"संसार समुद्र मनुष्य मीन नक्र मकर और जीव बहु बंदसि।"
"बैंनी गूंथ कहा कोउ जानैं मेरी सी तेरी सौं।"
"भयौ भरु आनि रतिपति दल दलकैं।"

वृत्त्यनुप्रास—

"न फिर दर दर पिदर दर न होहु अंधला।"
"प्रथम हूँ हुती अबहूँ आगेंहूँ रहिहै न टरिहै तैसैं।"
"अंग अंग की उजराई सुघराई चतुराई सुन्दरता ऐसैं।"
"बातनि बतबनात राग रंग रमि रह्यौ।"
"हँसत खेलत बोलत मिलत देखौं मेरी आँखिन सुख।"
"नव वन नव निकुंज नव पल्लव नव जुवतिन मिलि माहिं।"
"सुन हरिदास प्रेम सौं प्रेमहि, छिरकत छैल छुवाहिं।"
"कुंज निकुंज मंजु में झेलैं।"
"तिहि बन चल मिलि खेलैं।"

भगपद-यमक—

"मन लगाय प्रीति कीजै कर करवा सौं।"
"कहि श्री हरिदास तेई जीव पार भये जे गहि रहे चरन आनंद नंदसि।"
"बैठे रसिक सँवारन बारन कोमल कर ककही सौं॥"

पुनरुक्ति प्रकाश—

"रटत रहत छिन ही छिन याके और न कछू हियारी।"
"ज्यों ज्यों तोकौं गहरु त्यों त्यों मोकौं विथा री साधे साधे।"
"प्राननि कौं पोषत सुनियत तेरे वचन आधे आधे।"
"भूलीं सब सखी देखि देखि।"
जच्छ किन्नर नाग लोक देव स्त्री रीझि रहीं भुव लेखि लेखि।
कहत परसपर नारि नारि सौं यह सौंदर्यता अवरेखि रेखि।
श्री हरिदास के स्वामी स्यामा ये कैसैंहुँ चितये पै परेखि परेखि॥"

वीप्सा—

हरि भज हरि भज छाँड़ि न मान नर तन कौ ।
मति बंछै मति बंछै रे तिल तिल धन कौं ।"
"प्यारी प्यारी रटत रहत ।"
"तू रिस छाँड़ि री राधे राधे ।"
"प्यारी जू आगैं चलि आगैं चलि गहवरवन भीतर
जहाँ बोलैं कोइल री ।"

अर्थालंकारों में से भी अनेक स्वा० हरिदास जी के पदों में मिलेंगे । इनमें सादृश्य-मूलक अलंकारों का बाहुल्य है । कुछ उदाहरण देखिये :

उपमा—

(पूर्णोपमा) "माई री सहज जोरी प्रगट भई रंग की गौर श्याम
घन दामिनी जैसैं ।"
(वाचकलुप्तोपमा) "कोटिकामलावण्यविहारी ।"
(धर्मलुप्तोपमा) "हरि को हित ऐसो जैसो रंग मजीठ संसारहित रंग कसूम
दिन द्वती को ।"
(रूपक) "तुम्हारी मायाबाजी पसारी विचित्र मोहे मुनि सुनि ।"
(सांग रूपक) "संसार समुद्र मनुष्य मीन मक्र मगर और जीव बहु वंदसि ।
मन बयार प्रेरे सनेह फंद फंदसि ॥
लोभ पंजर लोभी मरजिया पदारथ चार खंड खंडसि ।
कह श्री हरिदास तेई जीव पार भये जे गहि रहे चरन आनंद नंदसि ॥"
"दृष्टि चँप वर फंदा मन पिँजरा राखो लै पंछी विहारी ।
चुनौं सुभाव पेमजल अंग श्रवत, पीवत न अघात रहे मुख निहारी ॥"
"दौउन को सहज विसात दोऊ मिल सतरंज खेलत ।
उर रुख नैन चपल अश्व चतुर बराबरि झेलत ॥
आतुरता फील पयादे निग्रह फरजी चौंप अनूपम पेलत ।
श्री हरिदास के स्वामी स्यामा कुंजविहारी सहसाह राखे खेलत ॥"
(परंपरित रूपक) "ये श्याम घन तुम दामिनी प्रेमपुंजवरषारस पीजैं ।"
"प्यारी तेरो वदन कनक कोकनद श्रम जल कन सोभा देत री ।"

प्रतीप—

"प्रिया जू को मुख देखैं चंद्र लजावत ।"
"प्यारी तेरी पुतरी काजर हू ते कारी ।"

उत्प्रेक्षा—

"कहि श्री हरिदास पिँजरा के जनावर लौं तरफराय रह्यौ उड़िबे
कौं कितो करि ।"
"इनको स्यामता तुम्हारी गौरता जैसैं सित असित बैंनी रही
ज्यौं भुवंगम दबि ।"

"मनहु कनक सुदाह करि करि देह अद्भुत ठनी ।"
"प्यारी तेरी पुतरी काजर हू ते कारी मानौं द्वै भँवर उड़ेरी बराबरि ।"
"बार लटपटे मानौं भँवर यूथ लरत ।"
"हरि के अंग को चंदन लपटानो तन तेरे देखियत मानौं पीत चोली ।"
"कहूँ अंजन कहूँ अलक रही खसि सुरत रंग की पोट खोली ।"

अपह्नुति—

"श्रम जलकन नाहीं होत मोती माला कौं देह ।"
"दामिनि कहत मेघ सौं हमारी उपमा दैहि ते झूठे येई मेघ
येई बीजुरी साँची ।"

भ्रान्तिमान—

"चौकी कहाँ बदल परी प्यारे हरि ।
लाल पाट की हुती जंगाली ल्याए वरि ।"

(यहां चौकी वास्तव में बदली नहीं है, केवल लाड़िली जी को भ्रम हुआ है ।)

(प्रतिवस्तूपमा) "नीलांबर पीतांबर चलत चंचल धुजा फहरात कलिनां ।"

उदाहरण :

"अनमांग्यो आगै आवैगो ज्यों पल लागै पलको ।"
"कुंजविहारी सौं चित्त ज्यों सिर पर दोहनी ।"
"अपनो पति छांड़ि औरन सौं रति ज्यों दारन मैं दारी ।"

अतिशयोक्ति—

(रूपकातिशयोक्ति) "सुन हरिदास तमाल श्याम सौं लता लपटि कंचन की थोरी ।"
"यह अचरज देख्यो न सुन्यौं कबहूं नवीन मेघ
संग बीजुरी एक रस ।"

(भेदकातिशयोक्ति) "प्यारी जू जब जब देखौं तेरो मुख तब तब
नयो नयो लागति ।
ऐसो भ्रम होत मैं कबहूँ देखी न री द्युति कौं द्युति लेखन का गति ।"
"श्री हरिदास के स्वामी स्यामा जानि हौं पाये
आजु लाल औरै परि ।"
"यह कौन बात जु अबहिं और अबहिं और अबहिं औरै ।
देव नारि नाग नारि औरौ नारि ते न होहिं और की औरै ॥
पाछैं न सुनी ऐसी अबहूँ आगेहूँ न ह्वैहै
यह गति रूप की अद्भुत और की औरै ।
श्री हरिदास के स्वामी स्यामा कुंजविहारी
या रस ही बस भये यह भई और की औरै ॥"
"अब कैं बसंत न्यारेई खेले काहू सौं न मिलि खेले तेरी सौं ।"

(संबंधातिशयोक्ति) "जहां जहां चरन परत प्यारी जू तेरे
तहां तहां मेरो मन करत फिरत परछांही ।"

(असंबंधातिशयोक्ति) *"श्री हरिदास के स्वामी स्यामा कुंजविहारी की शोभा*
बरनी न जाय जो मिलैं रसिक कोटि कवि ।"
"रोम रोम जो रसना होती तौऊ तेरे गुन न बखानें जात ।"
(चपलातिशयोक्ति) *"भूलैं भूलैं हूँ मान न करि री प्यारी,*
तेरी भौहैं मैली देखत प्रान न रहत तन ।"

अत्युक्ति—

"ऐसी तौ विचित्र जोरी बनी ।
ऐसी कहूँ देखी सुनी न भनी ।"

अप्रस्तुत प्रशंसा—

"तिनुका बयार के बस ।
ज्यौं भावै त्यौं उड़ाय लै जाय आपने रस ।"
"कहि श्री हरिदास यहै जिय जानौ सपने कौ सौ जागर ।"

भाव-सौन्दर्य—शांत रस के कुछ पदों को छोड़ कर स्वा० हरिदास जी की शेष रचना शृंगार रस की हैं। शृंगार में भी केवल संयोग शृंगार की ही रचनाएँ हैं। मान के कई पद केलिमाल में मिलते हैं, किन्तु लौकिक शृंगार के विभागों की भाँति यह मान विप्रलंभ शृंगार के अन्तर्गत नहीं लिया जा सकता। उपासनीय रस के प्रकरण में हम बता आये हैं कि यह मान 'स्थूल मान' नहीं 'छद्म मान' है और लाड़िली की ओर से इसका प्रयोग केवल रति की विविधता-संपादन के लिये तथा उत्कर्ष के लिए ही होता है। ऐसी अवस्था में इस मान को प्रसंगानुसार आलंबन के यत्नज भावों के अंतर्गत या संचारी भावों में स्थान देना उचित होगा।

स्वा० हरिदास जी की रचना में सर्वत्र शृंगार रस का आलंबन हैं नित्यविहारिणी श्री राधा तथा आश्रय हैं कुंजविहारी। उपासनीय रस के प्रकरण में हम कह आये हैं कि यहाँ राधा धीरा और विदग्धा हैं तथा लाल हैं सुकुमार, आतुर, रति-लोभी। दोनों किशोर वयस्क हैं और एक-दूसरे के प्रेम में छोर तक डूबे हुए।

आलंबन श्री राधा के रूप और शृंगार का वर्णन स्वामी जी ने अनेक पदों में किया है। इस रूप-वर्णन में एक ओर तो अत्यंत स्वाभाविक उक्तियाँ हैं, जहाँ सीधे-सादे मार्मिक शब्दों में उस अलौकिक रूप को बाँधने की चेष्टा की गई है। दूसरी ओर अत्यंत आलंकारिक और चमत्कारपूर्ण रीति से उनके रूप का वर्णन किया गया है। राधा के रूप-वर्णन के दो उदाहरण देखिये :

(अ) *जोवन रंग रंगीली सौने से गात*
ढरारे नैंन कंठ पोत मखतूली ।
अंग अंग अनंग झलकत सोहत काननि वीरैं सोभा देत
देखत ही बनैं जोन्ह मैं जोन्ह सी फूली ।
तन सुख सारी लाही अँगिया अतलस अतरौटा छवि चार चार चूरी,
पहुँचनि पहुँची खमकि बनी नक फूल जेव मुख बीरा चौका कौंधैं संभ्रम भूली ।
(आ) *बनी री तेरे चार चार चूरी करन ।*
कण्ठसिरी दुलरी हीरन की नासा मुक्ता ढरन ।

तैसोई नैननि सोहै कजरा निरखि काम डरन ।
श्री हरिदास के स्वामी श्यामा कुंजविहारी रीझि रीझि पायन परन ।

उपर्युक्त पदों में सीधे-सादे शब्दों में अत्यंत हृदयग्राही ढंग से रूप और अंग के आभूषणादि का वर्णन कर दिया गया है । इसके विपरीत मनोज्ञ अलंकारों द्वारा किया हुआ यह वर्णन देखिये :

(अ) *प्यारी तेरी पुतरी काजर हू ते कारी*
मानों द्वै भँवर उड़े री बराबरि ।
चंपे की डारि बैठे अलि कुंदन लागी है जैव अरा अरि ।

(आ) *नवल निकुंज गृह नवल आगे नवल बीना मध्य राग गौरी ठटी ।*
मनौ दश इन्दु पीयूष बरसत सुखद चपल करजावली दृष्टि पीय के जटी ।
रीझि रीझि पीय देत भूषन वसन दाम उर रसन दशन धरत सारंग कटी ।

(इ) *प्यारी तोपै कितोक संग्रह छवीनि को अंग अंग प्रति नाना भाइ दिखावति ।*

एक-दो पदों में आश्रय का रूप-वर्णन भी किया गया है । जिस प्रकार आलंबन रूप-वर्णन में स्वामी जी ने एक-दम नए मौलिक प्रस्तुत और अप्रस्तुत उपादान सामने रखे हैं, वैसे आश्रय के वर्णन में नहीं मिलते । आश्रय के वर्णन का कोटिक्रम रूढ़िगत जैसा है । कुछ उदाहरण देखिये :

(अ) *आजु तनु टूटत है री ललित त्रिभंगी पर ।*
चरन चरन पर मुरली अधर धरैं चितवनि बंक छबीली भू पर ।

(आ) *आजु की बानिक प्यारे तेरी प्यारी तुम्हारी बरनी न जाय छवि ।*
इनकी स्यामता तुम्हारी गौरता जैसैं सित असित बैंनी रही ज्यों
भुवंगम दबि ।
इनकी पीतांबर तुम्हारो नीलनिचोल ज्यों शशि कुंदन जेव रवि ।
श्री हरिदास के स्वामी स्यामा कुंजविहारी की सोभा
बरनी न जाय जो मिलैं रसिक कोटि कवि ॥

वास्तव में आश्रय के सौन्दर्य का स्वतंत्र रूप से कहीं वर्णन है ही नहीं । जहाँ है, वहाँ युगल के वर्णन में सम्मिलित है । यों भी स्वा० जी का कथन है कि विहारी तो राधा की कृपा से ही 'सुघर' हुए हैं :

सुघर भये बिहारी याही छाँह ते ।
जे जे गटी सुघर स्वर जानपने की ते ते याही बाँह ते ।
हुते तौ बड़े अधिक सब ही ते पै इनकी कस न खटात याह ते ।

उद्दीपन विभाव में आलंबनगत अंगज (अयत्नज) और यत्नज अलंकारों का प्रचुर प्रयोग हुआ है । अंगज अलंकारों में 'शोभा', 'कान्ति', 'दीप्ति', 'माधुर्य', 'प्रगल्भता', 'औदार्य', 'धैर्य' सभी कहीं न कहीं स्पष्ट (शब्द से कथित) या प्रच्छन्न रूप से प्रयुक्त हुए हैं । नीचे लिखे कुछ उदाहरणों में हम इन्हें निर्देशित करेंगे :

शोभा, कान्ति, दीप्ति और माधुर्य—

"जोवन रंग रंगीली सौने से गात ढरारे नैन कंठ पोत मखतूली ।"

"छुटे बार गरैं पोत दिपत मुख की ओत देखि प्रानपति रीझे
तोहि नैन सलोनी मन मोहै।"
"श्री शोभा वरनी न जाय अगाधे।

प्रगल्भता—

"प्यारी तू गुननराय सिर मौर।"
"कुंजविहारी नाचत नचावत लाड़िली नीकैं।"

औदार्य—

"श्री हरिदास के स्वामी स्यामा ढूंढ़त वन में पायी प्रिया दिहारी।"
"आव लाल ऐसैं मद पीजै तेरो झगा मेरी अँगिया धरि।"

यत्नज अलंकारों में भी प्राय: सभी स्वा० जी की नायिका के रूप वर्णन में प्रयुक्त हुए हैं। उदाहरणार्थ :

लीला—(प्रेमाविष्ट नायिका द्वारा नायक के वेश, आभूषण आदि का अनुकरण) :

"कस्तूरी को मर्दन अंग में कीयैं मुरली धरैं
पीतांबर ओढ़ैं कहत राधे हौं ही स्याम।"

विलास—(प्रियदर्शन से गति, स्थिति तथा नेत्रादि व्यापारों में विशेषता) :

"देखि देखि फूल भई।
प्रेम के प्रकाश प्रीति के आगैं होय लई।"

विच्छित्ति—(कांति को बढ़ाने वाली थोड़ी-सी वेश-रचना) :

"द्वै लर मोतिन की एक पुंजा पोति को
सदा नेत्रन दृष्टि लागो जिनि मेरी।"

विब्बोक—(अति गर्व के कारण अभिलषित वस्तु में अनादर दिखाना) :

"तेरो मग जोवत लाल विहारी।
तेरी समाधि अजहू नहिं छूटति चाहत नाहिनैं नैंक निहारी।"
"प्यारी अब क्योंहू क्योंहू आई है।
तुम इत बहुत श्रमित मनमोहन मैं क्यों हू समुझाई है।
उत हठ करत बहुत नवनागरि तैसीयैं नई ठकुराई है।"
"तुम सब रहौरी हौं ही ऊतर दैहौं चले किन जाउ
ढौटा बाय बावरो है गाँउ।"

कुट्टमित—(प्रेमव्यापार में आंतरिक हर्ष होने पर भी बाहर से घबराहट के साथ सिर, हाथ आदि का परिचालन) :

"रहौ रहौ जी विहारी मेरी आँखिन मैं बूका मेलत।"

कुसुमित वृक्षराजि से शोभायमान वृन्दावन, यमुना-तट, वन के पशु-पक्षी तथा नित्य नवीन सौन्दर्य लाने वाली ऋतुएँ उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत वर्णित हुई हैं। स्वामी जी का प्रकृति-वर्णन अत्यन्त सुन्दर और स्वाभाविक है। प्रकृति के उपादानों को चित्रमय वर्णन में बाँधकर उन्होंने वृन्दावन के सरस दृश्य उपस्थित कर दिये हैं। उन्होंने प्रकृति का पदार्थ के समान उपयोग नहीं किया है। वृन्दावन के पशु-पक्षी, भूमि, यमुना, त्रिविध वायु

सब कुछ जीवन्त है और ये सभी सदा प्रिया-प्रियतम के विहार में योग दे रहे हैं। कुछ सुन्दर उदाहरण देखिये :

(अ) *राधे चलि री हरि बोलत कोकिला अलापत*
सुर देत पंछी राग बन्यो।
तहाँ मोर काछ बाँधे नृत्य करत
मेघ मृदंग बजावत बंधान गन्यो।

(आ) *श्री वृन्दावन फूलन फूल्यो पूरन शशि त्रिविध पवन बहै थोरी थोरी।*

(इ) *प्यारी जू आगैं चलि आगैं चलि गहवरवन भीतर जहाँ बोलैं कोइल री।*

(ई) *तोकौं पीय बोलत हैं री लाल ठाड़े कदम तर।*

(उ) *भँवर गुंजार करत सँग डोलत।*

(ऊ) *ऐसी रितु सदा सर्वदा जो रहै बोलत मोरनि।*
नीके बादर नीकी धनुष चहूँ दिशि नीकौ श्री वृन्दावन
आछी नीकी मेघनि की घोरनि।
आछी नीकी भूमि हरी हरी आछी नीकी बूढ़नि की रँगन काम की रोरनि।

(ए) *कुंजविहारी कौ वसन्त चलहु न देखन जाँहि।*
नव वन नव निकुंज नव पल्लव नव जुवतिनि मिलि माँहि।

सभी ऋतुओं में से वर्षा के वर्णन तो बहुत ही मनोहारी हुए हैं, सीधे-सादे शब्दों में चित्र खींच दिये गये हैं। चित्र-विचित्र पुच्छ वाले मयूर, चमकती बिजली से दीप्त काली-काली घटाएँ, यमुना के कूल पर झुके हुए वृक्षों की हरियाली, हरी-हरी दूब पर रेंगती हुई लाल-लाल इंद्रवधूटियाँ—यह चित्र जितना स्वाभाविक है उतना ही पाठक और श्रोता को आह्लाद से विभोर कर देने वाला भी। वृन्दावन में यों भी सब से अधिक दर्शनीय ऋतु वर्षा ही है। अतः उसी ने यदि कवि के चित्त को सबसे अधिक आकृष्ट किया तो कोई आश्चर्य की बात नहीं।

स्वामी जी के काव्य में प्रत्येक नई ऋतु विहार के नये उपादान लाती है। श्री वृन्दावन अपनी ऋतुओं को बदल-बदल कर मानो लाड़िली लाल को नई-नई क्रीड़ाओं का अवसर प्रदान करते हैं। इस प्रकार की विलक्षण केलि का वर्णन भी वर्षा में ही अधिक सुन्दर बना है। दो-एक उदाहरण देखिये :

(अ) *बूँदैं सुहावनी लागत मति मीजै तेरी चूनरी।*
मोहि दै उतारि धरि राखौं बगल मैं तू न री॥
लाग लपटाय रहैं छाती सौं छाती ज्यौं न
आवै तोहि बौछार की फूनरी।
श्री हरिदास के स्वामी स्यामा कहत
बीजुरी कौंधै करि हौं कि हूँ न री॥

(आ) *भोजन लागे री दोऊ जन।*
अचरा की ओट करत दोऊ जन॥
अति उनमत्त रहत निशिवासर राग ही के रंग रगे दोऊ जन।
श्री हरिदास के स्वामी श्यामा कुंजविहारी
प्रेम परसपर नृत्य करत दोऊ जन॥

(इ) *होड़ परी मोरनि और स्यामहिं ।*
आवहु मिलहु मधि सच की गति लैंहि रंग धौं कामैंहि ।।
हमारे तुम्हारे मध्यस्थ राधे और वाहि बदो
बूझि देखो तिनु दै कहा है यामैंहि ।

(ई) *नाचति मोरनि संग स्याम मुदित स्यामाहि रिझावत ।*
तैसीयै कोकिला अलापत पपीहा देति सुर
तैसौई मेघ गरजि मृदंग बजावत ।
तैसीयै स्याम घटा निसि कारी तैसीयै दामिनी कौंधे दीप दिखावत ।
श्री हरिदास के स्वामी स्यामा कुंजविहारी
रीझ राधे हँसि कंठ लगावत ।।

इसी प्रकार ऋतु के अनुसार डोल, हिँडोरे और बसंत की सुन्दर क्रीड़ाओं में युगल आनन्द प्राप्त करते हैं । उदाहरण के लिये :

(अ) *डोल झूलत दुलहिनी दूलहु ।*
उड़त अबीर कुमकुमा छिरकत खेल परसपर सूलह ।
(आ) *डोल झूलत एक समैं एकान्त वन मैं कुंजविहारी ।*
(इ) *हिँडोरैं ब झूलत लाल दिन दूलहु दुलहिनि*
विहारिनि देखो री ललिनाँ ।
(ई) *अब कैं वसन्त न्यारेई खेले काहू सौं न मिलि खेले तेरी सौं ।*

शीत ऋतु ने अपनी स्थिति से किस प्रकार केलि का अवसर प्रदान किया है वह देखने योग्य है :

चुनरी में जाड़ौ लागतु है री कीजिये सुख सैन ।
घरी घरी के रूसने पहर मनावत जाइ मीठे बैन ।
उठ सदकैं बलाइ लौंई प्रकृति यौं न चाहिये धाइये ज्यौं मैंन ।
श्री हरिदास के स्वामी स्यामा कुंजविहारी गहि लपटाइ रहे
मौंनि सबै सुख चैन ।।

प्रकृति-वर्णन को स्वामी जी ने कहीं भी अधिक अलंकारिक या अस्वाभाविक नहीं होने दिया है। उनकी आँखों को वृन्दावन के जो दृश्य भाये हैं उन्हीं दृश्यों को उन्होंने अपने प्रिया-प्रियतम की केलि के उद्दीपन के रूप में ग्रहण किया है।

आश्रय गत अनुभावों के अन्तर्गत परम सुकुमार नायक का लटपटाना, विनती करना, एकटक देखना, आलिंगन, आतुरता, 'रीझना', आदि वर्णित हुए हैं, सात्विक और कायिक दोनों ही प्रकार के अनुभाव प्रचुर परिमाण में मिलते हैं । सात्विक अनुभावों के निम्न-लिखित उदाहरण देखिये :

(स्तंभ) *"प्यारी तेरो वदन अमृत की पंक तामैं बींधे नैन द्वै ।"*
'श्री हरिदास के स्वामी स्यामा कुंजविहारी जकि रहे चाहते ।"
"श्री हरिदास के स्वामी-स्यामा कुंजविहारी की छवि निरखत
लागत नाहीं पलकैं ।"
(स्वेद) *"अति सुकुमार वदन श्रम बरषत भले मिले रसिक किशोर किशोरी ।"*

(स्वरभंग) "श्री हरिदास के स्वामी स्यामा कुंजविहारी की
अटपटी बान औरै कहत कछू औरै भन्यो ।"

(वैवर्ण्य) "काहे ते आज अटपटे से हरि ।"
"श्री हरिदास के स्वामी स्यामा जानि हौं पाये आजु लाल औरै परि ।"

(प्रलय) "तेरी भौहैं मैली देखत प्रान न रहत तन ।"
"श्री हरिदास के स्वामी स्यामा कुंजविहारी कहत अचेत री ।"
"तन तो नाहीं प्रान अस्तविस्त भये"

कायिक अनुभावों के उदाहरण तो अनेक दिये जा सकते हैं। इन्हीं अनुभावों से नायक की सुकुमार प्रकृति, आतुरता, आधीनता और अगाध प्रेम का पता चलता है। हम यहाँ थोड़े से उदाहरण प्रस्तुत करते हैं :

"प्यारी प्यारी रटत रहत छिन ही छिन याके और न कछू हियारी ।"
"बाहु सौं बाहु मिलाय रहे मुख निहारी ।"
"अरबराऐं प्रगट भई जू सुख भयो बहुत हियारी ।"
"कुंजविहारी करि मनुहारी ।"
"श्री हरिदास के स्वामी स्यामा कुंजविहारी कहत काम की
सांति न होइ वपित रहौं निस दिन जागति ।"
"ऐसी जीय होत जो जीय सौं जीय मिलैं
तन सौं तन समाइ ल्यौं तो देखौ कहा हो प्यारी ।
तोही सौंहि लग आंखिन सौं आंखैं मिली रहैं
जीवन को यहै लहा हो प्यारी ।"
"श्री हरिदास के स्वामी स्यामा कुंजविहारी छलुकैं गरे लगाई
भई रमेति ।"
"श्री हरिदास के स्वामी स्यामा कुंजविहारी चरन लपटाने दुहून री ।"
"श्री हरिदास के स्वामी स्यामा कुंजविहारी रीझि रीझि पायन परन ।"

रस की आलंबन श्री राधा की वे चेष्टाएँ जिन से स्थायी भाव का उत्कर्ष होता है संचारी भावों में गिनी जायेंगी। केलिमाल में इन चेष्टाओं के अनेक उदाहरण हैं। इन संचारी भावों को काव्यशास्त्र में वर्णित तेंतीस संचारियों में ही सीमित करना असंभव है। प्रत्येक संचारी भाव अपनी मौलिक छटा और विचित्रता लिये हुए है। नीचे हम उनमें कुछ को उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत करते हैं :

"सुनि हरिदास पंछी[1] नाना रंग देखत ही देखत प्यारी जू न हारी ।"
"भावते की प्रकृति देखैं जो श्रम भयो बहुत हिया री ।"
"अँचरा की बाँई गति मोर उरसन फेरी ।"
"ऐसी नित्यविहारिन श्री विहारीलाल संग अति आधीन आतुर
लटपटात ज्यौं तरु तमाल कुंज द्वार श्री हरिदासी जोरी सुरत
हिंडोरैं झूली ।"

१, यहाँ पंछी स्वयं बिहारी हैं। (केलिमाल, ९)

"प्यारी तेरी बाँफिन बान सुमार लागैं भोहैं ज्यों धनुष ।"
"एक ही बार यों छूटत है जैसैं बादर बरषत इन्द्र अनख ।"
"बिच बिच प्रीति रहस रस रीति की राग रागनीन के जूथ बाढ़े ।"
"रति विपरीत प्रीति को आलस"
"आलस भीजे री नैंन जँभात आछी भाँति सुदेश ।"
"रीझि राधे हँसि कंठ लगावत ।"
"राखे न रहति हँसति कहि-कहि बिलबिलात पिय भारी ।"
"औचक आय परी सखी तहाँ पिय पैं पाँइ चपावती ।"
"प्यारी जू बोलत नाहीं कैंतू सूत उनींदी
किधौं काहू कछु कह्यो कै तेरो ऐसोई सुभाव ।"
"तेरी समाधि अजहूँ नहिं छूटत चाहत नाहिनैं नैंक निहारी ।"

यद्यपि परंपरा के अनुसार हमने यहाँ रस-निष्पत्ति के विविध उपादान, भाव, विभाव, अनुभाव, संचारी भाव आदि का उल्लेख किया है परन्तु स्वा० हरिदास जी के काव्य का सौन्दर्य इन परिभाषाओं में ही बँधा हुआ नहीं है। उनके काव्य के भाव-सौन्दर्य का मर्म है उनकी अनुभूति, उनका अपने वर्ण्य विषय के साथ तादात्म्य। उनका काव्य कोरी कला नहीं है, वह उनके जीवन की साधना का सार है, उनकी उपासना का महत्त्व-पूर्ण अंग है, उनके मन के सारे प्रेम की अभिव्यक्ति है। ये पंक्तियाँ उन्होंने लोक को रिझाने के लिए नहीं, स्वयं अपने प्यारे कुंजविहारिनि-विहारी को रिझाने के लिए लिखी हैं :

छंद योजना—स्वा० हरिदास जी की सारी रचना पदों[1] में है। यह पद भी अन्य कवियों के पदों से भिन्न हैं। श्री सूरदास आदि अन्य कवियों के पदों में प्रथम पंक्ति प्राय: छोटी होती है और शेष सब पंक्तियाँ बराबर की होती हैं। स्वा० हरिदास जी के पदों में पंक्तियों की लम्बाई के सम्बन्ध में कोई नियम नहीं है। कहीं चारों बराबर हैं, कहीं चारों छोटी-बड़ी। निम्नलिखित पद की चारों पंक्तियों को देखिये :

(प्रथम) *देखि देखि फूल भई।*
(द्वितीय) *प्रेम के प्रकास प्रीति के आगैं होय लई।*
(तृतीय) *सुनरी सखी बागो बनो आजु तुम पर*
त्रन टूटत है जु नई।
(चतुर्थ) *श्री हरिदास के स्वामी स्यामा कुंजविहारी*
सकल गुन निपुन ताता थेई ताता थेई गति जु ठई ॥

सभी पद इस प्रकार के नहीं हैं। अनेक पद ऐसे हैं जिनमें पहली पंक्ति छोटी और शेष तीनों बराबर हैं। कुछ ऐसे हैं जिनकी चारों पंक्तियाँ बराबर हैं। कुछ ऐसे भी हैं

१. यहाँ 'पद' का हम लोक-व्यवहृत सामान्य अर्थ ही ग्रहण कर रहे हैं। वास्तव में संगीत के लिए की जाने वाली, स्वर ताल आदि का ध्यान रखकर की गई, इस प्रकार की रचनाओं को संगीत-शास्त्र में 'प्रबन्ध' कहा जाता है। श्री शार्ङ्गदेव ने अपने संगीत रत्नाकर में कहा है कि संगीत के स्वरों के अनुसार निबद्ध रचना को प्रबन्ध कहते हैं। (देखिये संगीत रत्नाकर, चतुर्थ प्रबंधाध्याय, श्लोक ६)।

जिनकी पहली-तीसरी तथा दूसरी-चौथी पंक्तियाँ बराबर हैं। इस प्रवृत्ति का अर्थ यह नहीं कि स्वामी जी ने जान-बूझकर छंद के नियमों को तोड़ा है। इसका कारण केवल यही है कि उन्हें पाठ्य काव्य के किन्हीं नियमों या रूढ़ियों के पालन का आग्रह न था। उनके पद पढ़ने के लिए नहीं लिखे गये, उन्हें स्वा० हरिदास जी ने स्वयं अपने गाने के लिये लिखा था। अत: उनमें केवल गायन के सौन्दर्य का आग्रह है। ये पद ध्रुपद शैली में गाए जाने के लिए लिखे गये थे। अत. ध्रुपद में प्रयुक्त होने वाली तालों[1] के अनुकूल इनकी लय हो, यही ध्यान इनमें रखा गया है।

उपर्युक्त पद को यदि धमार ताल में बैठायें तो उसकी संगीत की मात्राएँ, यति और सम इस प्रकार होंगे :

देखि । देखि । फूल । भई ।
३ ४ ३ ४

(धमार में ३ तथा ४ मात्राओं के क्रम से ७-७ मात्राओं पर यति आती है। इस पंक्ति में प्रथम 'दे' पर 'सम' तथा 'फू' पर 'खाली' आयेंगे। आगे भी इसी क्रम से ७-७ मात्राओं के बाद सम और खाली पड़ेंगे।)

प्रेम के प्र । कास प्रीति के । आगे । होइ लई ।
७ ७ ७ ७

(इस पंक्ति में, 'प्रे' पर सम, 'का' पर खाली, 'आ' पर सम तथा 'हो' पर खाली पड़ेगा। इस पंक्ति को गाने के बाद गायक पुनः 'देखि देखि फूल भई' की आवृत्ति करेगा, तब पुनः प्रथम 'दे' पर सम आयेगा।)

सुन री सखी । बागो बनो । आजु तुम पर ।
७ ७ ७

व्रन टूटत है । जो । नई ।
७ ७ ७

(इस पंक्ति में 'सु' पर सम, 'बा' पर खाली, 'आ' पर सम, 'व्र' पर खाली, 'जो' पर सम तथा 'न' पर खाली पड़ेंगे तथा 'देखि देखि फूल भई' की पुनरावृत्ति होने पर पुनः 'दे' पर सम आयेगा। तीसरी पंक्ति में 'जो' में छंदःशास्त्र के अनुसार तो केवल दो ही मात्रा होंगी परन्तु संगीतज्ञ इसे बढ़ाकर गाने में ७ मात्रा में गायेंगे। इसी प्रकार 'नई' को भी बढ़ाकर ७ मात्रा में गाया जायेगा।)

श्री हरिदास । के स्वामी । स्यामा कुंज वि । हारी स ।
७ ७ ७ ७

कल गुन निपुन । ताता थेई ताता थेई । गति जु । ठई ।
७ ७ ७ ७

(इस पंक्ति में 'श्री' पर सम, 'के' पर खाली, 'स्या' पर सम, 'हा' पर खाली, 'के' पर सम, 'ता' पर खाली, 'ग' पर सम, 'ठ' पर खाली तथा पुनः 'देखि देखि फूल भई' की

१. वर्तमान समय में ध्रुपद की यह तालें मानी जाती हैं :
चौताल (ध्रुपद), झप (झंपा), शुल्फाक (मठ), तिताल, रूपक, झुमरा, आड़ा चौताला, धमार तथा कहीं-कहीं दीपचंदी।

आवृत्ति होने पर 'दे' पर सम आयेगा ।)

इस प्रकार आप देखेंगे कि पंक्तियाँ चाहे छोटी हों चाहे बड़ी, गाने के समय उनके समाप्त होने पर सम हमेशा उसी स्थान पर आयेगा। उपर्युक्त मात्रा-विभाग में यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि प्रथम पंक्ति में ७-७ मात्राओं के दो टुकड़े हैं, दूसरी में चार, तीसरी में छः तथा चौथी में आठ। गायन की सुविधा के लिये यह आवश्यक नहीं कि सब पंक्तियाँ बराबर हों, पर प्रत्येक पंक्ति में उन्हीं मात्राओं की दो, चार, छः, आठ, दस या बारह बार आवृत्ति पूरी-पूरी हो जानी चाहिये। जहाँ छन्द की यति आती है वहीं संगीत का सम आये, यही प्रधान आवश्यकता है।

उपर्युक्त पद को 'तिताल' में भी गाया जा सकता है और उसमें ७-७ के स्थान पर ८-८ मात्राओं के टुकड़े लगभग इसी क्रम से आयेंगे। इस प्रकार हम देखते हैं कि संगीत की आवश्यकताएँ छन्दःशास्त्र से भिन्न हैं। जो पद छन्दःशास्त्र की दृष्टि से छोटे-बड़े लगते हैं, उन्हें संगीत के लिये समान मात्राओं में बैठा लेना तनिक भी कठिन नहीं। स्वा० हरिदास जी के अन्य पदों की परीक्षा करने पर भी यही सिद्ध होगा कि वे गायन के लिये लिखे गये हैं, केवल पढ़ने के लिये नहीं।[1]

नीचे लिखी पंक्तियों को साधारण कविता-पाठ की रीति से पढ़िये तथा उन्हें शास्त्रीय संगीत के गायन की पद्धति से पढ़ने की चेष्टा कीजिये :

(अ) हित तौ कीजै कमल नैन सौं, जा हित के आगे और हित
लागै सब फीको।

(आ) मेरो तेरो न्याव दई के आगै जो कछु करै सो करि हमारे सिर ऊपर।

(इ) अद्‌भुत गति उपजत अति नृत्तत दोउ मंडल कुँवर किशोरी।
सकल सुधंग अंग भरि भोरो पोय नृत्तत मुसकन मुखमोरी
परिरंभन रस रोरी।

स्पष्ट हो जायगा कि ये पद केवल गायन के लिये लिखे गये थे। प्रथम उदाहरण में 'तौ' की योजना संगीत की लय की सुविधा के लिये ही हुई है।[2] द्वितीय उदाहरण में 'जो कछु करै सो करि हमारे सिर ऊपर' इन शब्दों को लय-ताल का सहारा लिये बिना पढ़ना अत्यन्त अटपटा लगेगा।

तृतीय उदाहरण में 'अद्‌भुत', 'नृत्तत', 'मंडल', 'सुधंग', 'अंग', 'परिरंभन' आदि शब्दों की योजना मृदंग के बोलों से इतना मिलती है कि साधारण रीति से पढ़ने पर भी मृदंग जैसी ध्वनि की सृष्टि करती है। ध्रुपद सदा मृदंग के साथ गाया जाता है।

स्वामी जी के सभी पद चार पंक्तियों के हैं। शास्त्रानुसार ध्रुपद के भी चार अंग होते हैं—स्थायी, अंतरा, संचारी और आभोग। प्रत्येक छन्द की चारों पंक्तियाँ इसी विभाग के अनुसार हैं।

१. उपर्युक्त पद को धमार ताल में बैठाने तथा मात्रा, सम आदि का निर्देश करने के लिए मैं सुप्रसिद्ध संगीतज्ञ श्री विष्णुदास शिराली का कृतज्ञ हूँ।

२. यति और सम के अनुसार मात्राओं को पूरा करने के लिए 'जू', 'ही', 'तौ' आदि शब्दों का बढ़ाना संगीतज्ञों में प्रचलित है। जब 'मूल पद' में इस प्रकार के शब्द गाने वाले के द्वारा जोड़ दिये जाते हैं तब उसे 'आकार बढ़ाना' कहते हैं।

संगीत : स्वामी जी के पदों को राग-विभाग के अनुसार संकलित किया गया है। भिन्न-भिन्न रागों के पदों की संख्या निम्नलिखित है :

अष्टादश सिद्धान्त के पदों में :

विभास	— ४	बिलावल	— १
आसावरी	— ७	कल्याण	— ६

केलिमाल में :

कान्हरा	— ३०	केदारा	— २२
कल्याण	— १२	सारंग	— ११
विभास	— १०	मलार	— ८
गौड़	— २	वसंत	— ५
गौरी	— ६	नट	— २
बिलावल	— २		

स्वामी जी की गायन-पद्धति कैसी थी यह पता लगाना आज असम्भव है। यदि उनकी गायन-पद्धति के कोई संकेत हमें मिल सकते हैं, तो सम्भवत: उनके संप्रदाय के विरक्त साधुओं के 'समाज' की गायन-पद्धति से। इस संप्रदाय में 'समाज' की परम्परा प्राचीन काल से चली आती है। यद्यपि सभी साधु संगीत में कुशल नहीं होते, किन्तु संभव है स्वामी जी की गायकी का कोई अंश इन विरक्तों की गायकी में चला आता हो। इतना तो निश्चित है कि यह गायकी अन्य ध्रुपदियों की गायकी से बहुत भिन्न है। यदि कुछ योग्य संगीतज्ञ आज भी 'समाज' में गाये जाने वाले ध्रुपदों की स्वर-लिपि कर लें, तो कम से कम आज इस परम्परा की गायकी का जो रूप मिलता है उसे तो सुरक्षित किया जा सके। संगीत के क्षेत्र में ध्रुपद की गायकी की ओर जो उपेक्षा का भाव आज दृष्टिगोचर होता है, उसे देखते हुए 'समाज' के इन ध्रुपदों की स्वर-योजना का संरक्षण अत्यंत आवश्यक है। ध्रुपद ही भारतीय संगीत का पुराना आदर्श है और इसके प्रमुख प्रवर्त्तक स्वामी हरिदास जी के संप्रदाय की इस परंपराप्राप्त संगीत-शैली के संरक्षण की ओर संगीत-प्रेमियों को अवश्य ध्यान देना चाहिये।

संगीत-प्रेमियों में इस प्रकार की मान्यता चली आती है कि ध्रुपद की चार वाणियाँ हैं—डागर (डागौर), खंडहार, नौहार तथा गोबरहार। यह भी कहा जाता है कि डागर वाणी स्वामी हरिदास जी की वाणी है। परंतु यह धारणा भ्रमपूर्ण है। वास्तव में शास्त्रीय दृष्टि से आज तक किसी ने इन चारों वाणियों का भेद स्पष्ट नहीं किया है। ऐसा कोई भेद है भी या नहीं, इसमें संदेह है। जैसे एक राग को अलग-अलग गवैये अलग-अलग तरह से गाते हैं, उसी प्रकार ध्रुपदियों के विभिन्न घरानों की गायकी को ही ये चार नाम दे दिये गये हैं। 'डागर' नाम को स्वामी जी के साथ जोड़ना भी एक भ्रम पर आधारित है। कलकत्ते से छपे 'संगीत राग कल्पद्रुम' में कुछ पद 'हरिदास डागर (डागुर)' नाम की छाप के मिलते हैं। कुछ संगीत-प्रेमी इन्हें स्वामी जी की रचना मान बैठते हैं। कोई-कोई तो स्वामी जी को ही स्वा० हरिदास डागर कहते हैं। दो प्रसिद्ध मुसलमान ध्रुपदिये संगीतज्ञ, जिनके नाम के अन्त में 'डागर' आता है, खुल्लमखुल्ला यह कहने लगे हैं कि वे स्वामी जी के वंश के हैं। किंतु वास्तव में ये सब बातें भ्रमात्मक हैं, स्वामी जी से डागर नाम का कोई सम्बन्ध नहीं। हरिदास डागर नाम के एक और व्यक्ति हुए हैं और उन्हीं के पद 'संगीतरागकल्पद्रुम'

में संगृहीत हैं। इस ग्रंथ में स्वा० हरिदास जी के जो पद आये हैं उनमें स्पष्ट 'श्री हरिदास के स्वामी श्यामा कुंजविहारी' यह छाप मिलती है। डागर छाप के छन्दों का विषय और शैली स्वामी जी से बिल्कुल भिन्न है। हरिदास डागर के पदों में गणेश-वंदना आदि भी हैं, जो स्वामी जी की रचना में सम्भव नहीं थीं।

बंबई के प्रसिद्ध कलामर्मज्ञ डॉ० डी० जी० व्यास के मतानुसार स्वा० जी 'गोबरहार' वाणी के गायक थे तथा वही वाणी ध्रुपद की वाणियों में सर्वश्रेष्ठ है। उन्होंने हमें इस मत के आधारस्वरूप तानसेन का एक पद दिखाया, जिसमें 'गोबरहार' वाणी को चारों वाणियों में राजा कहा गया है :

बानी चारों के ब्यौहार

सुन लीजै हो गुनीजन तब पावै विद्यासार।
राजा गोबरहार फ़ौजदार खंडार दीवान डागुर
बकसी नवरहार॥
अचल सुर पंचम चल सुर रैखब मध्यम धैवत निखाद गंधार।
सप्तक तीन इक्कीस मूरछना बाईस स्रुती उनचास कूटतान
तानसेन आधार॥

—ध्रुपद भूपाली

('ज़यहिन्द', जिल्द २, जनवरी १९४७, नंबर १, श्री गनेश प्रसाद द्विवेदी का लेख 'हिन्दुस्तानी कल्चर और संगीत'।)

तानसेन स्वामी जी के संगीत-शिष्य थे, अतः स्वामी जी की वाणी 'गोबरहार' ही रही होगी और इसीलिये तानसेन ने उसकी इस प्रकार प्रशंसा की, ऐसा डॉ० व्यास का अनुमान है। किन्तु आज निश्चित रूप से यह कहना, कि स्वामी जी अमुक वाणी के गायक थे, बड़ा कठिन है। चारों वाणियों की कोई परिभाषा उपलब्ध नहीं है और न स्वा० हरिदास जी की गायकी की प्रणाली का ही किसी को ज्ञान है। अतः यह भी सम्भव है कि वे तानसेन द्वारा प्रशंसित 'गोबरहार' वाणी के गायक रहे हों और यह भी सम्भव है कि उनकी गायकी इन चारों वाणियों से परे ध्रुपद की मूल गायकी रही हो। इस सम्बन्ध में उनके समसामयिक अन्य साक्ष्यों का नितान्त अभाव है।

स्वामी जी संगीत के आचार्य थे, यह बात निर्विवाद है। 'नाद-विनोद' में उनके आठ संगीत-शिष्यों के नाम लिखे गये हैं—१. बैजू, २. गोपाललाल, ३. मदनराय, ४. रामदास, ५. दिवाकर पंडित, ६. सोम पंडित, ७. तन्ना मिश्र तथा ८. राजा सौंकासेन।

नाद-विनोद के अनुसार संगीतज्ञ चार प्रकार के होते हैं—१. गंधर्व, २. नायक, ३. गुणी, ४. गायक। इस ग्रंथ में स्वामी जी को गंधर्व कोटि का संगीतज्ञ बताया गया है।

'संगीत रत्नाकर' के प्रणेता श्री शार्ङ्गदेव ने ऐसे संगीतज्ञों को जिन्होंने संगीत के स्वर-लय आदि के आधार पर काव्य-रचना की है 'वाग्गेयकार' (गेय वाक् के रचयिता) कहा है। उदाहरणार्थ :

यत्तु वाग्गेयकारेण रचितं लक्षणान्वितम्।
देशीरागादिषु प्रोक्तं तद्गानं जनरंजनम्॥३॥

—संगीतरत्नाकर, चतुर्थ प्रबंधाध्याय।

अंत: स्वा० हरिदास जी को हम कवि या गायक न कहकर 'वाग्गेयकार' कहें तो उचित ही होगा।

अन्य संगीताचार्यों की भाँति स्वामी जी की संगीत-शास्त्र की कोई रचना आज नहीं मिलती। किन्तु उनके पदों में संगीत-सम्बन्धी शब्दों का जो अनेक जगह प्रयोग हुआ है उससे उनके गम्भीर संगीत-शास्त्र-ज्ञान का परिचय अवश्य मिलता है। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित उदाहरण द्रष्टव्य हैं :

"राधे चलि री हरि बोलत कोकिला अलापत
सुर देत पंछी राग बन्यो।
जहाँ मोर काछ बाँधें नृत्य करत
मेघ मृदंग बजावत बंधान गन्यो।"
"दिन डफ़ तार बजावत गावत भरत परसपर छिनु छिनु होरी।"
"श्री हरिदास के स्वामी स्यामा कुंजविहारी सकल गुन निपुन
ताता थेई ताता थेई गति जु ठई।"
"श्रुति घुरि राग केदारो जम्यो अधरात निसा रोरौं सुख।"
"बाजत ताल रबाब और बहुत तरनितनया कूलह।"
"कुंजविहारी नाचत नचावत लाडिली नीके।
औघर ताल धरैं श्री स्यामा ताता थेई ताता थेई बोलत संग पी के॥
ताण्डव लास्य और अंग को गनैं जे जे रुचि उपजत जी के।
श्री हरिदास के स्वामी स्यामा को मेरु सरस बन्यो और गुनी
परे फीके॥"
"डोल झूलत विहारी विहारिनि रागु रमि रह्यो।
काहू के हाथ अधौटी काहू के बीन काहू के मृदंग
कोऊ गहै तार काहू के अरगजा छिरकत रँग रह्यो॥"
"प्यारी तू गुननराय सिरमौर।
गति में गति उपजावत नाना राग रागिनी तार मन्दर सुर घोर॥
काहू कछू लीयो रेख छाया तो कहा भयो झूँठी दोर।
कहि हरिदास लैत प्यारी जू के तिरप लागन में किशोर॥"
"हाथ किन्नरी मध्य सचपाइ सुलप
राग रागिनीन सौं तू मिलि गावत।"
"परस्पर राग जम्यो समेत किन्नरी मृदंग सूँ तार।
तीन हूँ सुर के तान बंधान धुर धुरपद अपार॥
विरस लेत धीरज न रह्यो तिरप लाग डाट सुर मोर निसार।
श्री हरिदास के स्वामी श्यामा जे जे अंग की गति
लेति अति निपुन अंग अंगहार।"
"नदत मनमृदंगी रासभूमि सुकांत, अभिनै सुनव गति त्रिभंगी
आपि राधा नटति ललिता रसवती नागरी गाइतेग्रनाभि तान तुंगी॥
रसद विहारी वंदे वल्लभा राधिका निशदिन रंग रंगी।
श्री हरिदास के स्वामी कुंजविहारी संगीत संगी॥"

स्वामी बीठलविपुल जी का काव्य

स्वा० बीठलविपुल जी के केवल ४० पद प्राप्त हैं। किसी-किसी संग्रह में ४१ पद हैं। ये सभी पद शृंगार रस के हैं। स्वामी हरिदास जी के पदों के समान इनका विषय भी नित्यविहार है। इनकी वाणी में लाड़िली का सौन्दर्य-वर्णन, युगल की प्रभात के समय की छवि, सहचरी द्वारा लाड़िली का मान छुड़ाना, वृन्दावन की शोभा, वर्षा, शरद, डोल आदि विषयों के पद हैं। नायक और नायिका का स्वरूप भी वैसा ही है, जैसा स्वा० हरिदास जी ने वर्णन किया है। प्रिया चतुर हैं, विदग्ध हैं, धीर हैं तथा लाल हैं आतुर, आधीन, विहार के याचक। लाड़िली रस की आलंबन हैं, लाल आश्रय। दोनों ही रस में मत्त हैं।

लाड़िली जू का स्वरूप वर्णन देखिये :

लालहि बस करनी मदन मद हरनी महल की पग धरनी उरज उदित री।
हेमलता की फरनी श्रमजल की झरनी निकट सुतातरनी वदन मुदित री॥
रूप सुधा की भरनी मोपै क्यों आवै वरनी पीय तक ढरनी त्रिषित छुधित री।
रस वस कै वरनी विपुल प्रेम परनी श्री बीठल कुंजेश्वरनी विहारी बुधित री॥

उपर्युक्त पद में नायिकागत अंगज अलंकारों की छटा देखने योग्य है। 'हेमलता की फरनी' (कान्ति), 'रूप सुधा की भरनी' (शोभा) तथा 'पीय तक ढरनी' (औदार्य) अत्यन्त स्वाभाविकता एवं कुशलता से श्री राधा के सौन्दर्य का परिचय कराते हैं। स्वा० बीठलविपुल जी ने प्रिया के नेत्रों का कई पदों में वर्णन किया है। एक पद देखिये :

प्यारी तेरे नैना री अति बाँके।
ललित त्रिभंग विहारी नागर तैं अपनैं कर आँके।
कहि धौं कुँवरि किशोरी कोक गुण सिषए इनहिं कहाँ के।
श्री बीठलविपुल विनोद विहारी पिय प्रानन में ढाँके।

उद्दीपनगत प्रकृति के सुन्दर चित्र स्वा० बीठलविपुल जी ने अपने पदों में खींचे हैं। हरा-भरा वृन्दावन, यमुना-तट, वर्षा की काली-काली घटाएँ, कोकिल और मयूर ये सब मिल कर प्रिया-प्रियतम के नित्य विहार की उचित भूमि प्रस्तुत करते हैं। वर्षा का एक सुन्दर वर्णन देखिये :

जमुना तट श्याम घटान की पाँति।
हरित भूमि वन हरित शिषंडी बोलत अति रस माँति।
सुरँग चूनरी की छवि दुलहिनि अभरन नाना भाँति।
श्री बीठलविपुल विहारी सौं मिलि नित बिलसत किलकाँति॥

प्रेमातुर कुंजविहारी की चेष्टाओं का चित्रण भी बड़ा मनोहारी है। प्रिया के पद-पंकज की रज से अपने भाल पर तिलक बनाते हुए लाड़िले की ओर सखी संकेत करती है :

प्यारी नैंक निरख न नवरँग लालै।
तुव पदपंकज तलरज वंदत तिलक बनावत भालै।
तेरे वरन वसन आभूषन उर धर चंपक मालै।
श्री बीठलविपुल विनोदबिहारी भुज भर बाहु विसालै।

रस-रीति-विदग्धा लाड़िली विहार के आनन्द को बढ़ाना भली भाँति जानती हैं।

कभी मान कर बैठती हैं, तो लाल मनाते हैं। कभी होड़ बद लेती हैं। उन्होंने बाज़ी में मुरली और पीतांबर जीत लिये हैं। अब लाल 'हा हा' खा रहे हैं, पर वे देती नहीं :

पिया पीतांबर मुरली जीती।
हा हा करत न देत लाड़िली चरन लुटत निसि बीती।
राषौ याहि दुराइ सषी ललितादिक रहौ सचीती।
श्री बीठलविपुल विनोद विहारिनि प्रगट करत रस रीती॥

उनके सीधे और टेढ़े दोनों ही प्रकार के लीला-विलास सदा रस का उत्कर्ष करते रहते हैं, उसे नित्य नवीन वैचित्र्य प्रदान करते हैं।

उनके छद्म-मान का स्वरूप बड़ा विलक्षण है। ऊपर से मान है, भीतर से मिलनोत्सुकता; हृदय में उल्लास है, मुख पर कपट-क्रोध। किलकिंचित् का कैसा सुन्दर उदाहरण है :

नैना प्रगट करत पिय प्रेमैं।
झूठेई उत्तर कित ठानत हौ छाँड़ि मान के नेमैं।
कोप कपट को अधर कंपि सखि अति हुल्लास हृदै मैं।
श्री बीठलविपुल बिहारी नगवर जटित सु तुव तन हेमैं।

अन्तिम पंक्ति में परंपरित रूपक कैसी सुन्दर स्वाभाविक रीति से आ गया है। अलंकारों का स्वाभाविक प्रयोग स्वा० बीठलविपुल जी की वाणी का सहज गुण है। अनुप्रासादि शब्दालंकार तो प्रत्येक पंक्ति को भूषित करते ही हैं, साम्यमूलक उपमादि अर्थालंकार भी अनेक स्थानों पर आये हैं। एक उदाहरण देखिये :

नव वन नव निकुंज नव बाला।
नव रँग रसिक रसीलौ मोहन विलसत कुंजविहारी लाला।
नव मराल जित अवनि धरत पग कूजत नूपुर किंकिनि जाला।
श्री बीठलविपुल विहारी के उर यौं राजत जैसै चंपे की माला।

'नव मराल जित अवनि धरत पग' यहाँ प्रतीप तथा 'यौं राजत जैसै चंपे की माला' में उपमा का अत्यन्त सुन्दर प्रयोग हुआ है।

स्वामी बीठलविपुल जी के पदों की रचना सर्वत्र माधुर्य-गुण-युक्त है। अनेक पद ऐसे हैं, जिनमें 'बीठल' के 'ठ' को छोड़ टवर्ग का प्रयोग तो कहीं हुआ ही नहीं है। अधिकांश वर्ण ह्रस्व हैं। ललित वर्ण-योजना ऐसी है, जैसे किसी चतुर जौहरी ने अनेक सुन्दर और एक-से रत्नों को पंक्तियों में जड़ दिया हो। एक उदाहरण देखिये :

जुगलकिशोर मेरे कुंजविहारी प्यारी वन विहार विहरत नवरंगा।
अरुन हरित मुकुलित द्रुमपल्लव अलिकुल गूंज अनंग तरंगा।
सौंधे बहुत अबीर अरगजा षेल परसपर छिरकत अंगा।
श्री बीठलविपुल विनोद रीति रस सुष देषत ललितादिक संगा।

यह एक पद ही नहीं, स्वा० बीठलविपुल जी के समस्त पद ललित वर्ण-योजना के आदर्श हैं। रस के अनुकूल ऐसी मृदु एवं कोमल वर्ण-योजना कठिनता से देखने को मिलती है।

प्रत्येक पद में चार पंक्तियाँ हैं, और प्रायः सभी में प्रथम पंक्ति छोटी तथा शेष तीनों पंक्तियाँ समान हैं।

स्वा० बीठलविपुल जी के काव्य की भाषा सुन्दर साहित्यिक ब्रजभाषा है। बोली के शब्द बहुत कम मिलेंगे। संस्कृत के तत्सम शब्दों का बाहुल्य है। शब्द ही नहीं, कहीं-कहीं तो समास-योजना, संधि तथा प्रत्यय भी संस्कृत की शैली पर ही चलते हैं। उदाहरणार्थ यह पद देखिये :

प्रातहि किशोर जोरि कुंजकेलिनी।
अंग-अंग गुणतरंग गौरश्याम रूपरासि मदनकेलिसुरतसिंधुपुलकझेलिनी।
तरनिनंदिनी सुतीर गावत पिक भृंग कीर त्रिगुण मरुत माधुरी श्रमंबुपेलनी।
वरविहार राजनी सुनूपुरादि बाजनी श्री बीठलविपुल वारनैं भुजकंठमेलिनी॥

'कुंजकेलिनी' आदि के प्रत्यय, 'मदनकेलिसुरतसिंधुपुलकझेलिनी' आदि की समास-योजना, 'श्रमंबु' में 'श्रम' तथा 'अंबु' की संधि संस्कृत की परिपाटी ग्रहण किये हुए हैं। साथ ही ऐसे भी पद अनेक हैं जिनकी सम्पूर्ण पद-योजना ब्रजभाषा की है। धातुओं के रूप भी सभी ब्रजभाषा के हैं। उदाहरण के लिये :

लाल करत तेरे गुण गानैं।
जो न पत्याहु सत्य नहिं मानत चलि सुनि अपनैं कानैं॥
जो तुम श्याम होहु वे श्यामा तौ यह वेद न जानैं।
श्री बीठलविपुल विनोद विहारी सौं वाद रूसनौं ठानैं॥

नाभा जी ने अपनी भक्तमाल में स्वा० बीठलविपुल जी की 'रस सागर' कहकर प्रशंसा की है। यद्यपि नाभा जी का संकेत उनकी उपासना-पद्धति की ओर था किन्तु काव्य की दृष्टि से भी देखें तो वास्तव में स्वा० बीठलविपुल जी 'रस सागर' ही सिद्ध होंगे। केवल चालीस पदों में उन्होंने जो काव्यकुशलता प्रकट की है, जैसी सुगठित सरस पद-योजना की है, वह पोथे पर पोथे लिख डालने वाले बड़े-बड़े कवियों के लिए भी दुःसाध्य है। क्या शब्द-योजना, क्या भाव-व्यंजना, क्या अलंकार और क्या छन्द—सभी दृष्टि से स्वा० बीठलविपुल जी का काव्य अत्यन्त उच्च कोटि का ठहरता है।

स्वामी विहारिणिदास जी का काव्य

वाणी में इनकी छाप कई प्रकार से मिलती है—विहारीदास, विहारीदासी, विहारिनिदास, विहारिनिदासी, जै श्रीवर विहारिनिदास, तथा विहारीविहारिनिदास। सम्प्रदाय में इन्हें 'स्वा० विहारिनिदेव' तथा 'गुरुदेव जू' कहा जाता है।

अष्टाचार्यों की वाणी की जो प्रति हमारे पास है, उस में इनकी वाणी की संख्या इस प्रकार है :

साखी—६७६

(इनमें संख्या १०३ तक सिद्धान्त की साखियाँ हैं तथा बाद में रस की। बीच-बीच में सोरठा तथा चौबोला भी आ गये हैं।)

चौबोला ('शुद्ध सरूप को निरूपन')—७१
सवैया (बीच-बीच में कवित्त तथा कुंडलियाँ भी)—१५१
सिद्धान्त के पद — —१७९

अष्टाचार्यों की वाणी के अतिरिक्त इनके रस के पदों का एक स्वतन्त्र संकलन और मिलता है, जो 'स्वा० विहारिणिदास जी की वाणी' कहलाता है। इस वाणी की जो प्रति हमारे पास है, उसमें १८७ पद हैं। इस प्रकार इनकी उपलब्ध वाणी का संकलन छन्दों के अनुसार हुआ है। उनमें से भी प्रत्येक के दो विभाग हैं—सिद्धान्त की वाणी तथा रस की वाणी। सिद्धान्त की वाणी में सदाचार के उपदेश, गुरु-शिष्य का स्वरूप निरूपण, शाक्त तथा कर्मठों की निन्दा, विरक्तों की 'रहनी' के उपदेश, वृन्दावन, ब्रजवासी, रज आदि की प्रशंसा, लाड़िली-लाल से विनय आदि विषय आये हैं। रस की वाणी के अन्तर्गत साखियों (दोहों) में निकुंज की सेवा में सखी (उपासक) का स्वरूप और कर्म, स्वा० हरिदास जी द्वारा उपदिष्ट रस की मीमांसा, इस रस का अन्य रसों से उत्कर्ष-कथन आदि विषय लिये गये हैं। रस के सवैयों में से अनेक स्वामी हरिदास जी की प्रशंसा में लिखे गये हैं। कुछ में विहारी-विहारिणि की प्रशंसा है तथा कुछ में नित्यविहार रस का महत्त्वकथन है। चौबोलों में नित्यविहार रस की अनन्यता का निरूपण है, जिसमें अनन्यता के बाधक एवं साधक तत्त्वों के विवेचन द्वारा नित्यविहार की उपासना का स्वरूप समझाया गया है। रस के पदों में प्रिया-प्रियतम के नित्यविहार का वर्णन है, जिसमें युगल किशोर की विभिन्न समय और ऋतुओं की क्रीड़ाएँ, मान तथा सखी द्वारा मिलन कराने की चेष्टा, सखियों द्वारा नित्य-विहार के नित नये कौतुकों का दर्शन आदि विषय लिये गये हैं।

रस के पदों में से अनेक पद स्वा० हरिदास जी के पदों की टीका-स्वरूप हैं। सम्प्रदाय के सभी आचार्यों ने अपने रस के पदों में कुछ पद स्वा० हरिदास जी के पदों की व्याख्या करने के लिये लिखे हैं। स्वा० विहारिणिदास जी के निम्नलिखित पदों की स्वा० हरिदास जी के पदों से तुलना कीजिये :

अ—(स्वा० हरिदास) :

एक समय एकांत वन में करत सिंगार परसपर दोई।
वे उनके वे उनके प्रतिबिंबन देखत रहत परसपर भोई॥
जैसे नीके आज बने ऐसे कबहूँ न बने
आरसी सब झूठी परीं कैसी और कोई।
श्री हरिदास के स्वामी श्यामा कुंजविहारी
रीझि परसपर प्रीति नोई।

(स्वा० विहारिणीदास) :

अँषियाँ आरसी करि मेरी।
करत सिंगार परसपर जद्‌पि अंग-अंग अनेग नग दिपत
तदपि लई हौं नवल नागरी नेरी॥
अंजन मंजन कै मनरंजन जहाँ-जहाँ चाहि
चितवति हरि तहाँ-तहाँ लित ह्वै हौं हेरी।
श्री विहारीदासि स्वामिनी स्याम सषी
नैंकु विसरत कहत हमारैं तन मन प्रतीति मिजु तेरी॥

आ—(स्वा० हरिदास) :

झूलत डोल श्री कुंजविहारी ।
दूसरी ओर रसिक राधा वर नागर नवल दुलारी ॥
राखैं न रहत हँसत कहि-कहि बिलबिलात पोय भारी ।
श्री हरिदास के स्वामी स्यामा प्यारी अबकैं राखि हा हा री ॥

(स्वा० विहारिणिदास) :

फूल सौं फूल डोल झूलैं कुंजविहारी ।
फूल सौ सषी समाज आजु राग रंग रह्यो कह्यो न जाइ मोपै
फूल सौ झोटा देति प्रबल प्रानप्यारी ॥
भई फूल ही मैं फूल सिथिल कटि दुकूल
रहे गहि भूज मूल वदन निहारी ।
विवस विहारिणिदासि की स्वामिनी सौं कहत
बहुरि झूलिहैं बलि राषि लै हहा री ॥

इस प्रकार के पदों में स्वा० हरिदास जी के पदों की शब्दश: व्याख्या नहीं है, केवल उन्हीं प्रसंगों को अपने शब्दों में दुहराया गया है । सम्प्रदाय के उपासकों की मान्यता है कि स्वा० हरिदास जी प्रियाप्रियतम की नित्य केलि को अपनी आँखों से देखते हैं । वे सहचरि-स्वरूप हैं, अत: उन्हीं की कृपा से विहार के दर्शन का सौभाग्य उपासक को मिलता है । इसलिये विहार की जो झाँकी स्वामी हरिदास जी दिखाते हैं, उसी को देख स्वा० विहारिणि-दास जी अपने शब्दों में उसका वर्णन कर रहे हैं । यही भावना इन पदों के साम्य के पीछे काम करती ज्ञात होती है ।

स्वा० विहारिणिदास जी ने अपनी वाणी द्वारा स्वा० हरिदास जी की रसोपासना के तत्त्व को स्पष्ट किया है, उनकी नित्यविहार की कल्पना की परिभाषा की है, अत: सम्प्रदाय में उनकी वाणी का बहुत मान है ।

सिद्धान्त की वाणी में स्वा० विहारिणिदास जी की शैली की विशेषता है—स्पष्ट उक्ति । 'खरी बात' कह देना उनका स्वभाव है । वे फक्कड़ और बेपरवाह हैं । कहीं-कहीं तो श्लील और अश्लील का भी ध्यान नहीं रखते । किसी को फटकारते हैं, तो सीधे शब्दों में गाली दे बैठना भी उनके लिए असम्भव नहीं । दुष्ट प्रकृति के किन्हीं गोस्वामियों की बुराई करने लगे तो 'दीन पिता दालिद्री दादे' ही नहीं कहा, 'साधैं बैर गली में पादैं' आदि अश्लील शब्द भी कह बैठे । इसी प्रकार कुमार्गगामी विरक्त वेशधारियों को भी उन्होंने खूब आड़े हाथों लिया । स्वादु भोजन के लालची तथा क्रोधी विरक्तों के लिए वे लिखते हैं :

घर छाँड़्यो हो भजन कौं सालन कौं पछिताइं ।
चुपरी पायैं हंस मिलैं रूषी देष रिसाइं ॥
रूठे से रिस में फिरैं लियैं वैरु अरु आगि ।
आपुन ही जरि-जरि मरैं बिन वैराग अभागि ॥

स्वा० विहारिणिदास जी ने अपनी सिद्धान्त की वाणी में जो कुछ लिखा है, अपने अनुभव के आधार पर लिखा है । जीवन के अनेक पहलुओं की उन्हें परख है । प्रत्येक उक्ति में उनकी मौलिक सूझ-बूझ दृष्टिगोचर होती है । अत: स्थान-स्थान पर उनकी उक्तियाँ बड़ी

मार्मिक हुई हैं। विरक्त की जीवन-चर्या के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है :

(अ) काँध कमरिया फाटरी हाथ करुवरा फूट।
श्री विहारिणिदास निरभै भयो सुष ज्यों भावै त्यों लूट।

(आ) करुवाकामरि सों रतिमति कब ह्वै हौं यह गति जोग।
जमुना कूल कदम्ब कुंजगृह बसि वन मैंटौं सोग॥
चना चबैना छाछ जमुन जल पत्र पुहुप फल भोग।
तिनके आगैं ऐसे सुनियत षटरस फीके फोग॥
अटल निहाल करो जिनि ऐसैं ज्यौं डहकायो लोग।
विषै वासना हरो सासना बहुत जन्म को रोग॥
पर्‌यो रहौं द्वारैं दुलराऊँ गाऊँ प्रेम प्रयोग।
श्री विहारीदास प्रभु अब अोसर बन्यो है सरन संजोग॥

सीधे-सादे शब्दों में मर्म की बात कह देना यही सन्तों की विशेषता है। काव्य के चमत्कार यहाँ जान-बूझकर लादे नहीं जाते। अनुभव की गहराई से जो शब्द निकलते हैं, उनसे वाणी स्वयं ही चमत्कृत हो उठती है।

रस की वाणी में इनके आलम्बन तथा आश्रय के स्वरूप, उद्दीपन के अन्तर्गत वृन्दावन और वहाँ की प्रकृति, अनुभाव तथा संचारी भाव आदि लगभग वैसे ही हैं, जैसे स्वा० हरिदास जी या स्वा० बीठलविपुल जी की वाणी में। स्वा० विहारिणिदास जी की लाड़िली भी वैसी ही गर्वीली हैं, वैसी ही धीर और उदार। ऊपर से मान करती हैं, तो भीतर से सदा रति के लिए आतुर हैं। लाल भी वैसे ही आतुर और आधीन हैं, सदा विहार के याचक। आलम्बन और आश्रय का परस्पर सम्बन्ध इन पदों में देखिये :

(अ) मोहनलाल रसाल सौं मोहि अनबोले हूँ बोल्यो भावै।
जब कबहूँ हौं रहौं री मौन ह्वै हँसि मन मोद बढ़ावै।
तान अतीत अनागत अँग-सँग मिलि मधुरे सुर गावै।
श्री विहारीदास स्वामिनी के रस रसिक रस ही मैं रसु उपजावै॥

(आ) विहारिनि लाड़िली हो लालहि सकल सुषन की दानि।
चितवत चितु तोषति पोषति तनु मन मनसा रस सानि॥
दरस परस रस हासि परसपर विचित्र तिहारी बानि।
धंनि जनम मानत अनुरागी जब उर लागत आनि।
बिहरत वन रति मानि निरंतर निदरि काम की कानि।
श्री विहारिनिदासि लड़ावति छिनु-छिनु हिलग हिये की जानि॥

वृन्दावन की नित नयी प्रकृति प्रिया-प्रियतम के विहार में उद्दीपन-भूत है। प्रकृति-वर्णन की वही शैली है जो स्वा० हरिदास जी ने स्थापित की थी। वर्षा-विहार के इस पद को देखिये, जिसमें स्वामी हरिदास जी के वर्षा के पदों की परिपाटी का पालन हुआ है :

धूंमरे गगन गरजि-गरजि उल्हरि आए री बरसन कौं।
तैसोई करि सिंगार स्याम सुभग अंग उमगि इति अवनि रवनि
पिय सुष सुष दरसन कौं॥

नान्हों नान्हीं बूंद वचन चनक मूंद अरुन हरित प्रेम भरित
पियरे पट परसन कौं ।
श्री विहारीदासि स्वामिनी स्याम सब रितु राजत रहे लटपटाइ
उर सौं उर सरसन कौं ।।

रसलुब्ध किशोर-किशोरी विहार की लीलाओं में सदा खोये रहते हैं। उनकी तल्लीनता, रति की उत्सुकता, एक-दूसरे के अंग-संग तथा दर्शन की प्यास कभी कम नहीं होती। ऐसे युगल के विहार में अलौकिक अनुभाव प्रकट होते हैं। स्वा० विहारिणिदास जी के इस पद में युगल की चेष्टाओं का यह उत्कृष्ट चित्रण देखिये :

नैननि सौं नैन जोरैं इत उत मुष न मोरैं ।
मंद मंद हासि मन हुलासि श्रवत सुधा मानौ द्वै ससि मिलि चारि चकोर के भोरैं ।।
जिहिं-जिहिं अँग परनि परैं तित ही तित हरैं ढरैं ढिंग अंग-अंग अनंगनि रोरैं ।
श्री विहारिनिदासि प्रवीन प्रियापिय यौं विहरैं भरि भुज सनेह निहोरैं ।।

युगलकिशोर की रति में तन्मयता का यह चित्र अत्यन्त भावुकता से आँका गया है। सुधा-वर्षण करने वाले दो शशि और उस सुधा का अनवरत पान करने वाले चार चकोरों की अप्रस्तुत योजना ने प्रस्तुत विषय की रसमयता को द्विगुणित कर दिया है।

संचारी भावों के अन्तर्गत आलंबन की चेष्टाओं के चित्र भी स्वा० विहारिणिदास जी ने बड़ी सुन्दरता से अंकित किये हैं। जिस प्रकार इनके आलंबन और आश्रय का स्वरूप स्वा० हरिदास जी द्वारा निश्चित किया हुआ स्वरूप ही है, इसी प्रकार संचारी भावों में भी प्राय: स्वा० हरिदास जी के कहे संचारियों की ही आवृत्ति होती है। निम्नलिखित पद में अर्धनिमीलित नेत्र, जँभाई लेना, हाथों का मोड़ना आदि स्वा० हरिदास जी के रस के पदों में भी इसी प्रकार आये थे :

आधी-आधी अँषिइनि री चितवत चितु चोरति ।
सुरत अंत अरसात गात तुतरात बात कहि आवति भावति री लालन मन
जब जँभात कर मोरति ।।
यौंही नित सहज सुभाव स्याम तन रहि री मान न करि बार-बार मनुहारि
करति हौं पाइनि परैं निहोरति ।
श्री विहारीदासि सुख देति निरंतर पिय प्यारी इहि विधि छिन-छिन
रति जोरति ।।

इन नायक-नायिका का 'सुरतांत' लौकिक नायक-नायिकाओं की भाँति नहीं होता। यहाँ तो रति की प्रत्येक क्रीड़ा की समाप्ति दूसरी क्रीड़ा को आमंत्रण देती है। इन युगल को विहार से कभी तुष्टि नहीं होती। छक कर रस पीने के बाद भी वे प्यासे के प्यासे बने रहते हैं। अत: जहाँ एक पंक्ति में सुरतांत की छवि का वर्णन है, वहाँ दूसरी ही पंक्ति में नायिका द्वारा मान और नायक कुंजविहारी द्वारा रति के हेतु अनुनय का प्रारंभ हो जाता है। इस निरवधि नित्यविहार का यही रहस्य है, यही मर्म है।

स्वा० विहारिणिदास जी के काव्य में स्वाभाविक रूप से आये अलंकारों की छटा सर्वत्र देखने को मिलती है। शब्दालंकारों में अनुप्रासादि का तो उल्लेख करना ही अनावश्यक है क्योंकि वे तो प्रत्येक पंक्ति में मिल जायेंगे। यमक और श्लेष के अनेक नये प्रयोग इनके

काव्य में मिलते हैं। 'गुरु' शब्द का बोली के आधार पर 'गुरु' तथा 'गुड़' दो अर्थों में प्रयोग कर अनेक दोहों में यमक की सृष्टि की गई है :

गुरु मीठो संसार मैं गुरु मुष मीठो होइ।
रस ही रस गुरु सैइयै तौ गुरु तैं मिश्री होइ॥
इक गुरु षइयै नाज सौं इक षइयै घी सान।
इक गुरु मैं सब माधुरी सो सुष स्वाद पिछान॥

इसी प्रकार 'गोसाईं' (गोस्वामी) शब्द के 'गोस्वामी' और 'बैल' (साँड़) दो अर्थ ग्रहण कर श्लेष की योजना की गई है :

सींग बड़े डाढ़ी बड़ी षर चर रहे मुटाइ।
गोसाईं घूरे षनैं राह्मत राष उड़ाइ॥
गोसाईं गहि जोतियै नाकन मोटी नाथ।
आगैं पगहा खैंचियै पाछैं पैनी हाथ॥

अर्थालंकारों में से भी अनेक इनके काव्य में बिखरे हुए मिलते हैं। कुछ उदाहरण देखिये :

(सांग रूपक) : *अंजन अनी नैंन सर सूधे भृकुटिनि चाप चढ़ाइ।*

(उत्प्रेक्षा) : *सोभा री चंदन वंदन की तन सोभा।*
मानहुँ निसि नछत्र प्रगटे घन विमल वसन विच वोभा।

(दृष्टांत) : *रसिकन सौं ऐंड़त फिरैं विमुषन भैंटत धाइ।*
ऊँट कपूर न सूँघही टेढ़े काँटे षाइ॥

(विनोक्ति) : *कहा सिंगार सुहाग बिन कहा साहस बिन सूर।*
कहा प्रीति परतीत बिनु करत कुमंत्री कूर।

छन्द-रचना की दृष्टि से स्वा० विहारिणिदास जी का काव्य कहीं तो बहुत सुन्दर है, परन्तु कहीं-कहीं उसमें दोष भी आ गये हैं। पदों में पंक्तियों का छोटा-बड़ा होना इतना महत्त्व नहीं रखता क्योंकि वहाँ संगीत की लय पर ठीक बैठना ही पर्याप्त है, किन्तु दोहा या सवैया जैसे मात्रिक या वर्ण वृत्तों में मात्रा या वर्णों का कम या अधिक होना छन्दःशास्त्र के नियमों का उल्लंघन ही मानना पड़ेगा। निम्नलिखित दोहे से इस कथन की पुष्टि हो जायेगी :

नीच ऊँच यौं परषियै, (श्री) विहारीदास कुसलाइ।
अंब फलैं नीचौ नवै, अरंड नींव ऊँच ह्वै जाइ॥

उपर्युक्त दोहे के प्रथम तथा तृतीय चरण में तो मात्राएं नियमानुसार १३ ही हैं, परन्तु दूसरे तथा चौथे चरण में ११ के स्थान पर क्रमशः १३ तथा १५ मात्राएँ हैं। इस प्रकार के छन्दोभंग के उदाहरण स्वा० विहारिणिदास जी के काव्य में अनेक स्थानों पर मिलते हैं।

पदों में प्रायः चार पंक्तियाँ हैं, परन्तु कहीं-कहीं इनकी संख्या बढ़ जाती है। सिद्धान्त के पदों में पंक्तियाँ आठ-दस तक भी हो गयी हैं, किन्तु रस के पदों में तो कुछ पद इतने बड़े हैं कि उनमें ४०, ८० और १०० पंक्तियाँ भी हैं।

स्वा० विहारिणिदास जी ने इन बड़े पदों में कहीं-कहीं लोकगीतों की-सी शैली अपनायी है। शब्दों की योजना भी वैसी ही है। निम्नलिखित उदाहरण देखिये :

(अ) श्री वृन्दावन को री चोज मनोज बढ़त रहै।
कुंजनि कुंजनि केलि नवेलि नवल कहैं।
कहैं नवल नवेलि केलि समि सषी सुष पावहीं।
मंद मंद मधुर मिलैं सुर सरस गीतहिं गावहीं।

यहाँ पहली पंक्ति में 'री' का प्रयोग लोकगीत की मधुरता लिये है। तीसरी तथा चौथी पंक्ति की लय पहली दो पंक्तियों से भिन्न है। पद ४० पंक्ति का है और प्रत्येक दो पंक्ति के बाद इसी प्रकार छन्द और लय बदल जाते हैं।

(आ) श्री वृन्दावन सहज सुहावनौ नवल नव नागर ए
नव नागर नेह निधान ॥ बना हंबै हो ॥
होरी षेलन के मतैं नवल नव नागर ए
बनि बैठे करि ठान ॥ बना हंबै हो ॥

यह पद ४० पंक्ति का है और प्रत्येक पंक्ति के बाद इसी प्रकार 'बना हंबै हो' की पुनरावृत्ति होती है। इन बड़े पदों में ब्रज के लोकगीतों की छाया स्पष्ट दीख पड़ती है।

भाषा की दृष्टि से स्वा० विहारिणिदास जी का काव्य बड़ा समृद्ध है। उनका शब्द-भण्डार बहुत विशाल है। रस की वाणी में तो प्रायः शुद्ध साहित्यिक ब्रजभाषा ही मिलती है, किन्तु सिद्धान्त की वाणी में बोली के शब्द, अरबी-फ़ारसी के शब्द, पंजाबी के शब्द प्रायः मिल जाते हैं। रस की वाणी में भी कहीं-कहीं अन्य भाषाओं के तथा बोली के शब्द मिलते हैं। सिद्धान्त की वाणी में मुहावरों तथा लोकोक्तियों के प्रयोग ने भाषा को बड़ा जानदार बना दिया है। लोक में प्रचलित उक्तियों, पारिभाषिक शब्दों तथा प्रचलित लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ के प्रचुर प्रयोग ने कवि की उक्तियों को बहुत मार्मिक और तुरन्त जन-मन को स्पर्श करने वाला बना दिया है। साहित्यिक भाषा में सौष्ठव और परिष्कार होता है किन्तु बोली में उससे अधिक सजीवता और बल होता है। स्वा० विहारिणिदास जी ने बोली के शब्दों के प्रयोग से उनके इन गुणों का भरपूर लाभ उठाया है। कुछ थोड़े से छन्दों में से छाँटे हुए बोली के इन शब्दों को देखिये :

टौंड़गी, छुतिहा, ऐंड़ायल, इतराइ, निगुरा, चैंटा, किरकिरे, सान, अनखावनौं, कल्लर, बयौ, नीपजै, मिहरी, अचवावै, भौंड़ें, नाथ (बैल की), पगहा, पैंनी, सतराइ, सरुवौ, भड़हा, भूसैं, निगुसाए, निसूंगे, ओछौ, छोति, जापौ, स्यापौ।

इस प्रकार के सैकड़ों शब्द उनकी वाणी में बिखरे पड़े हैं और भाषा-शास्त्रियों को विशेष अध्ययन का आमन्त्रण देते हैं।

पारिभाषिक शब्दों में बंधिक के उपादानों में वे 'कांपौ', 'सिलक', 'फंदा', 'गर्दनि', 'लगुदा' आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं।

इसी प्रकार विभिन्न विषयों के पारिभाषिक शब्द उनकी वाणी में मिलते हैं।

अरबी-फ़ारसी के शब्दों का प्रयोग भी अनेक स्थानों पर हुआ है। कुछ पृष्ठों में से चुने हुए उदाहरण देखिये :

आमिल, हुनर, हबूब, दोजख, हक, नाहक, दावा, मुद्दई, खुरंदः।

कई स्थानों पर इन्होंने शब्दों और धातुओं के खड़ी बोली के रूपों का भी प्रयोग किया है, उदाहरणार्थ :

(अ) दाना दुश्मन भो भला दोस्त बुरा नादान ।
पाछैं हू पछिताइगा कहा बड़ों का मान ।।
(आ) बीबी सांवला मतवाला री तेरा ।
और अमल न भावता मोकौं सु तैं मन मोह्या मेरा ।।

एक-दो स्थानों पर उन्होंने पंजाबी के शब्दों और धातुओं का भी प्रयोग किया है । उदाहरण के लिए :

हो हो रंगीली नागरी हो ।
रंग रत्ता मत्ता तेरे 'री बैंन नैंन सलोनैं चाउ ।
मोहि लिया मिठ बोलन ढोलनु मोहन रसिक राउ ।।१।।
सांवली बैंनी मनों अलि सैंनी सोहदा झब्बा अंत ।
लटकि चलै अलबेली रसावस कारन कांमी कंत ।।२।।
उज्जली जोति झलकदा मोती ऊँची नक्कल वंग ।
एक अलक झलक कपोलनि विथुरी मोती संग ।।३।।

उच्च कुच्च नवरंगे चंगे अंचल अति उदार ।
लाड़िलो लाल लड़ावंदा भावंदा गावंदा नित्य विहार ।।७।।
सषी सब गल्लां लषियां अँषियां कुम्हनु कित्ती गल्ल ।
सुनि सुनि सुष नेह सनेहोदा हँसि मिलो मुष भल्ल ।।९।।

स्वामी नागरीदास जी का काव्य

स्वा० नागरीदास जी की सम्पूर्ण वाणी अष्टाचार्यों की वाणी में संकलित है । अष्टाचार्यों की वाणी की जो प्रति हमारे पास है, उसमें छन्द-विभाग के अनुसार इनकी वाणी की संख्या निम्नलिखित है :

साखी—२०
चौबोला—४२ (नवल चौबोला—२२, सरस चौबोला—२०)
कवित्त, सवैया तथा कुंडलिया—३९
रस के पद—७०

साखियां सभी सिद्धान्त की हैं । इनमें सदाचार के उपदेश, भक्ति के बाधक तत्त्वों की निंदा आदि विषय लिये गये हैं । इनमें सभी छन्द शुद्ध दोहा नहीं हैं । कुछ में पंक्तियां बड़ी-छोटी भी हो गयी हैं । चौबोला सभी रस के हैं । इनमें से पहले २२ चौबोलों में 'नवल' शब्द की प्रत्येक पंक्ति में एक या अधिक बार आवृत्ति होने के कारण इन्हें 'नवल चौबोला' कहा जाता है । इसी प्रकार अन्य २० चौबोलों मे 'सरस' शब्द प्रत्येक पंक्ति में आया है । अतः इन्हें 'सरस चौबोला' कहते हैं । इन चौबोलों में प्रियाप्रियतम, वृन्दावन, सहचरि-समाज तथा नित्यविहार का वर्णन है । दोनों प्रकार के चौबोलों में से एक-एक उदाहरण देखिये :

(अ) नव किशोर नवरूप नवल छवि पटतर दैहुं कहि काहि।
नवल नैंन मृदुबैन नवल सुष जीवत है मुष चाहि॥
नवल हरस रस परस नवल उर नवल लटक लपटात।
नवल सुधाधर पान नवल कर नवल न नैंक अघात॥

(आ) सरस कुंज कौतिक सरस सरस रसिक रस रास।
सरस सुमन सुष सेज बलि सरस नागरीदास॥
सरस मृदुल मणि भूमि सरस वृन्दावन राजै।
सरस मदन सुष सदन सरस संपति सुष साजै॥

कवित्त, सवैया तथा कुंडलियों में से लगभग आधे में स्वा० विहारिणिदास जी (कवि के गुरु) की प्रशंसा है। शेष में प्रिया-प्रियतम तथा वृन्दावन की प्रशंसा तथा साधारण सदाचार के उपदेश हैं। चौबोलों की तुलना में इनकी अन्य काव्य-रचना साधारण है। सवैयों में से एक सुन्दर उदाहरण देखिये :

कौंन करै तपतरपन तीरथ तीन प्रकार कहा मन लाऊं।
कौंन करै वृत संजम नैंम सु प्रेम पुनीति प्रसादहि पाऊं॥
कुंजनि वास निवास रसिक श्री नागरीदास विलास बढ़ाऊं।
चित्त लगाय उभय पद अंबुज नित्य विहारी विहारिनि गाऊं॥

इनके रस के पदों में परम्परा के समान प्रिया-प्रियतम की शोभा, उनका विहार, सुरतांत की शोभा, वर्षा, डोल, फूल डोल तथा होली आदि विषय आये हैं। नौका-विहार तथा चौगान के खेल का भी एक-एक पद इनकी वाणी में मिलता है। विहार की इन दो लीलाओं को प्रथम बार इन्हीं ने ग्रहण किया। होली के कई लम्बे-लम्बे पद इन्होंने लिखे हैं। इनमें से एक में तो सौ पंक्तियाँ हैं।

इनकी पद-रचना अत्यन्त सरस और सुन्दर है। वर्ण-योजना बड़ी ही ललित और माधुर्य-गुण-पूर्ण है। एक उदाहरण देखिये :

आवत रंग भरे दोउ गावत।
कुंज-कुंज सुष पुंज प्रिया पिय प्रेम परसपर मोद बढ़ावत॥
सहज सप्त सुर उमग उमग उर तान तरंग रंग उपजावत।
पुलक पुलक तन उदित मुदित मन सहज सुघर वर रीझि रिझावत॥
सुरति सुषद रति अति अनूप मग रसिक सषी हित सुष वरषावत।
श्री बिहारी विहारिनिदासि सुषद संग नव नागरीदास मन भावत॥

इस पद में कोमल वर्णों की योजना जितनी दर्शनीय है, उतनी ही हृदयहारिणी है अनुप्रास की योजना, जिसने पद के मार्दव को चौगुना बना दिया है।

इनकी भाषा सर्वत्र साहित्यिक ब्रजभाषा है। संस्कृत के तत्सम तथा तद्भव शब्दों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में मिलता है। भाव-व्यंजना की दृष्टि से इनके रस के पद अत्यन्त उत्कृष्ट कोटि के हैं। अनुकूल वर्ण-योजना के साथ लिखे गये यह पद कवि की काव्य-कुशलता के परिचायक हैं। अधिक विस्तार न बढ़ाकर हम यहाँ केवल होली का एक पद उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत करते हैं :

विहरत विपिन भरत रंग ढरकी ।
हरष गुलाल उड़ाइ लाड़िली संपति कुसुमाकर की ।।
कसुंभी सारी सौंधैं भीजी ऊपर वंदन भुरकी ।
चोली नील ललित अंचल चल झलक उजागर उरकी ।
मृदुल सुहास तरल दृग कुंडल मुष अलकावलि रुरकी ।
श्री नागरीदास केल सुष सनि रही मैन ललक नहिं मुरकी ।।

स्वामी सरसदास जी का काव्य

स्वा० सरसदास जी की सम्पूर्ण वाणी अष्टाचार्यों की वाणी में सम्मिलित है । इनकी सिद्धान्त की वाणी में पद, सवैया तथा कवित्तों की संख्या कुल मिलाकर २७ है । इनकी रस की वाणी में २९ पद हैं ।

सिद्धान्त की वाणी में कुछ छंद स्वा० हरिदास, स्वा० विहारिणिदास (कवि के गुरु) तथा स्वा० नागरीदास (कवि के बड़े गुरुभाई तथा अग्रज) की प्रशंसा में लिखे गये हैं । शेष साधारण सदाचार के उपदेश हैं । काव्य-रचना की दृष्टि से इनके छंद सामान्यत: अच्छे हैं । उदाहरणार्थ एक सिद्धान्त का कवित्त देखिये :

काहू धनमद मानमद काहू जोबन मद
काहू राजमद होत झूठी बात को ।
काहू गुन गान मद काहू जोग ध्यान मद
दान अस्नानमद काहू रूप गात को ।
काहू जाति जीति मद काहू वेद रीति मद
कुटंम समीति मद द्यौस पाँच सात को ।
सदा मनमोहन मोहनीजू के मदमाते
सुरस सुरासि पायो बाँकी कुंज घात को ।

रस के पदों में पूर्व परम्परा के समान प्रिया-प्रियतम के नित्य-विहार का वर्णन है । युगल का स्वरूप, वृन्दावन, वर्षा, डोल, फूलडोल, तथा होली आदि विषय इन पदों में वर्णित हैं । विहार के उपादानों का स्वरूप परम्परा प्राप्त है । अलंकारों की योजना, शब्द-चयन, आदि भी पुरानी परिपाटी के अनुसार हैं । रस के पदों में से एक उदाहरण देखिये :

नित्तंत रस भरे रसिक विहारी ।
तान तिरप गति भेद अनागत घात लेत सुकुमारी ।।
थेई थेई करत धरत पग चंचल उपजत नूपुर रव झनकारी ।
गावत कटि लटकावत नैंन नचावत प्रीतम प्यारी ।।
मृदंग ताल सुर सप्त संच मिलि तैंसी छुटक रही उजियारी ।
कोक कला कल केलि झेल रस क्रीड़त कुँवरि दुलारी ।।
द्रुमबेली फूली रस वरषत चम्पक बकुल गुलाब निवारी ।
करत विनोद पुलिन मन भाए सरसदास बलिहारी ।।

स्वामी रसिकदास जी का काव्य

स्वा० रसिकदास (रसिकदेव) जी इस सम्प्रदाय में पहले कवि हैं, जिन्होंने स्फुट रचना के अतिरिक्त ग्रंथ-रूप में भी रचना की। टट्टी स्थान की परम्परा में जो अष्टाचार्यों के वाणी संग्रह मिलते हैं उनमें इनकी केवल १६ साखियाँ, ५ सिद्धान्त के पद तथा २६ रस के पद मिलते हैं। श्री रसिक विहारी की गद्दी की परम्परा के संग्रहों में इस फुटकर वाणी संग्रह के अतिरिक्त ८ छोटे-छोटे ग्रंथ और मिलते हैं—

१. गुरु मंगल, २. बाललीला, ३. भक्ति सिद्धान्त मणि, ४. पूजा विलास, ५. वाराह संहिता (भाषा), ६. रसार्णवपटल, ७. कुंज कौतुक तथा ८. रससार।

ब्रजभाषा के इन ग्रंथों के अतिरिक्त इनकी संस्कृत में रचित एक छोटी-सी गुरु-परम्परा भी मिलती है, जिसमें निम्बार्काचार्य से लेकर अपने गुरु तक की परम्परा का नाम ग्रहण किया गया है। इस ग्रंथ की भाषा सामान्य है।

इनकी साखियों में उपासनीय रस का सिद्धान्त तथा सखी का स्वरूप समझाया गया है। सिद्धान्त के पदों में विनय, वृन्दावन-महिमा तथा प्रियाप्रियतम की प्रशंसा है। रस के पदों में युगल-किशोर के नित्यविहार का वर्णन है जिसमें परम्परा की भाँति प्रिया-प्रियतम का रूप-वर्णन, सुरति, मान, होली, हिंडोला, वसंत आदि की लीलाएँ जैसे विषय लिये गये हैं। रसिक विहारी की परम्परा की वाणियों में जो अतिरिक्त पद मिलते हैं उनमें लाल द्वारा विवाहोपरान्त लाड़िली का कंकण खोलने का भी एक पद है। यह पद टट्टी स्थान की वाणियों में नहीं मिलता।

काव्य-रचना की दृष्टि से स्वा० रसिकदेव जी के पद बहुत सुन्दर हैं। साहित्यिक ब्रजभाषा में लिखे इन पदों में संस्कृत के तत्सम तथा तद्भव शब्द प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। शब्द और अर्थ के अलंकार भी स्वाभाविक रूप से इनकी रचना में आते गये हैं। अधिकांश पदों में पहली पंक्ति (स्थायी) छोटी तथा शेष सब उससे कुछ बड़ी और समान रूप से लम्बी हैं। अधिकांश पदों में चार से अधिक पंक्तियाँ हैं। भावव्यंजना में कवि की काव्य-कुशलता भली भाँति प्रकट होती है। इनके सिद्धान्त के पदों में से एक उदाहरण देखिये :

श्याम हौं तुम्हरे गरैं परौ।
जो बीती तुम ही सौं बीती मन मानैं सो करौ॥
करी अनीति कछू मिति नाहीं नष सिष दोष भरौ।
मो तन चितै आप तन चितवौ अपनैं विरद ढरौ॥
कीजै लाज सरन आए की जिन जिय दोष धरौ।
अपनी जाँघ उघारैं सुखसागर तुम ही लाज मरौ॥
विनती करौं काहि हौं मिल कै सब कोऊ कहत बुरौ।
रसिकदास को आस करुनानिधि तुम ही ढरौ सो ढरौ॥

भगवान की शरणागत-वत्सलता को जानकर भक्त मानो मुँह लगा हो गया है। वह भगवान को ही अपना कर्त्तव्य याद दिलाता है। उसे निश्चय है कि मुझ पर कृपा न करेंगे तो स्वयं भगवान को ही लज्जित होना पड़ेगा। उक्ति बड़ी विलक्षण है।

रस के पदों में से कुछ बहुत ही सुन्दर बन पड़े हैं। देखिये :

अब पौढ़न को समयो भयो।
इत आई द्रुम की परछाई उत ढरि चंद गयो।
उमगि ढरे दोउ सुरति सेज पर बाढ्यो रंग नयो।
श्री रसिक विहारी विहारिनि पौढ़े अति सुष दृगनि दयो॥

पद में शब्द-योजना बड़ी ही सुकुमार और ललित है। 'उमगि ढरे' में कैसी शक्तिमती भावव्यंजना है। दूसरी पंक्ति में प्रकृति-व्यापार को कैसे सुन्दर शब्दों में व्यक्त किया गया है। एक और पद देखिये :

लेत परसपर अंग सुवास।
मन तरंग उठत मनमथ की और न कछू प्रकास॥
रोम-रोम तन यह विलसत सुष भोजन भूष न प्यास।
श्री रसिक विहारी मगन रहत नित सहत न षटक उसास॥

परस्पर अंग की सुवास ग्रहण करने में कैसा नवीन और मौलिक अनुभाव कवि ने सामने रखा है। शरीर के रोम-रोम से विहार का सुख भोगने की उक्ति बहुत ही मनोज्ञ बन पड़ी है।

इनके आठों लघु ग्रंथों का परिचय इस प्रकार है :

गुरु मंगल—चार-चार चरण की ५१ चौपाइयों की इस रचना में लेखक ने अपने गुरु स्वा० नरहरिदेव जी की वंदना की है। इनमें से ६ चौपाइयाँ गुरु के ध्यान सम्बन्धी हैं तथा १० चौपाइयों में हरि की कृपा का वर्णन है। स्वा० रसिकदेव जी ने केवल इसी ग्रंथ में रचनाकाल का निर्देश किया है। उन्होंने यह रचना सं० १७५९ वि० में की।

बाल लीला—यह रचना भी चौपाइयों में हुई है। बीच-बीच में दोहे भी हैं। छंदों की कुल संख्या ४९ है। इस ग्रंथ में बाल कृष्ण का राधा से मिलन वर्णित है। वृषभानु तथा कीर्त्ति (राधा के माता-पिता) के मन में अपनी पुत्री का विवाह नन्दकुमार कृष्ण से करने की लालसा उठी। तब उन्होंने एक गोपी को नन्दभवन भेजा। यह गोपी वास्तव में भावना में स्वयं लेखक ही हैं। गोपी ने नन्दभवन में जा श्याम को अनेक प्रकार से लाड़ लड़ाया तथा उन्हें गोचारण के बहाने वन में ला राधा से मिलाया।

स्वा० रसिकदास जी से पहले सम्प्रदाय के किसी आचार्य ने युगल के जन्म, बालकपन, माता-पिता, विवाह-सगाई आदि का वर्णन नहीं किया था। पहली बार इन्हीं की रचना में यह लीला मिलती है। स्वा० रसिकदास ने इस ग्रंथ में अपनी भावना को स्पष्ट करते हुए कहा है कि युगल किशोर एक ओर नित्य-विहार में सदा रत रहते हैं तथा दूसरी ओर नन्द-वृषभानु के घर जन्म भी लेते हैं। गौतमीय तन्त्रादि के समान इन्होंने भी यहाँ नित्य-विहार की निकुंज के चार द्वार बताये हैं, जिनके अधिकारी हैं—वासुदेव, बलराम, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध। उनका कहना है कि अनेक जन्मों में नवधा भक्ति करने से जीव को गोपी रूप मिलता है।

भक्ति सिद्धान्त मणि—चौपाई तथा दोहों में यह १०० छंदों की रचना है। इसमें भक्ति के अंगों की व्याख्या की गयी है। प्रथम गुरु तथा शिष्य के लक्षण बताये गये हैं। धर्म-विवेक के अन्तर्गत वेद का विरोध किया गया है तथा भागवत और गीता को प्रमाण-स्वरूप बताया गया है। भक्ति के बाधक पुण्य कर्म (तीर्थ यात्रा, दान, व्रत, श्राद्ध, तर्पण आदि) तथा पाप कर्म (जुआ, आखेट, वेश्यागमन आदि) विस्तार से कहे गये हैं। तत्पश्चात् भक्ति

के कर्म (गुरु शरणागति, हरि की आधीनता आदि) कहे गये हैं। नामापराधों के अन्तर्गत प्रसाद को अन्न मानना, मूर्त्ति को पाषाण मानना, चरणामृत को जल मानना आदि का निषेध किया गया है। वृन्दावन-वास, ब्रजवासियों की महिमा, गुरु-महिमा, सकाम-कर्म-खंडन आदि विषय भी इस ग्रंथ में आये हैं।

पूजा विलास—चौपाई तथा दोहों में रचित इस ग्रंथ में १०८ छंद हैं। इसके विषय हैं—गुरु-लक्षण, भक्त का आचरण, प्रेम-प्रीति लक्षण, भक्ति के पाँच रस, विग्रहों के आठ प्रकार, रसिक अनन्य का स्वरूप, साधक का नित्य नियम, देहकृत्यादि की विधि, भजन की विधि, तथा मानसी पूजा की विधि।

वाराह संहिता—यह ग्रंथ भी दोहा-चौपाइयों में है तथा इसकी छंद संख्या २१८ है। मूल वाराह संहिता में वर्णित विषय को भाषा में संक्षेप में कहना लेखक का उद्देश्य था। इस ग्रंथ में मथुरा मण्डल के १२ वन तथा ३२ उपवनों का उल्लेख किया गया है तथा उनसे सम्बद्ध कृष्ण-लीलाओं का निर्देश भी। ध्यान के लिए सहस्रदल कमल की कर्णिका में वृन्दावन की स्थिति बताई गयी है। उस कर्णिका के मध्य में स्वर्णपीठ है, जहाँ गोविंद का वास है। कुंजविहारी के निज मन्दिर के सात आवरण हैं। इन भिन्न-भिन्न आवरणों में स्थित हैं—ललिता विशाखादि सखियाँ, गोपकन्या, श्रुतिकन्या तथा मुनिकन्या, श्रीदामा सुदाम आदि सखा, रुक्मिणी सत्यभामादि प्रिया, उद्धवादि पारिषद्, बलदेव प्रद्युम्नादि व्यूहाधिकारी, अरुणविष्णु, गौरविष्णु तथा कृष्णविष्णु। इन सब आवरणों को पार करने के बाद कुंजविहारी का महल मिलता है, जहाँ नित्य विहार निरन्तर चलता रहता है।

रसार्णवपटल—८४ रोला छंदों में ग्रथित इस रचना का विषय है—नित्यविहार का मानसी ध्यान। यमुना से घिरे चतुर्योजन विस्तीर्ण वृन्दावन की कर्णिका में कल्पवृक्ष के नीचे मण्डप पर रत्न सिंहासन है। उस सिंहासन पर विहारी-विहारिणी विराजते हैं। वे ललिता-विशाखादि सखियों तथा वल्लबी वृन्द से घिरे हैं।

कुंज कौतुक—यह ग्रंथ १११ रोला छंदों में लिखा गया है। यह ग्रंथ वृन्दावन के मध्य निधि-वन के ध्यान से प्रारम्भ होता है, जहाँ सखियाँ प्रिया-प्रियतम को लाड़ लड़ा रही हैं। लेखक के गुरु स्वा० नरहरिदास प्रमुख सखी हैं जो लाड़िली लाल को अपने हाथ से ताम्बूल खिलाती हैं। नित्य विहार की अनेक कुंजों का वर्णन किया गया है जिनमें अनेक लीलाएँ होती रहती हैं। प्रकाश कुंज में करोड़ों शरद्रात्रि के समान प्रकाश है। मंगल कुंज में विवाह की लीला होती है। कंकण कुंज में वरवधू का कंकण खोला जाता है। कहीं खण्डिता कुंज है तो कहीं विरह कुंज जिसमें आठ प्रकार का विरह होता है। विरह में प्रत्यक्ष, पलकान्तर, कुंजान्तर, स्वप्नान्तर आदि विरह गिनाये गये हैं। कहीं ललित कुंज है, कहीं महारास की कुंज। सम्पूर्ण कुंजें ३६० हैं ऐसा रसिकदेव जी बताते हैं।

रस सार—चौपाई तथा दोहों में यह ४५ छंदों की रचना है। इसका विषय भी निकुंज विहार है। एकान्त कुंज में अनेक चौक हैं—प्रथम में बिवस है तो दूसरे में शरद् की रात्रि, तीसरे में अँधेरी रात्रि है। इन कुंजों में निरन्तर क्रीड़ा चलती रहती है। युगल की सेवा में नित्यसिद्धा, साधनसिद्धा आदि सखियाँ सदा तत्पर रहती हैं। इनमें देवकन्या, मुनि-कन्या, श्रुतिकन्याएं आदि भी हैं। किन्तु इनका प्रवेश निकुंज में सर्वत्र नहीं होता। सर्वत्र जाने का अधिकार है तत्सुख-सुखी सखियों को, जो अपना सुख नहीं चाहतीं। वे केवल प्रिया-प्रियतम को सुख पहुँचाने में ही सुख मानती हैं।

इन ग्रंथों के वर्ण्य विषय को देखने से ज्ञात होता है कि स्वा० रसिकदास जी ने अपनी पूर्व परम्परा से चले आते विषयों के अतिरिक्त अन्य अनेक बातों को भी अपनी वाणी में स्थान दिया। इनमें से कुछ सम्प्रदाय में चली आती उपासना-पद्धति के विरुद्ध भी थीं। प्रिया-प्रियतम का जन्म, विवाह, निकुंज के आवरण, व्यूह आदि विषय परिपाटी के स्पष्टतः विरुद्ध थे। आगे भी इन विषयों को सम्प्रदाय की उपासना-पद्धति में प्रतिष्ठा नहीं मिली। स्वा० ललितकिशोरी देव जी ने तो अपने गुरु की गद्दी स्वीकार न कर अलग गद्दी की स्थापना की। उन्होंने फिर से स्वा० हरिदास जी की पद्धति तथा स्वा० विहारिणिदेव जी द्वारा की गयी उसकी व्याख्या का आश्रय लिया। सम्भवतः गुरु की उपासना पद्धति से मतभेद होने के कारण ही उन्हें अलग स्थान बनाने की आवश्यकता प्रतीत हुई होगी।

स्वामी ललितकिशोरीदेव जी का काव्य

स्वा० हरिदास जी की उपासना-पद्धति के व्याख्याताओं में स्वा० विहारिणिदेव जी के बाद स्वा० ललितकिशोरीदेव जी का ही स्थान है। इसीलिए सम्प्रदाय में इनकी वाणी का बहुत मान है। अष्टाचार्यों की वाणी की जो प्रति हमारे पास है उसमें इनकी ३२९ साखियाँ, ४ कवित्त तथा सवैये, १०७ सिद्धान्त के पद, १०८ रस के पद तथा २ बधाई के पद संगृहीत हैं। किन्तु इसके अतिरिक्त इनकी वाणी के दो संग्रह और भी हमें प्राप्त हुए। इन तीनों संग्रहों में कुल मिलाकर लगभग १२०० साखियाँ (जिनमें बीच-बीच में चौबोला, अरिल्ल तथा सवैये भी हैं), ५० रस की चौपाइयाँ, १३० सिद्धान्त के पद, १४७ रस के पद तथा २५ बधाई के पद संगृहीत हैं। स्वा० ललितकिशोरीदेव के मुख से निःसृत उपदेश वाक्यों का एक छोटा-सा संग्रह 'वचनिका' नाम से और मिलता है। टट्टी स्थान से ब्रजभाषा गद्य के इस संग्रह का 'श्री वचनिका सिद्धान्त' नाम से प्रकाशन भी हो चुका है। इसमें १३३ उपदेश हैं। लगभग यही उपदेश दोहा-चौपाइयों में निबद्ध एक अन्य हस्तलिखित ग्रंथ में भी हमें मिले। इस ग्रंथ में लिखा है कि ये उपदेश स्वा० ललितकिशोरीदेव जी के कृपापात्र किसी वंशगोपाल ने संग्रह किये तथा सखीशरणदेव ने इन्हें दोहों, चौपाइयों में पद्यबद्ध किया।

स्वा० ललितकिशोरीदेव जी की सिद्धान्त तथा रस की वाणियों के विषय परम्परा-प्राप्त हैं। साखियों में आधी से अधिक सिद्धान्त की साखियाँ हैं जिनमें स्वा० हरिदास जी की वंदना एवं प्रशंसा, स्वा० बीठलविपुल एवं स्वा० विहारिणिदेव जी की प्रशंसा, वृन्दावन महिमा, अनन्यता की महिमा आदि विषय लिये गये हैं। रस की साखियों में नित्य विहार के विभिन्न उपादानों का स्वरूप, सखियों का स्वरूप और कर्म आदि बताये गये हैं। कुछ साखियों में स्वा० ललितकिशोरीदेव जी ने स्वा० हरिदास जी के कुछ दुरूह पदों की व्याख्या भी की है।

कवित्त सवैयों में स्वा० हरिदास जी और उनके नित्य विहार की प्रशंसा की गयी है। सिद्धान्त के पदों में भी इसी प्रकार नित्य विहार, स्वा० हरिदास जी, लाड़िली जू तथा उनके महल की प्रशंसा की गयी है। रस के पदों में नित्य विहार का स्वरूप, सखी का स्वरूप और कर्म, सहचरी की महिमा, लाड़िली-लाल का स्वरूप-वर्णन आदि विषय हैं। रस की चौपाइयों में स्वा० हरिदास जी द्वारा कथित नित्य विहार की कुछ लीलाओं को विस्तार से अपने शब्दों में लिखा गया है। बधाई के पदों में स्वा० हरिदास जी से लेकर स्वा०

रसिकदास जी पर्यन्त गुरु परम्परा में से प्रत्येक के प्रकट होने की बधाइयाँ हैं। इनमें से अधिकांश पद स्वा० हरिदास जी की बधाई के हैं।

काव्य रचना की दृष्टि से स्वा० ललितकिशोरीदेव जी की रचना बहुत सुन्दर है। भाषा सर्वत्र साहित्यिक ब्रजभाषा है जिसमें संस्कृत के तत्सम तथा तद्भव शब्द भी प्रचुर मात्रा में आये हैं। उदाहरण के लिए सिद्धान्त का यह मर्मभरा पद देखिये :

आउ कथा तोहि कथा सुनाऊँ। निश्चै कुंजकेलि गुन गाऊँ॥
सहजै सकल संदेह नसाऊँ। ललित प्रिये तन मन हिय लाऊँ॥
आउ प्रेम तोहि प्रेम पढ़ाऊँ। अंग संग नित्य विहार लषाऊँ॥
छिन-छिन आनंद अतिहि बढ़ाऊँ। ललित प्रिये हँसि कंठ लगाऊँ॥
आउ मुक्ति तोही कौं तारौं। अंग संग नित्य विहार निहारौं॥
गोर-स्याम हिये मैं धारौं। ललित प्रिये पै तन मन वारौं॥
आउ वेद तोहि भेद बताऊँ। नेति नेति कौ रूप लषाऊँ॥
अद्भुत प्रेम महारस गाऊँ। ललित प्रिये तन मन अति भाऊँ॥
पारायन पारायन ह्वै है। जो निश्चै कुंजकेलि गुन गैहै॥
अद्भुत प्रेम महारस पैहै। ललित प्रिये अंग संग मुसिकैहै॥

अपने रस की अनन्यता और अनुभूति की तीव्रता ने ही कवि को यह विश्वास और गर्व प्रदान किये हैं जो उसे मुक्ति और वेद को भी ललकारने की प्रेरणा देते हैं।

रस के विभिन्न उपादानों का स्वरूप स्वा० ललितकिशोरीदेव जी के पदों में वैसा ही है जैसा स्वा० विहारिणिदेव जी के पदों में। हम उसका विस्तृत परिचय न देकर केवल रचना सौन्दर्य दिखाने के हेतु दो पद यहाँ प्रस्तुत करते हैं जिनमें सखी रूप से कवि अपनी भावना को व्यक्त करता है :

(अ) *हमारैं बाँट परी मुसिक्यानि।*
निरषैं केलि निकुंज माधुरी अद्भुत रस की षानि।
अंग संग श्री हरिदास रसिक वर सहज सुभाइक बानि।
अपनी जानि विहारिनि रानी दियौ है परम सुष सानि॥

(आ) *मेरी अँषियाँ रूप के रंग रँगी।*
निरष सरूप कुँवरि राधे को याही माँझ पगीं॥
छिन-छिन प्रति अवलोकि माधुरी ना सोई न जगीं।
श्री हरिदासी ललित केलि मिलि याही मैं जगमगीं॥

प्रथम पद में नित्य विहार की प्राप्ति रूपी अपने सौभाग्य का वर्णन कवि ने कैसी विलक्षण उक्ति से किया है। इसी प्रकार द्वितीय पद भी कवि की तल्लीनता को कितने भाव-पूर्ण मार्मिक शब्दों में सामने रखता है। स्वा० ललितकिशोरीदेव जी का काव्य साहित्यिक दृष्टि से जितना महत्त्वपूर्ण है उतना ही रचना सौन्दर्य की दृष्टि से भी।

श्री वचनिका सिद्धान्त में स्वा० ललितकिशोरीदेव जी के उपदेशों को गद्य में लिखा गया है। इसे स्वयं उनके रचित गद्य का उदाहरण तो नहीं माना जा सकता किन्तु उन्हीं के समकालीन एक शिष्य द्वारा संकलित होने के कारण यह माना जा सकता है कि वह उनके मुखोद्भूत गद्य के अति निकट अवश्य है। इस गद्य का एक उदाहरण देखिये :

नारद पंचरात्र के बचन। दक्ष प्रजापति के यज्ञ में नारद बीरी प्रसादी की पाय कैं

गये सबन पूंछी, एकादशी के दिन बीरी क्यों खाई, नारद जी बोले एकादशी मूर्त्तिमान या यज्ञ में आई है, वाही सों प्रसाद को स्वरूप पूछो। सबन एकादशी सों पूंछो, वाने कही प्रसाद को स्वरूप जैसे समुद्र, मेरे व्रत को प्रताप जैसे बूंद, प्रसाद को प्रताप चिंतामणि, व्रत को प्रताप जैसे कौड़ी, प्रसाद हरि के मुखारविंद सों परसत है, मैं हरि के चरण परस कों वांछत हौं ।।४६।।

स्वामी पीताम्बर शरणदेव जी का काव्य

स्वा० पीताम्बरदास (पीताम्बरशरण, पीताम्बरदेव) जी स्वा० रसिकदेव जी के सबसे छोटे शिष्य थे। ये गुरु की गद्दी पर बैठे तथा इनसे रसिकविहारी जी के मन्दिर की भिन्न शाखा का प्रारम्भ हुआ। इस शाखा की अष्टाचार्यों की वाणी में इनकी केलिमाल की टीका को छोड़ शेष सब रचनाएँ सम्मिलित की जाती हैं। इनकी रचनाएँ इस प्रकार हैं :

केलिमाल की टीका—इसमें स्वा० हरिदास जी के ११० शृंगार के पदों में से प्रत्येक की टीका एक दोहे तथा एक पद द्वारा की गयी है।

समय-प्रबन्ध—दोहा चौपाइयों की इस रचना की छंद संख्या ३०१ है। बीच-बीच में छप्पय, पद तथा सोरठा भी हैं। इस रचना के विषय हैं—गुरु वन्दना तथा नित्य-विहार की समय-समय की लीलाओं का वर्णन, जिनमें दीपावली, वसन्त, होरी, डोल आदि लीलाएँ हैं।

गुरु परम्परा नामावली—२० चौपाइयों की इस छोटी-सी रचना में नारद जी तथा श्री निम्बार्काचार्य से लेकर अपने गुरु स्वा० रसिकदेव जी तक के नाम गिनाये गये हैं।

गुरु मंगल—४ छप्पयों में स्वा० हरिदास जी आदि गुरुओं की वंदना।

सिद्धान्त के पद—६७ पदों के इस संग्रह में गुरु प्रशंसा, विनय, भक्ति के सिद्धान्त आदि विषय लिखे गये हैं।

रस के पद—ये पद संख्या में ७० हैं। इनमें प्रिया-प्रियतम के विहार का वर्णन है। कुछ नवीन विषय भी ग्रहण किये गये हैं जैसे अक्षय तृतीया पर श्री बाँकेबिहारी जी को धारण कराये जाने वाले 'चन्दन बागे' की शोभा, हरियाली तीज का शृंगार आदि।

मांझ—१८ मांझ छंदों की इस रचना में प्रिया-प्रियतम का रूप-वर्णन और प्रेमी भक्त की भावना का अंकन है।

सिद्धान्त की साखी—इन साखियों की संख्या १०५ है। इनमें गुरु-शिष्य का स्वरूप तथा हरिभक्ति का स्वरूप बताया गया है।

रस की साखी—१६ साखियों में विहार का वर्णन है।

बधाई—४९ पदों में स्वा० हरिदास जी से लेकर स्वा० रसिकदेव जी तक गुरुओं की बधाइयाँ इस संग्रह में संकलित हैं, इनमें २ पद श्री रसिक विहारी ठाकुर के नवीन मन्दिर में विराजने की बधाई के भी हैं।

काव्य रचना की दृष्टि से स्वा० पीताम्बर देव जी के कुछ पद बहुत ही सुन्दर बन पड़े हैं। हम यहाँ उनका एक सिद्धान्त का पद प्रस्तुत करते हैं :

गृह में स्वामी अब न रहौं।
आठ पहर चिंता चित चितवनि स्वासो पल न लहौं ।।

सेवा सूं अनुकूल सकल विधि ओ सब विपति सहौं ।
एते पै दुष देत दुष्ट जन काकी सरन गहौं ।।
देषत सुनत सबै विधि जानत कैसे कै निबहौं ।
पीतांबर श्री रसिक राय बिनु काहि पुकार कहौं ।।

रस के पदों का एक उदाहरण देखिये :

यहि रस रंग हिंडोरे सहचरि हरियल सुही सुहाग लहरिया ।
पहरै बसन सिंगारि दुलहिनी कंचन नील निचोल गहरिया ।।
दूलह घन दामिनि लपटाये तन मन सजि पट पीत फहरिया ।
सहचरि रसिक देषि छवि ढांकति पीतांबर जुग रूप ठहरिया ।।

अपनी बाँझों में इन्होंने पंजाबी भाषा के शब्दों और धातुओं का बहुत प्रयोग किया है । एक उदाहरण देखिये :

वारी जावां रसिकविहारी ठाड़े रहियो प्यारे ।
एक बात तुझनें हुण पूछां बिन मद क्यों मतवारे ।।
मतवारे बिन मद के पीयें जीवन दरस तिहारे ।
टोणा सा हुण कीता मोहण अंग न जात सँभारे ।।

महन्त किशोरदास जी का काव्य

स्वा० पीताम्बर शरणदेव जी के शिष्य श्री किशोरदास जी का साहित्य परिमाण की दृष्टि से सम्प्रदाय में किसी से कम नहीं । इनकी रचनाएँ निम्नलिखित हैं :

निजमत सिद्धान्त—यह बृहत् ग्रंथ चार भागों में टट्टी स्थान से प्रकाशित हो चुका है । इसके आचार्य खण्ड में सनकादिक तथा श्री निम्बर्काचार्य से लेकर लेखक के गुरु तक का संक्षिप्त वृत्त लिखा गया है । शेष तीन (आदि, मध्य तथा अवसान) खण्डों में यही वृत्तान्त विस्तार से लिखा गया है । बीच-बीच में अनेक उपदेशात्मक प्रसंग भी आये हैं । यह सम्पूर्ण रचना दोहा-चौपाइयों में है, किन्तु बीच-बीच में दंडक आदि छंद भी आये हैं ।

सिद्धान्त सरोवर—१००९ साखियों के इस सुन्दर ग्रंथ में गुरु-शिष्य लक्षण, अनन्योपासना एवं नित्य विहार की प्रशंसा आदि विषय समाविष्ट हुए हैं ।

सिद्धान्त सार संग्रह—यह ग्रंथ २९२ पदों का संकलन है । इसका विषय है नित्य विहार रस का महत्त्व कथन ।

अद्भुत आनन्द सत—इस ग्रंथ में सौ कवित्तों में कवि ने प्रिया-प्रियतम की अनेक विहार लीलाओं का वर्णन किया है, जिनमें दीपावली, हिंडोला, होली, रथयात्रा आदि प्रमुख हैं ।

उपदेशआनन्द सत—१०० अरिल्ल छन्दों की इस छोटी-सी रचना में सखी भाव से मानसी उपासना की विधि का वर्णन किया गया है । प्रातःकाल से शयन पर्यन्त अष्टयाम का ध्यान इस रचना का विषय है ।

सवैया पचीसी—पच्चीस सवैयों में इस रचना में नित्य विहार रस की उत्कृष्टता का प्रतिपादन किया गया है ।

स्वा० विहारिनिदेव जू की चरित्र—विषय स्पष्ट है । यह छोटी-सी रचना ११ कवित्तों में सीमित है ।

स्वा० आसुधीर जू को चरित्र—यह ७ कवित्तों की छोटी-सी रचना है।

फुटकर कवित्त—४९ कवित्त तथा सवैयों में उपदेशात्मक विषयों की यह छोटी-सी फुटकर रचना है।

रस के पद—श्री किशोरदास जी ने जो पद रचना की वह सम्पूर्ण उपलब्ध नहीं है। उनके केवल २१४ रस के पदों का संग्रह हमने एक पोथी में देखा है जिसमें रास, होरी, फूल डोल, जल विहार, रथ-यात्रा, हिंडोला, विजयादशमी, दीपदान, विवाह, गुरुओं की बधाइयाँ आदि विषयों की रचनाएँ हैं।

श्री किशोरदास जी सिद्धहस्त कवि थे। उनका वाणी पर अद्भुत अधिकार है। उनकी छन्दयोजना अत्यन्त सौष्ठवपूर्ण है। अलंकारादि काव्यांगों का उन्होंने पूर्ण कुशलता से प्रयोग किया है। उनकी भाषा सुन्दर साहित्यिक ब्रजभाषा है, परन्तु अनेक छन्दों में उन्होंने संस्कृत के तत्सम शब्दों का ऐसा प्रयोग किया है कि सारी रचना संस्कृत की जैसी लगती है। उदाहरण के लिए निजमत सिद्धान्त के इस दंडक को देखिये :

देव देहि तुव भक्ति सब मुक्ति बिन नैन आरक्त आनन्द मूलं।
परम वैराग्य रसज्ञान विज्ञान धन मोह मद मान कामादि शूलं॥
देव प्रथम सुख श्रवण सुनि उपजि अति मोद मन सगुण निर्गुण जन्म नित्य लीला।
उदित आल्हाद करि नाद गावत विमल प्रेम गद्गद पुलकि करत क्रीला॥

रचना-सौष्ठव का नमूना देखने के लिए 'सिद्धान्त सरोवर' की इन साखियों को देखिये जिनमें सिंहावलोकन के समान आवृत्तियाँ कैसी सुन्दर बन पड़ी हैं :

विविध भोग दासी सुघर, भोगी नित्य किसोर।
दरस परस रस मत्त रत, नहिं जानत निसि भोर॥
नहिं जानत निसि भोर कूँ, संतत चहत संजोग।
किसोरदास रस रुचि बढ़ै, त्यौं त्यौं पावत भोग॥
भोग भोगि भोगी सुषित, भोगत परम अधीर।
किशोरदास गति मीन की, दुषित होत बिन नीर॥
नीर मीन मन येक सुष, जुगल सनेह अपार।
सहचरि नित्य किसोर रस, करत कौन निर्द्धार॥
करत कौन निर्द्धार बिन, श्री स्वामी हरिदास।
श्री पीतांबर देव पद, दास किसोर उपास॥
दास किसोर उपास मधि, दासि भाव सुष सार।
सब सुल्लभ दुल्लभ समझि, श्रीवन नित्य विहार॥

श्री भगवत रसिक का काव्य

स्वा० ललितमोहिनीदेव जी के शिष्य श्री भगवत रसिक सम्प्रदाय के श्रेष्ठ कवियों में से हैं। इनकी सम्पूर्ण रचना 'भगवत रसिक जी की वाणी' के नाम से प्रकाशित हो चुकी है। इस वाणी को कई छोटे-छोटे ग्रंथों में बाँट दिया गया है। प्रथम है 'अनन्य निश्चयात्म ग्रंथ' जिसके पूर्वार्द्ध में छप्पय, कुंडलिया, चर्चरी, दोहा आदि छन्दों में गुरु-ध्यान, विहारी विहारिणि सखी वृन्दावनादि का ध्यान, सोलह सखियों के नाम आदि विषय वर्णित हैं। पूर्वार्द्ध के ही अन्तर्गत 'रस शृंगार केलिसागर' नामक द्वादश छोटी-छोटी झाँकियों में

विभक्त एक ग्रंथ और है जिसमें प्रिया-प्रियतम के नित्य विहार की लीलाओं का वर्णन है। 'अनन्य निश्चयात्म' के उत्तरार्ध में पद, सवैया, कुंडलिया, छप्पय आदि छन्दों में सिद्धान्त विषयक रचनाएँ हैं जिनमें भक्त का आचरण, वृन्दावन-सेवन की विधि आदि विषय लिये गये हैं। अनन्य निश्चयात्म ग्रंथ की कुल छन्द संख्या ३५९ है।

प्रकाशित वाणी में इसके पश्चात् आती है 'निर्विरोध मन रंजन' नामक १ चौबोला तथा २९ कुंडलियों की एक छोटी-सी रचना जिसका विषय सिद्धान्तपरक है। अन्त में ४८ पंक्तियों का एक लंबा धमार का पद है।

श्री भगवत रसिक जी की रचना का परिमाण बहुत अधिक नहीं किन्तु उनकी कवि-कर्म-कुशलता उच्च कोटि की है। उनका छन्द-बन्ध अत्यन्त सौष्ठवपूर्ण तथा उनकी अलंकार-योजना बड़ी स्वाभाविक होती है। प्रभावोत्पादक रीति से मार्मिक उक्तियाँ कहने में वे सिद्ध-हस्त हैं। उनकी वाणी का एक उदाहरण देखिये :

चलनी में गैया दुहें, दोष दई को देहिं।
हरि गुरु कह्यो न मानहीं, कियो आपनो लेहिं॥
कियो आपनो लेहिं नहीं यह ईश्वर इच्छा।
देश काल प्रारब्ध देव कोउ करहि न रक्षा॥
मूरख मरकट मूठ कीर हठि तजै न नलिनी।
कहि भगवत कह करै भाग भौंड़े को चलनी॥

महन्त शीतलदास जी का काव्य

श्री शीतलदास ने लोकगीत 'ख्याल' की शैली में तीन छोटी-छोटी रचनाएँ कीं, जिनके नाम हैं—गुलज़ार चमन (१२० छन्द), आनन्द चमन (११२ छन्द), तथा विहार चमन (२४ छन्द)। यह सम्पूर्ण वाणी 'गुलज़ार चमन' के नाम से प्रकाशित हो चुकी है।

शीतलदास जी उर्दू के बड़े विद्वान् थे। उन्होंने अपनी रचना में उर्दू की शायरी की भावयोजना को ही नहीं अपनाया, उर्दू शब्दों को भी बड़े पैमाने पर इस्तेमाल किया। उनके छन्दों में बड़ा प्रवाह है। अनेक 'ख्यालों' के शौक़ीन (ख्यालबाज़) उन्हें चंग पर आज भी गाते हैं। उनकी रचना के दो-एक नमूने देखिये :

या पंचवाण की पंच कला कै पारिजात की कलियां हैं।
कै अरुण कली दल दाड़िम की तिनकी उपमा दलमलियां हैं॥
कंचन सरोज के दल पांचौं कै सांचे की सी ढलियां हैं।
इस लाल विहारी की शीतल अँगुली चम्पे की कलियां हैं॥
जानी इन गुल रुख़सारों पर शबनम का जड़ा पसीना है।
या लाल बदख़शां पर दिलबर इलमासी जड़ा नगीना हैं॥
समझैं यह रम्ज वही ज़ालिम जो इश्क़ दरद में बीना है।
हिमकर पर अफ़शां जड़े हुए या किया जौहरी मीना है॥

स्वामी सहचरिशरण जी का काव्य

स्वा० सहचरिशरण जी की वाणी की सम्प्रदाय में बड़ी प्रतिष्ठा है। आपकी रचनाएँ निम्नलिखित हैं :

ललित प्रकाश—इस ग्रंथ में सम्प्रदाय की गुरु परम्परा का इतिहास लिखा गया है। इसमें दोहा, चौपाई, सवैया, छप्पय, दंडक आदि अनेक प्रकार के छन्दों का प्रयोग हुआ है। इसके पूर्वार्द्ध के सम्पूर्ण छन्दों की संख्या ५२० तथा उत्तरार्ध की ५१५ है।

गुरु प्रणालिका—रोला छन्दों में लिखी इस रचना में कवि ने अपनी गुरु परम्परा के सभी महानुभावों का नाम ग्रहण तथा उनके जीवन के सम्बन्ध में कुछ तथ्यों का उल्लेख किया है।

आचार्योत्सव सूचना—१६ छन्दों की इस छोटी-सी रचना में स्वा० हरिदास जी से लेकर स्वा० ललितमोहिनी देव जी तक सभी आचार्यों के जन्म, मृत्यु, वैराग्य-धारण आदि के तिथि-संवत् लिखे गये हैं।

सरस मंजावली—१५० माँझ छन्दों की इस रचना में लाड़िली-लाल का सौन्दर्य और प्रेमी भक्त की भावना वर्णित है। शीतलदास जी की वाणी के समान इस रचना में भी उर्दू के शब्द और उर्दू शायरी की भावयोजना का प्रचुर प्रयोग हुआ है।

नखशिखध्यान—इस छोटी-सी रचना में प्रिया-प्रियतम का सौन्दर्य वर्णन है।

वचनिका-सिद्धान्त—स्वा० ललितकिशोरी देव जी की वचनिका का पद्यात्मक रूपान्तर।

स्वा० सहचरिशरण जी का काव्य बड़ा सरस है। उनके छन्द अनेक प्रकार के तो हैं ही, बड़े सुगठित भी हैं। क्या अलंकार-योजना क्या, भाव-व्यंजना सभी क्षेत्रों में स्वा० सहचरिशरण जी ने अपनी काव्य-कुशलता का परिचय दिया है। उदाहरणस्वरूप हम यहाँ उनके दो छन्द प्रस्तुत करते हैं :

(अ) रमणी रुकुम रोग रहित रती न रिस रसिक रसाल ऋजु राग रंग रासी है।
हरष हरोल हित हेत हिल कारिनि को हार हियरे को हेरि हरि हरिदासी है॥
विशद विहार को विलोकत विहारीदास विमल विलास पर वृन्दावन वासी है।
चकित चितौन चिंत चैन चय चूड़ामणि चरित विचित्र पाँति चारु चन्द्रमा-सी है।

—ललित प्रकाश

(आ) नाभी भमर चारु छवि लहरैं गरज मुरलिका भावै।
बंक विहारी नाम सलोना नेह नदी चलि आवै॥
रूप कहर बरियाव परे दृग पैंरि पार नहिं पावै।
मन मलाह की क्या कुदरत है पकरि बाहिरै लावै॥

—सरस मंजावली

परिशिष्ट

श्री निम्बार्क सम्प्रदाय

स्वामी हरिदास जी निम्बार्क सम्प्रदाय की एक शाखा से सम्बन्धित थे। इस शाखा के अतिरिक्त निम्बार्क सम्प्रदाय की एक मूल परम्परा भी चली आती है जिसके ब्रज, राजस्थान तथा बंगाल आदि प्रदेशों में अनेक अनुयायी हैं। आज स्वामी हरिदास जी की शिष्य परम्परा की 'हरिदासी सम्प्रदाय' के नाम से गणना होती है तथा मूल परम्परा की 'निम्बार्क सम्प्रदाय' के नाम से। निम्बार्क सम्प्रदाय की प्रधान गद्दी अजमेर के पास सलेमाबाद में है तथा इस गद्दी के आचार्य ही श्री निम्बार्काचार्य पदवी पर प्रतिष्ठित होते हैं। अपने आलोच्य विषय से घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण हम इस मूल परम्परा का संक्षेप में परिचय दे रहे हैं।

श्री निम्बार्क सम्प्रदाय को नियमानन्दी सम्प्रदाय, सनकादि सम्प्रदाय, नीमावत, नीमानन्दी, नीमानिज, नीमात आदि नामों से भी पुकारा जाता है।

श्री निम्बार्काचार्य—इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक श्री निम्बार्काचार्य थे। इन्हें नियमानन्द, हविर्द्धान तथा सुदर्शन कहकर भी पुकारा गया है। सम्प्रदाय में इन्हें सुदर्शन चक्र का अवतार माना जाता है। साम्प्रदायिक ग्रंथों के अनुसार भगवान ने हंस रूप से अवतार लेकर सनकादि ऋषियों को निवृत्ति धर्म तथा मोक्षमार्ग का उपदेश दिया। सनकादि के शिष्य देवर्षि नारद हुए और नारद जी के शिष्य श्री निम्बार्काचार्य।[1]

'आचार्य-परम्परा परिचय' के अनुसार इनका जन्म तैलंग देश में गोदावरी के किनारे वैदूर्यपत्तन (मुंगीपाटन) नामक स्थान में हुआ।[2] औदुम्बर-संहिता के अनुसार इनका जन्म ब्रज में गोवर्द्धन के पास निम्बग्राम नामक स्थान में हुआ।[3] आचार्य-परम्परा-परिचय के

१. किशोरदास, आचार्य-परम्परा-परिचय, पृ० १-३।
२. वही, पृ० ४।
३. 'निम्बार्क प्रादुर्भाव' (हस्तलिखित। श्री निकुंज, वृन्दावन के संग्रह में) के पृ० ३, श्लोक ७-८ में औदुम्बर संहिता से उद्धृत।

अनुसार इनके पिता-माता का नाम अरुण मुनि एवं जयन्ती था, औदुम्बर संहिता के अनुसार जगन्नाथ और वैजयंती तथा श्रुत्यन्त कल्पवल्ली[1] के अनुसार जगन्नाथ एवं सरस्वती। औदुम्बर संहिता के अनुसार इनका जन्म वैशाख शुक्ला ३ को हुआ किन्तु आचार्य-परम्परा-परिचय के अनुसार कार्त्तिक शुक्ला पूर्णिमा को। इन विभिन्न तथ्यों में से किसी को प्रमाणित या अप्रमाणित करने का कोई साधन शोधकर्त्ता के पास नहीं है।

इनका बालकपन का नाम नियमानन्द था। इनकी 'निम्बार्क' नाम से प्रसिद्धि होने के सम्बन्ध में एक कथा कही जाती है। जब निम्बार्क ५ वर्ष के थे तब एक दिन ब्रह्मा, मुनि के वेश में, इनके पिता अरुण ऋषि के आश्रम में आये। अरुण ऋषि बाहर गये थे। माता जयन्ती ने अतिथि को भोजन दिया परन्तु उन्होंने इसलिए ग्रहण न किया कि सूर्यास्त हो गया था। तब बालक नियमानन्द ने अपने प्रभाव से नीम के वृक्ष के बीच सूर्य का दर्शन कराकर अतिथि को भोजन कराया। यही कथा अनेक ग्रन्थों में भिन्न-भिन्न प्रकार से वर्णित है। कहीं ब्रह्मा के स्थान पर किसी दण्डी साधु या जैन मुनि के आने का उल्लेख है, किसी में नारद जी के भिक्षा-हेतु आने का। भक्त-माल की अनेक टीकाओं तथा निम्बार्क सम्प्रदाय के अनेक ग्रन्थों में इस घटना का विस्तार से वर्णन मिलता है किन्तु प्रत्येक की कथा में यत्किंचित् भिन्नता है। नीम में सूर्य का दर्शन कराने के कारण इनका नाम निम्बार्क पड़ा।

श्री निम्बार्काचार्य का काल—निम्बार्क सम्प्रदाय के ग्रन्थों के अनुसार श्री निम्बार्काचार्य का समय आज से पाँच हज़ार वर्ष पूर्व है।[2] जे० एन० फ़र्कुहर के मतानुसार श्री निम्बार्काचार्य ११०० ई० के लगभग विद्यमान थे।[3] हेस्टिंग्स के मतानुसार वे १२वीं शती ईस्वी के प्रारम्भ में विद्यमान थे।[4] श्रीमती रमा बोस ने अपनी शोध में सभी प्राप्त सामग्री की आलोचना कर यह मत निर्धारित किया है कि श्री निम्बार्काचार्य श्री माध्वाचार्य के पीछे हुए तथा १३वीं शती ई० से पहले नहीं हो सकते। उनका कहना है कि श्री निम्बार्काचार्य ने अपने समय में प्रचलित श्री माध्वाचार्य के मत का खण्डन करने के लिए 'मध्व मुख मर्दन' नामक ग्रन्थ की रचना की, अतः वे श्री माध्वाचार्य से पीछे ही रहे होंगे।[5]

श्रीमती रमा बोस की धारणा का मूल आधार ही भ्रमात्मक है। यह ग्रन्थ उन्होंने स्वयं नहीं देखा। केवल इण्डिया आफ़िस के हस्तलिखित ग्रन्थों के सूचीपत्र के आधार पर उन्होंने इसे श्री निम्बार्ककृत मान लिया है।[6] कैटेलोगस कैटेलोगोरम में भी श्री निम्बार्क रचित ग्रन्थों में 'मध्व मुख मर्दन' का नाम आया है[7] और यही उस सूचना का मूल आधार ज्ञात होता है। किन्तु इस ग्रन्थ की जो हस्तलिखित प्रतियाँ देखने में आयी हैं उनमें इसे

१. श्री हरिव्यासदेव, श्रुत्यंतकल्पवल्ली, पृ० ३।
२. श्री निम्बार्क-विक्रान्ति की भूमिका, श्री ब्रजवल्लभशरण, पृ० (च)।
३. जे० एन० फ़र्कुहर, दि रिलीजस क्वेस्ट ऑफ़ इण्डिया, पृ० २३६।
४. जेम्स हेस्टिंग्स, एनसाइक्लोपीडिया ऑफ़ रिलीजन एण्ड ईथिक्स, पृ० ३७३।
५. रमा बोस, डाक्ट्रिन्स आफ़ निम्बार्क एण्ड हिज फ़ॉलोअर्स (बिब्लिओथेका इण्डिका), वॉल्यूम ३, पृ० १४-१७।
६. वही, पृ० १२ तथा पृ० १६।
७. ऑफ़ेक्ट, कैटेलोगस कैटेलोगोरम, पृ० ४२८।

श्री अप्पय दीक्षित की रचना लिखा गया है।[1] सम्भव है ग्रन्थ में निम्बार्क सम्प्रदाय का पक्ष प्रतिपादित होने तथा वन्दना के हेतु श्री निम्बार्काचार्य का नाम आने के कारण किसी ने इस ग्रन्थ को भ्रमवश श्री निम्बार्क रचित लिख दिया हो।

वास्तव में आज तक कोई श्री निम्बार्काचार्य का काल निर्णय नहीं कर सका है। हमें उनके काल-निर्णय पर प्रभाव डालने वाले दो ऐसे प्रमाण मिले हैं जो उनका संवत् आदि तो निर्धारित नहीं कर सकते किन्तु उनके पूर्व एवं पश्चात् की दो अवधियों का संकेत अवश्य कर देते हैं। इनमें प्रथम है जैनाद से प्राप्त एक शिलालेख जिसमें सिद्धराज जयसिंह (सन् १०९४-११४४) के वृत्ति भोगी जगद्देव की पत्नी पद्मावती द्वारा निम्बादित्य का एक मन्दिर बनवाने का उल्लेख है।[2] 'निम्बादित्य' का अर्थ यहाँ सूर्य का एक स्वरूप है, किन्तु उन सूर्य देवता को जो विशेषण प्रदान किये गये हैं उनसे निश्चित हो जाता है कि यह उसी सूर्य का मन्दिर है जिसे अपने तेजोबल से श्री निम्बार्क ने नीम में दिखाया। प्रशस्ति का यह श्लोक देखिये।

ओम् नमः सूर्याय अकालेपि रवेर्व्वारे निम्बपुण्योद्गमिरयम्
प्रत्ययम् पूरयन् भानुर्न्नित्ययम् उपास्यताम् ॥१॥

स्पष्ट ही यहाँ उस सूर्य की प्रार्थना की गयी है जो अकाल में (सूर्यास्त के बाद) रविवार के दिन नीम में उदय हुआ। सूर्य के नीम में उदय होने की कथा श्री निम्बार्क की प्रचलित कथा को छोड़ और कहीं नहीं मिलती। अतः यह मन्दिर उन्हीं सूर्य देवता के लिए, जिन्हें श्री निम्बार्क ने अपने तेज से उदित किया, होना चाहिसे।[3]

लेख के अगले श्लोक में उस निम्ब वृक्ष (स्थाणु) की वन्दना की गयी है। शब्द इस प्रकार हैं :

तं वन्देमहि वारुणीजलनिधेर्व्वेलावनालिस्थिरस्थानम् स्थाणुमभेद्यमाद्यममितच्छा-
यातिमात्रोछ्रयम्, उन्मिलन्ति बहिः प्ररोहसमये यस्य त्रिलोकीच्छलोन्मथ्यव्योम-
दिगन्तरा लमतुलाः शाखाशिखापल्लवाः ॥२॥

कवि उस वृक्ष की वंदना करता है जो पश्चिमीय समुद्र की वेला की वनमाला में स्थिरस्थान है, जो अभेद्य, आद्य, अमित, छायासंयुक्त, तथा अतिमात्र ऊँचा है। जिसके अतुल शाखाशिखापल्लव, पत्ते निकलने के समय, त्रिलोकीच्छलोन्माथव्योमदिगन्तराल से मिलते हैं।

निम्ब वृक्ष में उदित होने वाले सूर्य की कथा को इतना प्रतिष्ठित होने में कि उसके लिए मन्दिर बनवाये जाएँ, कम से कम दो सौ वर्ष तो लगे होंगे। अतः यदि यह अनुमान करें कि श्री निम्बार्काचार्य का समय ईसा की दसवीं शती के बाद नहीं हो सकता तो अनुचित न होगा।

१. श्री निकुंज, वृन्दावन के विद्वान अधिकारी श्री ब्रजवल्लभशरण जी ने हमें बताया कि जोधपुर की सुमेर पब्लिक लायब्रेरी के हस्तलिखित ग्रन्थों में 'मध्व मुख मर्दन' की एक प्रति है जिसमें रचयिता का नाम अप्पय दीक्षित लिखा है।

२. एनुअल रिपोर्ट ऑफ़ दि आर्क्योलोजिकल डिपार्टमेण्ट ऑफ़ हिज एक्जाल्टेड हाईनेस दि निज़ाम्स डामिनियन्स, सन् १९२७-२८, पृ० २३—नोट ऑन दि इंस्क्रिप्शन एट जैनाद, लेखक सी० आर० कृष्णमाचार्लु।

३. शिलालेख का ठीक अर्थ करने में मैंने डा० श्री वासुदेवशरण अग्रवाल से सहायता ली है और उनका भी मत है कि यह प्रशस्ति श्री निम्बार्काचार्य से सम्बन्धित कथा का ही उल्लेख करती है।

दूसरा प्रमाण है श्री निम्बार्काचार्य के प्रधान शिष्य श्री श्रीनिवासाचार्य कृत 'वेदान्त-कौस्तुभ' नामक 'ब्रह्मसूत्र' के भाष्य में उद्धृत एक श्लोक जो श्री निम्बार्काचार्य के समय की पूर्वावधि निश्चित करने में सहायक हो सकता है। वह उद्धरण इस प्रकार है :

आकाशस्य स्थितिर्यावद्यावच्च जगतः स्थितिः ।
तावन्मम स्थितिर्भूयाज्जगद्दुःखानि निघ्नतः ॥
इति दयापरेण वदता बुद्धेनाप्याकाशस्य भावत्वमभ्यनुज्ञातम् ॥२,२, २४॥

उपर्युक्त श्लोक जिस बौद्ध ग्रंथ में होगा उसके रचनाकाल से पूर्व श्री श्रीनिवासाचार्य का काल नहीं हो सकता। यह श्लोक शब्दशः तो कहीं नहीं मिलता किन्तु बिल्कुल इसी आशय का एक श्लोक श्री शान्तिदेव कृत 'शिक्षा समुच्चय' में उद्धृत किया गया है। श्लोक इस प्रकार है :

यावदाकाशनिष्ठस्य निष्ठा लोकस्य संभवेत् ।
तावत्स्थास्यामि लोकार्थं कुर्वन् ज्ञानपुरस्सरः ॥

शिक्षा समुच्चय में यह श्लोक 'आर्यतथागत गुह्यसूत्र' में से उद्धृत किया गया है।[1] शान्तिदेव का समय ९वीं शती ई० बताया जाता है। अतः यदि यह अनुमान करें कि श्री निम्बार्काचार्य ८वीं शती से पूर्व न रहे होंगे तो अनुचित न होगा। इस प्रकार हमारा अनुमान है कि श्री निम्बार्काचार्य ईसा की ८वीं से १०वीं शती के बीच रहे होंगे।

श्री निम्बार्काचार्य की रचनाएं—श्री निम्बार्काचार्य ने ब्रह्मसूत्र पर एक संक्षिप्त भाष्य लिखा जिसमें सरल शब्दों में ब्रह्मसूत्र के वाक्यों का अर्थ किया गया है। अन्य मार्गों का खंडन करने की चेष्टा इसमें नहीं की गयी है और न अपने विचारों को ही बहुत विस्तार दिया गया है। इस भाष्य के अतिरिक्त इन्होंने दश श्लोक अपनी उपासना का मर्म प्रकट करने के लिए लिखे, जिन्हें 'वेदान्तकामधेनु', 'दश श्लोकी' कहते हैं। 'राधा' का नाम प्रथम बार श्री निम्बार्क की इस दश श्लोकी में ही मिलता है। इनके 'सविशेषनिर्विशेष श्री कृष्णस्तवराज' में २५ श्लोकों में अपने मत का प्रतिपादन करते हुए भगवान् की स्तुति है।[2] 'रहस्य मीमांसा' नामक ग्रंथ के दो गुच्छ 'मंत्ररहस्यषोडशी' तथा 'प्रपन्न कल्पवल्ली' भक्तिपरक रचनाएँ हैं। इन ग्रंथों के अतिरिक्त इनकी 'प्रातः स्मरणस्तोत्र', 'राधाष्टक', 'कृष्णाष्टक', 'सदाचार प्रकाश' आदि अन्य रचनाएँ भी बताई जाती हैं।

श्री निम्बार्काचार्य की शिष्य-परम्परा

श्री निम्बार्काचार्य के तीन प्रधान शिष्यों का उल्लेख मिलता है—

१. श्री श्रीनिवासाचार्य, २. श्री औदुम्बराचार्य तथा ३. श्री गौरमुखाचार्य। इनमें श्री श्रीनिवासाचार्य बड़े थे तथा उनकी शिष्य-परम्परा के महानुभाव ही आचार्य पीठ पर आसीन होते रहे।

१. शान्तिदेव, शिक्षा समुच्चय, सम्पादक सी० बेंडेल, बिब्लियोथिका बुद्धिका, पीटर्स बर्ग, अध्याय १९, पृ० ३६३।
(उपर्युक्त श्लोक को इस ग्रंथ तथा अन्य बौद्ध ग्रंथों में खोजने के लिए मैं काशी विश्वविद्यालय के श्री पद्मनाभ श्रीवर्मा का कृतज्ञ हूँ।)

२. श्री ब्रजवल्लभशरण इस ग्रंथ को श्री निम्बार्ककृत नहीं मानते (युगल-शतक, भमिका, पृ० ३१।)

साम्प्रदायिक ग्रंथों में प्रधान शाखा की गुरु-परम्परा का उल्लेख इस प्रकार किया गया है :

श्री हंसावतार भगवान्
श्री सनकादिक भगवान्
देवर्षि नारद
श्री निम्बार्काचार्य
श्री श्रीनिवासाचार्य
श्री विश्वाचार्य
श्री पुरुषोत्तमाचार्य
श्री विलासाचार्य
श्री स्वरूपाचार्य
श्री माधवाचार्य
श्री बलभद्राचार्य
श्री पद्माचार्य
श्री श्यामाचार्य
श्री गोपालाचार्य
श्री कृपाचार्य
श्री देवाचार्य
श्री सुन्दर भट्ट
श्री पद्मनाभ भट्ट
श्री उपेन्द्र भट्ट
श्री रामचन्द्र भट्ट
श्री वामन भट्ट
श्री कृष्ण भट्ट
श्री पद्माकर भट्ट
श्री श्रवण भट्ट
श्री भूरि भट्ट
श्री माधव भट्ट
श्री श्याम भट्ट
श्री गोपाल भट्ट
श्री बलभद्र भट्ट
श्री गोपीनाथ भट्ट
श्री केशव भट्ट
श्री गांगल भट्ट
श्री केशव काश्मीरी भट्ट
श्री श्रीभट्ट
श्री हरिव्यास देव

श्री हरिव्यास देव के १२ शिष्य हुए और उन्हीं की शिष्य-परम्परा के अन्तर्गत

आज श्री निम्बार्क सम्प्रदाय के अधिकांश अनुयायी आते हैं। इन शिष्यों के नाम थे : १. श्री स्वभूदेवाचार्य (सोभूराम), २. श्री वोहितदेवाचार्य, ३. श्री मदनगोपालदेवाचार्य, ४. श्री उद्धवदेवाचार्य, ५. श्री बाहुबलदेवाचार्य, ६. श्री परशुराम देवाचार्य, ७. श्री गोपालदेवाचार्य, ८. श्री हृषीकेशदेवाचार्य, ९. श्री माधवदेवाचार्य, १०. श्री केशवदेवाचार्य, ११. श्री (लापर) गोपालदेवाचार्य (लपरा गोपाल), १२. श्री मुकुन्द देवाचार्य।

इन शिष्यों के अतिरिक्त श्री हरिव्यासदेव जी के और भी अनेक शिष्य हुए जिनमें प्रसिद्ध ग्रंथकर्त्ता श्री रूपरसिक प्रमुख हैं।

श्री हरिव्यासदेव जी के इन शिष्यों में से प्रधान श्री परशुरामदेवाचार्य माने जाते हैं और उन्हीं की शिष्य-परम्परा के महानुभाव श्री निम्बार्काचार्य पदवी से विभूषित होते हैं। इस परम्परा की प्रधान गद्दी अजमेर के पास सलेमाबाद में है।

गुरु-परम्परा की प्रामाणिकता—इस गुरु-परम्परा में श्री श्रीनिवासाचार्य, श्री देवाचार्य, श्री केशव काश्मीरी भट्ट, श्री श्रीभट्ट तथा श्री हरिव्यास देव जी की तो अनेक ग्रंथ-रचनाएँ आज भी मिलती हैं। शेष आचार्यों के नाम वास्तविक हैं या काल्पनिक ऐसी शंका की जा सकती है। हमने इस गुरु-परम्परा की अनेक हस्तलिखित प्रतियाँ देखी हैं जिनमें से तीन विशेष उल्लेखनीय हैं :

१. **कल्याणदास की गुरु-परम्परा**—श्री निकुंज, वृन्दावन के पुस्तकालय में पुराने जीर्ण पत्र पर लिखी एक गुरु-परम्परा है जिसमें सभी पूर्वाचार्यों के नाम उसी तरह आये हैं जैसे आज माने जाते हैं। यह परम्परा श्री परशुरामदेवाचार्य के शिष्य पूरनदास के शिष्य कल्याणदास तक आकर समाप्त हो जाती है और सम्भवतः कल्याणदास के किसी शिष्य ने अपने नित्य-पाठ के लिए ही इसे लिखा होगा। श्री परशुराम देवाचार्य के गुरुभाई श्री स्वभूरामदेवाचार्य (सोभूराम) के शिष्य श्री कन्हरदेव (कान्हरदास) का उल्लेख नाभा जी ने अपनी भक्तमाल में इस छप्पय से किया है :

"बूड़िये, विदित कन्हर कृपाल आत्माराम आगम दरसी।"

अतः यह गुरु-परम्परा लगभग तीन सौ वर्ष पुरानी होनी चाहिये।

२. **सम्प्रदायबोधिनी**—भक्तमाल के टीकाकार श्री प्रियादास के गुरु श्री मनोहरदास ने 'सम्प्रदाय बोधिनी' नामक एक ग्रंथ की रचना की। इसकी सं० १७०७ की प्रतिलिपि से संगृहीत एक पोथी हमने कुसुमसरोवर के बा० कृष्णदास जी के पास देखी, जिसमें श्री निम्बार्काचार्य से लेकर श्री श्रीभट्ट जी तक परम्परा उसी प्रकार है जैसी अन्यत्र। किन्तु लेखक ने श्री श्रीभट्ट के, श्री हरिव्यासदेव के अतिरिक्त, तीन शिष्य और बताये हैं—वीरम, वोहित और घमंडीदास। इन्होंने श्री हरिव्यासदेव के केवल दो शिष्यों का उल्लेख किया है। वे हैं—परशुराम एवं सोभूराम। अन्य परम्पराओं में श्री वोहितदेव को श्री हरिव्यासदेव जी के शिष्यों में माना गया है।

३. **मित्रशिक्षा**—कृष्णगढ़ नरेश नागरीदास जी की छोटी बहिन श्री सुन्दरकुँवरि जी ने सं० १८६२ में इस ग्रंथ की रचना की। इस ग्रंथ की एक प्रति हमने श्री-निकुंज, वृन्दावन के पुस्तकालय में देखी थी। श्री सुन्दरकुँवरि जी ने सलेमाबाद गद्दी के आचार्य श्री वृन्दावनदेव जी से मंत्र-दीक्षा ली। 'मित्र-शिक्षा' में उन्होंने श्री निम्बार्काचार्य से लेकर अपने समकालीन आचार्य श्री सर्वेश्वरशरणदेव तक के नाम गिनाये हैं। इन्होंने श्री परशुरामदेवाचार्य के शिष्य श्री हरिवंशदेव, उनके शिष्य श्री नारायणदेव, उनके श्री

वृन्दावनदेव, उनके श्री मोहनलाल, उनके श्री गोविन्दशरण तथा उनके श्री सर्वेश्वरशरण तक के नाम लिखे हैं।

श्री सुन्दरकुँवरि का जन्म सं० १७९१ में हुआ, अतः 'मित्र-शिक्षा' उनकी वृद्धावस्था की रचना है। पाँच वर्ष की अवस्था में ही उन्हें श्री वृन्दावनदेव जी से दीक्षा मिल गयी थी। अतः गुरु के बाद तीन पीढ़ी के आचार्यों का उनके जीवनकाल में ही अवस्थित होना कुछ असंगत नहीं ज्ञात होता।

यह तीनों प्राचीन साक्ष्य श्री निम्बार्क सम्प्रदाय की प्रचलित गुरु-परम्परा को प्रमाणित करते हैं तथा यह भी सिद्ध कर देते हैं कि श्री निम्बार्काचार्य का काल ऐसा अर्वाचीन नहीं जैसा श्रीमती रमा बोस आदि विद्वानों ने मान लिया है।

स्वामी हरिदास जी की पूर्व परम्परा—श्री देवाचार्य के दो प्रधान शिष्य थे—१. श्री सुन्दर भट्ट तथा २. श्री ब्रजभूषण देव। श्री ब्रजभूषण देव की शिष्य-परम्परा में ही स्वा० हरिदास जी हुए। स्वा० रसिकदेव कृत गुरु-परम्परा, स्वा० पीताम्बरदेव कृत गुरु-प्रणाली तथा निजमत सिद्धान्त में वर्णित गुरु-परम्परा के अनुसार श्री ब्रजभूषणदेव से लेकर स्वा० हरिदास जी तक की परम्परा इस प्रकार है :

श्री देवाचार्य
श्री ब्रजभूषणदेव
श्री ब्रजजीवनदेव
श्री जनार्दनदेव
श्री वंशीधरदेव
श्री भूधरदेव
श्री हरिवल्लभदेव
श्री मुकुन्ददेव
श्री ललितभानुदेव
श्री कन्हरदेव
श्री वासुदेव
श्री सुरतिभानुदेव
श्री पीताम्बरदेव
श्री चिन्तामणिदेव
श्री युगलकिशोर जू
श्री दामोदरदेव
श्री कमलनयन स्वामी
श्री गोवर्द्धनदेव
श्री श्यामदेव
श्री हृषीकेश
श्री मधुसूदनदेव
श्री गोपदेव
श्री रूपनिधान जू
श्री जनहरिया जू

श्री मथुरानाथ जू
श्री प्रेमनारायण जू
श्री अनन्यदेव
श्री श्याम खोजी जू
श्री लघुवीठल जू
श्री मोहनदेव
श्री त्रिभंगदेव
श्री हरिविलासदेव
श्री यशोदानन्दनदेव
श्री जयदेव
श्री जन गोपाल जू
श्री माधव जू
श्री विष्णुदेव
श्री बालगोविन्ददेव
श्री रामकृष्णदेव
श्री परमानन्ददेव
श्री भागवतदेव
श्री जनभगवान जू
श्री कृष्णदेव
श्री पुरुषोत्तमदेव
श्री नन्दलाल जू
श्री हरिदेव जू
श्री आसुधीर जू
श्री स्वा० हरिदास जू

इस गुरु-परम्परा की सबसे प्राचीन प्रति, जो हमें मिली, स्वा० रसिकदेव कृत गुरु-परम्परा की है। इस गुरु-परम्परा का रचना-काल सं० १७५० के लगभग होना चाहिये। यद्यपि इस गुरु-परम्परा का प्राचीन होना प्रमाणित है किन्तु श्री देवाचार्य से लेकर स्वा० हरिदास जी तक ४७ पीढ़ियों का हो जाना आश्चर्य में डालता है। श्री हरिव्यासदेव के गुरु के गुरु श्री केशव काश्मीरी भट्ट का श्री कृष्ण चैतन्य महाप्रभु (सं० १५४२-९०) से उनके बालकपन में साक्षात्कार हुआ था ऐसा चैतन्य सम्प्रदाय की तथा अन्य वार्त्ताओं में मिलता है।[1] अत: श्री केशव काश्मीरी भट्ट स्वा० हरिदास जी से कुछ ही पूर्व रहे होंगे ऐसा अनुमान किया जा सकता है। श्री केशव काश्मीरी भट्ट श्री देवाचार्य से १७वीं पीढ़ी में हुए और स्वा० हरिदास ४७वीं पीढ़ी में। अत: या तो स्वा० हरिदास की परम्परा में संयोगवशात् अनेक आचार्य बहुत ही थोड़े समय गद्दी पर रहे या इस परम्परा में प्रक्षिप्त नाम आ गये हैं। सम्भव है एक ही गुरु के कई शिष्यों का नाम एक के बाद एक शृंखला में जुड़ गया हो

१. भक्तमाला राम रसिकावली, पृ० ७६२।

और परम्परा की संख्या में वृद्धि हो गयी हो। आज इस सन्देह का निराकरण करने योग्य प्रमाण उपलब्ध नहीं है।

स्वा० हरिदास जी की पूर्व परम्परा में श्री देवाचार्य से ३३वीं पीढ़ी पर श्री जयदेव (गीतगोविन्दकार) का नाम आया है। श्री जयदेव ईसा की १२वीं शती में हुए थे, ये श्री निम्बार्क सम्प्रदाय में दीक्षित थे, ऐसी प्रसिद्धि का परिचय कई ग्रन्थों में मिलता है। वृन्दावन से प्रकाशित 'सत्यार्थ निर्णय' नामक एक लघु पुस्तिका (पृ० ८) में 'बंगला-विश्वकोश' का यह उद्धरण है :

गीतगोविन्द रचयिता प्रसिद्ध कवि जयदेव एई (निमात) सम्प्रदायेर छिलेन।

श्री राधाचरण गोस्वामी के पुस्तकालय (वृन्दावन) में एक हस्तलिखित बंगला ग्रन्थ है—'चारि सम्प्रदाय वैष्णव वन्दना' इसमें जहाँ निम्बार्क सम्प्रदाय के वैष्णवों का स्मरण किया गया है वहाँ गीतगोविन्दकार जयदेव का नाम भी आया है।

जे० एन० फ़र्कुहार ने अपने ग्रन्थ 'दि रिलीजस क्वेस्ट आफ़ इंडिया' (पृ० २३८) में लिखा है कि बंगाल में जयदेव को निम्बार्क सम्प्रदायान्तर्गत मानने की परम्परा चली आती है।

इन साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि बंगाल में अनेक लोग श्री जयदेव को निम्बार्क सम्प्रदाय का अनुयायी मानते रहे हैं। आज भी उनके स्थान केंदुली में उनकी समाधि तथा मन्दिर का अधिकार एक निम्बार्क सम्प्रदायी महन्त के हाथ में है। अतः यह तो ज्ञात होता है कि वे निम्बार्क सम्प्रदाय में थे तथा सम्भव है कि स्वा० हरिदास जी की पूर्व परम्परा में भी रहे हों, किन्तु उनके पूर्व और पश्चात् की सारी गुरु परम्परा को सिद्ध करने के लिए प्रमाणों का अभाव है।

श्री निम्बार्क सम्प्रदाय के प्रमुख ग्रन्थाकार

श्री श्रीनिवासाचार्य—श्री निम्बार्काचार्य के शिष्य श्री श्रीनिवासाचार्य का निवास-स्थान गोवर्द्धन से एक कोस दूर ललिता संगम पर था, ऐसा 'आचार्य-परम्परा-परिचय' (पृ० ६) में लिखा है। इनके लिखे दो ग्रन्थ आज प्राप्त हैं :

१. वेदान्तकौस्तुभ नामक ब्रह्मसूत्र का भाष्य।

२. लघुस्तवराज

इन दो के अतिरिक्त इनके कुछ अन्य ग्रन्थों का परिचय सम्प्रदाय के ग्रन्थों में आता है, जो अभी तक अलब्ध हैं :

३. ख्याति निर्णय

४. पारिजात सौरभ भाष्य

५. रहस्य प्रबन्ध

६. कठोपनिषद्भाष्य

श्री देवाचार्य—इन्होंने ब्रह्मसूत्र की 'जाह्नवी' नामक वृत्ति की रचना की। इस वृत्ति की केवल दो तरंग उपलब्ध हैं। शेष रचना नहीं मिलती। इन्होंने 'भक्ति रत्नांजली' नामक एक अन्य ग्रन्थ की रचना भी की थी जो आज प्राप्त नहीं होती।

इनकी वृत्ति 'सिद्धान्तजाह्नवी' नाम से मुद्रित हो चुकी है। उसकी भूमिका (१०२) में लिखा है कि ये सं० १११२ में तैलंग देश में हुए। श्रीमती रमा बोस ने अपने शोध-

ग्रन्थ में इस उक्ति का खंडन किया है। वे कहती हैं कि श्री देवाचार्य ने अपनी वृत्ति में स्पष्ट रूप से माध्व मत का खंडन किया है अतः इनका समय इतना प्राचीन नहीं हो सकता।[1]

श्री सुन्दर भट्ट—श्री देवाचार्य के शिष्य श्री सुन्दर भट्ट ने 'जाह्नवी' वृत्ति की 'सेतु' नामक विस्तृत व्याख्या की जिसका केवल कुछ अंश ही उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त इन्होंने श्री निम्बार्काचार्य के दो ग्रन्थों 'प्रपन्नकल्पवल्ली' तथा 'मंत्ररहस्यषोडशी' की क्रमशः 'प्रपन्नसुरतरु मंजरी' एवं 'मंत्रार्थ रहस्य' नामक व्याख्याएँ भी कीं। इनके अतिरिक्त इनकी तीन रचनाओं के नाम और मिलते हैं जो अलब्ध हैं—१. प्रपन्नवृत्तिनिर्णय सन्दर्भ, २. गोपालोपनिषद् का भाष्य, ३. कालनिर्णय सन्दर्भ।

श्री केशव काश्मीरी भट्ट—इनकी समाधि मथुरा में नारद टीले पर बनी है। ये पास ही ध्रुव टीले पर निवास करते थे। ये तैलंग ब्राह्मण थे। इन्होंने अनेक बार भारत के विभिन्न स्थानों का भ्रमण कर अनेक पंडितों को शास्त्रार्थ में परास्त किया, इसलिए इन्हें 'दिग्विजयी' कहा जाता है। 'आचार्य-परम्परा-परिचय' (पृ० १३) के अनुसार इन्होंने अपनी योग-शक्ति से मथुरा के अत्याचारी शासक किसी यवन काज़ी को परास्त कर वहाँ के हिन्दुओं के धर्म की रक्षा की। चैतन्य सम्प्रदाय की वार्ताओं के अनुसार इनका साक्षात्कार बालक श्री कृष्ण चैतन्य से हुआ था, अतः इनका प्रादुर्भाव सं० १५०० के कुछ पहले मानना चाहिये।

इनके निम्नलिखित ग्रन्थ हैं :—

१. श्रीमद्भगवद्गीता का 'तत्त्वप्रकाशिका' नामक भाष्य।
२. ब्रह्मसूत्र का 'कौस्तुभप्रभा' नामक विस्तृत भाष्य।
३. मुण्डोपनिषद् का भाष्य। (इन्होंने अन्य नौ उपनिषदों का भाष्य भी किया था जो अलब्ध है।)
४. श्रीमद्भागवत के अन्तर्गत 'वेदस्तुति' की टीका। कहा जाता है इन्होंने सम्पूर्ण भागवत की टीका की थी।
५. यमुनास्तोत्र तथा गोविन्दशरणापत्तिस्तोत्र।
६. क्रमदीपिका (सतिलक)।

श्री श्रीभट्ट—ये मथुरा के निवासी गौड़ ब्राह्मण थे। इनकी समाधि भी नारद टीला पर स्थित है। इन्होंने संस्कृत में 'श्री कृष्णशरणापत्तिस्तोत्र' तथा अन्य कुछ स्तोत्रों की रचना की। किन्तु इनकी विशेष प्रसिद्धि इनके ब्रजभाषा ग्रन्थ 'युगलशतक' के कारण हुई। इस ग्रन्थ को सम्प्रदाय में 'आदिवाणी' कहा जाता है, क्योंकि यही सम्प्रदाय की पहली ब्रजभाषा की काव्य-रचना है। 'युगलशतक' के अतिरिक्त श्री श्रीभट्ट जी के कुछ फुटकर पद और भी मिलते हैं।[2]

'युगलशतक' में श्री श्रीभट्ट जी के सौ दोहे तथा उनमें से प्रत्येक के साथ उन्हीं के

१. श्रीमती रमा बोस—डाक्ट्रिन्स आफ़ निम्बार्क एंड हिज़ फ़ालोअर्स—(बिब्लियोथिका इंडिका) वाल्यूम ३, पृ० १०७-८।
२. श्री युगलशतक (मुद्रित) की भूमिका में श्री ब्रजवल्लभशरण ने लिखा है कि इनके १०० से अधिक अतिरिक्त पद उपलब्ध हैं।

समानार्थ एक-एक पंद संगृहीत हैं । यह रचना छः सुखों में विभक्त है ;

१. सिद्धान्त सुख, २. ब्रजलीला सुख, ३. सेवा सुख, ४. सहज सुख, ५. सुरत सुख, तथा उत्साह सुख । 'सिद्धान्त सुख' में अपने सेव्य श्री श्यामाश्याम, श्री वृन्दावन, ब्रजभूमि यमुना, गुरु आदि की संक्षेप में प्रशंसा तथा उनके प्रति निष्ठा का कथन है । 'ब्रजलीला सुख' में संक्षेप में युगल दम्पती की क्रीड़ा का वर्णन है, जिसके अन्तर्गत वंशीवादन, वन में श्री राधा के साथ छाक-भोजन, गोचारण, गृह में नैशक्रीड़ा, गोपियों के मंडल के बीच युगल का शरद्रास, मान तथा मिलन की लीलाएँ वर्णित हैं । 'सेवा सुख' में सहचरी द्वारा युगल की सेवा का वर्णन है । सखी उनकी आरती करती है, उनके लिए दूध, बीरी, ब्यारू आदि ले सेवा में प्रस्तुत रहती है । 'सहज सुख' में श्री राधा-कृष्ण का रूप-वर्णन तथा परस्पर अनुराग-वर्णन है, लाल श्री लाड़िली के अत्यन्त अधीन हैं, मुग्ध हैं । 'सुरत सुख' में युगल की रति-क्रीड़ा का संक्षिप्त वर्णन है । सहचरी उस सुख को देख-देखकर निहाल होती हैं । 'उत्साह सुख' में वर्ष-भर के उत्सवों का वर्णन है । जिसमें विभिन्न ऋतुओं और उत्सवों पर प्रिया-प्रियतम की केलि का वर्णन किया गया है । इस प्रकरण में वसंत, वर्षा, जलकेलि, हिंडोरा, पवित्राधारण, लालजू के जन्म की बधाई, लाड़िलीजू के जन्म की बधाई, रास तथा विवाह के दोहे और पद हैं ।

'युगलशतक' के रचना काल के सम्बन्ध में बहुत मतभेद है । 'युगलशतक' की भूमिका (पृ० ९) में श्री ब्रजवल्लभ शरण ने 'युगल शतक' की रचना सं० १३५२ में मानी है । इस कथन का आधार वे इस दोहे को मानते हैं :

२ ५ ३ १

नयन बान पुनि राम शशि गनों अंक गति वाम ।
युगल शतक पूरन भयो संवत् अति अभिराम ।।

इसी दोहे की दूसरी पंक्ति इसी 'युगल शतक' के अन्त में इस प्रकार छपी है

श्री भट प्रगटत जुगलशत, यह सम्बत अभिराम ।

काशी की नागरी प्रचारिणी सभा के संग्रह में एक हस्तलिखित पुस्तक है जिसमें इस दोहे की प्रथम पंक्ति में 'राम' के स्थान पर 'राग' पाठ है । इस पुस्तक के अनुसार रचना-काल सं० १६५२ हो जाता है ।

हमारे मत में यह दोहा ('राम' या 'राग' दोनों पाठों सहित) ही प्रक्षिप्त है । हमने 'युगलशतक' की अनेक हस्तलिखित प्रतियाँ देखी हैं । इनमें केवल दो में यह दोहा मिला । एक प्रति हमने वृन्दावन में देखी जिसमें 'राम' पाठ है । यह प्रति प्रथम हमने श्री भगीरथ झा के पास देखी तथा पुनः श्री ब्रजवल्लभशरण जी के पास । यह प्रति पुरानी नहीं, हाल की ही लिखी हुई है । नागरी प्रचारिणी सभा की जिस पोथी में 'राग' पाठ है वह भी हमने देखी है । वह भी प्राचीन नहीं, नयी है । इन दोनों के विपरीत हमने जितनी प्राचीन प्रतियाँ देखीं उनमें कहीं इस दोहे का पता नहीं मिलता । इनमें से श्री राधाचरण गोस्वामी के पुस्तकालय की यह तीन प्रतियाँ उल्लेखनीय हैं :

१. लिपि संवत् १८९७—इसमें अन्त में फलस्तुति का निम्नलिखित दोहा तो वैसा ही है जैसा मुद्रित पुस्तक में :

श्री भट प्रगटत जुगलसत, पढ़ै कंठ तिहुँ काल ।
जुगलकेलि अवलोकतें, मिटें सकल जंजाल ।।

किन्तु इस दोहे से पहले मुद्रित पुस्तक में 'नयन बान पुनि राम शशि' आदि जो दोहा आया है उसका इस हस्तलिखित पुस्तक में कहीं नाम भी नहीं है।

२. सं० १९११ की प्रति—इस पुस्तक में १०० दोहे हैं। कहीं-कहीं साथ में पद नहीं हैं। संवत् के दोहे का इसमें भी पता नहीं।

३. पत्रों के रूप में एक प्राचीन प्रति—यह प्रति पहली दोनों से भी पुरानी ही होगी, पीछे की नहीं। इसमें भी १०० दोहे हैं किन्तु संवत् का दोहा नहीं है। इसमें 'युगलशतक' की छन्द संख्या का परिमाण भी दिया गया है:

एक छप्पय एक दोहरा आदि अंत मधिमान।
सत पद आभासन सहित जुग सत हद परिमान॥

इस प्रकार प्रारम्भ में एक छप्पय, अन्त में एक दोहा तथा मध्य में १०० दोहे तथा १०० पद यह 'युगलशतक' की सम्पूर्ण छन्द संख्या है। अन्त का दोहा फलस्तुति का है, अतः निश्चय ही यह संवत् का दोहा प्रक्षिप्त है।

हमारे मत से श्री श्रीभट्ट जी का समय उनके गुरु श्री केशव काश्मीरी के तुरन्त बाद सं० १५५० के आसपास स्वा० हरिदास जी के समकालीन मानना चाहिये।

श्री हरिव्यास देव—इनकी समाधि भी नारद टीला पर बनी हुई है। इन्होंने भारत के अनेक स्थानों में भ्रमण कर अपने सम्प्रदाय के मत का प्रचार किया। इनके अनेक शिष्य हुए। इन्हीं के प्रयास से श्री निम्बार्क सम्प्रदाय अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँचा। इसीलिए आज जितने भी निम्बार्क सम्प्रदायानुयायी मिलते हैं उनमें से अधिकांश 'हरिव्यासी' हैं।

इनके निम्नलिखित ग्रन्थ उपलब्ध हैं:

१. सिद्धान्तरत्नांजली—श्री निम्बार्काचार्य कृत दशश्लोकी की बृहत् टीका।

२. श्री निम्बार्काष्टोत्तरशतनाम स्तोत्र की 'प्रेमाभक्ति विवर्द्धिनी' टीका।

३. तत्त्वार्थ पंचक।

४. पंचसंस्कार निरूपणम्।

५. श्री महावाणी (ब्रजभाषा का पद्या

अन्तिम ग्रन्थ ही इनका सबसे महत्त

वृन्दावनीय रस का जो स्वरूप बताया जाता है उसका मूल आधार 'महावाणी' ही है। सम्प्रदाय की सबसे पहली वाणी रचना होने के कारण जिस प्रकार 'युगलशतक' को 'आदि-वाणी' कहा जाता है उसी प्रकार 'युगलशतक' के रस तत्त्व को और अधिक पल्लवित करने एवं सम्प्रदाय के रसिकोपासकों का एकमात्र आधार होने के कारण श्री हरिव्यासदेव जी की वाणी को 'महावाणी' कहा जाता है।

महावाणी में भी प्रत्येक रचना एक दोहा तथा एक पद के युग्मों में की गई है। दोहे में जो बात संक्षेप में कही गई है, उसी को पद में विस्तार से कहा गया है। संपूर्ण ग्रन्थ पाँच सुखों में बँटा हुआ है:

१. सेवा सुख, २. उत्साह सुख, ३. सुरत सुख, ४. सहज सुख, ५. सिद्धांत सुख।

'सेवा सुख' में प्रथम ३६ संस्कृत श्लोकों में 'सखीनाम-रत्नावली' नामक छोटी-सी रचना है जिसमें श्री राधा की अनेक सखियों का स्मरण किया गया है। फिर पाँच दोहों में गुरु-वन्दना तथा 'सेवा सुख' की प्रस्तावना है। तब ८४ दोहे तथा उनके आभास-स्वरूप ८४ पदों में 'सेवा सुख' का निरूपण है। 'सेवा सुख' का विषय है प्रातःकाल से लेकर रात्रि तक

श्री प्रिया-प्रियतम की समय-समय की केलि तथा सहचरी द्वारा उनकी सेवा। सहचरी उन्हें प्रातःकाल जगाती हैं। शृंगार भोजनादि कराती हैं। वे नवदम्पति अनेक कोककलासंयुक्त प्रेमलीलाओं में रत रहते हैं। सहचरी गण उन लीलाओं का दर्शन कर परमानन्द का अनुभव करती हैं। कवि ने यहाँ अपने गुरु श्री श्रीभट्ट जी का प्रधान सहचरी के रूप में उल्लेख किया है और उन्हें 'हितु सखी' नाम से स्मरण किया है।

'उत्साह सुख' में वर्ष भर की विभिन्न ऋतुओं और उत्सवों की केलि का वर्णन है। इसमें वसन्त, होली, डोल, फूलडोल, रथारोहण, जलविहार, अक्षयतृतीया, श्रावण की तीज, पवित्रा, राखी, लालजू की बधाई, प्रियाजू की बधाई, साँझी, विजयादशमी, रासोत्सव, विवाह, विवाह के अनेक उत्साह, दीपावली, आदि विषय ग्रहण किये गये हैं। प्रारम्भ में एक श्लोक और दो दोहों में प्रिया-प्रियतम तथा गुरु की वन्दना है और तब १८३ दोहों तथा उनके आभास-रूप उतने ही पदों में 'उत्साहसुख' का विस्तार है।

'सुरत सुख' के प्रारम्भ में दो श्लोक तथा दो दोहे हैं। तब १०० दोहों तथा उनके आभास-स्वरूप १०० पदों में प्रधान विषय का वर्णन है। अन्त में एक दोहा तथा एक कुंडलिया है। 'सुरत सुख' का विषय है प्रिया-प्रियतम की निकुंज केलि। नित्यविहार में लीन लाड़िली लाल का रूप वर्णन, उनका सुरतिविहार, लाल की अधीनता, लाड़िली का मान आदि विषय इस सुख के अन्तर्गत आये हैं।

'सहज सुख' के प्रारम्भ में एक श्लोक तथा दो दोहे, फिर १०२ दोहों के साथ १०२ पद तथा अन्त में एक कुंडलिया तथा एक दोहा है। 'सहज सुख' का विषय है सहचरी-रूप भक्त द्वारा, नित्यविहार की कामना से, प्रियाप्रियतम की सेवा में विनय-निवेदन। नित्य-निकुंज-विहार में लीन लाड़िली-लाल का स्वरूप वर्णन, वृन्दावन की प्रशंसा, प्रिया-प्रियतम की अनवरत प्रेमलीला, युगल की मिलन के समय भी मिलनोत्सुकता आदि विषय इस सुख के अन्तर्गत आये हैं।

'सिद्धान्त सुख' में प्रथम दो श्लोक तथा दो दोहे, तब ३८ दोहे तथा ३८ पद एवं अन्त में एक कुंडलिया और एक दोहा है। 'सिद्धान्त सुख' का विषय है श्री निकुंज विहारी-विहारिणी के रूप, उनके धाम तथा उनके परिकर का वर्णन। लाड़िली-लाल अंशी हैं, ब्रह्म उनके अंश। लाड़िली के पद नूपुर के रव से शब्द ब्रह्म की उत्पत्ति होती है। दिव्य वृन्दावन के मध्य दिव्य महल में दूलह-दुलहिनि विहार करते हैं। उनकी सेवा में सहस्रों सखियों के यूथ सदा प्रस्तुत रहते हैं। श्री हरिव्यासदेव जी ने प्रथम श्री रंगदेवी का स्मरण किया है। यह वास्तव में श्री निम्बार्काचार्य का रस-देश का उपनाम है। फिर उन्होंने अपने सम्प्रदाय के प्रथम आठ आचार्यों को प्रधान आठ सखियाँ मान उनमें से प्रत्येक की आठ-आठ तथा पुनः उनमें से भी प्रत्येक की आठ-आठ, इस प्रकार कुल ५८४ सखियों के नाम गिनाये हैं।

श्री हरिव्यासदेव जी का काल अभी तक निर्णीत नहीं हुआ है। 'युगलशतक' की भूमिका (पृ० ८) में श्री ब्रजवल्लभ शरण ने लिखा है कि ये सं० १५२५ में विद्यमान थे। अपने कथन का आधार वे बताते हैं काशी के महामहोपाध्याय श्री गोपीनाथ कविराज की नोट-बुक से उद्धृत यह उल्लेख कि सरस्वती-भवन पुस्तकालय में एक पुस्तक 'नृसिंह-परिचर्या' है, जिसे सं० १५२५ में श्री हरिव्यासदेव ने स्वयं अपने हाथ से लिखा।

हमने इस उल्लेख की छानबीन की किन्तु जिस समय हम काशी गये, यह पुस्तक पुस्तकालय में न थी। पीछे से सरस्वती पुस्तकालय के विद्वान् ग्रन्थपाल श्री सुभद्र झा ने हमें

'नृसिंह परिचर्या' (महीधर संग्रह, $\frac{१४१}{२५५३}$) के अंत्य पत्र से निम्नलिखित लेख प्रतिलिपि करा कर भेजा जिसके लिए हम उनके कृतज्ञ हैं :

"इति श्री मत्परमवैष्णवप्रतिष्ठाचार्य श्री रामार्यवर्यसुतः कृष्णदेव विरचितायां वैष्णवधर्मानुष्ठानपद्धतौ नृसिंहपरिचर्यायां द्वादशः पटलः समाप्तेयं नृसिंह परिचर्या।

श्रीः ॥ सं० १६२५ वर्षे ॥
आषाढ़स्यासिते पक्षे चतुर्थ्यां रविवासरे ।
लिखितं हरिव्यासेन वाराणस्यां शुभस्थले ॥
श्रीमत्कीवाख्य विप्रस्य पुत्रः परमवैष्णवः ।
गोविन्दः श्रौतधर्मज्ञस्तेनेदं लिखितं शुभम् ॥
नमो वेदांगभूवर्षे वाराणस्यामजार्चनां ।
महीदासः स्वबन्धुना श्रीमत्प्रीत्यै हरेः शुभम् ॥

उपर्युक्त लेख से ज्ञात होता है कि कथित लिपि सं० १५२५ की नहीं, सं० १६२५ की है। श्री केशव काश्मीरी के काल के आधार पर श्री हरिव्यास देव का काल लगभग यही होना चाहिये। ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि वे स्वा० हरिदास जी के कुछ बाद हुए। उनकी 'महावाणी' रस का अन्यतम ग्रन्थ है। यदि इसकी रचना स्वा० हरिदास जी के समय तक भी हो जाती तो रसिकों के परम भक्त श्री हरिराम व्यास अपनी वाणी में अवश्य उसकी प्रशंसा करते। यह बात विचारणीय है कि श्री हरिराम व्यास (सं० १५६७-१६६९) की वाणी में श्री हरिव्यास जी का नाम नहीं आता किन्तु ध्रुवदास जी ने (रचनाकाल १६५०-१६८९) अपनी 'भक्त नामावली' में उनका उल्लेख किया है। अतः सम्भव है कि श्री हरिव्यासदेव सं० १६२५-७५ के बीच स्थित रहे होंगे।

श्री पुरुषोत्तम प्रसाद—ये श्री सोभूराम जी की शिष्य-परम्परा में उनके शिष्य श्री कन्हरदेव के शिष्य श्री धर्मदेव के शिष्य थे।[1] इनका जन्म जगाधरी में, सं० १६८० में श्री नारायणप्रसाद नामक गौड़ ब्राह्मण के घर हुआ।[2] इनके द्वारा रचित निम्नलिखित ग्रन्थ उपलब्ध हैं :

१. श्रुत्यंतसुरद्रुम—सविशेष-निर्विशेषस्तवराज की टीका।
२. श्रुत्यंत कल्पवल्ली—सविशेष-निर्विशेषस्तवराज की टीका।
(सम्भव है इन दोनों टीकाओं के रचयिता दो भिन्न-भिन्न पुरुषोत्तम प्रसाद रहे हों)
३. अर्चिरादि पद्धति—सटीक
४. मुकुन्दमहिमास्तोत्र
५. अध्यात्मकारिकावली और उसकी टीका
६. अध्यात्मसुधातरंगिणी।
७. लघुस्तवराज की गुरु-भक्ति-मंदाकिनी नामक टीका।

श्री अनन्तराम—ये भी श्रीमती धर्मदेव के शिष्य थे। श्री रमा बोस की सूचना के

१. आचार्य-परम्परा—परिचय, पृ० ५१।
२. रमा बोस, डाक्ट्रिन्स ऑफ़ निम्बार्क एंड हिज फालोअर्स, वाल्यूम ३, पृ० १७४।

अनुसार ये उपर्युक्त श्री पुरुषोत्तमप्रसाद के गुरु भाई ही नहीं उनके सहोदर भी थे।[1] इन्होंने निम्नलिखित ग्रन्थों की रचना की :

१. वेदान्ततत्त्वबोध
२. लघुवेदान्तरत्नमाला
३. वेदान्तरत्नमाला
४. बृहद्वेदान्तरत्नमाला
५. श्रीमद्भागवद्गीता की पदार्थबोधिनी नामक भाषा-टीका
६. श्री कृष्णचरणभूषणस्तोत्र
७. श्री हंसशरणापत्तिस्तोत्र
८. श्री मुकुन्दशरणापत्तिस्तोत्र
९. श्री आचार्यपंचायतनस्तोत्र
१०. श्री आचार्यपरम्परास्तोत्र तथा उसकी टीका
११. आचार्य-चरित
१२. द्वैताद्वैत-विवरण
१३. तत्त्वसिद्धान्त-बिन्दु
१४. श्रुतिसिद्धान्तरत्नमाला
१५. वेदान्तसारपद्यमाला
१६. श्री गुरुनतिर्वैजयन्ती
१७. श्री वैष्णवधर्ममीमांसा

श्री निम्बार्क सम्प्रदाय का दार्शनिक सिद्धान्त—श्रीमती रमा बोस के कथनानुसार श्री निम्बार्काचार्य का भेदाभेदवाद श्री शंकराचार्य के अद्वैतवाद का खंडन करता है। श्री निम्बार्काचार्य के मत से ब्रह्म और जीव-जगत् समान रूप से यथार्थ हैं। श्री रामानुजाचार्य का मत भी यही है, किन्तु जहाँ श्री रामानुज के मत से इस द्वैत का पर्यवसान अद्वैत में हो जाता है, वहाँ श्री निम्बार्क के मत में ब्रह्म और जीव-जगत् का चिरंतन सम्बन्ध द्वैत और अद्वैत का है। उनके मत से द्वैत भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है, जितना अद्वैत। वे मानते हैं कि संसार की स्थिति तक ही यह द्वैत नहीं रहता, प्रलय में भी यह द्वैत बना रहता है। उनके मत से मुक्त जीवात्मा का भी ब्रह्म से द्वैत तथा अद्वैत दोनों प्रकार का सम्बन्ध समान रूप से बना रहता है। मोक्ष का अर्थ है जीवात्मा का ब्रह्म-स्वरूप लाभ तथा साथ ही आत्म-स्वरूप लाभ। बद्ध जीव ज्ञान के अभाव में अपने को ब्रह्म से स्वतंत्र समझता है। मोक्ष का अर्थ है जीव का ज्ञान-स्वरूप और आनन्द-स्वरूप हो जाना। मोक्ष की प्राप्ति पर ज्ञात होता है कि जीव ब्रह्म के अंश-रूप में उस पर निर्भर है। अतः वह ब्रह्म से अभिन्न भी है और भिन्न भी। प्रत्येक अवस्था में जीव और ब्रह्म का यह भेदाभेद बना रहता है। इसीलिए श्री निम्बार्काचार्य का दार्शनिक सिद्धान्त भेदाभेदवाद या द्वैताद्वैतवाद कहलाता है।[2]

श्री निम्बार्काचार्य ने स्वयं अपने दश श्लोकों में, जिन्हें सम्प्रदाय में 'वेदान्तकामधेनु'

१. रमा बोस, डाक्ट्रिन्स ऑफ़ निम्बार्क एंड हिज फालोअर्स, वाल्यूम ३, पृ० १७८।
२. रमा बोस, वेदान्तपारिजात सौरभ आफ़ निम्बार्क, बिब्लियोथिका इंडिका, वाल्यूम १, भूमिका पृ० ५।

कहा जाता है, त्रितत्त्व का संक्षेप में स्वरूप-निरूपण किया है। उनके मत से जीव का स्वरूप इस प्रकार है :

ज्ञानस्वरूपं च हरेरधीनं शरीरसंयोगवियोगयोग्यम् ।
अणुं हि जीवं प्रतिदेहभिन्नं ज्ञातृत्ववन्तं यदनन्तमाहुः ॥१॥
अनादिमायापरियुक्तरूपं त्वेनं विदुर्वै भगवत्प्रसादात् ।
मुक्तं च बद्धं किल बद्धमुक्तं प्रभेदबाहुल्यमथापि बोध्यम् ॥२॥

जीव ज्ञान-स्वरूप है, ब्रह्म के अधीन है, अणु है, प्रति देह में भिन्न है, अतः इसकी संख्या अनन्त है। यह ज्ञानवान् है। शरीर में आने पर यह संसार के बन्धनों से बँधता है तथा भगवत्कृपा से कर्म बन्धन से विमुक्त होता है।

अनादि माया से परिवेष्टित होने के कारण जीव का ज्ञान संकुचित हो जाता है। किन्तु मुमुक्षु जन भगवत्कृपा से इसके वास्तविक स्वरूप को पहचान लेते हैं। जीवों में कोई बद्ध हैं, कोई मुक्त हैं, तथा कोई बद्धमुक्त।

प्रकृति का स्वरूप श्री निम्बार्काचार्य ने इस प्रकार बताया है :

अप्राकृतं प्राकृतरूपकं च कालस्वरूपं च तदचेतनं मतम् ।
मायाप्रधानादिपदप्रवाच्यं शुक्लादि भेदाश्च समेपि तत्र ॥३॥

अचेतन तत्त्व तीन प्रकार का है—अप्राकृत, प्राकृत तथा काल। शुक्ल, लोहित और कृष्णवर्ण वाले सत्व, रज और तमोगुण जिसमें समान रूप से रहें उस प्राकृत तत्त्व को माया-प्रधान, अव्यक्त आदि नामों से पुकारते हैं।

ब्रह्म का स्वरूप इस प्रकार कहा गया है :

स्वभावतोपास्तसमस्तदोषमशेषकल्याणगुणैकराशिम् ।
व्यूहांगिनं ब्रह्मपरं वरेण्यं ध्यायेम कृष्णं कमलेक्षणं हरिम् ॥४॥

स्वभावतः ही जो सब दोषों से परे हैं, मोक्षप्रदाता, भक्तवत्सल आदि होने के कारण अशेष कल्याणकारी गुणों की राशि हैं, वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध यह चतुर्व्यूह तथा अन्य अवतार जिनके अंग हैं और वे स्वयं अंगी हैं, ऐसे साक्षात्परब्रह्म श्री कृष्ण ही हमारे उपास्य हैं। जगत् की यथार्थता का निरूपण इस प्रकार किया गया है :

सर्वं हि विज्ञानमतो यथार्थकं श्रुतिस्मृतिभ्यो निखिलस्य वस्तुनः ।
ब्रह्मात्मकत्वादिति वेदविन्मतं त्विरूपतापि श्रुतिसूत्रसाधिता ॥७॥

श्रुति-स्मृतियों से यह सिद्ध है कि चेतन तथा अचेतन सम्पूर्ण वस्तु (जगत्) ब्रह्म-रूप है अतः जगत् का विशेष ज्ञान यथार्थ है। ब्रह्म, जीव, माया ये तीनों तत्त्व यथार्थ हैं।

श्री निम्बार्क सम्प्रदाय की उपासना-पद्धति—श्री निम्बार्काचार्य ने अपनी दश-श्लोकी में अपनी उपासना पद्धति का भी उल्लेख किया है। वे कहते हैं :

अंगे तु वामे वृषभानुजां मुदा विराजमानामनुरूपसौभगाम् ।
सखीसहस्रैः परिसेवितां सदा स्मरेम देवीं सकलेष्टकामदाम् ॥५॥
उपासनीयं नितरां जनैः सदा प्रहाणये ज्ञानतमोनुवृत्तेः ।
सनन्दनाद्यैर्मुनिभिस्तथोक्तं श्री नारदायाखिलतत्त्वसाक्षिणे ॥६॥
नान्या गतिः कृष्णपदारविन्दात् संदृश्यते ब्रह्मशिवादिवंदितात् ।
भक्तेच्छयोपात्त सुचित्यविग्रहादचित्यशक्तेरविचित्यसाशयात् ॥८॥

कृपास्य दैन्यादियुजि प्रजायते यथा भवेत्प्रेमविशेषलक्षणा।
भक्तिर्ह्यनन्याधिपतेर्महात्मनः साचोत्तमा साधनरूपिका परा ।।९।।

उपर्युक्त श्लोकों में उन्होंने स्पष्ट कर दिया है कि वे श्री राधाकृष्ण की माधुर्य भक्ति के उपासक थे। उन्होंने श्री सनकादि तथा श्री नारद का प्रथम भक्ति-प्रतिपादकों में नाम लिया है। श्री कृष्णचरणों को छोड़ संसार-समुद्र से पार होने का और कोई मार्ग नहीं। दीनता आदि गुणों से युक्त पुरुष पर ही श्री कृष्ण की कृपा होती है। उस कृपा से ही प्रेमलक्षणा भक्ति का उदय होता है। प्रेमलक्षणा ही परा भक्ति है। साधन-रूपा भक्ति अपरा है।

श्री राधा-कृष्ण की माधुर्योपासना का प्रचार करने वाले यही प्रथम वैष्णवाचार्य हैं। कुछ विद्वानों का तो मत है कि श्री राधा का उल्लेख ही सबसे प्रथम इनकी दश-श्लोकी में आया है। किन्तु जब तक इनका काल निर्णीत नहीं हो जाता तब तक ऐसा कहना उचित न होगा। इन्हीं की शिष्य-परम्परा में श्री जयदेव हुए जो मध्यकालीन माधुर्योपासक भक्तों के मूल प्रेरक हैं।

वर्तमान समय में इस सम्प्रदाय की माधुर्योपासना का आधार है श्री हरिव्यासदेव जी की 'महावाणी'। सखी भाव से प्रिया-प्रियतम की निकुंजकेलि में सेवा करना भक्त का चरम साधन एवं साध्य है। श्री हरिव्यासदेव जी के परिचय में हम 'महावाणी' के वर्ण्य विषय का भी संक्षेप में परिचय दे चुके हैं। उससे कुछ परिचय मिल जायगा कि 'महावाणी' के प्रिया-प्रियतम, सखी, वृन्दावन आदि का क्या स्वरूप है। स्वा० हरिदास जी के उपासनीय रस के अंगों से 'महावाणी' की निकुंज का स्वरूप थोड़ा भिन्न है। 'महावाणी' में भी नित्य-विहार का वर्णन है, किन्तु साथ ही जन्म, विवाह आदि नैमित्तिक लीलायें भी आ गयी हैं। स्वा० हरिदास जी की सहचरी के स्वरूप में लाड़िली के प्रति विशेष आत्मीयता है, जब कि श्री हरिव्यासदेव जी के सहचरी-स्वरूप में सेवक-सेव्य भाव अधिक है। स्वा० जी की निकुंज में सखियों के यूथ नहीं हैं। श्री हरिव्यासदेव जी की निकुंज में सहस्रों सखियाँ अलग-अलग यूथों में बँटी सेवा में तत्पर रहती हैं। अष्टयाम, षट्ऋतु, उत्सव आदि के अनुसार महावाणी में विहार के अनेक समय विभाग तथा भेद हैं। ऐसे स्वामी जी की उपासना में नहीं।

साधारण कर्मकांड में भी मूल निम्बार्क सम्प्रदाय की उपासना स्वा० हरिदास जी की उपासना से भिन्न है। स्वामी जी की उपासना में वेदशास्त्र की मर्यादा, विधि-भक्ति आदि का खंडन है, जब कि हरिव्यासी परम्परा में शास्त्रानुमोदित पूजा-पद्धति, तीर्थ-व्रत आदि ग्रहण किये जाते हैं।

उपसंहार

स्वामी हरिदास जी और उनके सम्प्रदाय की देन

उपासना-क्षेत्र में—वृन्दावन को केन्द्र मानकर माधुर्य रस की उपासना का जो विकास हुआ, स्वा० हरिदास जी का नाम उसमें सबसे पहले आता है। वे सं० १५६२ में वैराग्य ले वृन्दावन में निवास करने लगे। श्री कृष्ण चैतन्य महाप्रभु सं० १५७१ में वृन्दावन आये तथा श्री हितहरिवंश सं० १५९१ में। अतः वृन्दावन में माधुर्य की उपासना करने वालों में स्वा० हरिदास जी का ही नाम सबसे पहले आता है।

स्वा० हरिदास जी वृन्दावन में सखी-भाव के प्रथम उपासक हैं। यही कारण है कि अन्य सम्प्रदायों में सखी-भाव की उपासना पाई जाने पर भी उन्हीं का सम्प्रदाय 'सखी सम्प्रदाय' कहलाता है। 'निरवधि नित्यविहार' का सांगोपांग एवं झीना स्वरूप उन्हीं ने स्थापित किया। नित्यविहार के अन्य उपासक सम्प्रदायों जैसे राधावल्लभ सम्प्रदाय आदि में यह भावना उनके पीछे प्रतिष्ठित हुई।[1]

१. श्री विजयेन्द्र स्नातक ने अपने ग्रन्थ 'श्री राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य' में अनेक भ्रमात्मक उल्लेख किये हैं—जैसे नित्यविहार का मूलाधार श्री हित हरिवंश जी की 'हितचौरासी' एवं 'राधासुधानिधि' को मानना (पृ० २३९), तथा श्री हितहरिवंश जी की पद्धति से स्वा० हरिदास जी की उपासना को प्रभावित मानना (पृ० ५८४-८५)। उन्होंने स्वा० हरिदास जी का काल-निर्णय करने का कोई प्रयास नहीं किया। इसीलिए स्वामी जी से आयु में २२ वर्ष छोटे तथा उनके २९ वर्ष बाद वृन्दावन आने वाले श्री हितहरिवंश जी की पद्धति से स्वा० हरिदास जी की पद्धति को प्रभावित और पीछे का बताया है। स्नातक जी ने लिखा है कि श्री राधा की गादी-सेवा श्री राधावल्लभ सम्प्रदाय में प्रथम प्रचलित हुई और तब अन्य सम्प्रदायों ने उसका अनुकरण किया। उन्हें यह नहीं मालूम कि स्वा० हरिदास जी के उपास्य श्री बाँके बिहारी जी का प्राकट्य सं० १५६७ में हो चुका था और उसी समय से श्री राधा की गादी-सेवा स्वा० हरिदास जी द्वारा प्रतिष्ठित हो चुकी थी। जब कि श्री हितहरिवंश जी के उपास्य श्री राधावल्लभ जी का पाटोत्सव सं० १५९२ में हुआ।

उन्होंने यह भी कहा है कि वृन्दावन के स्थूल रूप पर आस्था केवल श्री राधावल्लभ सम्प्रदाय में ही पायी जाती है (पृ० २३१)। वे शायद यह नहीं जानते कि वृन्दावन का प्रायः प्रत्येक सम्प्रदाय वृन्दावन के स्थूल रूप में ही आस्था रखता है। अन्य सम्प्रदायों के सम्बन्ध में बिना छानबीन किये लिखने के कारण ही स्नातक जी इस प्रकार भ्रम में पड़ गये हैं।

अजन्मा एवं नित्यकिशोर युगल की कल्पना, स्वकीया परकीया विवाह आदि से परे निरवधि नित्यविहार का रूप जिसमें निमित्त को अवकाश ही नहीं मिलता तथा केलि कराने में कारण-भूत सहचरी की भावना, रस के क्षेत्र में स्वा० हरिदास जी की ही देन हैं।

युगल की केलि के हेतु अनवरत आतुरता, मिलन में भी और मिलन की चाह, ऐसा अनुभव जैसे पहले कभी एक-दूसरे को देखा ही न हो, विरह और अकृपा की कल्पना मात्र से लाल का व्याकुल हो जाना, विदग्धा श्री राधा का आतुर लाल को रसदान द्वारा पोषित करना आदि विहार के अंग पहले-पहल स्वा० हरिदास जी की ही वाणी में आये थे। इन्हीं से नित्यविहार के स्वरूप की प्रतिष्ठा हुई।

स्वा० हरिदास जी के बाद भी उनकी परम्परा में स्वा० विहारिणिदेव तथा स्वा० ललितकिशोरीदेव जी आदि आचार्यों ने उनकी उपासना के झीने स्वरूप को ज्यों का त्यों बनाये रखा।

श्री बाँकेबिहारी जी की सेवा-पद्धति में से स्वा० हरिदास जी ने विधि-निषेध को निकालकर रसोपासकों को माधुर्य की भावना के अनुकूल पूजा-पद्धति बताई। श्री राधा की गादी-सेवा इसी सम्प्रदाय में सर्वप्रथम प्रचलित हुई। उत्सवों को सीमित किया गया तथा प्रतिदिन की सेवा के अवसरों को भी।

स्वामी हरिदास जी ने अपनी 'रहनी और कहनी' से साधकों के सामने उत्कट वैराग्य का उदाहरण रखा। व्यासजी के कथनानुसार 'सुरपति भूपति कंचन कामिनि जिनके भायें घास' यह अवस्था तो थी ही, पूजा-सेवा के लिए भी उन्होंने धातु के पात्रों का संग्रह न कर ब्रज-रज के करुवे-मात्र को ग्रहण किया। उन्होंने तीर्थ, व्रत, तर्पण, श्राद्ध, गायत्री आदि विधियों को भी अनन्यता में बाधा समझा। व्यास जी ने उन्हें 'अनन्य नृपति श्री स्वामी हरिदास' कहा है, वह पूर्ण रूप से युक्तियुक्त है। आचरण से अन्य साधनों और विधियों को निकाल कर केवल विहार की उपासना, अन्य सब देवी-देवता, इंद्र, विष्णु आदि को छोड़ एकमात्र युगलकिशोर में आस्था, स्वयं श्री कृष्ण के भी जन्म, ब्रजलीला, मथुरा तथा द्वारका की लीला, गोपी-प्रेम, विवाह आदि चरित्रों को छोड़ एकमात्र किशोर वय: तथा नित्यविहारी स्वरूप को मानना, यही उनकी अनन्यता का स्वरूप था।

उनके संप्रदाय में गुरु को बहुत ऊँचा स्थान दिया गया। श्री विहारिणिदेव जी से लेकर आज तक सबने स्वा० हरिदास जी को तथा अपने गुरु को प्रधान सहचरी के रूप में स्वीकार किया। सहचरी की बाँह के सहारे ही प्रिया-प्रियतम केलि करते हैं, अत: वास्तव में सहचरी (स्वा० हरिदास) ही विहार का कारण हैं, ऐसा माना गया। सम्प्रदाय में 'वाणी' (ब्रजभाषा काव्य में रसिकों की रचना) को वेद और भागवत से ऊपर स्थान दिया गया। सत्संग की महिमा, 'सीत' की महिमा, निष्ठावान् शूद्र को शाक्त एवं कर्मठ ब्राह्मण से ऊँचा मानना आदि सम्प्रदाय के आदर्श बने।

स्वा० हरिदास जी के सम्प्रदाय के तीन प्रमुख स्थान वृन्दावन में विद्यमान हैं। उनके अनुयायियों की वृन्दावन, मथुरा, बुंदेलखंड आदि प्रदेशों में बहुत बड़ी संख्या है। श्री प्राणनाथ जी का 'धामी सम्प्रदाय' उन्हीं की शिष्य परम्परा में श्री देवचन्द्र (श्री प्राणनाथ के गुरु) से प्रारम्भ हुआ। इस सम्प्रदाय की पन्ना, जामनगर तथा सूरत में प्रमुख गद्दियाँ हैं।

संगीत के क्षेत्र में—उत्तर भारत के संगीत-क्षेत्रों में आज भी स्वामी हरिदास जी

का नाम सबसे अधिक आदर से लिया जाता है। वे तानसेन तथा बैजू बावरा जैसे महान् संगीतज्ञों के गुरु थे। ध्रुपद की शैली के वे अग्रगण्य आचार्य थे। ध्रुपद संगीत के अनुकूल प्रबन्ध रचना करने वाले वही सर्वप्रथम वाग्गेयकार थे। आज ध्रुपद के गवैये तो उन्हें अपना आदर्श मानते ही हैं, उनके सम्प्रदाय के विरक्तों में भी 'समाज' की अखंड परम्परा चली आती है जिसमें उनकी संगीत-शैली के कुछ-न-कुछ अंश अवश्य शेष होंगे।

स्वा० हरिदास जी की शिष्य-परम्परा के अनेक महानुभावों ने गेय-पद-रचना की और उनकी परिपाटी का रक्षण किया।

साहित्य के क्षेत्र में—स्वा० हरिदास जी के सम्प्रदाय के महानुभावों में ब्रजभाषा के अनेक उच्चकोटि के कवि हुए। स्वयं स्वामी हरिदास जी के अतिरिक्त श्री बीठल विपुल, श्री विहारिणिदास, श्री नागरीदास, श्री रसिकदास, श्री ललितकिशोरीदास, श्री पीताम्बरदास, श्री किशोरदास, श्री भगवत रसिक, श्री शीतलदास तथा श्री सहचरिशरण ने प्रभूत काव्य-रचना की, जो श्रेष्ठता तथा परिमाण में किसी भी सम्प्रदाय के साहित्य से कम नहीं।

इस वाणी-साहित्य में से अधिकांश अप्रकाशित है और जो प्रकाशित हो चुका है वह भी सम्प्रदाय की परम्परा के कारण सर्वसाधारण को प्राप्त नहीं है। जब यह सम्पूर्ण साहित्य प्रकाश में आयेगा तब साहित्य-क्षेत्र में निश्चय ही इस सम्प्रदाय के साहित्य को अत्युच्च प्रतिष्ठा प्राप्त होगी।

सहायक-ग्रन्थ-सूची

हिन्दी के मुद्रित ग्रन्थ

अमोलकराम शास्त्री	अष्टादश सिद्धान्त के पदों की टीका
किशोरदास, पंडित	आचार्य-परम्परा-परिचय
	द्वैताद्वैत सिद्धान्त
	साधन प्रणाली
किशोरदास, महंत	अद्भुत आनन्द सत
	आसुधीर जू को चरित्र
	उपदेस आनन्द सत
	निजमत सिद्धान्त
	फुटकर कवित्त
	विहारिनिदास जू को चरित्र
	सवैया पचीसी
	सिद्धान्त सरोवर
	सिद्धान्त सार संग्रह
किशोरीशरण 'अलि'	साहित्य रत्नावली
कृष्णदत्त वाजपेयी	ब्रज का इतिहास
	ब्रज परिचय
	मथुरा परिचय
कृष्णदास, बाबा	रासलीलानुकरण और श्री नारायण भट्ट
गौरीशंकर द्विवेदी	बुन्देल-वैभव
ज्वाला प्रसाद मिश्र	भक्तमाल पर टिप्पणी
तानसेन	रागमाला
तीर्थ दर्शन	
तोताराम	ब्रजविनोद
दानविहारीलाल शर्मा	निम्बार्कावतरण नाटक

दीनदयाल गुप्त	अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय
ध्रुवदास	बयालीस लीला
नवनागरीदास	सांगीत विंदु
नवनीत कवि	हरिदासवंशानुचरित्र
नागरी प्रचारिणी सभा, काशा	हस्तलिखित हिन्दी पुस्तकों की खोज-रिपोर्ट
नाभा जी	भक्तमाल
नंदकुमार शरण ब्रह्मचारी	आचार्य तत्त्वनिर्णय
परशुराम चतुर्वेदी	उत्तरी भारत की सन्त परम्परा
पोद्दार अभिनंदन ग्रंथ	
प्रताप सिंह	भक्तकल्पद्रुम
प्राणनाथ जी	श्री मुखवाणी (महावाणी)
प्रियादास	भक्तमाल की भक्तिरसबोधिनी टीका
प्रियादास (राधावल्लभीय)	राधावल्लभ भक्तमाल
	हितसिद्धान्त
बलदेव उपाध्याय	भागवत सम्प्रदाय
बालकृष्णशरणदेवाचार्य	निम्बार्क व्रतोत्सवनिर्णय
बाँकेपिया (बाँकेविहारीलाल)	माध्वगौड़ीयतत्त्वदिग्दर्शन
भगवत रसिक	वाणी (अनन्यनिश्चयात्म तथा निर्विरोध-मनोरंजन)
मधुसूदन गोस्वामी	वृन्दावन दर्पण
मुंशीराम शर्मा	भारतीय साधना और सूर-साहित्य
युगलवल्लभ	आत्म विचार
रघुराज सिंह	रामरसिकावली
रसिकदेव, स्वामी	भक्ति सिद्धान्त मणि
	रससार
राधाचरण गोस्वामी	चैतन्य चरितामृत (ब्रजभाषा)
	नव भक्तमाल
रामदास गौड़	हिन्दुत्व
रूपमाधुरी शरण	श्री शुक महत्त्व
	शुक सम्प्रदाय प्रकाश
रूपरसिकदेव	हरिव्यास यशामृत
ललित किशोरी देव	वचनिका सिद्धान्त
ललिता प्रसाद पाठक	अष्टादश सिद्धान्त के पदों की टीका
लाड़िली दास	सुधर्म बोधिनी
लाड़िलीशरण ब्रह्मचारी	अर्थपंचक निर्णय
वासुदेव गोस्वामी	भक्त कवि व्यास जी
विजयेन्द्र स्नातक	राधावल्भ सम्प्रदाय: सिद्धान्त और साहित्य
वियोगी हरि	ब्रजमाधुरीसार
विश्वेश्वर शरण	सिद्धान्त रत्नाकर

विहारी शरण	निम्बार्क माधुरी
वृन्दावनदास, बाबा हित	अष्टयाम
	जुगलसनेह पत्रिका
	लाड़ सागर
वृन्दावनदेवाचार्य	श्री कृष्णामृत गंगा
वंश-वृक्ष (टट्टी स्थान की परंपरा)	
शरणविहारी 'अभय'	स्वा० हरिदास (महाकाव्य)
शालिग्राम वैष्णव	मिथ्यावाद विधूनन
	हितविनोदाक्षेपापनोद
शीतलदास, महंत	आनन्द चमन
	गुलजार चमन
	विहार चमन
श्री भट्ट	युगलशतक
सहचरिशरण, स्वा०	आचार्योत्सव सूचनिका
	गुरुप्रणालिका
	नखशिख ध्यान
	ललित प्रकाश
	सरस मंजावली
सीताराम शरण भगवान प्रसाद	भक्तमाल की भक्तिसुधास्वाद तिलक टीका
सुदर्शन सिंह 'चक्र'	केलिमाल, परिचय
सुदर्शनाचार्य	संगीत-सुदर्शन
गीत राग कल्पद्रुम (संग्रहकर्ता स्वा० कृष्णानंद)	
हरिदास, स्वामी	अष्टादश सिद्धान्त के पद
	केलिमाल
हरिराम व्यास	वाणी
हरिव्यास देवाचार्य	महावाणी
हरिहर निवास द्विवेदी	मानसिंह और मानकुतूहल
हंसदास	निम्बार्क प्रभा

हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थ

अष्टाचार्यों की वाणी	
उत्तमदास	रसिक अनन्यमाल
किशोरदास, महंत	रस के पद
गदाधर भट्ट	वाणी
गोपाल दास	वृन्दावन धामानुरागावली
गोवर्द्धन शरणदेव, स्वा०	वाणी
चतुरदास	वाणी
चतुः संप्रदाय गुरुपद्धति	

चरणदास — ब्रजचरित्र
जयदेव, महंत — भक्तमाल पर टिप्पणी
धामक्षेत्र (निम्बार्क संप्रदाय)
नरहरिअलि — वाणी
नागरीदास — केलिमाल की टीका
नागरीदास (सावंतसिंह) — पदप्रसंगमाला
नारायणदास — भक्तमाल पर टिप्पणी
नौरंगस्वामी — मतमारग भेद
पीतांबरदेव, स्वा० — केलिमाल की टीका
गुरु प्रणाली
वाणी (रस तथा सिद्धान्त)
समय-प्रबन्ध
बलदेव कवि — गोस्वामीन की वंशावली
बनवास — पदावली
भगवत मुदित — रसिक अनन्यमाल
मनसाराम — गुरुमंगल
मनोहरदास — सम्प्रदाय बोधिनी
मलूकदास — भक्तमाल पर टिप्पणी
महानुभावन की चर्चा
रसिकदेव, स्वा० — कुंजकौतुक
गुरु मंगल
पूजा विलास
फुटकर वाणी
बाल लीला
रसार्णवपटल
वराहसंहिता भाषा
रसिक नामावली
राधाचरण — चैतन्यचरितसार
राधाशरण — केलिमाल की वस्तुदर्शिनी टीका
रामनाथ गोस्वामी — कुंजविहारी सर्वस्व
रूप सखी — वाणी
ललित किशोरी देव, स्वा० — सिद्धान्त की साखी
ललित मोहिनी देव, स्वा० — वचनिका (गद्य)
वाणी
विहारिणिदास, स्वामी — रस के पद
विहारी अलख — वाणी
वृन्दावनदास — वैष्णव वन्दना
वंशवृक्ष (विहारी जी के गोस्वामियों का)

शील सखी — वाणी
सहचरिशरण — ललित किशोरीदेव जी की वचनावली
सुदर्शनदास — निकुंज दर्पण
सुन्दर कुंवरि — मित्र शिक्षा
सेवक जी — सेवक वाणी
हरगुलाल — स्वा० हरिदास जी के उपासनीय रस की मीमांसा
हितहरिवंश जी — हित चौरासी

संस्कृत के मुद्रित ग्रन्थ

अनन्तराम शर्मा — आचार्यपरम्परास्तोत्रम्
अमोलकराम शास्त्री — आचार्यस्तवमाला
औदुम्बर ऋषि — निम्बार्कविक्रान्ति
किशोरदास, पंडित — गुरुशरणागतिः
वेदान्ततत्त्वसुधा
वेदान्तरत्नमाला
केलकर, वेंकटेश रामकृष्ण — सौरार्यब्राह्मपक्षीयतिथिगणितम्
केशव काश्मीरी भट्ट — भगवद्गीता की तत्त्वप्रकाशिका टीका
गंशवाचार्य — श्री गोवर्द्धनशतकम्
गग संहिता
गदाधरदास द्विवेदी — सम्प्रदाय-प्रदीप
गोपालपूजनपद्धति
गोपाल भट्ट गोस्वामी — हरिभक्तिविलास
गंगाप्रसाद गोस्वामी — सम्प्रदाय-भास्कर
चन्द्रदत्त — भक्तमाल
रहरिदेव, स्वा० — गुरु-परम्परा
नारद पंचरात्र
नारद-भक्ति-सूत्र
नारायण भट्ट — ब्रजभक्तिविलासः
भक्तिरसतरंगिणी
निम्बार्काचार्य — दशश्लोकी (वेदान्तकामधेनु)
प्रपन्नकल्पवल्ली
मन्त्र-रहस्य-षोडशी
सविशेषनिर्विशेषश्रीकृष्णस्तवः
पद्म पुराण
पुराण संहिता — (सं० कृष्णप्रियाचार्य)
पुरुषोत्तम प्रसाद — अर्चिरादि-पद्धतिः
प्रबोधानन्द सरस्वती — वन्दावन-शतक
ब्रह्म वैवर्त पुराण

ब्रह्मसूत्र
भगवद्गीता
भागवत पुराण
भयाराम
महाप्रभु ग्रन्थावली
रसिकदेव, स्वा०
रूप गोस्वामी

बनमालीदास शास्त्री
वराहपुराण
विष्णु पुराण
शार्ङ्गदेव
शान्ति देव
शुक सुधी
श्यामविन्दु-महिमा
श्रीनिवासाचार्य

सदानन्द भट्ट
सनातन गोस्वामी
सुन्दर भट्ट
संकर्षण शरणदेव
स्कन्द पुराण
हरिराम व्यास
हरिव्यास देवाचार्य

हितहरिवंश जी
हंसदास

रसिकजीवनं काव्यम्
(सं० बाबा कृष्णदास)
गुरु-परम्परा
उज्ज्वलनीलमणिः
निकुंजरहस्यस्तवः
नित्य-क्रिया-पद्धतिः
भक्तिरसामृतसिन्धुः
भक्तनाममालिका

संगीतरत्नाकरः
शिक्षासमुच्चयः
स्वधर्मामृतसिन्धुः

लघुस्तवराज
वेदान्तकौस्तुभ (ब्रह्मसूत्र का भाष्य)
श्री निम्बार्काष्टोत्तरशतनामस्तोत्रम्
बृहद्भागवतामृतम्
प्रपन्नसुरतरुमंजरी
वैष्णवधर्मसुरद्रुममंजरी

नवरत्नम्
श्रुत्यन्तकल्पवल्ली
सिद्धान्तरत्नांजलि
राधासुधानिधि
चतुः सम्प्रदाय-सिद्धान्त

संस्कृत के हस्तलिखित ग्रन्थ

ईश्वरी सिंह
उपासना पद्धति :
गोपालतापिन्युपनिषत्
गौतमीयतंत्रम्
तुलसी उपनिषत्
निम्बार्क प्रादुर्भाव

भक्तमाल
(माध्वगौड़ेश्वर सम्प्रदाय)

बोलगण कवि — भक्तमाल
ब्रह्मानन्द गोस्वामी — वंशावली
रूप गोस्वामी — मथुरावृन्दावनादिमाहात्म्य
वराहसंहिता
वृन्दावन माहात्म्य
सम्प्रदाय रत्नावली — (माध्व गौड़ेश्वर सम्प्रदाय)

अन्य भाषाओं के ग्रन्थ

अंग्रेजी

आईने अकबरी — (अनु० ब्लाकमैन)
अकबरनामा — (अनु० बेवरिज)
ऑल इंडिया ओरिऐंटल कान्फरेंस बड़ौदा, दिसम्बर १९३३, रिपोर्ट ।
एनुअल रिपोर्ट ऑफ़ दी आर्क्योलाजिकल डिपार्टमेंट ऑफ़ हिज एक्जाल्टेड हाईनेस दी निज़ाम्स डोमिनियन्स ।
आफ्रेक्ट — कैटेलोगस कैटेलोगोरम
बड़थ्वाल, पीताम्बरदत्त — दी निर्गुण स्कूल ऑफ़ हिन्दी पोइट्री
भंडारकर, आर० जी० — वैष्णविज़म, शैविज़म एण्ड माइनर रिलीजस सिस्टम्स ।
बोस, रमा — वेदान्त पारिजात सौरभ ऑफ़ निम्बार्क (भाग १,२)
डाक्ट्रिन्स ऑफ़ निम्बार्क एण्ड हिज फ़ालोअर्स (भाग ३)
ब्राकमैन, डी० एल० ट्रेक — मथुरा, ए गज़ेटियर
कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ़ इंडिया, भाग ३ तथा ४
कनिंघम — एंश्येंट जिआग्रफ़ी ऑफ़ इंडिया
आर्क्योलाजिकल सर्वे ऑफ़ इंडिया एनुअल रिपोर्ट, जिल्द २०
डेलिलू, एलेन — नार्दर्न इंडियन म्यूज़िक, भाग १
बासगुप्त, एस० एन० — ए हिस्ट्री आफ़ इंडियन फ़िलासफ़ी, भाग ४
हिन्दू मिस्टिसिज़्म
बे, मन्दोलाल — दी ज्याग्रफ़िकल डिक्शनरी ऑफ़ एंश्येंट एण्ड मैडीवल इंडिया
फ़र्कुहार, जे० एन० — दी रिलीजस क्वेस्ट ऑफ़ इंडिया
गांगुली, ओ० सी० — रागाज़ एण्ड रागिनीज़
ब्राउज़, एफ़० एस० — मथुरा, ए डिस्ट्रिक्ट मेम्वायर
ग्वालियर स्टेट गज़टियर
हेस्टिंग्स, जेम्स — एनसाइक्लोपीडिया ऑफ़ रिलीजन एण्ड ईथिक्स
की, एफ़० ए० — हिन्दी लिटरेचर
मीरातेसिकंदरी — (अनु० फ़ज़लुल्लाह लुत्फ़ुल्लाह फ़रीदी)

मुलतान डिस्ट्रिक्ट गज़ेटियर

पै, डी० ए० — मोनोग्राफ़ ऑन दी रिलीजस सेक्ट्स इन इंडिया एमंग दी हिन्दूज़

पोपली, एच० ए० — दी म्यूज़िक ऑफ़ इंडिया

सरकार, यदुनाथ — वल्लभ दिग्विजय

शुक्ल, चिन्तामणि — ए गाइड टू वृन्दावन

टॉड, कर्नल — एनल्स एण्ड एंटिक्विटीज़ ऑफ़ राजस्थान, भाग ३

टूथी, एन० ए० — दी वैष्णवज़ ऑफ़ गुजरात

विल्किन्स, डब्ल्यू० जे० — हिन्दू माइथोलोजी

विल्सन — एसेज़ एण्ड लेक्चर्स ऑन रिलीजन ऑफ़ दी हिन्दूज़
स्केच ऑन दी रिलीजस सेक्ट्स ऑफ़ दी हिन्दूज़

बंगला

कृष्णदास कविराज — चैतन्य चरितामृत
वृन्दावन परिक्रमा (हस्तलिखित)

गोपाल भट्ट गोस्वामी सूचक — (हस्तलिखित)

घोष, बिरजाकान्त — श्री निम्बार्कभाष्य रचनार काल-निरूपण (हस्तलिखित)

चारि सम्प्रदाय वैष्णव वन्दना (हस्तलिखित)

छः गोस्वामी सूचक (हस्तलिखित)

देवकीनन्दन — वैष्णव वन्दना (हस्तलिखित)
चारि सम्प्रदाय वैष्णव वन्दना (हस्तलिखित)

यदुनाथ सर्वाधिकारी — तीर्थ भ्रमण

शशि भूषण दासगुप्त — श्री राधार क्रम विकास

गुजराती

दुर्गाशंकर केवलराम शास्त्री — वैष्णवधर्म नो संक्षिप्त इतिहास

मराठी

मध्ययुगीन चरित्र कोश

उर्दू

मुंशी तुलसीराम — प्रदीपन भक्तमाल

फ़ारसी

अब्दुल क़ादिर बदायुंनी — मुन्तखबुत्तवारीख़

अब्दुर्रहमान — मीराते आफ़्ताबनुमा (हस्तलिखित)

पत्र-पत्रिकाएँ

कल्याण
नाम-माहात्म्य
ब्रज-भारती
वल्लभीय सुधा
वैष्णवसर्वस्व
सर्वेश्वर
साधन
साहित्य-सन्देश
सुदर्शन
बुलेटिन ऑफ़ दी प्रिंस ऑफ़ वेल्स म्यूज़ियम, बम्बई
जरनल ऑफ़ दी यू० पी० हिस्टोरिकल सोसायटी